मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

प्रथम-भाग

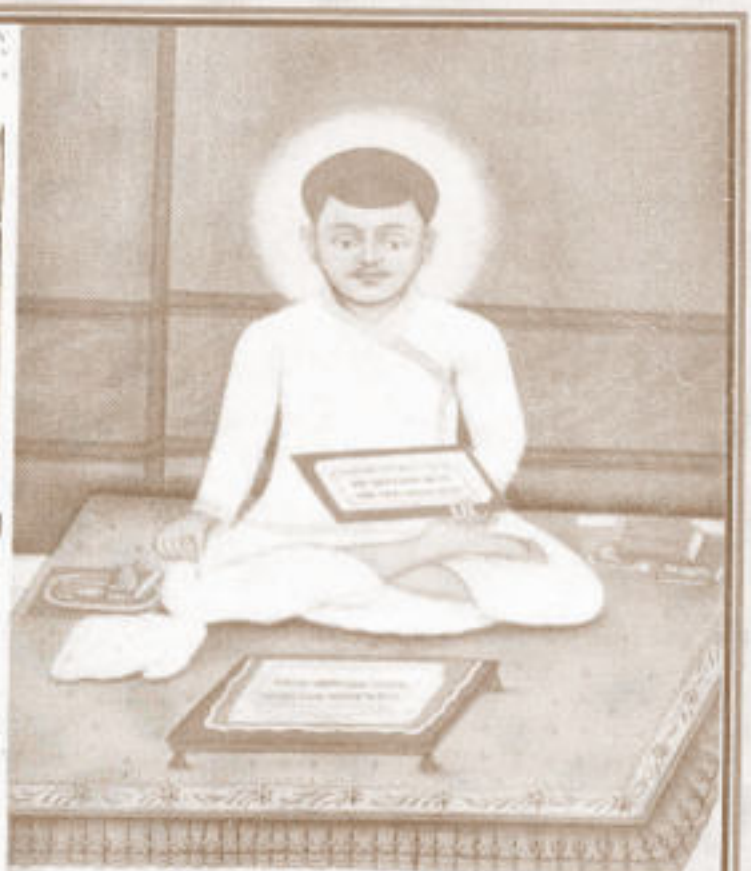

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी



- प्रकाशक -

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट

A - 304 पूनम अपार्टमेन्ट्स, वरली, मुम्बई

मोक्षमार्गप्रकाशक
प्रवचन

ॐ

परमात्मने नमः

मोक्षमार्गप्रकाशक

प्रवचन

भाग - १

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(अधिकार १ से ४ तक)

प्रस्तावना :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न एम.ए., पीएच.डी., जयपुर (राज.)

सम्पादन :

पण्डित अभयकुमार जैन

जैनदर्शनाचार्य

छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ

जिला – भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट

ए-३०४, पूनम अपार्टमेन्ट,

वरली, मुम्बई - ४०० ०१८

प्रथम संस्करण : ५१०० प्रतियाँ
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की १११वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर
दि. ५ मई, २०००

न्यौछावर राशि : ३५ रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

卐 आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट,
ए-३०४, पूनम अपार्टमेन्ट,
वरली, मुम्बई -४०० ०१८
फोन : ४९२१९६९

卐 श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर
फोन : ४२९३९७

卐 श्री टोडरमल स्मारक भवन,
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२ ०१५
फोन : ५१५५८१, ५१५४५८

卐 पण्डित सदासुख ग्रंथमाला
श्री नरेश लुहाड़िया
४६३५/३८ डिप्टीगंज, सदर बाजार
दिल्ली - ११० ००६
फोन : ७५३७००६

टाईप सैटिंग : जैन कम्प्यूटर्स
पण्डित रमेशचन्द शास्त्री
मंगलधाम, बी-१७९, मंगलमार्ग, बापूनगर, जयपुर-१५
फोन : ७००७५१

मुद्रक : इण्डिया बाईन्डिग हाऊस
मानसरोवर पार्क
शाहदरा दिल्ली फोन : २२७२६५७

प्रकाशकीय

प्राणीमात्र के लिये कल्याणकारी पवित्र दिगम्बर जैनधर्म की मंगलमय प्रभावना एवम् उसके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता को गहराई से अनुभव करते हुए अजमेर निवासी, मुम्बई प्रवासी अध्यात्म रसिक धर्म निष्ट जिनभक्त श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया परिवार द्वारा २८ मई, १९९५ को श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, देवलाली (महाराष्ट्र) के पावन प्रसंग पर, अध्यात्म जगत के मूर्धन्य मनीषी बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा के संरक्षकत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के कुशल निर्देशन में, ''आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट'' की स्थापना की घोषणा की गई। उपस्थित विशाल जन समूह ने अतिउत्साह से इस पवित्र कार्य का हार्दिक अनुमोदन किया। ट्रस्ट का मुख्य कार्यालय मुम्बई में स्थित है एवं इसका रजिस्ट्रेशन करवा लिया गया है।

ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य वीतराग दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करना है। इस उद्देश्य के प्रति समर्पित कार्यशील उदीयमान विद्वानों को, उनकी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त रखते हुए उन्हें हर संभव दृढ़ता प्रदान करना है जिससे उनकी सेवा एवम् तत्त्व समर्पण की भावना का अधिक से अधिक लाभ समाज को मिल सके।

इसके अतिरिक्त शिक्षण एवं शोधकार्य में निरन्तर रत प्रतिभाशाली विद्वानों का समुचित सन्मान करना भी ट्रस्ट का उद्देश्य है। – इस श्रृंखला में अबतक 'जैनश्रमण-स्वरूप और समीक्षा' पर डॉ. योगेश जैन शास्त्री अलीगंज-एटा को, 'जैनकर्मसिद्धांते बन्धमुक्ति प्रक्रिया' पर डॉ. श्रीयांसकुमार सिंघई जयपुर को, 'महाकवि भूधरदास – एक समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. नरेन्द्रकुमार शास्त्री जयपुर को, 'आ. योगीन्दुदेव का व्यक्तित्व और कर्त्तत्त्व' पर डॉ. सुदीपकुमार शास्त्री दिल्ली को, 'जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन – समालोचनात्मक अध्ययन' पर डॉ. विनोद 'चिन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'श्री कानजीस्वामी व्यक्तित्व और कर्तृत्त्व' पर डॉ. मुकेश 'तन्मय' शास्त्री विदिशा को, 'संस्कृत साहित्य में दिक्पाल की अवधारणा' पर डॉ. राजेशकुमार जैन 'शास्त्री' ग्यारसपुर-विदिशा को, 'हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं. सदासुखदासजी का योगदान' पर डॉ. श्रीमती मुन्नीदेवी जैन (ध.प. डॉ. फूलचंदजी जैन वाराणसी) को पीएच.डी. करने के उपलक्ष्य में सन्मानित किया गया है।

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों आदि की धार्मिक परीक्षाओं में प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले छात्रों को सन्मानित करने का भी प्रावधान है।

अपने द्वारा नियुक्त विद्वानों के सौजन्य से ट्रस्ट समाज में शिक्षण-शिविर, व्याख्यान मालाएँ, पूजन-विधान, वेदीप्रतिष्ठा एवं पंचकल्याणकादि में आमन्त्रण पत्र प्राप्त होने पर सहयोग प्रदान करने हेतु सदैव तत्पर है। इस दिशा में विगत २-३ वर्षों से ट्रस्ट द्वारा नियुक्त विद्वान पं. श्री संजयजी शास्त्री (जेवर) द्वारा भारतभर में लगभग सभी प्रान्तों में किया गया तत्त्व प्रचार उल्लेखनीय है।

अपनी गतिविधियों को आगे बढ़ाते हुए अब ट्रस्ट ने अप्रकाशित सत्साहित्य एवम् पूज्य गुरुदेवश्री के अप्रकाशित प्रवचन साहित्य के प्रकाशन की दिशा में कदम बढ़ाये हैं और इस कड़ी में सर्वप्रथम आचार्यकल्प पूज्य पण्डित श्री टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का प्रकाशन कार्य हाथ में लिया है, जो चार भागों में पूर्ण होगा। उसमें से यह पहला भाग प्रकाशित किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री के ये प्रवचन, जो सन् १९५२ एवं १९५४ में दिये गये, सोनगढ़ से प्रकाशित होने वाले गुजराती दैनिक 'श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' में प्रकाशित हुए हैं। उस समय इनका लेखन एवं सम्पादन श्री अमृतभाई नरशीलाल भाई व श्री खेमचंद जेठालाल सेठ करते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में सन् १९५२ के प्रवचनों का मूल अनुवाद एवं सन् १९५४ के प्रवचनों के विशिष्ट अंश गुजराती से अनुवादित व सम्पादित कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। **इन प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री ने पण्डितजी के भाव को अत्यन्त गंभीरता से खोला है, साथ ही आज के बहुचर्चित स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव विषय पर भी पर्याप्त स्पष्टीकरण प्रदान किया है।** अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण ये प्रवचन मूलत: पठनीय हैं।

इन प्रवचनों.का सम्पादन कार्य पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री छिन्दवाड़ा ने तथा हिन्दी अनुवाद कार्य युवाविद्वान पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ राज. ने इनका किया है। ट्रस्ट उनका आभारी है।

हमारे अनुरोध पर इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त अध्यात्म मनीषी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर ने लिखी है तथा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक चिन्तक बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा, ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' भोपाल आदि का समुचित मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है – ट्रस्ट उक्त सभी विद्वानों का हार्दिक आभारी है। साथ ही भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा रखता है।

ट्रस्ट की भावी योजनाओं में आचार्य कुन्दकुन्द रचित अष्टपाहुड़ पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन शीघ्र ही किया जायेगा, हिन्दी अनुवाद कार्य प्रारम्भ हो गया है। जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान कराने हेतु एक-एक विषय पर शिक्षण-शिविरों के आयोजन की भी ट्रस्ट की योजना है, इसके लिए कृपया ट्रस्ट से सम्पर्क करें।

इस ग्रन्थ की कीमत कम करने हेतु जिन स्वाध्याय प्रेमी बन्धुओं का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ, ट्रस्ट उनका आभारी है एवम् उनकी सूची अन्यत्र प्रकाशित है। विशेषरूप से आत्मजागृति (मासिक) भावनगर के एक पाठक द्वारा ११११ डालर एवं जिनवाणी प्रचार की उदार भावना वाले श्री बाबूलालजी तोतारामजी लुहाड़िया – भुसावल द्वारा प्रदत्त विशेष राशि हेतु ट्रस्ट आभारी है।

इस ग्रन्थ के लेजर टाईप सैटिंग का काम पण्डित रमेशचन्दजी शास्त्री, जैन कम्प्यूटर्स जयपुर ने स्वयं रुचिपूर्वक समय पर सम्पन्न किया, इसके लिए ट्रस्ट उनका आभारी है।

ट्रस्ट की भावना है कि इसके आगे के भाग भी यथाशीघ्र प्रकाशित होकर स्वाध्यायी साधर्मीजनों को प्राप्त हों – तदर्थ अनुवाद/सम्पादन कार्य चल रहा है।

सभी साधर्मीजन इन प्रवचनों के मर्म को समझकर अपना आत्मकल्याण करें – ऐसी भावना के साथ-साथ यदि कहीं भाव सम्बन्धी अशुद्धि आपको दृष्टिगोचर होवे तो कृपया हमें सूचित करें जिससे उसकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

– बसंतभाई, एम. दोशी
मेनेजिंग ट्रस्टी
आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट, मुम्बई-१८

दिनांक ५ मई, २०००
(पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की १११वीं जन्म-जयन्ती)

अनुवादक के दो शब्द

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी एवं उनकी अनुपम कृति मोक्षमार्गप्रकाशक से समस्त तत्त्वप्रेमी स्वाध्यायी समाज सुपरिचित है।

नौ अधिकारों में उपलब्ध इस ग्रन्थ में पूज्य पण्डितजी साहब ने वह सब प्रतिपादित कर दिया है, जो एक आत्मसाधक को आत्मकल्याण के लिये जानना आवश्यक होता है।

यही कारण है कि जब संवत् १९८२ में आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ तो उन्होंने एक कुशल जौहरी की भांति इस ग्रन्थ की महानता को परख लिया। इस ग्रन्थ के सातवें अधिकार पर तो वे ऐसे रीझे कि पूरे अधिकार को अपने हाथ से ही लिख लिया।

तत्पश्चात् उन्होंने इस ग्रन्थ पर कई बार प्रवचन किये एवं अपने अन्य प्रवचनों में भी अपनी बात को पुष्ट करने के लिये इस ग्रन्थ एवं पण्डित टोडरमलजी का वे अत्यन्त आदर के साथ स्मरण करते रहे।

उनके द्वारा दिये गये प्रवचन सोनगढ़ से निकलने वाले दैनिक 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' में नियमित प्रकाशित होते थे। जिन्हें श्री अमृतभाई नरशीलाल भाई एवं पण्डित खीमचंद भाई जे. सेठ लिखकर सम्पादित करते थे। उक्त दोनों महानुभावों के असीम प्रयास से गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त यह धरोहर हमें सहज उपलब्ध हो गई है। अत: पूज्य गुरुदेवश्री का तो हम पर अनन्त-अनन्त उपकार है ही, उनकी इस धरोहर को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखने हेतु इन दोनों विद्वानों का समाज पर बहुत उपकार है।

उक्त सम्पूर्ण प्रवचनों को चार भागों में प्रकाशित करने की योजना है, जिसका विभाजन इसप्रकार रखा गया है –

भाग - १	:	अधिकार १ से ४	भाग - २	:	अधिकार ५ व ६
भाग - ३	:	अधिकार ७	भाग - ४	:	अधिकार ८ - ९

हमें यह पहला भाग समस्त साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष है।

इस भाग में पूज्य गुरुदेवजी के सन् १९५२ के प्रवचनों को प्राय: मूलत: व १९५४ के प्रवचनों के महत्त्वपूर्ण अंशों सहित अनुवादित किया गया है। इसप्रकार गुरुदेवश्री के दो बार के प्रवचन इसमें समायोजित किये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ में हेडिंग मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार ही रखे गये हैं एवम् ग्रन्थ

का मूल अंश बोल्ड टाईप में रखा गया है, जिससे पाठकों को गुरुदेवश्री के द्वारा किये गये अर्थ स्पष्टता से ज्ञात हो सकें। मूल के जिस अंश को गुरुदेवश्री ने मात्र पढ़ दिया है उसे इसमें नहीं रखा गया है, पर ऐसा बहुत ही कम हुआ है।

प्रवचनों के अनुवाद के मूल प्रेरक मेरे श्रद्धेय गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर वाले हैं, जिनके पावन सान्निध्य में मुझे मोक्षमार्गप्रकाशक का ही नहीं, अपितु समस्त जिनशासन का रहस्य समझने का अवसर मिला है। अत: इस उपकार के लिये आपश्री का चिरऋणी हूँ।

आदरणीय बाबूजी श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया ने इसके प्रकाशन की जिम्मेदारी लेकर बारम्बार इस बात के लिये चेताया कि जरा भी गलती नहीं रहे – इस बात का विशेष ध्यान रखना। अत: उनका भी मैं आभारी हूँ।

आदरणीय बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा से मुझे इस विषय में समय-समय पर मार्गदर्शन मिला। साथ ही आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने कई उपयोगी सुझावों के साथ-साथ प्रस्तावना लिखने की कृपा की, तदर्थ विद्वतद्वय का विशेष आभारी हूँ।

अनुवादोपरांत अतिशय श्रमपूर्वक सम्पादन कार्य को पूर्ण करने के लिये एवं उपयोगी सुझावों के लिये आदरणीय पण्डित अभयकुमारजी 'जैनदर्शनाचार्य' छिन्दवाड़ा का आभारी हूँ। और भविष्य में भी उनका ऐसा ही मार्गदशन प्राप्त होगा – ऐसी आशा करता हूँ।

इस ग्रंथ के प्रूफ देखने के कार्य में ब्र. यशपालजी जयपुर, श्री सौभाग्यमलजी जयपुर, श्री ज्ञानचन्दजी जैन (रिटा. बैंक मेनेजर) जयपुर आदि का सहयोग प्राप्त हुआ, इसके लिये मैं इन सभी का आभार व्यक्त करते हुए भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा रखता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण करें – इस भावना के साथ यह अनुरोध भी करना चाहूँगा कि यदि आपको कोई भाव सम्बन्धी भूल ज्ञात होवे तो अवश्य सूचित करें, जिससे आगामी संस्करण में सुधार के साथ-साथ अन्य प्रकाशनों में उसकी पुनरावृत्ति से बचा जा सके।

दिनांक : १६ अप्रेल, २०००
महावीर जयन्ती

देवेन्द्रकुमार जैन
गुरु कहान मार्केट, बिजौलियाँ ३११ ६०२
जिला - भीलवाड़ा (राज.)

अहो भाग्य

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के सातिशय प्रभावना योग में सहज सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति इस सदी का आश्चर्यजनक वरदान है। लगभग ४५ वर्षों तक जिनागम के अपूर्व रहस्यों का उद्घाटन करके उन्होंने लाखों भव्यजीवों को मुक्ति का भाजन बनाया है। उनकी वाणी में जिनागम में प्रतिपादित अनेक गूढ़ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिससे आत्मार्थी बन्धुओं को जिनगम का मर्म समझने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है।

आध्यात्मिक ग्रंथराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गुजराती-हिन्दी प्रकाशन मुमुक्षु समाज की अनेक संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जगाई गई आध्यात्मिक चेतना में उक्त परमागम ग्रन्थों के साथ-साथ आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी विरचित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ का भी उल्लेखनीय योगदान है। इस ग्रन्थ पर दो बार प्रवचन करके उन्होंने इसमें छिपे हुए रहस्यों को खोला है। इस ग्रन्थ के सातवें अध्याय से वे बहुत प्रभावित थे। यही कारण है कि सोनगढ़ में आयोजित शिक्षण-शिविरों में प्राय: सातवाँ अध्याय ही पढ़ाया जाता था। इस ग्रन्थ पर प्रवचन करते समय दिगम्बर गृहस्थ विद्वानों के प्रति बहुमान व्यक्त करते हुए वे प्राय: कहा करते थे कि – दिगम्बरों ना पण्डितोए पण गजब काम कर्यु छे....।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर हुए उनके प्रवचन ''मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें'' इस नाम से प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि अनेक मुमुक्षु भाइयों की भावना थी कि सन् १९५२ में हुए प्रवचनों – जो सद्गुरु प्रवचन प्रसाद में संकलित हैं – को हिन्दी में प्रकाशित किया जाए।

कुन्दकुन्द-शिक्षण-संस्थान के संस्थापक श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया की तीव्र भावना को देखते हुए पण्डित श्री देवेन्द्रकुमारजी बिजोलियां ने इसका हिन्दी अनुवाद किया। पूज्य गुरुदेव के भावों को अक्षुण्ण रखते हुए इसका सम्पादन करने का दायित्व मुझे सौंपा गया।

छिंदवाड़ा प्रवास करते हुए साहित्य रचना, अनुवाद तथा सम्पादन में पूर्ण समर्पण ही मेरा ध्येय है, अत: श्री लुहाड़ियाजी का अनुरोध मेरे लिए वरदान बनकर आया।

श्री देवेन्द्रकुमारजी के साथ अनुवाद कार्य जाँचते हुए पूज्य गुरुदेव के भावों को गहराई और स्पष्टता से समझने का अवसर पाकर मुझे जो ज्ञान और आनन्द का लाभ मिला, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। पूज्य गुरुदेव के प्रति महिमा भी बहुत वृद्धिंगत हुई। लगभग ५० वर्ष पूर्व उनके द्वारा किया गया पैना और स्पष्ट विवेचन पढ़कर हृदय बारम्बार उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। इस उपकार के लिए मैं श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अन्त में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी एवं पूज्य गुरुदेव श्री को विनम्र प्रणाम करता हुआ यही भावना भाता हूँ कि सभी आत्मार्थी बन्धु इन प्रवचनों के माध्यम से जिनागम का मर्म समझकर आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर होंगे।

– अभयकुमार जैन शास्त्री

श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान विद्यापीठ, छिंदवाड़ा (म.प्र.)

प्रस्तावना

– डॉ.हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के जीवन परिवर्तन में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थाधिराज समयसार के साथ-साथ आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक का भी महत्वपूर्ण योगदान है। समयसार विक्रम संवत् १९७८ में उनके हाथ लगा था और मोक्षमार्गप्रकाशक १९८२ में। इन दोनों ग्रन्थराजों ने उनके हृदय को आन्दोलित कर दिया।

जब समयसार उनके हाथ लगा और उन्होंने उस पर सरसरी नजर डाली तो उनके मुँह से सहज ही प्रस्फुटित हुआ कि यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है और मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार उन्हें इतना प्रिय लगा कि उसे उन्होंने स्वयं अपने हाथ से पूरा का पूरा लिख लिया और सदा अपने पास रखा। उनकी वह हस्तलिखित प्रति आज भी सोनगढ़ में सुरक्षित है।

वे जीवन भर समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक के गीत गाते रहे। समयसार पर तो उन्होंने १९ बार सभा में प्रवचन किये। और मोक्षमार्गप्रकाशक पर भी उन्होंने प्रवचन किए। यह प्रकाशन उनके मोक्षमार्गप्रकाशक पर हुए प्रवचनों का ही संकलन है।

महापण्डित टोडरमल गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर विरोधी, दृढ़श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तों की कीमत पर कभी न झुकनेवाले, आत्मानुभवी और लोकप्रिय प्रवचनकार थे। तत्कालीन समाज में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रकरणों में उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किये जाते थे और धार्मिक उत्सवों में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का उल्लेख आकर्षण के रूप में किया जाता था। गृहस्थ होने पर भी उनकी वृत्ति और प्रवृत्ति साधुता का प्रतीक थी।

यद्यपि उनका अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, तथापि कुछ समय उन्हें आजीविका के लिए सिंगाणा में रहना पड़ा था।

उनकी आत्मसाधना और तत्त्वप्रचार का कार्य सुनियोजित और सुव्यवस्थित था। मुद्रण की सुविधा न होने से तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति के लिए दश-बारह कुशल लिपिकार शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ निरन्तर करते रहते थे। उनकी शास्त्रसभा में उनका व्याख्यान सुनने के लिए हजार-बारह सौ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन आते थे। बालक-बालिकाओं, प्रौढ़ पुरुषों एवं महिलाओं के धार्मिक अध्ययन-अध्यापन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी।

उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था और उनका प्रचार कार्य ठोस था। यद्यपि उससमय यातायात की कोई सुविधायें नहीं थीं; तथापि उन्होंने दक्षिण भारत में समुद्र किनारे तक धवलादि सिद्धान्त शास्त्रों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था।

उनके जीवन के सन्दर्भ में यदि विशेष जिज्ञासा हो तो तदर्थ ''पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व'' का अध्ययन करना चाहिए।

वैसे तो उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें सिद्धान्त और अध्यात्म ग्रन्थों की टीकायें ही मुख्य हैं; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक उनकी मौलिक रचना है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जिनागम है। यद्यपि यह समग्र जैनागम को अपने में समेट लेने का सार्थक प्रयास था; तथापि खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यह पूर्ण न हो सका।

अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ है, जो अनेक भाषाओं में लाखों की संख्या में प्रकाशित होकर घर-घर में पहुँच चुका है और इसकी माँग सदा बनी ही रहती है। आज भी पण्डित टोडरमल दिगम्बर जैन समाज में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले विद्वान हैं।

प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक में नौ अधिकार हैं। आरम्भ के आठ अधिकार तो पूर्ण हो गये, पर नौवाँ अधिकार अपूर्ण है। इस अधिकार में जिसप्रकार विषय उठाया गया है, उसके अनुरूप उसमें कुछ भी नहीं कहा जा सका है।

अपूर्ण नौवें अधिकार को पूर्ण करने के उपरान्त उसके आगे और भी अनेक अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। पण्डित टोडरमलजी के मस्तिष्क में न जाने कितने अधिकार प्रच्छन्न थे। प्राप्त नौ अधिकारों में लेखक ने बारह स्थानों पर ऐसे संकेत दिये हैं कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जावेगा।

उक्त संकेतों और प्रतिपादित विषय के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि यह महाग्रंथ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पाँच हजार पृष्ठों से कम का नहीं होता और उसमें मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता।

यह ग्रंथ विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखा गया है और प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। जिस भी विषय को छुआ गया, उसके सम्बन्ध में उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली में मनोवैज्ञानिकता और मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान में द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रंथ को पढ़ते समय पाठक के हृदय में जो प्रश्न उपस्थित होता है, उसे हम अगली पंक्ति में लिखा पाते हैं। ग्रंथ पढ़ते समय पाठकों को आगे पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है।

वाक्यरचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एवं गंभीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमें नहीं है, पर विस्तार के संकोच में कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ कहीं विषय का विस्तार भी हुआ है; वहाँ उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। यह विषयविस्तार सांगोपांग विषयविवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ; उसमें

क्यों का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

विषय को स्पष्ट करने के लिए समुचित उदाहरणों का समावेश है। कई उदाहरण तो सांगरूपक के समान कई अधिकारों तक चलते हैं। जिसप्रकार कि रोगी और वैद्य का उदाहरण द्वितीय अधिकार से पंचम अधिकार तक प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में चलता है।

अपनी बात पाठक के हृदय में उतारने के लिए पर्याप्त आगम प्रमाण, सैकड़ों तर्क तथा जैनाजैन ग्रंथों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। ऐसा लगता है कि वे जिस विषय का विवेचन करते हैं; उसके सम्बन्ध में असंख्य ऊहापोह उनके मानस में हिलोरें लेने लगते हैं तथा वस्तु की गहराई में उतरते ही उनकी अनुभूति लेखनी में उतरने लगती है। वे प्रत्येक विषय को पूरा स्पष्ट करते हैं। जहाँ विषय को प्रसंगानुसार अधूरा छोड़ना पड़ा है, वहाँ वे उल्लेख करते हैं कि इस विषय को यथास्थान आगे विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

यद्यपि मोक्षमार्गप्रकाशक का प्रत्येक वाक्य आर्षसंमत है; तथापि उसमें बहुत-सा नया प्रमेय भी उपस्थित किया गया है; जो जिनागम में उस रूप में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इसप्रकार के विषय ग्रंथ में सर्वत्र आये हैं; तथापि इस दृष्टि से सातवाँ व आठवाँ अधिकार विशेष उल्लेखनीय है।

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी आदि प्रकरण तथा चार अनुयोगों की व्याख्यान पद्धति आदि विषय और उनका स्पष्टीकरण इसप्रकार का है कि जैसा जिनागम में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

जिन-अध्यात्म और सिद्धान्तों के तो वे विशिष्ट अध्येता थे ही; तत्कालीन समाज एवं उसके धार्मिक क्रियाकलाप भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके थे। शास्त्राध्ययन एवं आत्मानुभवन के अतिरिक्त उनका लोकनिरीक्षण भी अत्यंत सूक्ष्म रहा है।

पण्डित टोडरमलजी मुख्यत: आध्यात्मिक चिन्तक हैं; परन्तु उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। उनकी यह विशेषता मोक्षमार्गप्रकाशक में सर्वाधिक मुखर हुई है।

वे हिन्दी साहित्य के तत्कालीन गद्य लेखकों में सर्वाधिक सशक्त गद्यकार हैं। उन्होंने अपनी गद्यशैली का निर्माण स्वयं किया है। उनकी गद्यशैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनके गद्य में उनका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो उठा है।

उनकी शैली की एक विशेषता यह है कि प्रश्न भी उनके होते हैं और उत्तर भी उनके ही। पूर्व प्रश्न के समाधान में अगला प्रश्न उभरकर आ जाता है। इसप्रकार विषय का विवेचन अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने पर ही वह प्रश्न समाप्त होता है।

उनकी गद्यशैली में उनका अगाध पाण्डित्य एवं आस्था सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। दृष्टान्त उनकी शैली में

मणिकांचन योग से चमकते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग में पण्डितजी का सूक्ष्म वस्तुनिरीक्षण प्रतिबिम्बित है, जीवन के और शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने उदाहरण चुने हैं। उनके गद्य में लोकोक्तियों के प्रयोग भी खूब मिलते हैं।

उनकी शैली की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने अधिकांश आगम- प्रमाण शंकाकार के मुख में रखे हैं। उनका शंकाकार प्राय: प्रत्येक शंका आर्षवाक्य प्रस्तुत करके सामने रखता है और समाधानकर्त्ता आर्षवाक्यों का अपेक्षाकृत कम प्रयोग करता है और अनुभूतिजन्य युक्तियों और उदाहरणों द्वारा उसकी जिज्ञासा शांत करता है।

वे विशुद्ध आत्मवादी विचारक थे। उन्होंने उन सभी विचारधाराओं पर तीखा प्रहार किया जो आध्यात्मिकता के विपरीत थीं। आचार्य कुन्दकुन्द के साथ जो विशुद्ध अध्यात्मवादी आन्दोलन की लहर उठी थी; वे उसके अपने युग के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे। वे अपने युग के जैन आध्यात्मिक विचारधाराओं के ज्योतिकेन्द्र थे। आध्यात्मिकता उनके लिए अनुभूतिमूलक चिंतन है। चारों अनुयोगों के अध्ययन के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने आध्यात्मिक अध्ययन पर सबसे अधिक बल दिया है।

प्रतिभाओं का लीक पर चलना कठिन होता है; पर ऐसी प्रतिभायें बहुत कम होती हैं , जो लीक छोड़ कर चलें और भटक न जायें। पण्डित टोडरमलजी भी उन्हीं में से एक हैं, जो लीक छोड़कर चले पर भटके नहीं।

महापण्डित टोडरमल के मोक्षमार्गप्रकाशक को इस युग में जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी और उनके द्वारा सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को है। आचार्य कुन्दकुन्द और पण्डित टोडरमलजी की आध्यात्मिक क्रान्ति को इस युग में पुनरुज्जीवित करने का महान कार्य भी स्वामीजी ने ही किया है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पर जो प्रवचन उन्होंने किये, वे सरल-सुबोध होने के साथ-साथ उन मार्मिक बिन्दुओं को स्पर्श करते हैं, जो हमारी पुरानी मान्यताओं को झकझोर कर रख देते हैं। विशेषकर सातवें और आठवें अधिकारों पर हुए उनके प्रवचन बेजोड़ हैं।

समयसार पर हुए उनके प्रवचनों का प्रकाशन तो 'समयसार प्रवचन' और 'प्रवचन रत्नाकर' के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं; पर मोक्षमार्गप्रकाशक पर उनके प्रवचनों का प्रकाशन हिन्दी भाषा में अभी तक नहीं हुआ था। इस कमी की पूर्ति का काम आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट ने उठा लिया है, तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। इसका अनुवाद देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियां और सम्पादन का कार्य पण्डित अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य ने किया है ; अत: इसकी प्रामाणिकता के संदर्भ में कुछ सोचने की आवश्यकता ही नहीं है।

मेरा पक्का विश्वास है कि मुमुक्षु समाज तो इसका पूरा-पूरा लाभ लेगा ही; परन्तु मेरी भावना तो यह है कि इस सार्थक प्रयास का पूरा-पूरा लाभ सम्पूर्ण जैन समाज ले – इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२ ०१५

विषय-सूची

पहला अधिकार (पीठबंध प्ररूपण) **१ से ९६**

मंगलाचरण १, अरहंतों का स्वरूप ४, सिद्धों का स्वरूप १३, आचार्य-उपाध्याय-साधु का सामान्य स्वरूप १७, आचार्य का स्वरूप २५, उपाध्याय का स्वरूप २६, साधु का स्वरूप २७, पूज्यत्व का कारण २९, अरहंतादिक से प्रयोजनसिद्धि ३८, मंगलाचरण करने का कारण ४६, ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम-परम्परा५६, अपनी बात ५९, असत्यपद रचना प्रतिषेध ६१, बाँचने-सुनने योग्य शास्त्र ७२, वक्ता का स्वरूप ७७, श्रोता का स्वरूप ८५, मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता ८९

दूसरा अधिकार (संसार अवस्था का स्वरूप) **९७ से २०२**

कर्मबन्धन का निदान ९९

कर्मों के अनादिपने की सिद्धि १०१, जीव और कर्मों की भिन्नता १०५, अमूर्तिक आत्मा से मूर्तिक कर्मों का बंधान किसप्रकार होता है ? १०६, घाति-अघाति कर्म और उनका कार्य १०८, निर्बल जड़कर्मों द्वारा जीव के स्वभाव का घात तथा बाह्य सामग्री मिलना ११३

नवीन बन्ध विचार ११६

योग और उससे होनेवाले प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध १२७, कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध १३०, ज्ञानहीन जड़-पुद्गल परमाणुओं का यथायोग्य प्रकृतिरूप परिणमन१३३, सत्तारूप कर्मों की अवस्था १३६, कर्मों की उदयरूप अवस्था १३७, द्रव्यकर्म व भावकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति १४०, नोकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति १४३, नित्यनिगोद और इतरनिगोद १४६

कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्था १४८

ज्ञानावरण-दर्शनावरणकर्मोदयजन्य अवस्था १४८, मतिज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति १५१, श्रुतज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति १५७, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान की प्रवृत्ति १५८, चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शन की प्रवृत्ति १५८

मोहनीयकर्मोदयजन्य अवस्था १६८, दर्शनमोहरूप जीव की अवस्था १६९, चारित्रमोहरूप जीव की अवस्था १७३, अंतरायकर्मोदयजन्य अवस्था १९०, वेदनीयकर्मोदयजन्य अवस्था १९१, आयुकर्मोदयजन्य अवस्था १९४, नामकर्मोदयजन्य अवस्था १९६, गोत्रकर्मोदयजन्य अवस्था २००

तीसरा अधिकार (संसारदु:ख तथा मोक्षसुख का निरूपण) २०३ से ३३४

संसारदु:ख और उसका मूलकारण २०४

(क) कर्मों की अपेक्षा से २०४ से २१६

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २०५, मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २४२

दर्शनमोह से दु:ख और उससे निवृत्ति २४२

चारित्रमोह से दु:ख और उससे निवृत्ति २५४

अन्तरायकर्म के उदय से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २७१

वेदनीयकर्म के उदय से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २७३

आयुकर्म के उदय से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २९१

नामकर्म के उदय से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २९५

गोत्रकर्म के उदय से होनेवाला दु:ख और उससे निवृत्ति २९६

(ख) पर्याय की अपेक्षा से २९७ से ३१६

एकेन्द्रिय जीवों के दु:ख २९७, विकलत्रय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दु:ख २०३, संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दु:ख ३०४, नरकगति के दु:ख ३०४, तिर्यंचगति के दु:ख ३०८, मनुष्यगति के दु:ख ३१० देवगति के दु:ख ३१३

(ग) दु:ख का सामान्य स्वरूप ३१६ से ३२४

चार प्रकार की इच्छाएँ ३१६

मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति का उपाय ३२४

चौथा अधिकार (मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण) ३३५ से ४३६

मिथ्यादर्शन का स्वरूप ३३६

प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पदार्थ ३४३

मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति ३५१

जीव-अजीवतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३५१, आस्रवतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३६१, बंधतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३६६, संवरतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३७०, निर्जरातत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३७३, मोक्षतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३७६, पुण्य-पाप संबंधी अयथार्थ श्रद्धान ३८०

मिथ्याज्ञान का स्वरूप ३८२

मिथ्याचारित्र का स्वरूप ४०६

इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना ४०९

राग-द्वेष का विधान व विस्तार ४१८

मोह की महिमा ४३२

ॐ नमः सिद्धेभ्यः



मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन

भाग - १

पहला अधिकार
पीठबंध प्ररूपण

यह श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक ग्रन्थ है। इसके रचयिता पण्डित टोडरमलजी गृहस्थ थे, फिर भी आचार्य-कल्प कहलाते हैं। उन्होंने बहुत उपयोग लगाकर इस शास्त्र की रचना की है। शास्त्र रचना में उनका इतना उपयोग था कि उनकी मातुश्री ने छह माह तक सब्जी में नमक नहीं डाला, छह माह बाद जब उनका उपयोग शास्त्र की रचना की तरफ से कुछ हटा, और उन्होंने माताजी से पूछा, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे तो विगत छह माह से सब्जी में नमक नहीं डाल रही हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ को सत्श्रुत में गिना है।

अब यहाँ गुजराती अनुवादक मंगलाचरण करते हैं –

शार्दूलविक्रीड़ित

श्री सत् तत्त्व रुचि सुबोध स्थिरता शुद्धात्म भावे वरूँ;
वंदू सत्श्रुति सद्गुरु चरण को सत्कार्य सिद्धि करूँ।
प्रारंभ में परमेष्ठी पंच प्रणमूँ मांगल्य देते सदा;
सबको श्रेय करें धरें स्वपद में स्वानन्द दें सर्वदा॥

देखो ! यहाँ पहली पंक्ति में ही मोक्षमार्ग का स्वरूप रख दिया है। सच्चे तत्त्व की रुचि होना, वह सम्यग्दर्शन है और सुबोध माने सम्यग्ज्ञान तथा स्थिरता माने सम्यक्चारित्र – इन तीनों की एकता ही शुद्ध भावनारूपी मोक्षमार्ग है।

मैं सत्श्रुत और सद्गुरु के चरणों में नमस्कार करता हूँ। मोक्षमार्ग का फल मोक्ष है, उसमें रहूँ – इसके लिये यह मांगलिक है। प्रारम्भ में पंचपरमेष्ठी को नमन करते हैं, वे सदा मंगलकारी हैं और सबका श्रेय करने वाले हैं, अपने पद में धरते हैं और सदा अपने आनन्द को देते हैं।

सवैया

शाश्वत निजात्म तत्त्व यथार्थ समझने को,
मोक्षमार्गप्रकाशक श्रेष्ठ सुखदायी है।
अनादि का दु:ख जाय आत्मसिद्धि सदा थाय,
आस्रव रोकाय भाव संवर वराय है।
नमो-नमो शुद्धभाव सच्चिति स्वरूप गुरु,
ज्ञान-ध्यान आत्मपुष्टि सत्वर कराय है।
मंगल कल्याण माला सुगंध विस्तार थाय,
मोहभाव जाय शुद्ध स्वभाव पमाय है।।

अपना आत्मा नित्य है। उसकी यथार्थ समझ के लिये यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' श्रेष्ठ ग्रन्थ है, सुखदायक है। इसको समझने से अनादि का दु:ख जाता है और अल्पकाल में आत्मा की सिद्धि होती है। मिथ्यात्वादि रुकते हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। शुद्धभावरूप सत् चैतन्य और उसके धरने वाले ऐसे सद्गुरु को नमस्कार करता हूँ। ज्ञान और ध्यान से शीघ्रपने आत्मा की पुष्टि होती है, जिससे आनन्दरूपी सुगन्ध का विस्तार होता है। मोहभाव का नाश करके शुद्ध स्वभाव प्राप्त होता है, – यही मांगलिक है।

दोहा

परम पदारथ प्राप्ति को मंगलमय जिनवाणि।
बंदूँ निजगुण वृद्धि कर लहूँ सदा सुखखानि।।

अब सर्वप्रथम ग्रन्थकर्त्ता पण्डित टोडरमलजी मंगलाचरण करते हैं –

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जातैं भये अरहंतादि महान।।१।।
करि मंगल करि हौं महा ग्रन्थकरन को काज।
जातैं मिले समाज सब पावैं निजपद राज।।२।।

देखो ! एक ही पद में मोक्ष का उपाय बतला दिया है।

वीतराग-विज्ञान मंगलमय है। राग-द्वेष विकार रहित आत्मा का ज्ञान वीतराग-विज्ञान है और वह मंगलमय है, मंगल करनेवाला है। पुण्य-पाप और निमित्त रहित स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान और रमणता वीतराग-विज्ञान है और वह मंगलमय तथा मंगलस्वरूप है। वीतराग-विज्ञान के द्वारा वीतराग हुए हैं। व्यवहार द्वारा, राग द्वारा अथवा निमित्त द्वारा अरहन्तादिक नहीं हुए हैं। पंच नमस्कार मंत्र में जिन परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, वे वीतराग-विज्ञान से हुए हैं। वे मंगलस्वरूप तथा मंगलकारक हैं। इसप्रकार महामंगल करके यह महाग्रन्थ करता हूँ। इस ग्रंथ के करने से जो मेरे अनन्त गुण शक्तिरूप हैं, वे व्यक्त हों तथा पूर्णदशा प्रगट हो – ऐसा कहकर मंगलाचरण किया है।

अब श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नामक ग्रन्थ का 'उदय' होता है।

देखो, यहाँ 'उदय होता है' – ऐसा कहा है; परन्तु मैं लिखता हूँ – ऐसा नहीं कहा। उदय होता है माने प्रगट होता है। जैसे सूर्योदय होता है, उसे कोई करता नहीं है; उसीप्रकार ग्रन्थ का उदय होता है, प्रगट होता है।

यहाँ सर्वप्रथम पण्डित टोडरमलजी मंगलाचरण करते हैं। मांगलिक कर्त्तव्य अर्थात् मांगलिक अनुष्ठान करते हैं।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं॥

यह प्राकृत भाषामय नमस्कार मंत्र है और सर्वमंगलों में यह महामंगल है। इसका संस्कृत निम्न प्रकार होता है –

नमोऽर्हद्भ्य, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः उपाध्यायेभ्यः, नमो लोके सर्वसाधुभ्यः। अर्थात् – श्री स्वरूप लक्ष्मी को प्राप्त अरहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में स्थित सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

यहाँ 'सर्वसाधुओं को' नमस्कार किया, उसमें जगत द्वारा मान्य सर्वसाधु नहीं समझना चाहिये। (यहाँ तो आत्मज्ञानी-ध्यानी नग्न दिगम्बर सन्तों को नमस्कार किया गया है)

इसप्रकार इस मंत्र में पंच परमेष्ठी पदों को नमस्कार किया है – इस कारण इसका नाम नमस्कार मंत्र है।

अब यहाँ जिन्हें नमस्कार किया गया है, उनका स्वरूप चिन्तवन करते हैं; क्योंकि स्वरूप के परिज्ञान बिना किसको नमस्कार करता हूँ ? यह ख्याल में नहीं आता। मैं भगवान के परमौदारिक शरीर को नमस्कार करता हूँ या साधु के महाव्रतादि को नमस्कार करता हूँ – ऐसा अज्ञानी जानता है। नमस्कार करने योग्य पुरुष के स्वरूप को जाने बिना ख्याल में नहीं आता कि मैं किसे नमस्कार करता हूँ।

जिसको पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का पता नहीं है, उसे वास्तव में आत्मा के स्वरूप का भी पता नहीं है। अत: यहाँ यह महान सिद्धान्त बताया है कि – जिन्हें नमस्कार करना है, प्रथम उन्हें जानना चाहिये; उन्हें जाने बिना सच्चा नमस्कार नहीं होता।

वस्तुत: बिना समझे सच्ची महिमा नहीं आती। बिना समझे कुछ भी लाभ नहीं होता। जैसे लड़के को पाँच किलो शक्कर लाने को कहा हो और वह समझे बिना लेने जाये तो रटा हुआ भूल जावे और काम नहीं हो। अत: पहिले यह निर्णय करना चाहिये कि इस काम के लिये यह चीज मँगाते हैं; वैसे ही जिनका स्मरण करना है, पहले उनका स्वरूप जाने तो उत्तम फल होता है। स्वरूप समझे बिना उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती। पंच परमेष्ठी के स्वरूप भान सहित नमस्कार करने से उत्तम फल प्राप्त होता है।

पंच परमेष्ठी के स्वरूप को जाने बिना मात्र शुभभाव से नमस्कार करे तो स्वर्गादि मिलते हैं, परन्तु धर्म नहीं होता। अत: अब पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का विचार करते हैं – ऐसा पण्डितजी कहते हैं। पण्डितजी को स्वरूप समझना बाकी नहीं है, वे तो समझ ही चुके है, परन्तु जो समझना चाहता है उसको साथ रखकर बात करते हैं। अब पंच परमेष्ठियों के स्वरूप को दर्शाते हैं।

अरहन्तों का स्वरूप

....जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार करके, निज स्वभाव साधन द्वारा, चार घाति कर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुये हैं।....

अरहन्त को सच्चा नमस्कार हुआ कब कहा जाये ? वह कहते हैं।

अरहन्त भगवान व्यक्तिरूप से तो अनादि नहीं हैं, परन्तु अनादि परम्परा से हैं। जिन्हें अरहन्त पद प्राप्त हुआ है, वे भी पहले संसारी थे। उन्होंने पहले गृहस्थपना छोड़ा। इससे यह सुनिश्चित होता है कि – गृहस्थदशा में मुनिपना अथवा अरहंत दशा नहीं होती। अत: जो ऐसा

मानते हैं कि मरुदेवी माता और भरत चक्रवर्ती को गृहस्थदशा में केवलज्ञान हुआ – वह यथार्थ नहीं है। तथा अन्य लिंग से केवलज्ञान होता है – यह बात भी सत्य नहीं है। अरहन्तपने का कारण प्रथम गृहस्थपना छोड़कर मुनिपना अंगीकार करना ही है – ऐसा जो नहीं मानते, वे तो अरहन्त के स्वरूप को ही नहीं जानते। अरहन्त ने गृहस्थाश्रम के भाव का व्यय और मुनिपने के भाव का उत्पाद किया है और आत्मा तो ध्रुव है – इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना हुआ। तथा मुनिपने के भाव की अस्ति और गृहस्थपने के भाव की नास्ति – यह अस्ति-नास्तिपना हुआ।

अज्ञानी मानते हैं कि गृहस्थपने में रहकर भी अरहन्त हुआ जा सकता है, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता।

अरहन्त परमेष्ठी ने गृहस्थपने के विकारी भावों तथा उनके निमित्तों का परित्याग करके मुनिपना अंगीकार किया। जितने भी अरहन्त आज तक हुए, हो रहे हैं और आगे होंगे, वे सभी मुनिपना अंगीकार करने के पश्चात् ही होते हैं। वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना होता है अथवा अरहन्तपना पाया जा सकता है – ऐसा कदापि संभव नहीं है। उन्हें आत्मा का भान तो पहले से ही था, तत्पश्चात् पर्याय में विद्यमान गृहस्थपने के राग का व्यय किया अर्थात् उसके निमित्त छूटे और मुनिधर्म अंगीकार किया।

देखो ! वस्त्र का त्याग मात्र ही मुनिपना नहीं है। निज स्वभावभाव का साधन अथवा शुद्धोपयोग मुनिपना है। कोई वेष मुनिपना नहीं है। विकार का अभाव होने पर विकार के निमित्तों का अभाव भी सहज ही हो जाता है। तीन चौकड़ी कषायों का अभाव ही गृहस्थपने का त्याग है और अन्तर वीतरागता प्रगट होना मुनिपने का उत्पाद है।

तत्पश्चात् उन्होंने चार घाति कर्मों का नाश किया। किस प्रकार नाश किया ? क्या पंच महाव्रत पालन करके या तपश्चरण करके चार घाति कर्मों का नाश किया ? नहीं, निज स्वभाव साधन द्वारा नाश किया। निमित्तरूप साधन अर्थात् व्यवहार साधन से केवलज्ञान प्राप्त हो – ऐसा है ही नहीं। "निज स्वभाव साधन है" – ऐसी प्रतीति तो गृहस्थाश्रम में भी थी। वस्त्र-त्याग करने से मुनिपना आया – ऐसा नहीं कहा; अन्तर में राग का अभाव होने पर मुनिपना आता है।

गृहस्थाश्रम के राग का व्यय और मुनिधर्मरूप अविकारी दशा की उत्पत्ति – दोनों एकसाथ हैं। पश्चात् त्रिकाली शुद्धस्वभाव के साधन द्वारा चार घाति कर्मों का नाश किया।

इसप्रकार पहली पंक्ति में तीन बातें ली हैं –

१. गृहस्थपने के भाव का त्याग, २. मुनिपने के भाव का ग्रहण और ३. निजस्वभाव साधन के द्वारा अरहन्त दशा होती है।

जो लोग इस बात को नहीं समझते, वे कहते हैं कि – शास्त्र में आगम और अध्यात्म – ऐसे दो साधन आते हैं ? परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि एक निज स्वभाव साधन से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है – ऐसी श्रद्धा पहले करना चाहिए। मुनिपने में भी ऐसी ही श्रद्धा होती है। निज स्वभाव की प्रतीति-ज्ञान और रमणता करना ही अरहन्त होने का कारण है। ऐसे साधन से ही चार घातिया कर्मों का नाश होकर अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं।

लोग कहते हैं कि उपवास करो, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करो तो केवलज्ञान होगा। भाई ! अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का भाव आस्रव है; उसके द्वारा केवलज्ञान नहीं होता। नग्न रहना अथवा उपवास करना, निज स्वभाव का साधन नहीं है। अन्तर में निज स्वभाव का साधन करने वाले को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का नाश होता है। निज स्वभाव साधन द्वारा बारहवें गुणस्थान में मोह का नाश हुआ, तत्पश्चात् तेरहवें गुणस्थान में निजस्वभाव साधन द्वारा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय का नाश हुआ।

भाई ! जिन्हें तू नमस्कार करता है – ऐसे पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप के परिज्ञान बिना उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती। शुद्धोपयोग साधन से केवलज्ञान होता है। अपूर्णदशा में शुभभाव आता है, परन्तु उससे मुनिपना होवे अथवा केवलज्ञान होवे – ऐसा नहीं बनता। चार घाति कर्मों का नाश वीतरागी साधन से ही होता है और पूर्णज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य प्रगट होते हैं। इसप्रकार जो पर्यायें उत्पन्न हुई हैं उनके द्वारा अरहन्त परमात्मा शोभायमान होते हैं।

अरहन्त परमात्मा को पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई थी तब चार घाति कर्म निमित्त थे। पूर्ण सर्वज्ञदशा प्रगट होने पर उनका नाश होता है। इसलिये उन्होंने घाति कर्मों का क्षय किया – ऐसा कहा जाता है। अरहन्त परमात्मा अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए हैं। उनके जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट हुये हैं, वे अनन्तकाल तक रहते हैं – इस कारण अनन्त हैं – ऐसा नहीं हैं; परन्तु पर्याय में इन चार गुणों की अनन्तता प्रगटी है – इस अपेक्षा से अनन्त है।

....वहाँ अनंतज्ञान द्वारा तो अपने अनंतगुण-पर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्यों को युगपत् विशेषपने से प्रत्यक्ष जानते हैं, अनंतदर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करते हैं, अनंतवीर्य

द्वारा ऐसी सामर्थ्य को धारण करते हैं, अनंतसुख द्वारा निराकुल परमानन्द का अनुभव करते हैं। पुनश्च, जो सर्वथा सर्व राग-द्वेषादि विकारभावों से रहित होकर शांतरसरूप परिणमित हुए हैं।....

अब एक-एक गुण की बात करते हैं – उनमें सर्वप्रथम अनन्तज्ञान की बात करते हैं –

भगवान अरहन्त के अनन्तज्ञान प्रगट हुआ है। उसमें उन्होंने क्या जाना ? अनन्त आत्मायें, अनन्तानन्त परमाणु, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्य कालाणु अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय सहित हैं। जो-जो द्रव्य हैं, वे अपने अनन्त गुणों और अपनी विकारी-अविकारी पर्यायों सहित हैं – ऐसा उनके केवलज्ञान में ज्ञात होता है। उन्होंने सिद्धों को केवलज्ञानादि सहित और निगोदियों को अल्पज्ञता तथा राग-द्वेषादि सहित देखा है।

इसप्रकार अरहन्त भगवान अनन्तज्ञान द्वारा तो अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित समस्त जीवादि द्रव्यों को युगपत् विशेषपनेरूप से प्रत्यक्ष जानते हैं। केवलज्ञान में, जड़ और जड़ की गुण-पर्यायें तथा चेतन और चेतन की गुण-पर्यायें ज्ञात होती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, कालादि समस्त द्रव्यों में अनन्त गुण-पर्यायें हैं; उन सबको गुण-पर्यायों सहित एक समय में अरहन्त परमात्मा जानते हैं।

यदि कोई कहे कि भविष्य की पर्याय जब होगी तब जानते हैं, तो उसकी बात मिथ्या है; क्योंकि केवलज्ञान समस्त गुण-पर्यायों को एक साथ जानता है।

पहले समय में केवलज्ञान और दूसरे समय में केवलदर्शन – ऐसा भी नहीं है। दोनों में समय भेद मानने वाला अरहन्त के स्वरूप को नहीं जानता। अत: यदि वह नमस्कार मंत्र पढ़ता है, उस समय मंद कषाय होवे तो उसे पुण्य बंधता है, परन्तु धर्म का अथवा उत्तम फल का लाभ नहीं होता। इसलिये जिनको नमस्कार करना है सर्वप्रथम जीवों को उनका स्वरूप जानना चाहिये। स्वरूप को जानकर किये जाने वाले नमस्कार में उत्तम फल मिलता है।

लोक-अलोक है, इसलिये भगवान को ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। परन्तु भगवान को अपनी अनन्तज्ञान शक्ति प्रगट हुई है, उसके द्वारा वे एक साथ छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों को विशेषपने सहित एक समय में जानते हैं। जीव-पुद्गलादि भिन्न-भिन्न हैं। उनमें अनन्त गुण-पर्यायें हैं – उन सबको अरहन्त भगवान एक समय में जानते हैं।

किस जीव के कितने भव हैं, वह भी भगवान जानते हैं; क्योंकि उनका ज्ञान विशेषपने सहित है। इस जगत में पूजनीक तो वीतरागता और विशेष ज्ञान ही है। जिनको ऐसी दशा प्रगट

हुई है वे परमात्मा सब जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि कौन जीव कब केवलज्ञान और मुक्तदशा पायेगा ?

कोई कहता है कि जब भगवान ऐसा जानते हैं तो जितने भव सर्वज्ञ ने देखे हैं उतने होंगे, उससे कम-ज्यादा नहीं होंगे ?

उससे कहते हैं कि जिसको सर्वज्ञता की प्रतीति और पर्यायों की क्रमबद्धता की प्रतीति होती है, उसके भव अधिक होते ही नहीं। ज्ञानस्वभावी प्रभु अल्पज्ञता का अभाव करके सर्वज्ञता को प्राप्त करता है – ऐसी दिव्यशक्ति वाले अरहन्त देव हैं। उनका स्वरूप जानकर नमस्कार करना योग्य है।

कितने ही जीव जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर भी, अरहन्त देव कैसे होते है ? – इसका विचार तक नहीं करते। अरहन्त के स्वरूप का निर्णय करे तो, आत्मा चिदानन्द प्रभु है, पुण्य-पाप पर्याय में हैं; उनका नाश करके स्वयं सर्वज्ञ हो सकता है – ऐसा निर्णय भी अवश्य हो जाता है। अत: अरहन्त को नमस्कार करने वाले को प्रथम यह जानना चाहिये कि उनका ज्ञान कैसा होता है ? इसको जाने बिना उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती।

केवली भगवान को अभी असिद्धत्व नाम का औदयिकभाव है, योग का कंपन इत्यादि अशुद्धता है और वह स्वयं के कारण है, कर्म के कारण अशुद्धता नहीं – ऐसा वे जानते हैं। वे मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व सहित, सम्यग्दृष्टि को सम्यक्त्व सहित, पंचम गुणस्थानवर्ती को जितनी शुद्धता-अशुद्धता है उतनी शुद्धता-अशुद्धता सहित जानते हैं। केवलज्ञान का सामर्थ्य कितना है और वह किस-किस ज्ञेय को जानता है – यह बात यहाँ बतला रहे हैं।

अहो ! पण्डितजी की समझाने की शैली बहुत सरस है। वे कहते हैं कि मैं यथार्थ परिज्ञानपूर्वक केवली भगवान को नमस्कार करता हूँ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीनों को निज स्वभाव साधन में समाहित किया है। शुद्धोपयोग कहो या मोक्षमार्ग कहो – दोनों एक ही हैं। केवली भगवान को प्रतिसमय केवलज्ञान का उत्पाद होता है। वैसी की वैसी दशा होने पर भी वह की वह दशा नहीं है। यहाँ जीवादि द्रव्य, उनके गुण और पर्यायें – ये तीनों लिये गये हैं।

यदि कोई यह कहे कि 'आत्मा में गुण नहीं होते', तो वह न तो केवलज्ञान को जानता है और न ज्ञेय को ही जानता है। इसीप्रकार कर्म के कारण विकार मानने वाला भी ज्ञेय को नहीं जानता और न अरहन्त को ही पहिचानता है।

अरहन्त अपने को कैसा जानते हैं ? अपने में अनन्त निर्मल गुण, केवलज्ञानादि निर्मल पर्यायें और योग कंपन आदि मलिन पर्यायों सहित जानते हैं तथा शेष अघाति कर्मों को भी उनके द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित जानते हैं। ज्ञेयों का भी विशेष स्वभाव है और ज्ञान का भी विशेष को जानने का स्वभाव है।

क्या इतना सब जानने से विकल्प होता होगा ? नहीं, विकल्प नहीं होता। वे अनन्त द्रव्यों को, अनन्त गुणों को तथा अनन्त निर्मल और मलिन पर्यायों को भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष राग रहित होकर जानते हैं। जगत में उन पदार्थों की सत्ता है, इसलिये वे उन्हें जानते हैं – ऐसा नहीं है। वे पर्याय के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों को भी जानते हैं; फिर भी उन्हें राग नहीं है।

वे अनन्तदर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करते हैं। दर्शन के विषय में – यह जीव है, यह अजीव है – ऐसा भेद नहीं पड़ता। समस्त द्रव्यों को सामान्यरूप से अर्थात् भेद पाड़े (किए) बिना देखते हैं और प्रत्यक्ष देखते हैं। अरहन्त पर के द्वारा नहीं देखते, किन्तु स्वयं के द्वारा देखते हैं।

वे पदार्थ हैं, इसलिये देखते हैं – ऐसा नहीं है। परन्तु अपनी अनन्तदर्शन शक्ति खिल गई है, उसके द्वारा देखते हैं। यदि पर के कारण देखते होते तो लोकालोक तो अनादि का है; अतः सबको (अनादि से) केवलज्ञान-केवलदर्शन होना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है।

अब अनन्तवीर्य की बात करते हैं –

अनन्तवीर्य के द्वारा ऐसी उपर्युक्त सामर्थ्य को धारण करते हैं। अनन्तज्ञान-दर्शन की सामर्थ्य को धारना – इसे बल कहते हैं। वाणी निकालना या उपदेश देना, वह भगवान की सामर्थ्य नहीं है (वह तो पुद्गल की सामर्थ्य है)। किसी को समझा दें – ऐसी सामर्थ्य को भगवान धारण नहीं करते। वीर्य का कार्य तो ज्ञान-दर्शन की सामर्थ्य को धारण करना है। राग को धारण करना आत्मा की सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं अपने साधन से पूर्ण दशा को प्राप्त करूँगा।

केवलज्ञान टिका रहता है वह वीर्यगुण की सामर्थ्य है। अज्ञानी लोग कहते हैं कि – पर के कार्य करे, जगत को तिरावे; वह वीर्य वाला कहलाता है तथा योग की साधना करके स्वर्ग अथवा मृत्युलोक में उतार दे, वह वीर्यगुण का काम है; परन्तु ये सब बातें मिथ्या हैं। आत्मा में पर का कुछ भी कार्य करने की सामर्थ्य नहीं है; परन्तु आत्मा के जो अनन्त ज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं, उन्हें धारण किए रखना, आत्मा के वीर्य का काम है। यह वीर्य तो आत्मा

का अरूपी गुण है। यहाँ जड़ वीर्य की तो बात ही नहीं है। जगत के जीवों को पार लगाना वीर्य का काम नहीं हैं। इसप्रकार अरहन्त के स्वरूप को समझकर नमस्कार करने वाले को उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

अरहन्त भगवान किसी को तिरा दे – पार लगा दें – ऐसी उनमें सामर्थ्य नहीं है। आत्मा स्वयं वीतराग होना चाहे तो उसमें वीतराग होने की सामर्थ्य है – ऐसी प्रतीति करने वाले के लिये अरहन्त को निमित्त कहा जाता है। आत्मवीर्य का कार्य तो ज्ञान-दर्शनादि गुणों की सामर्थ्य की रचना करना है। पर की रक्षा करना आत्मवीर्य का कार्य नहीं है।

लोग अरहन्त भगवान के समक्ष दीन होकर ऐसी याचना करते हैं कि – हमें तिरा देना; परन्तु अरहन्त किसी को तिराते नहीं हैं। मैं पर से तिर जाऊँ – ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है और कोई पर द्रव्य मुझे तिरा दे – ऐसी उसमें शक्ति नहीं है।

किसी को ऐसा लगे कि – ऐसा मानने में भगवान की महत्ता तो रही ही नहीं, अपितु इससे तो उनका अपमान होता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जैसा अरहन्त का स्वरूप है वैसा जाने बिना नमस्कार करने वाला ही वस्तुत: भगवान का अपमान करता है और उसने तो स्वयं अपने को भी नहीं समझा; अत: अपना भी अपमान करता है। कोई पर का मान अथवा अपमान नहीं करता – यह सिद्धान्त है।

अब अनन्त आनन्द अथवा सुख बतलाते हैं –

अनन्तसुख से निराकुल परम आनन्द का अनुभव करते हैं। वे लोकालोक को जानते हैं, इसलिये आनन्द है – ऐसा नहीं है। देखो ! ये अरहन्त महामंगल स्वरूप हैं। अरहन्त के आनन्द को निराकुल विशेषण दिया है, क्योंकि उनके निराकुल आनन्दकंद उछलता है, उसका अनुभव करते हैं – यह अस्ति से बात की है। अब जब परमानन्द का भाव वर्तता है तब किसका अभाव किया ? ऐसी नास्ति से बात करते हैं कि वे सर्वथा सर्व राग-द्वेषादि विकारी भावों से रहित हुए हैं और शान्तरसरूप परिणमित हुए हैं। भगवान काम-क्रोध, पुण्य-पापादि भावों से रहित हुए हैं, अकषाय शान्तरसरूप हुए हैं।

भगवान ने बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाले समस्त राग का अभाव किया है। वे पुण्य-पाप से रहित होकर अकषाय शान्त स्वभावरूप परिणमित हुए हैं। इसप्रकार अरहन्त के अन्तर के चतुष्टय और शान्तरस की बात हुई। मोह का अभाव होने से शान्तरस प्रगट होता है और चार घाति कर्मों के नाश से अनन्त आनन्द अथवा सुख होता है।

अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने बिना तथा वे अरहन्त किस प्रकार हुए – यह जाने बिना उनके प्रति सच्चा नमस्कार नहीं हो सकता। प्रथम गृहस्थपना छोड़कर मुनिधर्म अंगीकार करने के पश्चात् ही केवलज्ञान होता है। भरत चक्रवर्ती भी गृहस्थपना छोड़कर मुनि हुए, उसके पश्चात् ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। मुनिपने का अर्थ मात्र नग्नपना नहीं, पंच महाव्रतों का विकल्प नहीं; परन्तु शुद्धोपयोग ही वस्तुतः मुनिपना है। अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से केवलज्ञान नहीं होता। पुण्य-पाप रहित आत्मा के शुद्ध परिणमन को मुनिधर्म कहते हैं। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। भगवान ने अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के साधन से केवलज्ञान आदि चतुष्टय पाया है, उसका वर्णन यहाँ किया गया है।

अब अन्य लक्षणों की बात करते हैं –

....तथा क्षुधा-तृषादि समस्त दोषों से मुक्त होकर देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं; तथा आयुध-अंबरादिक व अंगविकारादिक जो काम-क्रोधादि निंद्यभावों के चिह्न उनसे रहित जिनका परम औदारिक शरीर हुआ है।....

भगवान को आहार-पानी नहीं होता। वे देवों के भी देव हुए हैं। अठारह दोषों से रहित हैं। सर्वार्थसिद्धि के देवों को तेंतीस हजार वर्ष तक क्षुधा नहीं लगती और भगवान को रोजाना आहार का प्रसंग बने – ऐसा नहीं हो सकता। उनका शरीर जीर्ण नहीं होता। भगवान को रोग होवे और वे दवा लाने को कहें – यह बात असंभव है। उनके शस्त्र व वस्त्रादि नहीं होते। शस्त्र क्रोध का सूचक है, वस्त्र राग का सूचक है, बगल में स्त्री बैठी हो वह काम की सूचक है – ऐसे लक्षण भगवान के शरीर में नहीं होते। भगवान तो शान्तरसरूप स्थिर हो गये हैं। तथा उनके अंग विकार नहीं होता। उनका शरीर काम-क्रोधादि के निंद्य भावों के चिन्ह से रहित हुआ है। जो पूजनीक हुए हैं, उनके निंद्यभाव नहीं होते। भगवान का शरीर परमौदारिक स्फटिक के समान होता है। उनके क्षुधा-तृषा रोगादिक नहीं होते।

अब भगवान की वाणी की बात करते हैं –

....तथा जिनके वचनों से लोक में धर्मतीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवों का कल्याण होता है; तथा जिनके लौकिक जीवों को प्रभुत्व मानने के कारणरूप अनेक अतिशय और नानाप्रकार के वैभव का संयुक्तपना पाया जाता है।....

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि द्वारा संसार तिरने के कारणरूप तीर्थ प्रवर्तता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक श्रावक, श्राविका, आर्यिका और मुनि – ये चार तीर्थ हैं। वे तिरते हैं, उसमें भगवान की वाणी निमित्त है, उसमें मिथ्यादृष्टि निमित्त नहीं होता।

भगवान के भावमन नहीं होता, द्रव्यमन होता है; परन्तु यहाँ उसकी बात नहीं की है।

अन्य लौकिकजनों को प्रभुत्व मानने के कारणरूप अनेक अतिशय भगवान के होते हैं। अहो ! ये भगवान महा प्रतिभाशाली हैं। मिथ्यादृष्टि, भगवान की अन्तरंग प्रभुता को नहीं जानते; किन्तु वे बाह्य प्रभुता से ही उनको पहिचानते हैं। समवशरण में अंधा देखने लग जाता है, बहरा सुनने लग जाता है, लूला पैर सहित हो जाता है, वहाँ मार-काट अथवा प्लेग आदि रोग नहीं होते – ऐसे चमत्कारों को ही लौकिक जीव देखते हैं। समवशरण के भीतर कोई वाद-विवाद नहीं करता, तीव्र आर्त्त-रौद्र ध्यान नहीं करता। बकरी और शेर, चूहा और बिल्ली समवशरण में एक साथ बैठे होते हैं, देव पुष्पवृष्टि करते हैं – इत्यादि अनेक प्रकार का वैभव भगवान के होता है। परन्तु यह वैभव तो संयोग है। स्वभाव से तो भगवान पूर्ण ज्ञानादिरूप परिणमित हुए हैं; किन्तु पूर्व पुण्य के कारण ऐसा अतिशय युक्तपना है। इससे लौकिक प्रभुत्व मानने का कारण बनता है।

अब धर्मात्मा की बात करते हैं –

....तथा जिनका अपने हित के अर्थ गणधर-इन्द्रादिक उत्तम जीव सेवन करते हैं।....

धर्मात्मा गणधर तथा इन्द्रादि उत्तम पुरुष अपने हित के लिये भगवान की वंदना तथा सेवा करते हैं; वे उनके अतिशयों के कारण उनकी सेवा नहीं करते और न ही उन्हें लौकिक फल की इच्छा होती है।

सेवा माने क्या ? पैर दबाना, वह सेवा नहीं है। परन्तु धर्मात्मा को वाणी सुनने का विनय है। अहो ! यह बात अपूर्व है। अत: वह बहुमान पूर्वक गद्‌गद् हृदय से सुनता है। इसप्रकार अपने हित के लिये उनकी सेवा करता है।

वस्तुत: कोई जीव पर की सेवा कर सकता है – ऐसा नहीं है। परन्तु स्वयं अपने में श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करके अपना हित साधे, वह वास्तविक सेवा है। एक वस्तु दूसरी वस्तु को वास्तव में छूती नहीं है, तो फिर 'सेवा करता है' – यह बात कहाँ रही ? एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। उपचरित दूर क्षेत्रवर्तीपना बतलाता है और अनुपचरित नजदीकपना बतलाता है; परन्तु कोई वस्तु दूसरी वस्तु में प्रवेश पाती है – ऐसा उसका अर्थ नहीं है। अनुपचार से एक हो जाती है और उपचार से भिन्न होती है – ऐसा नहीं है। द्रव्य नजदीक हो या दूर; परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। अत: कोई किसी की सेवा करता है – ऐसा नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिये अथवा निकट में कार्य होता हो, उसकी पहिचान कराने के लिये 'सेवन करता है' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

जिन जीवों को ज्ञानस्वभावी आत्मा की ऐसी प्रतीति होती है, उन्हें भगवान की वाणी निमित्त कही जाती है और व्यवहार से कहा जाता है कि उन्होंने भगवान का सेवन (सेवा) किया।

इसप्रकार सर्व प्रकार से पूजने योग्य श्री अरहन्त देव को हमारा नमस्कार हो। धर्मात्मा लौकिक आकांक्षा से भगवान को नहीं पूजता; लेकिन अपने हित अर्थात् केवलज्ञान के लिये पूजता है। उसके अभिप्राय में अतिशयों की महिमा नहीं है।

भगवान की स्तुति करते हुए आप्तमीमांसा में श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि – हम समवशरण अथवा अन्य अतिशयों के कारण आपको महान नहीं मानते; बल्कि अनन्त चतुष्टयों के कारण महान मानते हैं। हमारे आगम में कहा है, इसलिये नहीं मानते; बल्कि आपने वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता से केवलज्ञान को पाया है – ऐसी पहिचान पूर्वक आपको मानते हैं। अन्य आज्ञा प्रधानी भले ही माने, किन्तु हम तो परीक्षा प्रधानी हैं; अत: हम परीक्षा पूर्वक आपको महान मानकर नमस्कार करते हैं।

यहाँ 'सर्व प्रकार से पूजने योग्य अरहन्त देव को हमारा नमस्कार हो' – ऐसा कहा है। सो अन्य देवों से भिन्न करने के लिये अरहन्त देव 'सर्व प्रकार से पूजने योग्य है' ऐसा कहा है। वस्तुत: तो अपना चिदानन्द आत्मा है, वही सर्व प्रकार से पूजने योग्य है। आत्मा में शुद्ध पर्याय प्रगटे, वह भी सर्व प्रकार से पूजने योग्य नहीं है। आत्मा को भूलकर कोई भी देवादिक सर्व प्रकार पूजने योग्य नहीं हैं। यहाँ आशय यह है कि – अरहन्त के सिवाय अन्य कुदेवादिक पूजने योग्य नहीं हैं। अरहन्त को पूजना व्यवहार है।

देखो ! अरहन्त के स्वरूप को 'विचारते है' ऐसा कहा और सिद्ध के स्वरूप को 'ध्याते हैं' ऐसा कहेंगे तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप का 'अवलोकन करते है।' इस प्रकार ग्रन्थकार ने तीनों में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है।

इसप्रकार यथार्थ पहिचानपूर्वक अरहन्त को नमस्कार किया।

सिद्धों का स्वरूप

....अब सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप ध्याते हैं।

जो गृहस्थ अवस्था त्यागकर, मुनिधर्म साधन द्वारा चार घाति कर्मों का नाश होने पर अनन्त चतुष्टय स्वभाव प्रगट करके, कुछ समय पश्चात् चार अघाति कर्मों के भी भस्म होने पर परमौदारिक शरीर को भी छोड़कर उर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में विराजमान हुए हैं....

देखो ! स्त्री, पुत्रादिक होना मात्र ही ग्रहस्थ दशा नहीं है, परन्तु अन्तरंग में (उनके प्रति) राग होना – वह गृहस्थ दशा है। उस गृहस्थ दशा में तीन काल में भी केवलज्ञान व सिद्धदशा नहीं होती – यह बतलाने के लिये 'गृहस्थ अवस्था छोड़ी' – ऐसा कहा है। वास्तव में वस्त्रादि छोड़ने नहीं पड़ते, परन्तु अन्तरंग में उसप्रकार का राग छूट जाने पर वे छूट जाते हैं। वे अन्तर में तीन कषाय चौकड़ी का नाश करके मुनिधर्म अंगीकार करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

जिसको आत्म-भान हुआ हो वह मुनिपना अंगीकार करता है। आत्मा के भान बिना साधुपना लेने वाले को आत्मलाभ नहीं होता। गृहस्थपना, मुनिपना, अरहन्तपना, सिद्धपना – ये सब अवस्थायें हैं। अरहन्त के स्वरूप में निज स्वभाव साधन कहा था और यहाँ मुनिधर्म साधन द्वारा केवलज्ञान प्रगट किया – ऐसा कहा है। वस्तुत: शुद्धोपयोग ही मुनिधर्म है। अट्ठाईस मूलगुण, व्यवहार रत्नत्रय आदि मुनिपना नहीं है। ऐसा राग होता है – वह व्यवहार है; परन्तु उससे केवलज्ञान दशा नहीं होती। उन्होंने मुनिधर्म के अर्थात् शुद्धोपयोग के साधन द्वारा चार घातिकर्मों के नाश होने पर अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द प्रगट होने पर अरहन्त दशा प्रगट की है।

शुद्धोपयोग साधन से चार घाति कर्मों का नाश होता है – यह निमित्त का कथन है। वस्तुत: तो जड़ कर्मों का नाश शुद्धोपयोग के द्वारा नहीं होता। कर्म तो उनके काल में उनके कारण छूट जाते हैं; उसमें निमित्त शुद्धोपयोग है, परन्तु शुद्धोपयोग के कारण कर्मों का नाश नहीं होता; क्योंकि शुद्धोपयोग की अस्ति तो जीव में है और कर्मों की पर्याय के अभाव की अस्ति तो जड़ में है तथा जड़ और चेतन के बीच में अत्यंताभाव है।

सिद्ध कैसे हैं और किस प्रकार हुए हैं ? जो इसे भली-भांति जानकर नमस्कार करे तो उसे उत्तम फल की प्राप्ति होती है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, अत: स्वआत्मा कैसा है, उसे जाने बिना पर अर्थात् सिद्ध आदि के व्यवहार का ज्ञान भी सही नहीं होता।

शुद्धोपयोग आत्मा में होता है उसके निमित्त से चार घाति कर्मों का नाश होता है और केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। आत्मद्रव्य शुद्धोपयोग का साधन है और शुद्धोपयोग चार घाति कर्मों के अभाव का निमित्त है। अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव तो तीनों काल शक्तिरूप है। उसे शुद्धोपयोग के साधन से प्रगट करते हैं। यहाँ तक तो अरहन्त पद की व्याख्या है। अरहन्त भगवान केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय प्रगट होने के कुछ काल पश्चात् सिद्ध होते हैं। अर्थात् कोई केवली अन्तर्मुहुर्त में सिद्ध होते हैं, तीर्थंकर को लम्बा काल होता है – इस कारण 'कुछ

काल' कहा है। अन्तर्मुहुर्त से लेकर जिसको जितना काल हो उतना समझना। वे केवलज्ञानादि होने के बाद चार अघातिकर्मों को भी भस्म करते हैं और परमौदारिक शरीर को भी छोड़ते हैं। 'कर्म भस्म हुए' इसका अर्थ यह है कि – कर्मरूप जो पर्याय थी वह बदल गई। कर्मों के परमाणुओं का अभाव नहीं होता। जब अघाति कर्मों का नाश हुआ तब केवली का परमौदारिक शरीर भी छूट जाता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये 'उसे छोड़ा' – ऐसा कहा जाता है। आत्मा स्वयं शरीर से छूट गया तब 'शरीर छोड़ा' ऐसा कहा जाता है।

वे ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में विराजमान होते हैं। उससे आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिये आगे नहीं जा सकते – ऐसा नहीं है। स्वयं ही वहाँ जाकर विराजमान हुए हैं।

सिद्ध भगवान के सम्पूर्ण पर-द्रव्यों का सम्बन्ध छूट गया है और पूर्ण शुद्ध दशा की प्राप्ति हुई है। सिद्धदशा में भी पर्याय तो प्रतिसमय बदलती है; परन्तु ऐसी की ऐसी पर्याय हुआ करती है। चरम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकारवत् जिनके आत्म प्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ है। कोई कहे कि सिद्धदशा में अन्तिम शरीर की ऊँचाई का दो-तिहाई आकार रहता है, तो वह बात खोटी है। चरम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकार रहता है। स्त्री को केवलज्ञान नहीं होता इसलिये स्त्री का आकार नहीं रहता। ऐसा सिद्ध के आत्म प्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ है। सिद्ध के भी आकार होता है। यद्यपि उनके जड़ का आकार नहीं है तथा इन्द्रियगम्य नहीं होने से सिद्ध को निराकार कहा जाता है; तथापि उनके अरूपी आकार होता है। यदि उनके आकार न हो तो वे वस्तु ही नहीं हो सकते। प्रत्येक जड़ और चेतन में प्रदेशत्व गुण है, इससे आकार होता है। संसारदशा में संकोच-विस्तार होता था; परन्तु सिद्धदशा का आकार अवस्थित हुआ है।

....तथा जिनके प्रतिपक्षी कर्मों का नाश हुआ, इसलिये समस्त सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनादिक आत्मिक गुण सम्पूर्णतया अपने स्वभाव को प्राप्त हुए हैं, तथा जिनके नोकर्म का सम्बन्ध दूर हुआ, इसलिये समस्त अमूर्त्तत्वादिक आत्मिक धर्म प्रगट हुए हैं, तथा जिनके भावकर्म का अभाव हुआ, इसलिये निराकुल आनन्दमय शुद्धस्वभावरूप परिणमन हो रहा है।....

भगवान के सम्पूर्ण कर्मों का नाश हुआ है, इससे समस्त ज्ञान-दर्शनादि की पर्यायें प्रगट हुई हैं। नोकर्म का सम्बन्ध दूर होने से अमूर्तत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व आदि समस्त आत्मिक धर्म प्रगट हुए हैं। भगवान के भावकर्म का अभाव है, इससे वे निराकुल आनन्दरूप शुद्धदशारूप परिणमित हुए हैं। व्यवहार रत्नत्रय भी भावकर्म है। वह आकुलतामय है। उसका अभाव होने से उन्हें अनाकुल स्वभाव प्रगट हुआ है।

सिद्ध भगवान के सादि-अनन्तकाल तक परिणमन होता रहता है, वे कूटस्थ नहीं हैं। द्रव्यरूप से सामान्य हैं, पर्यायरूप से विशेष है; कूटस्थपना नहीं है। पहले समय का निराकुल शुद्ध आनन्द, दूसरे समय नहीं रहता। दूसरे समय नये-नये आनन्द का अनुभव करते हैं।

....जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों का, स्वद्रव्य-परद्रव्य का और औपाधिकभाव-स्वभावभावों का विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धों के समान स्वयं होने का साधन होता है। इसलिये साधने योग्य जो अपना शुद्धस्वरूप उसे दर्शाने को प्रतिबिम्ब समान हैं तथा जो कृतकृत्य हुए हैं, इसलिये ऐसे ही अनंतकाल पर्यंत रहते हैं – ऐसे निष्पन्न हुए सिद्ध भगवान को हमारा नमस्कार हो....

भव्यजीव स्वरूप का विचार करते हैं कि – सिद्ध जैसा ही मेरा द्रव्य है। जैसे सिद्ध के परद्रव्यों का सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही मेरे भी द्रव्यदृष्टि से उपाधिभाव नहीं है। भगवान के व्यवहार रत्नत्रय नहीं है, इसलिये निश्चय से मेरे भी वे परिणाम नहीं हैं। इसप्रकार समकिती जीव सिद्ध भगवान को ध्यान में ध्येय बनाते हैं। सिद्ध भगवान के अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द हैं और वैसा ही मेरा स्वभाव है। सिद्ध में से राग-द्वेष सर्वथा छूट गये हैं, अत: वे मेरा (भी) स्वरूप नहीं हैं। इसप्रकार सिद्ध ध्येय होते हैं। धर्मात्मा को अपना स्वरूप साधने योग्य है। उसको दर्शाने के लिये सिद्ध भगवान प्रतिबिम्ब के समान हैं। जैसे सिद्ध वैसा ही मेरा आत्मा है। जितना सिद्ध में रहा, वह मेरा स्वरूप और जो सिद्ध में से निकल गया वह मेरा स्वरूप नहीं।

इसप्रकार जिनके द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य तथा औपाधिक-स्वाभाविक भावों का विज्ञान होता है...।

देखो ! यहाँ भव्यजीवों की बात ली है, अभव्य की तथा दुरभव्य की नहीं। भव्यजीव – लायक जीव जिन्हें स्वभाव की रुचि है, वे स्वयं समझते हैं, उसमें भगवान (सिद्धपरमेष्ठी) निमित्त होते हैं।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब देखते ही शरीर का ख्याल आता है; वैसे ही सिद्ध का ध्यान करने पर अपने स्वरूप का ख्याल आता है। इसलिये सिद्धभगवान प्रतिबिम्ब समान हैं।

मैं पर्याय में अपूर्ण हूँ और सिद्ध पूर्ण हुए हैं – ऐसा जानने वाले को सिद्ध साधन होते हैं। द्रव्यदृष्टि हुए बिना पूर्णता नहीं होती। अत: द्रव्यदृष्टि पूर्वक विशेष स्थिरता होने पर सिद्ध परमात्मा पूर्ण पर्याय को प्राप्त हुए। साधक को अपनी वर्तमान दशा की अपूर्णता का भी ज्ञान होता है। इसलिये वे सिद्ध भगवान स्वयं को सिद्ध समान होने में साधन होते हैं।

इस कारण साधने योग्य जो अपना शुद्ध स्वरूप उसको दर्शाने को सिद्ध परमेष्ठी प्रतिबिम्ब समान हैं... अपना चिदानन्द ज्ञायक स्वरूप है, वही साधने योग्य है, उसमें सिद्धपरमात्मा निमित्त हैं।

भगवान इष्टजनों की रक्षा के लिये और पापियों के संहार के लिये जगत में अवतरित नहीं होते। वे तो स्वयं कृतकृत्य हो गये हैं। इस कारण अनन्त काल तक इसीप्रकार रहते हैं। जैसे मक्खन का घी होता है परन्तु घी का मक्खन नहीं होता, वैसे ही सिद्ध के अब फेरफार नहीं होता, अर्थात् वे संसार में नहीं आते; परन्तु अनन्त काल पर्यन्त सिद्धरूप ही रहते हैं ऐसे निष्पन्नता को प्राप्त सिद्ध भगवान को हमारा नमस्कार हो।... सिद्ध पर्याय अनादि की नहीं थी, किन्तु नई प्रगट हुई है, इसलिये निष्पन्नता कही गई है। इसप्रकार समझ पूर्वक सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है।

प्रश्न – सिद्ध भगवान प्रत्यक्ष तो दिखते नहीं है तब उन्हें किस प्रकार मानें ?

समाधान – जैसे जिसने खम्बे का एक भाग जाना, उसने सम्पूर्ण खम्बे को लक्ष्य में लिया है; वैसे ही मति श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अवयव है, 'किसका अंश है' यह जाने बिना मति-श्रुतज्ञान सच्चा नहीं होता। अत: मति-श्रुत अंश प्रत्यक्ष है (अर्थात् वर्तमान में प्रगट है उसके द्वारा केवलज्ञान का निर्णय होता है) इस लकड़ी का एक भाग देखने से यह ख्याल में आता है कि यह लकड़ी का एक भाग है; किन्तु पुस्तक का या अन्य का नहीं। वहाँ पूर्ण पदार्थ और उसका अंश – दोनों ख्याल में हैं, वैसे ही मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अवयव है – ऐसा निर्णय किये बिना मति-श्रुतज्ञान सच्चा नहीं होता। अत: सिद्ध भगवान मति-श्रुतज्ञान में ख्याल में आते हैं। 'तू सिद्ध समान है' ऐसा निर्णय कर।

आचार्य-उपाध्याय-साधु का सामान्य स्वरूप

अब आचार्य-उपाध्याय-साधु के सामान्य स्वरूप का अवलोकन करते हैं।

जैसे निर्धन धनवान की सेवा करता है, किन्तु निर्धन की सेवा नहीं करता, वैसे ही जिसको निजानन्द प्रगट करना हो वह, जिनको पूर्ण ज्ञानानन्द निधि प्रगट हुई है – ऐसे इष्टदेव और गुरु की सेवा करता है अर्थात् उनके स्वरूप को जानकर नमस्कार करता है।

....जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अन्तरंग में तो शुद्धोपयोग से अपने आपको अनुभवते हैं...।

आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द है। जो पर-वस्तु और पुण्य-पाप की वृत्तियों से विरागी बनता है उसको ध्रुव स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। मुनिराज को तो विशेष लीनता हुई है, अत: वे समस्त परिग्रह के प्रति विरागी बनकर उसका लक्ष्य भी छोड़ देते हैं।

गृहस्थपने का राग छूटने पर बाहर के साधन छूट जाते हैं। विरागी माने तीन कषाय चौकड़ी का नाश किया है, उनके परिग्रह छूट जाते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद विरागी बनते हैं अर्थात् परिग्रह छूट जाता है। व्यवहार रत्नत्रय – वह अशुद्ध उपयोग है। आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान और निर्विकल्प स्वरूप में लीनता – वह शुद्ध उपयोग है, वह मुनिधर्म है। इसप्रकार अन्तरंग में शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपने आपको अनुभवते हैं।

मुनि के स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी आदि का लक्ष्य छूट गया है। अत: उनके उस प्रकार का परिग्रह भी नहीं होता। पर-वस्तुओं की आसक्ति थी, उसके छूट जाने पर बाह्य निमित्त स्वयं स्वत: छूट जाते हैं। मुनि की बाह्य-अभ्यंतर निर्ग्रन्थदशा होती है। नग्न दिगम्बर दशा सहज होती है। पुण्य-पापरूप वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं होना – वह शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म है; उसे अंगीकार करते हैं। यहाँ नग्नदशा अंगीकार करते हैं – ऐसा नहीं कहा, वह तो सहज होती है। – ऐसा मुनि का स्वरूप है।

आचार्य के भी बहुत प्रकार हैं। ब्राह्मणों में भी आचार्य होते हैं; परन्तु वह आचार्यपना यथार्थ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि जिसको शुद्धोपयोगरूप मुनिपना हुआ हो, वह आचार्य हो सकता है, अन्य आचार्य नहीं है।

अट्ठाईस मूलगुण और व्यवहाररत्नत्रयरूप विकल्प भी मुनिपना नहीं है; परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वभाव सन्मुख पर्याय का झुकाव करके जो शुद्धोपयोग प्रगट होता है – उसे ही भगवान मुनिपना कहते हैं।

वे वीतरागी निर्विकार समाधिरूप शुद्धोपयोग से अपने आपको अनुभवते हैं। स्वयं कर्त्ता होकर अपने कार्य को अनुभवते हैं। यहाँ पूर्ण स्वभाव की बात नहीं है; परन्तु अपनी भूमिका प्रमाण आत्मा की शान्ति का अनुभव होता है – वह बात है। देखो, यहाँ यह नहीं कहा कि मुनि व्यवहार से अनुभवते हैं, अत: व्यवहार से शुद्धोपयोग होता है – यह बात तो वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है – ऐसा भी इससे सिद्ध होता है। यहाँ ग्रन्थकार स्पष्ट करते है कि व्यवहार की अनुत्पत्ति और वीतरागीदशा की उत्पत्ति से आत्मा स्वयं अपना अनुभव करता है और वही मुनिधर्म है।

निचलीदशा में पंच परमेष्ठी की भक्ति का राग होता है; परन्तु उससे आत्मा का अनुभवन हो अथवा शुद्धोपयोग हो – ऐसा नहीं है। राग करते-करते वीतरागता नहीं होती। जहर खाते-खाते अमृत की डकार नहीं आती। पंचास्तिकाय में व्यवहार साधन और निश्चय साध्य कहा है; परन्तु उसकी अपेक्षा यथार्थरूप से समझनी चाहिये। व्यवहार का अभाव करके निश्चय स्वभाव प्रगट करे, उसको शुद्धोपयोग होता है तब व्यवहार पर साधनपने का आरोप आता है। शुद्धोपयोग से धर्म प्रगट होता है, रहता है और बढ़ता है। निश्चय रहित अकेला व्यवहार सच्चा नहीं होता। निश्चय का भान हुए बिना पंच परमेष्ठी सम्बन्धी राग पर व्यवहार का आरोप भी नहीं आता।

यह पंच परमेष्ठी मंत्र मंगल स्वरूप है। साधकदशा में पंच परमेष्ठीरूप सच्चे निमित्त होते हैं; परन्तु उन निमित्तों के कारण शुद्धोपयोगरूप दशा नहीं होती। ज्ञान-दर्शन के साथ राग के अभावरूप शुद्धोपयोग की बात चलती है। स्व आत्मा की अपेक्षा तो पंच परमेष्ठी भी पर-द्रव्य है, ज्ञानी उन्हें निज नहीं मानते। जब शुद्ध चैतन्य स्वरूप के भान वाला अपने में स्थिर नहीं रह सकता तब उसे शुभराग आता है; परन्तु वह उसको आदरणीय नहीं मानता। शुद्ध उपयोग माने चारित्र का आचरण। ज्ञानदर्शन का व्यापार, वह भिन्न वस्तु है, और पुण्य-पाप रहित चारित्ररूप शुद्ध उपयोग, वह भिन्न वस्तु है। उस शुद्धोपयोग से वे स्वयं अपने को वेदते-अनुभवते हैं। भावलिंगी मुनि को अन्तर में रमणता होती है। वे परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते। छठवें गुणस्थान में निर्विकारी परिणति होती है, परन्तु शुद्धोपयोग नहीं होता। शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान में होता है, उस साधन द्वारा स्वयं अपने को अनुभवते है – यह मुनिपना हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का राग आता है, वह दोष है। मुनिराज परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते। वे अपने ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव को ही अपना मानते है। वे पुण्य-पाप आदि परभावों में ममत्व नहीं करते।

श्रीमद् राजचन्द्र ने इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र को सत्श्रुत में कहा है और उनके मानने वाले भी पंच परमेष्ठी परद्रव्य है – ऐसा नहीं मानते। वास्तव में वे उनके कथन को भी यथार्थ नहीं समझे हैं। शास्त्र में तो अमुक प्रकार से कथन आते हैं; परन्तु मर्म तो कोई अलग ही होता है, उसे समझना चाहिये।

....परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव ही को अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं; परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते। शरीर की अनेक अवस्थाएँ

होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं; परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती हैं वैसे बनती हैं, खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं....

मुनियों को अन्तर में बहुत वीतरागभाव प्रगट हुआ है और तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव हुआ है। साधु के वस्त्र-पात्र नहीं होते। यहाँ अकेली नग्न दशा वालों की बात नहीं है। जो अन्तर में विरागी होकर शुद्धोपयोगरूप अर्थात् वीतरागी चारित्ररूप मुनिपना अंगीकार करते हैं। – (उनकी बात है)

कोई कहे कि पहले मुनिपना लें और बाद में सम्यक्त्व प्रगट हो; तो यह बात सही नहीं है। सम्यक्त्व के बिना सच्चा साधुपना होता ही नहीं। द्रव्यलिंगी मुनि सच्चे मुनि नहीं है। सबसे पहले सम्यग्दर्शन होना चाहिये। शुभभाव भी छोड़ने योग्य है, मैं शरीर-मन-वाणी आदि की क्रिया नहीं करता, मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ – ऐसा भान तो साधु होने से पूर्व ही होना चाहिये; तत्पश्चात् विशेष राग घटाकर अन्दर में लीनता करते हैं। अकेली नग्नदशा को अथवा बाह्यलिंग को मुनिपना नहीं कहते। यहाँ शुद्धोपयोग का आशय ज्ञान-दर्शन का उपयोग नहीं समझना; परन्तु चारित्र के शुद्ध उपयोग की बात है। शुद्ध उपयोग चढ़ते परिणाम हैं, जो सम्यग्दर्शन बिना नहीं होते। वे अतीन्द्रिय आनन्द और अकषाय वीतरागी परिणामों द्वारा आत्मा को अनुभवते हैं। परद्रव्य में, शरीर-देव-शास्त्र-गुरु आदि कोई भी हो, तथापि उनमें अपनापन नहीं मानते। अपने ज्ञान-दर्शन-अतीन्द्रिय आनन्द स्वभाव को अपना मानते हैं। परद्रव्य की किसी अवस्था में ममत्व नहीं करते। परवस्तु तथा उसके स्वभाव, ज्ञान में ज्ञात होते हैं, यह देव है, यह गुरु है, यह शरीर है – इसप्रकार ज्ञान में भासित होते हैं; परन्तु कोई परवस्तु इष्ट है और कोई अनिष्ट है – ज्ञेय का ऐसा बँटवारा नहीं करते।

मुनिराज परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानकर राग-द्वेष बिल्कुल नहीं करते। कमजोरी के कारण राग-द्वेष हो जाते हैं, वह बात आगे कहेंगे। यहाँ मान्यता का निर्मलपना बताते हैं। यह वस्तु मुझे अनुकूल है और यह वस्तु मुझे प्रतिकूल है – ऐसा वे नहीं मानते। शरीर में बुखार आवे, उल्टी हो अथवा निरोगता हो, तो भी उसमें सुख-दुःख नहीं मानते। शरीर की अनेक अवस्थाएँ हों और बाहर में सर्दी-गर्मी आदि अनेक प्रकार के संयोग हों अथवा प्रतिकूल निमित्त हो, तथापि वे उनमें सुख-दुःख नहीं मानते। कोई शस्त्र से शरीर का छेद करे अथवा कोई शरीर पर चंदन का लेप करे; तथापि मुनि वहाँ सुख-दुःख नहीं मानते। पर में सुख-दुःख मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। जिन्हें वीतरागी श्रद्धा के साथ-साथ विशेष आनन्द और शान्ति प्रगट हुई है, उन्हें साधु कहते हैं। मुनिराज शरीर में राग-द्वेष नहीं करते।

....कदाचित् मंदराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है – उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं, उनमें अनुराग करते हैं; परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणतिका तो अस्तित्व ही नहीं रहा है तथा ऐसी अन्तरंग (अवस्था) होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं।....

वे कैसी क्रिया करते है ? आहार-बिहार आदि बाहर की क्रिया जैसी बनती है वैसी बनो; उपदेश आदि जड़ की क्रिया जड़ के कारण है, उसमें खींचतान नहीं करते। मेरा जड़ की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है। अपन शीघ्रता से चले होते तो अमुक गाँव समय से पूर्व पहुँच जाते – ऐसी खींचतान नहीं करते। जड़ की पर्याय उसके काल और क्रम में होती है।

वे अपने उपयोग को अर्थात् दर्शन-ज्ञान के उपयोग को अधिक नहीं भ्रमाते। छद्मस्थ का उपयोग फिरता है; परन्तु बहुत नहीं भ्रमाते। परवस्तु के ज्ञाता-दृष्टा बनकर वीतरागी चारित्ररूप रहते है, तथा निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं।

मुनिराज को बारम्बार सातवाँ गुणस्थान आता है। सातवें के काल की अपेक्षा छठवें गुणस्थान का काल ज्यादा है; तथापि झुकाव तो शुद्ध उपयोग की तरफ ही है। कदाचित् मंदराग वर्तता है, अर्थात् जब वे अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रह पाते तब शुभराग आता है। सर्वथा शुद्ध उपयोग नहीं हुआ है, शुभ उपयोग भी आता है। देखो ! यहाँ शुभभाव करते हैं – ऐसा नहीं कहा। मुनिराज शुभ के भी कर्त्ता नहीं होते, शुभभाव के काल में शुभभाव आते हैं; परन्तु उन पर वजन नहीं है – इस कारण कदाचित् कहा है। शुभभाव द्वारा शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में अनुराग करते हैं। यद्यपि उनका लक्ष्य देव-शास्त्र-गुरु की तरफ जाता है; परन्तु वे उस भक्ति के राग को, पंचमहाव्रतादि के परिणाम आदि शुभभाव को हेय समझते हैं; उस राग को छोड़ने योग्य समझकर दूर करना चाहते हैं। जिसे वे दूर करना चाहते हैं, उस शुभराग से कभी लाभ हो – ऐसा कभी नहीं बनता। वे तो उसे कमजोरी मानते हैं। जैसे व्यापारी को बलण चुकाना पड़े तो उसमें उसे उत्साह नहीं होता, वैसे ही मुनिराज को शुभभाव में उत्साह नहीं होता। वे तो शुभराग को दूर करके स्वरूप में ही स्थिरता करना चाहते हैं।

जिसको पंच परमेष्ठी के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है उसको धर्म नहीं होता।

कहा है न :–

"सब साधन बंधन हुए, रहा न कोई उपाय।
सत् साधन समझा नहीं, वहाँ बंधन किम जाय॥"

मिथ्यादृष्टि असत् साधन को सत् साधन मानता है। बाहर से मुनिपना धारण कर ले और फिर हठपूर्वक बाहर के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव खड़े करे – वह मुनि का स्वरूप नहीं है। मुनि की दशा सम्यग्दर्शन पूर्वक सहज होती है। उन्हें पूर्व के पुण्य के कारण सहज आहारादि का योग बन जाता है, किसी से कुछ कहना नहीं पड़ता।

तथा मुनि के तीव्र कषाय के उदय का अभाव है। पाँचवें गुणस्थान में श्रावक को दो कषायें शेष हैं, फिर भी वहाँ तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। छठवें गुणस्थान में भी पद्म और शुक्ल लेश्या गिनी है। वहाँ कषाय टलने से आनन्द बढ़ गया है, इसकारण अल्प अशुभ को गौण करके तीन शुभ लेश्यायें कह दी हैं। मुनि के तो अशुभ उपयोग परिणति ही नहीं है, उसका तो उनके अस्तित्व ही नहीं रहा है। किसी समय अल्प आर्त्तध्यान होता है उसको गौण किया है। ऐसी अन्तरंग अवस्था होने पर बाह्य में दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी हुए हैं। अर्थात् बाहर में सहज दिगम्बर दशा हो जाती है, करनी नहीं पड़ती। शरीर में भी उपशम रस की प्रचुरता दिखती है। इन्द्र भी आकर मुनि को पूजते हैं – ऐसी सौम्यदशा हुई है।

जिसे सम्यग्दर्शन पूर्वक अन्तरंग में लीनता न होवे, उसे बाहर में नग्नदशा होने पर भी वह मुनि नहीं है। 'ऐसी अन्तरंग दशा होने पर' – ऐसा कहा है; क्योंकि जिसके सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् अन्तरंग शुद्धोपयोगरूप दशा हुई है, उसके बाहर में नग्नदशा हुए बिना नहीं रहती। नग्न अवस्था तो जड़ की दशा है, अत: आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी मानता है कि जीव उसका कर्त्ता है, परन्तु यह बात मिथ्या है। राग है वह तो आत्मा की पर्याय में होता है। वह राग कर्त्ता और शरीर की क्रिया उसका कर्म – ऐसा नहीं होता। अत: वस्त्र त्यागने के राग के कारण वस्त्र छूट गये – यह बात सत्य नहीं है। तथा ऐसा भी नहीं बनता कि जिसको ऊपर कहे अनुसार शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म प्रगट हुआ है, उसके वस्त्र-पात्रादि रहें। ऐसे मुनि को आचार्य-उपाध्याय और साधु भी कहते हैं।

....शरीर का सँवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं, वनखण्डादि में वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, बाईस परीषहों को सहन करते हैं, बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं, कदाचित् ध्यानमुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्मक्रियाओं में प्रवर्तते हैं, कदाचित् मुनिधर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं।....

बाहर में नग्नपना हो परन्तु अन्तरंग में सम्यग्दर्शन न होवे तो हठ से धारण की हुई नग्नदशा

को मुनिधर्म नहीं कहते। तथा मुनि के शरीर – हाथ, पैर, मुँह आदि धोने की क्रिया नहीं होती। वे शरीर विक्रिया से रहित हुए हैं। इसमें अपवाद मानकर कोई वस्त्रादि सहित भी मुनिपना मान ले तो वह मुनिपने को नहीं समझता। वह तो परम्परा से निगोद का कामी है। आत्मा का भान होकर अन्तर लीनता होने पर सहज नग्नदशा होती है – यह बात सुनना और प्रतीति करना मुश्किल लगता है। मुनि के अन्तर में शान्तरस के झरने बहते हैं। उनके शरीरादि की विक्रिया नहीं होती।

मुनि वनखण्ड, खण्डहर अथवा खाली मकान में बसते हैं। वस्तुतः तो मुनि अन्तर आनन्द में होते हैं। वे मुनि जंगल में बसते हैं। शुद्धोपयोग में रहते हैं। अकेले (मात्र) वन में रहे, उसकी बात नहीं है। यों तो सिंह-बाघ भी वन में रहते हैं; परन्तु यहाँ तो मुनि को ऐसा योग होता है – यह कहा है। पहले नग्न हो जाये, जंगल में रहे; उसे शुभोपयोग होवे फिर शुद्धोपयोग हो – ऐसा क्रम नहीं लिया है। क्योंकि शुद्धोपयोग के बिना तो मुनिपना होता ही नहीं। जिनको सम्यग्दर्शन व निर्विकल्प अनुभव हुआ है, व्रतादि के विकल्पों से जो लाभ नहीं मानते – ऐसे मुनियों की बात की है। तीनों कालों में मुनि-संतों की ऐसी ही दशा होती है। इससे विरुद्ध कहने वाले देव-शास्त्र-गुरु सच्चे नहीं हैं।

समझे बिना मुनिपना लेना तो बालक द्वारा विवाह के लिए हाँ करने जैसा है। कोई व्यक्ति बालक से पूछे कि तुझे विवाह करना है ? तो उल्लास में आकर वह हाँ कर देता है; परन्तु वह विवाह का मतलब समझता नहीं है। उसी प्रकार समझे बिना उल्लास में आकर मुनिपना धारण करने से कुछ लाभ नहीं होता।

मुनिराज शुभ उपयोग के समय अखण्डरूप से अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंच इन्द्रिय निरोध, षट आवश्यक, केशलोंच, स्नान त्याग, नग्नता, अदंतधोवन, भूमि शयन, खड़े-खड़े भोजन और एकबार भोजन – ये अट्ठाईस मूलगुण हैं। यहाँ निश्चय सहित व्यवहार की बात है। जिसका निश्चय सच्चा नहीं हैं उसका व्यवहार भी मिथ्या है। मुनिराज अपने लिये बनाया गया आहार अथवा बेचने के लिये लाई गई वस्तु नहीं लेते। उन्हें अन्दर में शुद्ध परिणति है और वे शुभराग के समय (अट्ठाईस मूलगुणों का) अखण्डित पालन करते हैं। ऐसे मूलगुणों का अखण्डित पालन नहीं करने वाला तो व्यवहार से भी द्रव्यलिंगी नहीं कहलाता। तथा कदाचित् अट्ठाईस मूलगुण पाले तो भी यथार्थ भान बिना मुनिपना नहीं होता। तथा बाईस परीषहों को सहन करते हैं। बारह प्रकार के तप को आदरते हैं। कदाचित् आनन्दकन्द निर्विकल्प आत्मा को ध्याकर जिनप्रतिमावत् होकर आनन्द का अनुभव करते हैं।

परीषह माने दु:ख सहना नहीं है, दु:ख सहन करना, वह परीषह नहीं है। स्त्री आदि अनुकूल संयोग हो अथवा शरीर में पीड़ा आदि प्रतिकूल संयोग हो, तो भी वे उस तरफ लक्ष्य नहीं करते; दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से नहीं खिसकते। शास्त्र में कहा है कि – ''मार्ग अच्यवन निर्जरार्थं'' अर्थात् मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होने के लिये और निर्जरा के लिये परीषहजय है। मुनिराज शुद्धता में आगे बढ़ते हैं। अज्ञानी मानते हैं कि प्रतिकूलता के समय कषाय हो तो उन्हें जीतना परीषहजय है। स्त्री के प्रति राग होवे, उसे दूसरे समय जीतना, वह परीषहजय नहीं; परन्तु वैसे निमित्तों के समय रागादिक की उत्पत्ति न होने देना, वह परीषहजय है। भूख-प्यास लगने पर पीड़ा हो उसे दूसरे समय जीतना, वह परीषहजय नहीं है, बल्कि वैसे प्रसंगों में आत्मा के स्वभाव में रहकर अरुचिभाव नहीं होने देने को परीषहजय कहते हैं। मिथ्यादृष्टि को परीषहजय नहीं होता, वह तो स्वयं परीषहों द्वारा जीता गया है। शरीर में ताप होने पर अज्ञानी कहता है कि हमने बहुत सहन किया है। परन्तु वास्तव में तो आत्मा आनन्दकन्द है – ऐसे भानपूर्वक प्रतिकूल संयोग के समय अस्थिरता न होने देना और स्थिरता करना, परीषहजय है।

छठवें गुणस्थान तक सात भय होते हैं। सातवें से बारहवें तक ध्यान अवस्था है। केवली भगवान के किंचित् असाता का उदय वर्तता है, इससे परीषह कहा है। वहाँ तो निमित्त का लक्ष्य भी नहीं है। मुनिराज का तो थोड़ा लक्ष्य जाता है। रोग आने पर आर्त्तध्यान हो जावे और दूसरे समय उसे टाले, वह परीषहजय नहीं है। वस्तुत: आत्मा के भान बिना परीषहजय नहीं होता। पहले समय राग हो, वह दूसरे समय तो टल ही जाता है, उसे क्या जीतना ? परन्तु आत्मा के भान द्वारा अरुचि – द्वेष नहीं होने देना ही परीषहजय है। हठ से परीषह सहन करे उसे धर्म तो नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं होता; उसके तो अकेला अशुभभाव होता है। जिन्हें आत्मा के भानपूर्वक शुद्धोपयोग हुआ हो, उन्हें परीषह के समय उस तरफ का विकल्प भी नहीं उठता, वह परीषहजय है।

मुनिराज कदाचित् बाह्य अध्ययनादि करते हैं। जब शुद्धोपयोग से हटते हैं तब शास्त्र वाँचन आदि करते हैं। किसी समय मुनिधर्म को सहकारी शरीर की स्थिति के अर्थ योग्य आहार-बिहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं। अज्ञानी पूछता है कि शुद्धोपयोगी मुनि ऐसा शुभोपयोग क्यों करते हैं ? परन्तु भाई ! रागी जीव ध्यान में सम्पूर्णरूप से नहीं रह सकता, अत: राग की भूमिका में शुभराग आ जाता है; परन्तु उसे उपादेय नहीं मानते। ऐसे जो वीतरागी संत हैं उन सबकी तीनों काल ऐसी ही अवस्था होती है – ऐसी अवस्था नहीं होने वालों को मुनि नहीं कहा जा सकता।

जैन मुनि का स्वरूप कहने में सर्व मुनि अर्थात् जैन दर्शन के सभी मुनि आ जाते हैं। अन्य मत वाले तथा जैन में रहने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी इसमें नहीं आते। तथा 'णमो लोए सव्व साहूणं' में समागत 'लोए सव्व' शब्द पाँचों पदों में समझ लेना – ऐसा पाठ धवल में है।

जैन मुनि को अंतर में वीतरागता हुई है। वे महाव्रत के राग को हेय मानते हैं – ऐसी दशा वालों को बाह्य में नग्नदशा होती है। स्थविरकल्पी के वस्त्र होते हैं और जिनकल्पी के वस्त्र नहीं होते – ऐसा भेद नहीं है। दोनों नग्नदशा वाले ही होते हैं। जिनके अन्तर में शुद्ध उपयोग होता है, उन्हें आचार्य-उपाध्याय-साधु कहते हैं।

चाहे जो हो अर्थात् युवा हो, वृद्ध हो, बालक हो, किसी को आहार का विकल्प होता है, किसी को शास्त्र का विकल्प होता है, किसी को उपदेश का विकल्प होता है – इत्यादि इसप्रकार सबका अर्थ समझना। इसमें छठवें-सातवें गुणस्थान वाले आ जाते हैं। जो अनन्तबार नौवें ग्रेवेयक गया, और जिसने बहुत बार शुभउपयोग किया – यहाँ उसकी बात नहीं है; परन्तु सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभभाव वालों की बात है, जिन्हें आत्मा के अनुभव पूर्वक वीतरागता हो – उनकी बात है। अरहन्त में सभी केवलज्ञानी आ जाते हैं। केवलज्ञानी हो, तीर्थंकर हो, कोई विहार में हो, कोई समुद्घात वाले हो वे सब 'सर्व' में आ जाते हैं।

आचार्य का स्वरूप

सभी मुनियों की ऐसी दशा होती है। आत्मा के भान सहित ही मुनि होते हैं। जिस समय वे उपदेश दे रहे हों अथवा अन्य विकल्प में हों, परन्तु ऐसी दशा होती है। अब इन तीनों में आचार्य की अधिकता बतलाते है –

....उनमें जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके संघ में नायक हुए हैं; तथा जो मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न हैं और जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव-याचक उनको देखकर राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं, जो दीक्षाग्राहक हैं उनको दीक्षा देते हैं, जो अपने दोषों को प्रगट करते हैं उनको प्रायश्चित विधि से शुद्ध करते हैं।

ऐसे आचरण अचरानेवाले आचार्य उनको हमारा नमस्कार हो।....

उन्हें वीतरागता बढ़ी है, ज्ञान का उघाड़ विशेष है, इससे वे संघ के नायक होते हैं। वे मुख्यरूप से तो आत्मा के आनन्द में लीन रहते हैं। कदाचित् धर्म के लोभी को उपदेश देते हैं,

जिस किसी को उपदेश नहीं देते। धर्म के लोभी अन्य जीव-याचक को देखकर राग अंश के उदय से करुणा बुद्धि होवे तो उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। स्वयं को शुभराग हुआ है तब करुणाभाव होता है और तभी अन्य जीवों को समझाने का भाव सहज होता है।

अन्य जीव समझें या नहीं समझे – उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे समझें तो वाणी को निमित्त कहा जाता है। वस्तुत: वाणी तो वाणी के कारण निकलती है, तब आचार्य धर्मोपदेश देते हैं – ऐसा कहा जाता है।

कोई दीक्षा लेने का इच्छुक, कोई प्रायश्चित लेने का इच्छुक अथवा कोई धर्म समझने का लोभी हो, उसे दीक्षा, प्रायश्चित अथवा उपदेश देते हैं। उस अवसर पर अपनी कमजोरी के कारण शुभराग आ जाता है, पर के कारण शुभराग नहीं आता।

आत्मा के निर्विकल्प आनन्द में रहना, वह मुख्य है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि व्यवहाराचार मुख्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि के विषय में कारणपरमात्मा तो मुख्य है ही, तदुपरांत मुनि को तो चारित्र का निर्विकल्प आचरण है। व्यवहार का विकल्प उठता है उसके कारण निर्विकल्प आचरण नहीं है। मुख्य वह निश्चय है और गौण वह व्यवहार है।

उनके प्रतिक्षण अकषाय अंश बढ़ता जाता है। राग वाली दशा के समय धर्मोपदेश देते हैं अर्थात् उपदेश स्वयं निकलता है। तथा विकल्प वाली दशा के समय किसी को दीक्षा देते हैं अथवा जो जीव अपने दोष प्रगट करता है उसे प्रायश्चित द्वारा शुद्ध करते हैं – ऐसे आचरण करने और कराने वाले श्री आचार्य उनको हमारा नमस्कार हो। यहाँ पहिचान पूर्वक नमस्कार किया है।

उपाध्याय का स्वरूप

....तथा जो बहुत जैन शास्त्रों के ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं; तथा जो समस्त शास्त्रों का प्रयोजनभूत अर्थ जान एकाग्र हो अपने स्वरूप को ध्याते हैं, और यदि कदाचित् कषाय अंश के उदय से वहाँ उपयोग स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य धर्मबुद्धियों को पढ़ाते हैं।

ऐसे समीपवर्ती भव्यों को अध्ययन करानेवाले उपाध्याय, उनको हमारा नमस्कार हो।....

उप + अध्याय = जिनके समीप पठन-पाठन करे वे उपाध्याय हैं। उन्हें सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित शास्त्रों का बहुत अध्ययन है।

वर्तमान में तो बहुत फेरफार हो गया है। लोगों को स्वयं शास्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं और मुनियों की भूल निकालते हैं। महामुनियों के विरुद्ध बोलना महान पाप है। नियमसार की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं कि "हमारी टीका परम आगम है।" कोई पण्डित कहते हैं कि नियमसार की टीका गलत कर दी है। पण्डितों को समझ में नहीं आता इसलिए वे विरुद्ध लिख रहे हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह नियम है और व्यवहार रत्नत्रय के विकल्पों का निषेध करके मात्र शुद्ध रत्नत्रय के स्वीकार के लिये 'नियम' के साथ 'सार' शब्द प्रयुक्त किया है। पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं कि सम्यग्दर्शन में ज्ञानी की ही देशना निमित्तरूप होती है – यह बात टीकाकार ने अत्यन्त स्पष्ट की है, यह बात भी अभी के पण्डितों को खटकती है, उन्हें लगता है कि 'व्यवहार साधन है और उसे करते-करते निश्चय हो जायेगा' हमारी यह बात झूंठी पड़ती है तथा सम्यग्दर्शन में कोई भी निमित्त हो हमारी यह बात भी नहीं रहती। हमारी सारी प्ररूपणा ही मिथ्या पड़ती है। इसकारण कोई पण्डित मुनिराज की भूल निकालते हैं।

सम्यग्दर्शन होने में ज्ञानी पुरुष अन्तरंग निमित्त है और वाणी बहिरंग निमित्त है – यह बात अज्ञानी नामधारी पण्डितों को नहीं जमती। कारणपरमात्मा, कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान की बात स्पष्टरूप से नियमसार के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। पात्रता के बिना अध्यात्म का रहस्य समझ में नहीं आ सकता।

यहाँ तो उपाध्याय का स्वरूप कहते हैं। शास्त्र को जानने वाला पठन-पाठन का अधिकारी होता है। तथा समस्त शास्त्रों का प्रयोजन जानकर उपाध्याय अपने स्वरूप को ध्याते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। चारों अनुयोग प्रयोजनभूत हैं, सभी का तात्पर्य वीतरागता है। किसी समय राग के सद्भाव के कारण स्वयं आगम पढ़ते हैं, धर्मबुद्धि वाले को पढ़ाते हैं। शास्त्र पढ़कर कमाना चाहे उसकी बात नहीं ली है; किन्तु धर्म की रुचि वाले को पढ़ाते हैं। इसप्रकार समीपवर्ती भव्यजीवों को अभ्यास कराने वाले श्री उपाध्याय परमेष्ठी को हमारा नमस्कार हो।

साधु का स्वरूप

....पुनश्च, इन दो पदवी धारकों के बिना अन्य समस्त जो मुनिपद के धारक हैं तथा जो आत्मस्वभाव को साधते हैं; जैसे अपना उपयोग परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना मानकर फँसे नहीं व भागे नहीं वैसे उपयोग को सधाते हैं और बाह्य में उसके साधनभूत तपश्चरणादि क्रियाओं में प्रवर्तते हैं तथा कदाचित् भक्ति-वंदनादि कार्यों में प्रवर्तते हैं।

ऐसे आत्मस्वभाव के साधक साधु हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।....

इन दो पदवी धारकों के बिना अन्य समस्त जो मुनिपद के धारक हैं वे आत्मा के स्वभाव को साधते हैं – ऐसा साधु शब्द में से अर्थ निकाला है। परमानन्दमय आत्मा की दृष्टि तो है ही; परन्तु विशेष प्रकार से स्वभाव को साधते हैं, निमित्त को अथवा पुण्य को नहीं साधते – वे साधु हैं।

प्रश्न – द्रव्यलिंगी के उपदेश से सम्यक्त्व होता है ?

समाधान – द्रव्यलिंगी के उपदेश से सम्यग्दर्शन नहीं होता। मोक्षमार्गप्रकाशक में जो ऐसा दृष्टान्त दिया है वहाँ ज्ञान का क्षयोपशम बतलाना है, सम्यग्ज्ञान के लिये होने वाली प्रवृत्ति में अयथार्थता बतलानी है, वहाँ देशनालब्धि सिद्ध नहीं करना है। कहा है कि वहाँ ''कदाचित् मुख से तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करे कि जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाय''; – इसका अर्थ यह है कि जिसे सम्यग्दर्शन होना है उसके पूर्व में देशनालब्धि ज्ञानी के पास से हो चुकी है, फिर यह उपदेश सुनकर स्वयं विचार करके सम्यग्दर्शन पाता है। वहाँ देशनालब्धि में द्रव्यलिंगी का निमित्तपना स्थापित नहीं किया है; क्योंकि वहाँ वह विषय नहीं है। द्रव्यलिंगी को (ज्ञान का) इतना उघाड़ होने पर भी वह सम्यग्दर्शन नहीं पाता है, स्वयं नहीं समझता फिर भी सामने वाला जीव समझ जाता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ देशनालब्धि सिद्ध नहीं करना है; परन्तु सम्यग्ज्ञान के अर्थ होने वाली प्रवृत्ति में अयथार्थता बतलानी है।

धवल के चौथे भाग में पाठ है कि देशनालब्धि से परिणत आचार्य आदि के मुख से सुनने को देशनालब्धि कहते हैं। अर्थात् देशनालब्धि में ज्ञानी का ही निमित्त होना चाहिये।

यहाँ साधु का स्वरूप बताते हैं। जो अविकारी स्वभाव को साधता है वह साधु है। साधु अट्ठाईस मूलगुणों को नहीं साधता परन्तु (रागात्मक भूमिका में) वे आ जाते हैं। उपयोग को इसप्रकार साधते हैं कि वह परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना मानकर नहीं फँसे अथवा भागे नहीं। इसप्रकार स्वभाव का साधन करते हैं। कमजोरी के कारण अल्प राग हो जाता है; तथापि पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानकर वह राग नहीं होता। सर्वज्ञदेव इष्ट हैं और शिर काटने वाला शत्रु अनिष्ट है – ऐसा मुनि नहीं मानते। तथा किसी समय भक्ति, वंदना, यात्रा, तपश्चरणादि के शुभ कार्य में प्रवर्तते हैं। अपनी कमजोरी के कारण पंच परमेष्ठी के प्रति राग होता है – वह व्यवहार है। निश्चय से तो अपना आत्मा ही परमेष्ठी है। शरीर में रोग आया इसलिये द्वेष होता है और शरीर ठीक होवे तो धर्म होता है – मुनिराज ऐसा नहीं मानते और उनसे राग-द्वेष नहीं करते। कोई विरोधी देव मुनि को मेरु पर्वत पर ले जाकर कपड़े की तरह पछाड़े, फिर भी मुनि उसे प्रतिकूल

नहीं मानते और उससे कषाय नहीं करते। मेरु पर्वत के कण-कण से अनन्त सिद्ध हुये हैं, वे इसीप्रकार हुये हैं। मुनि आत्मा की साधना करते हैं – यह अस्तिभाव है और परद्रव्य में उपयोग नहीं भ्रमाते – यह नास्ति भाव है – ऐसी अस्ति-नास्ति से बात की है।

मुनि अपने उपयोग को पर में नहीं जाने देते। शुभराग के काल में बाह्य साधनभूत तपश्चरणादि क्रियाओं में लक्ष्य जाता है अथवा कदाचित् भक्ति-वंदनादि कार्यों में लक्ष्य जाता है। अन्तर में स्थिर नहीं रह सकते तब अरहन्तादि की भक्ति-स्तवनादि में लक्ष्य जाता है, कदाचित् स्वाध्याय आदि करते हैं। ऐसे आत्मस्वभाव के साधक साधुपरमेष्ठी को हमारा नमस्कार हो। इसप्रकार स्वरूप परिज्ञानपूर्वक नमस्कार किया है।

बाह्य पदवी की अपेक्षा आचार्य बड़े कहलाते हैं; परन्तु केवलज्ञान लेना हो तब वे आचार्य पद छोड़कर साधुपने में आकर श्रेणी माँडकर केवलज्ञान लेते हैं।

पूज्यत्व का कारण

....इसप्रकार इन अरहंतादिका स्वरूप है, सो वीतराग-विज्ञानमय है। उस ही के द्वारा अरहंतादिक स्तुतियोग्य महान हुए हैं। क्योंकि जीवतत्त्व की अपेक्षा तो सर्व ही जीव समान हैं; परन्तु रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव निन्दायोग्य होते हैं और रागादिक की हीनता से व ज्ञान की विशेषता से स्तुतियोग्य होते हैं; सो अरहंत-सिद्धों के तो सम्पूर्ण रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से सम्पूर्ण वीतराग-विज्ञानभाव संभव है और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को एकदेश रागादिक की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से एकदेश वीतराग-विज्ञान संभव है – इसलिये उन अरहंतादिक को स्तुतियोग्य महान जानना।

इसप्रकार इन अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है। आचार्य, उपाध्याय और साधु को अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प उठता है; परन्तु वे उसमें तन्मय नहीं होते, उन्हें रागमय ही कहा। वे तो राग के भी ज्ञाता हैं। वे विकार और निमित्त की उपेक्षा करके, स्वभाव की अपेक्षा करके अन्तर में वीतरागता करते हैं। अरहन्त और सिद्ध – ये दो देव हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु – ये तीन गुरु हैं। इन तीनों को अपनी भूमिकानुसार शुभराग आता है; परन्तु उसमें तन्मय नहीं होते।

इसप्रकार वीतराग-विज्ञान द्वारा ही पाँचों पद स्तुति योग्य महान हुए हैं। आचार्य की अथवा उपाध्याय की पदवी मिली, इसलिये स्तुति योग्य हुए हैं – ऐसा नहीं है। नग्नपना है, व्यवहार अच्छा पालते हैं, इसलिये स्तुति योग्य हुए हैं – ऐसा नहीं है। महानपना कैसे

पाया ? द्रव्य अपेक्षा तो सभी जीव समान हैं; परन्तु मिथ्यात्व और राग-द्वेष से तथा ज्ञान की हीनता से तो जीव निंदा योग्य होते हैं और राग-द्वेष की हीनता व ज्ञान की विशेषता से स्तुति योग्य होते हैं। मिथ्यादृष्टि के राग-द्वेष का अभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के ही राग-द्वेष का अभाव होता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन पूर्वक राग-द्वेष के अभाव से तथा ज्ञान की विशेषता से स्तुति योग्य होते हैं। इसप्रकार अस्ति-नास्ति से बात की।

अरहन्त तथा सिद्ध भगवान को राग का पूर्ण अभाव है तथा ज्ञान की पूर्णता है, इसलिये उनको सम्पूर्ण वीतराग-विज्ञान भाव संभावित है इसीलिये वे पूज्य हैं। आचार्य, उपाध्याय साधु किसप्रकार पूज्य हैं वह अब बतायेंगे।

पंचपरमेष्ठी का स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है – इसकारण वे स्तुति करने योग्य हैं। इसप्रकार हेतु बताया है। स्व को जानने वाला विशेष ज्ञान होने से वे पूज्य हैं। 'हमारे देव और हमारे महाराज' – मात्र ऐसा कहकर माने वह नहीं चलता (अर्थात् इससे कोई लाभ नहीं है)। जो जीव अनादि से राग में और पर के ज्ञान में ही रुका हुआ है, वह विनय करने लायक नहीं है। ज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है, उसे पकड़कर राग का अभाव किया और ज्ञान की विशेषता की है, वह पूज्य है। आत्मस्वभाव अपेक्षा सभी जीव समान होने पर भी पर्याय में अन्तर क्यों है – यह बतलाते हैं। शुद्ध आनन्दकन्द आत्मा की रुचि नहीं है और राग की रुचि तथा जिसका ज्ञान अकेले पर में ही रुका हुआ है, वह जीव निंदा योग्य होता है। ग्यारह अंग का ज्ञान हो तो ज्ञान अधिक है – ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है। शास्त्र का ज्ञान भले ही कम-ज्यादा हो; परन्तु आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, जो उसे जाने वह यथार्थज्ञान है। ऐसे यथार्थज्ञान के अभाव से जीव निंदा योग्य होता है। अब स्तुति योग्य कैसे होता है ? यह कहते है –

आत्मा वीतरागस्वरूप है – ऐसी दृष्टिपूर्वक राग का अभाव करना है और मैं स्वभाव से शुद्ध हूँ, अविकारी हूँ – ऐसा जानना, वह ज्ञान की विशेषता है। आत्मा के भान बिना ग्यारह अंग पढ़ने पर भी ज्ञान की विशेषता नहीं आती। ज्ञानपने तो सामान्यत: सभी जीव समान हैं। निगोद के जीव को ज्ञान का उघाड़ है, उसको विशेष नहीं कहा और मिथ्यादृष्टि के ग्यारह अंग के ज्ञान को भी विशेष नहीं कहा। परन्तु मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, निमित्त पृथक् है, राग स्वभाव में नहीं – ऐसा जानने वाले ज्ञान को विशेष ज्ञान कहते हैं। अकेले परप्रकाशक ज्ञान को विशेष ज्ञान नहीं कहते। चिदानन्द स्वभाव को पकड़कर जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट हुआ, वह विशेष ज्ञान पूज्य है। इसप्रकार समझकर नमस्कार किया है। इसप्रकार नमस्कार करने का नियम

सिद्ध किया। अहो ! एक-एक शब्द में रहस्य भरा है। इसप्रकार रागादि के अभाव से और ज्ञान की विशेषता से पंचपरमेष्ठी स्तुति योग्य होते हैं।

जो राग से लाभ मानता है उसके अभिप्राय में अनन्तानुबन्धी कषाय पड़ी है, वह राग को घटा नहीं सकता। किन्तु सम्यग्दृष्टि राग से लाभ नहीं मानता। वह अखण्ड चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करता है, इसकारण उसका अनन्त राग घट गया है। यह बात समझने जैसी है। ज्ञानी ने, विकार मेरे स्वभाव में नहीं, व्यवहार से स्वभाव को लाभ नहीं – ऐसी दृष्टि और ज्ञान किया है, इसलिए उसके विकार का अभाव होता है।

अरहन्त तथा सिद्ध भगवान के पुण्य-पापरूपी विकार का सम्पूर्ण अभाव है और स्व-परप्रकाशक सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है। 'संभव है' का अर्थ वास्तव में है। संभव है माने संदेह है – ऐसा अर्थ नहीं है। पूर्ण वीतरागता प्रगटी है और सम्पूर्ण ज्ञान प्रगटा है, अत: अरहन्त और सिद्ध स्तुति योग्य हैं। वे हमारे सम्प्रदाय के देव होने से पूज्य हैं – ऐसा नहीं कहा।

आचार्य, उपाध्याय और साधु के संज्वलन कषाय रही है, परन्तु मिथ्यात्व सहित राग का अभाव हुआ है व तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है। आत्मा पुण्य-पाप रहित है – ऐसा अनुभव हुआ है और राग का अभाव किया है, तथा स्व-परप्रकाशक ज्ञान ने ज्ञान को पकड़ा है – ऐसी विशेषता से ज्ञान विशेष हुआ है। देखो ! इतने शास्त्र पढ़े अथवा इतना उपदेश दे तो ज्ञान की विशेषता है – ऐसा नहीं कहा। मुनिराज अरागी ज्ञान को उपादेय जानते हैं और रागादि को हेय जानते हैं, उस ज्ञान में आगे बढ़े हैं। उन्हें नग्नपना है, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं अथवा ग्यारह अंग पढ़े हैं, इसलिये वंदनीय हैं – ऐसा नहीं कहा। इनके एकदेश रागादिक की हीनता हुई है। संज्वलन कषाय शेष है, अत: एकदेश राग शेष रहा है – ऐसा कहा है। तीन कषाय चौकड़ी का नाश किया है, उसे एकदेश कहा है। चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय का नाश हुआ है और पाँचवें में अनन्तानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हुआ है, तथापि यहाँ उन्हें एकदेश में नहीं गिना, कारण कि वे पंचपरमेष्ठी पद में नहीं आते।

भगवान तीनकाल – तीनलोक को जानते हैं उसकी विशेषता नहीं, परन्तु शुद्धात्मा के ज्ञान पूर्वक पूर्ण आनन्दरूप हुए हैं, उसकी विशेषता है। उसीप्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधु ने विकार रहित चिदानन्द स्वरूप को जाना है और स्वरूप की स्थिरता होने लगी है, इससे वीतरागता के कारण वे पूज्य हैं। इसप्रकार परीक्षा करनी चाहिये। द्रव्यानुयोग द्वारा पाँच पदों

का तथा नवतत्त्वों का स्वरूप निश्चित होता है। द्रव्यानुयोग के ज्ञान सहित स्वभाव दृष्टिपूर्वक राग घटे, वह राग घटा कहलाता है। यहाँ कितनी सरस बात की है – वीतरागता के सद्भाव से और ज्ञान की विशेषता से पूज्यता है। इसप्रकार पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने का कारण बतलाया।

....पुनश्च, ये जो अरहंतादिक पद हैं, उनमें ऐसा जानना कि – मुख्यरूप से तो तीर्थंकर का और गौणरूप से सर्व केवली का प्राकृत भाषा में अरहंत तथा संस्कृत में अर्हत् ऐसा नाम जानना। तथा चौदहवें गुणस्थान के अनंतर समय से लेकर सिद्ध नाम जानना।....

अब उसमें ऐसा समझना कि श्री अरहन्तादिक में मुख्यरूप से तो श्री तीर्थङ्कर का तथा गौणरूप से सर्व केवलियों का अधिकार है। मूककेवली, अंत:कृत केवली आदि सात प्रकार के केवली हैं। चौदहवें गुणस्थान तक अरहन्त कहलाते हैं। प्राकृत भाषा में अरहन्त तथा संस्कृत में अर्हत् ऐसा नाम जानना। तथा चौदहवें गुणस्थान के अनंतर समय से लेकर सिद्ध नाम जानना।

....पुनश्च, जिनको आचार्यपद हुआ हो वे संघ में रहें अथवा एकाकी आत्मध्यान करें अथवा एकलविहारी हों अथवा आचार्यों में भी प्रधानता को प्राप्त करके गणधरपदवी के धारक हों –उन सबका नाम आचार्य कहते हैं। पुनश्च, पठन-पाठन तो अन्य मुनि भी करते हैं, परन्तु जिनको आचार्यों द्वारा दिया गया उपाध्यायपद प्राप्त हुआ हो, वे आत्मध्यानादि कार्य करते हुए भी उपाध्याय ही नाम पाते हैं। तथा जो पदवीधारक नहीं हैं, वे सर्व मुनि साधुसंज्ञा के धारक जानना।

यहाँ ऐसा नियम नहीं है कि – पंचाचारों से आचार्यपद होता है, पठन-पाठन से उपाध्याय पद होता है, मूलगुणों के साधन से साधुपद होता है; क्योंकि ये क्रियाएँ तो सर्व मुनियों के साधारण हैं; परन्तु शब्दनय से उनका अक्षरार्थ वैसे किया जाता है। समभिरूढ़नय से पदवी की अपेक्षा ही आचार्यादिक नाम जानना। जिसप्रकार शब्दनय से जो गमन करे उसे गाय कहते हैं, सो गमन तो मनुष्यादिक भी करते हैं; परन्तु समभिरूढ़नय से पर्याय-अपेक्षा नाम है। उस ही प्रकार यहाँ समझना।....

अब आचार्य की बात करते हैं। जिन्हें आचार्यपद प्राप्त हो, वे संघ में रहें अथवा एकाकी आत्मध्यान करे अथवा एकलबिहारी हो। वे संघ में ही रहें ऐसा नियम नहीं है। वे, शुद्ध चिदानन्द का ध्यान करते हैं। तथा आचार्यों में भी प्रधानता को प्राप्त करके गणधर पदवी के धारक हों – उन सबको आचार्य कहते हैं।

तथा पठन-पाठन तो अन्य मुनि भी करते हैं; परन्तु जिन्हें आचार्य द्वारा उपाध्याय पद

प्राप्त हुआ हो वे उपाध्याय हैं। उनको आत्मज्ञान तो होता ही है। आत्मा का भान और मुनि होने के बाद ही उपाध्याय होते हैं।

तथा जो पदवी धारक नहीं, वे सब मुनि साधु-संज्ञा धारक जानना।

इसप्रकार पाँच पद की बात की।

यहाँ ऐसा कोई नियम नहीं है कि पंचाचारों से ही आचार्य पद होता है, ये पंचाचार तो मुनि के भी होते हैं। तथा पठन-पाठन से ही उपाध्याय नाम पाते हैं – ऐसा भी नहीं है। आत्मा को साधते हैं अत: साधु है – इसप्रकार क्रिया तो सबकी समान है; परन्तु शब्दनय से उसका अक्षरार्थ ऐसा किया जाता है तो भी समभिरुढ़नय से पदवी की अपेक्षा ही ये आचार्यादिक नाम जानना। जैसे शब्दनय से जो गमन करे उसको गाय कहते हैं; परन्तु गमन तो मनुष्यादिक भी करते हैं, अत: समभिरुढ़नय से पर्याय अपेक्षा से यह नाम है; वैसे ही तीन पद में पदवी की अपेक्षा से ये नाम जानना।

....यहाँ सिद्धों से पहले अरहंतों को नमस्कार किया सो क्या कारण ? ऐसा संदेह उत्पन्न होता है। उसका समाधान यह है –....

यहाँ सिद्ध भगवान के पहले अरिहन्त को नमस्कार किया उसका कारण क्या ? अरिहन्त के चार कर्मों का नाश हुआ है, सिद्ध के आठ कर्मों का नाश हुआ है; फिर भी अरहंत को पहले नमस्कार करने का कारण क्या है ? अरहन्त के कितनी ही विकारी पर्यायें शेष हैं, शरीर और वाणी का योग है, सिद्ध के कुछ भी बाकी नहीं, फिर भी अरहन्त को पहले नमस्कार क्यों ? ऐसा किसी को संदेह होता है तो उसका समाधान इस प्रकार है :–

....नमस्कार करते हैं सो अपना प्रयोजन साधने की अपेक्षा से करते हैं; सो अरहंतों से उपदेशादिक का प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, इसलिये पहले नमस्कार किया है।....

अरहन्त से उपदेशादिक का निमित्त बनता है। सिद्ध का ध्यान करते हैं; परन्तु वे उपदेश में निमित्त नहीं। अरहन्त से उपदेश का निमित्त मिलता है – ऐसा अपना प्रयोजन साधने की अपेक्षा नमस्कार करते हैं। अब अरहन्त से उपदेशादि का प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, इसकारण उन्हें पहिले नमस्कार किया है।

इसप्रकार अरहन्तादि का स्वरूप चिन्तन किया, क्योंकि स्वरूप का चिन्तवन करने से विशेष कार्य सिद्ध होता है।

इन अरहन्तादिक को पंच परमेष्ठी भी कहते हैं। जो सर्वोत्कृष्ट हो, उसका नाम परमेष्ठी

है। पंच जो परमेष्ठ उनका समाहार-समुदाय उसका नाम पंच परमेष्ठी जानना। यह सर्वोत्कृष्ट पद है। इसप्रकार स्वरूप चिन्तवन करके मांगलिक किया।

....पुनश्च – ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुन्थू, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत नमि, नेमि, पार्श्व, वर्द्धमान नाम के धारक चौबीस तीर्थंकर इस भरतक्षेत्र में वर्तमान धर्मतीर्थ के नायक हुए हैं; गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणकों में इन्द्रादिकों द्वारा विशेष पूज्य होकर अब सिद्धालय में विराजमान हैं; उन्हें हमारा नमस्कार हो।....

यद्यपि अरहन्त में चौबीस तीर्थङ्कर आ जाते हैं। परन्तु वर्तमान में जो इस भरत क्षेत्र में धर्म तीर्थ के नायक हुए हैं, उन्हें याद किया है। हमारे धर्म धुरंधर ये चौबीस तीर्थङ्कर वर्तमान में हो गये हैं – ऐसी अनन्त चौबीसियाँ हो गई हैं। जैनधर्म अनादि से है। आत्मा का हित करने वाले और अहित करने वाले अनादि से हैं। इन्द्रादिक तीर्थङ्करों के कल्याणक मनाते हैं, उनके द्वारा वे विशेष पूज्य हुए हैं। अभी वे सिद्धालय में विराजमान हैं, फिर भी उपकार जानकर उन्हें नमस्कार करते हैं।

जैसे लग्न में पत्रिका लिखते हैं और सभी सगे-सम्बन्धियों को विशेष आमंत्रण देकर बुलाते हैं। वैसे ही पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के प्रारंभ में सर्व जिनेन्द्रों को याद करते हैं। हे नाथ ! इस ग्रन्थ का उदय होता है, अत: सबको याद करता हूँ।

....पुनश्च – सीमंधर, युगमंधर, बाहु, सुबाहु, संजातक, स्वयंप्रभ, वृषभानन, अनंतवीर्य, सूरप्रभ, विशालकीर्ति, वज्रधर, चन्द्रानन, चन्द्रबाहु, भुजंगम, ईश्वर, नेमिप्रभ, वीरसेन, महाभद्र, देवयश, अजितवीर्य नाम के धारक बीस तीर्थंकर पंचमेरु सम्बन्धी विदेहक्षेत्रों में वर्तमान में केवलज्ञान सहित विराजमान हैं; उन्हें हमारा नमस्कार हो।

यद्यपि परमेष्ठी पद में इनका गर्भितपना है; तथापि विद्यमानकाल में इनकी विशेषता जानकर अलग नमस्कार किया है।....

वर्तमान में बीस तीर्थङ्कर महाविदेहक्षेत्र में हैं। कुल पाँच महाविदेहक्षेत्र हैं, एक-एक में चार-चार तीर्थङ्कर – इसप्रकार बीस तीर्थङ्कर अभी विराजमान हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ। अभी तो लोग अन्य पढ़ाई में अटक गये हैं। पृथ्वी स्थिर है और सूर्य गतिमान है, जबकि लौकिक पढ़ाई में इससे विरुद्ध बात आती है। महा विदेहक्षेत्रादि का अस्तित्व है। यद्यपि अरहन्त पद में बीस तीर्थङ्कर आ जाते हैं; तथापि वर्तमान काल में उन्हें विशेष जानकर यहाँ अलग से नमस्कार किया है।

....पुनश्च – त्रिलोक में जो अकृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं, मध्यलोक में विधिपूर्वक कृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं; जिनके दर्शनादिक से एक धर्मोपदेश के बिना अन्य अपने हित की सिद्धि जैसे तीर्थंकर-केवली के दर्शनादिक से होती है वैसे ही होती है; उन जिनबिम्बों को हमारा नमस्कार हो।....

त्रिलोक में जो अकृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं, तथा मध्यलोक में जो विधिपूर्वक कृत्रिम जिनबिम्ब विराजते हैं, जिनके दर्शन से स्व-पर का भेदज्ञान होता है, कषाय मंद होकर शान्तभाव होता है तथा एक धर्मोपदेश के सिवाय अपने हित की सिद्धि जैसी तीर्थङ्कर केवली के दर्शन से होती है वैसी ही यहाँ (कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिम्बों के दर्शन से) होती है – उन सर्व जिनबिम्बों को हमारा नमस्कार हो।

देखो ! यहाँ मध्यलोक में कृत्रिम जिनबिम्ब की बात ली है। अर्थात् धर्मात्मा नई प्रतिमा बनाकर उसको पधराते हैं – ऐसा अनादि का नियम निश्चित होता है। और जो प्रतिमायें हैं वे किसी की बनाई हुई नहीं हैं, जो जीव स्वयं भेदज्ञान करता है, उसको प्रतिमाजी निमित्त होती है। अर्थात् उनके दर्शन स्तुति आदि करने से भेदज्ञान होता है – ऐसा कहा है। एक दिव्यध्वनि के सिवाय प्रतिमाजी साक्षात् भगवान के समान हैं। जो जीव स्वयं धर्म प्राप्त करता है, उसको वे निमित्त हैं।

यहाँ प्रतिमाजी को स्व-पर भेद विज्ञान में निमित्त कहा है। जो लोग प्रतिमाजी को मानते ही नहीं उनसे कहते हैं कि – सम्यग्दर्शनादि में वस्त्रादि रहित वीतरागी प्रतिमा का निमित्तपना होता है। तथा उनका अभिषेक भी स्वच्छ जल के अलावा अन्य प्रकार से नहीं होता। पंचामृत अभिषेक तो काष्टासंघ से चला है। यह अनादि सत्य बात है। प्रतिमाजी के ऊपर वस्त्र, गहने व शृंगारादि कुछ भी नहीं होते। अष्ट द्रव्यों से पूजा भी उनके नजदीक में होती है, उनके अंग पर कुछ भी नहीं होता; यह बात सत्य है। साक्षात् भगवान हो अथवा प्रतिमा – वे भेदज्ञान करा नहीं देते; परन्तु जीव स्वयं धर्म प्राप्त करे तो उसमें निमित्त होते हैं। मंदकषाय करे तो इसमें निमित्त कहलाते है। ऐसे सर्व जिनबिम्बों को यहाँ नमस्कार किया है।

....पुनश्च, केवली की दिव्यध्वनि द्वारा दिये गये उपदेश के अनुसार गणधर द्वारा रचे गये अंग-प्रकीर्णक, उनके अनुसार अन्य आचार्यादिकों द्वारा रचे गये ग्रंथादिक – ऐसे ये सब जिनवचन हैं; स्याद्वाद चिह्न द्वारा पहिचानने योग्य हैं, न्यायमार्ग से अविरुद्ध हैं, इसलिये प्रामाणिक हैं; जीव को तत्त्वज्ञान का कारण हैं, इसलिये उपकारी हैं; उन्हें हमारा नमस्कार हो।....

श्री केवली भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा प्ररूपित उपदेश के अनुसार गणधरदेव द्वारा

रचित अंग-प्रकीर्णकादि के अनुसार अन्य आचार्यादिकों द्वारा रचित शास्त्र हैं, वे सर्व जिनवचन हैं। देखो ! त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव की ध्वनि अनुसार गणधरदेव अथवा अन्य आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र हैं, वे ही जिनवाणी होने से मानने योग्य है। किसी ने भगवान के नाम से अंगादि कल्पित शास्त्र बनाये होवें तो वे मानने योग्य नहीं है। वह वीतराग की वाणी नहीं है। वीतराग की वाणी स्याद्वाद चिह्न से पहिचानने योग्य है। "यह आत्मा स्वपने है और परपने नहीं" – यह स्याद्वाद है। "आत्मा स्वपने है और परपने भी है" – यह स्याद्वाद नहीं है। "गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास – ऐसा वीतराग मार्ग में नहीं चलता। परन्तु स्याद्वाद लक्षण से निर्णय करना चाहिये। तथा भगवान के वचन न्यायमार्ग से अविरुद्ध हैं, इसलिये प्रामाणिक हैं। तथा जीवों को तत्त्वज्ञान का कारण हैं अत: उपकारी हैं। सच्चे शास्त्र भी निमित्तरूप से आत्मा के उपकारी हैं। शास्त्रों की भी प्रतिष्ठा करते हैं; अत: शास्त्रों को हमारा नमस्कार हो।

यहाँ नमस्कार की व्याख्या चल रही है। ग्रन्थकार नमस्कार करने योग्य को नमस्कार करते हैं; क्योंकि जिनसे लाभ होता है, उनके उपकार को नहीं लोपते। कोई कहता है कि – जब कोई किसी का उपकार करता ही नहीं है तो फिर लोपने की बात ही कहाँ रही ? उससे कहते हैं कि जब आत्मा स्वयं समझता है तब जो निमित्त होते हैं, अर्थात् जिनके निमित्त से अपना लाभ होता है, जो उन निमित्तों का विवेक, बहुमान नहीं करता और उनके उपकार को लोपता है, वह अनन्त संसारी होता है। निमित्त का विवेक-बहुमान आदि अपनी पात्रता को बताता है। विनय करने योग्य की विनय करना अपना कर्त्तव्य है। जिसको आत्मा के भाने से निश्चय धर्म प्रगट हुआ है उसे, जिनके निमित्त से अपने को ज्ञान मिला होवे, उनके प्रति लक्ष्य जाकर बहुमान का व्यवहार आये बिना रहता नहीं है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं, वे मेरे ज्ञान में निमित्त हैं, इसलिये उनको याद करके नमस्कार करता हूँ। अपने स्व-पर प्रकाशक ज्ञान द्वारा अपना भान आने पर निमित्त का भान आये बिना नहीं रहता। कुदेवादिक भी ऐसा कहते हैं कि हमारे निमित्त से तुमको मिला है तो हमारा विनय करो; परन्तु वास्तव में उनके निमित्त से कुछ मिलता ही नहीं; अत: उनका विनय करने का प्रश्न नहीं रहता। जब तक पूर्णदशा न हो और साधकदशा होवे तब तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का विनय, नमस्कारादि छोड़ दे तो उसके समान अन्य कोई कृतघ्नी नहीं है; इसकारण वह अनन्त संसारी है।

यहाँ तो ग्रन्थकार मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए विनय की प्रसिद्धि करते

हैं। यहाँ निमित्त का बहुमान करते हैं। अरहन्त, सिद्ध और तीन लोक के कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिम्बों को नमस्कार करते हैं। वास्तव में तो कोई निमित्त का विनय करता ही नहीं, अपना विनय करता है। निमित्त का विवेक उपादान की पात्रता को बतलाता है। जिनसे लाभ हुआ होवे, उन सबको याद करके विनय-नमस्कार करते हैं। तथा केवलीभगवान की वाणी का बहुमान करके उसे भी नमस्कार किया है। अहो ! तीर्थङ्कर भगवान की वाणी अनुसार रचित शास्त्र ही सच्चे हैं, अन्य शास्त्र मिथ्या हैं। यहाँ तक बात आ गई है। अब चैत्यालय आदि को नमस्कार करते हैं।

....पुनश्च – चैत्यालय, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य; तीर्थक्षेत्रादि क्षेत्र; कल्याणककाल आदि काल तथा रत्नत्रय आदि भाव; जो मेरे द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ तथा जो किंचित् विनय करने योग्य हैं, उनकी यथायोग्य विनय करता हूँ।

इसप्रकार अपने इष्टों का सन्मान करके मंगल किया है।....

तथा चैत्यालय, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य, तीर्थक्षेत्रादि क्षेत्र, कल्याणक आदि काल तथा रत्नत्रयादि भाव – जो मेरे नमस्कार करने योग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ। नव देवों में चैत्यालय एक देव है, जिसमें चैत्य यानी प्रतिमा विराजती है, वह चैत्यालय है, उसे नमस्कार हो। स्त्रियों को पंचम गुणस्थान तक होता है – ऐसी आर्यिकाओं को और जो श्रावक अपने से ऊँचे है, जिनका अकषायभाव बढ़ गया है, उन्हें नमस्कार करते हैं। यहाँ तो श्रावक श्रावक को भी नमस्कार करता है – ऐसा सिद्ध किया है। सम्मेदशिखर आदि तीर्थक्षेत्र हैं, वे सब नमस्कार करने योग्य हैं। तथा भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकों का काल – यह पाँचों कल्याणक काल हैं, उसका माहात्म्य करके वंदन करते हैं। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये वीतराग भाव हैं, जो भी नमस्कार करने योग्य होने से इन्हें भी नमस्कार किया है। तथा जो किंचित् विनय करने योग्य हैं, उनकी भी यथायोग्य विनय करता हूँ।

अपने ज्ञान में विवेक प्रगटा होने से अरहन्तादिक को मंगलरूप में नमस्कार करते हैं; क्योंकि ये ही अपने प्रिय – सगे हैं। जैसे विवाह प्रसंग में सगे-सम्बन्धियों को आमन्त्रण देते हैं; उसीप्रकार धर्म में इष्ट ऐसे अरहन्त, सिद्धादि, व जिनबिम्ब आदि को याद करके नमस्कार करते हैं। उनके उपकार को भूलते नहीं हैं। अभी तो कितने ही जीव सनातन दिगम्बर परम्परा के शास्त्र पढ़कर, कुदेवादिक के नाम से चलाते हैं, वे कृतघ्नी हैं। व्यवहार से भी भ्रष्ट हैं। अत: अनन्तसंसारी हैं। जिसको सच्चे निमित्त का बहुमान नहीं आता, उसे आत्मा का बहुमान तो

आयेगा ही नहीं। निमित्त का विवेक, वह वास्तव में आत्मा का विवेक है। जिसको स्वरूप दृष्टि हुई है, उसे निमित्त का विनय-बहुमान आये बिना नहीं रहता। लोग निश्चय के बहाने इसे भूल गये हैं और व्यवहार को समझते नहीं हैं, वे निश्चय-व्यवहार – दोनों में भूले हुए हैं।

ग्रन्थकार ने अपने इष्ट का सन्मान करके मंगल किया। इष्ट माने प्रिय। धर्मी को ऊपर कहे हुए अरहन्त, सिद्ध, जिनवाणी, प्रतिमा, जिनगुरु आदि सब इष्ट हैं – प्रिय है। उन्हें नमस्कार करके मंगल किया – इसप्रकार अपनी पात्रता दर्शाई है।

अब वे अरहन्तादि इष्ट किसप्रकार हैं ? यह बतलाते हैं –

....अब, वे अरहंतादिक इष्ट कैसे हैं, सो विचार करते हैं – जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो तथा दु:ख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है; और जिसके द्वारा उस प्रयोजन की सिद्धि हो वही अपना इष्ट है। सो हमारे इस अवसर में वीतराग-विशेषज्ञान का होना वही प्रयोजन है; क्योंकि उसके द्वारा निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दु:ख का नाश होता है।

जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दु:ख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि जिनसे होवे, वे ही अपने इष्ट हैं। देखो ! यहाँ न्याय दिया है। आनन्द की उत्पत्ति हो और दु:ख का नाश हो – इसप्रकार अस्ति-नास्ति से बात की है। लोग सुख के लिये झपट्टे मारते हैं। अत: सुख का होना और दु:ख का नाश होना ही प्रयोजन है। सुख तो आत्मा से होता है; परन्तु उसमें निमित्तरूप अरहन्तादि हैं, इससे व्यवहार से उन्हें इष्ट कहा है। निश्चय से तो आत्मा स्वयं ही इष्ट है। इसमें यह बात भी आ जाती है कि कुदेवादिक के निमित्त से सुख नहीं होता।

अब इस अवसर में हमारे तो वीतराग विशेष ज्ञान का होना ही एक प्रयोजन है। अर्थात् आत्मतत्त्व रागादि रहित है, उसको पकड़ने वाला ज्ञान हो – यही प्रयोजन है। क्योंकि इससे निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। तथा इस प्रयोजन की सिद्धि श्री अरहन्तादिक से होती है, किसप्रकार ? वह यहाँ विचारते हैं –

अरहन्तादिक से प्रयोजन सिद्धि

....आत्मा के परिणाम तीन प्रकार के हैं – संक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध। वहाँ तीव्र कषायरूप संक्लेश हैं, मंद कषायरूप विशुद्ध हैं, तथा कषायरहित शुद्ध हैं।....

आत्मा के परिणाम तीन प्रकार के हैं, अर्थात् पर्याय तीन प्रकार की होती है। यहाँ दर्शन

(श्रद्धा) और चारित्रगुण की पर्याय की अपेक्षा से बात है। अन्य गुणों की अन्य पर्यायें होती हैं, उनकी बात यहाँ नहीं है। संक्लेश, विशुद्ध और शुद्ध – ये तीन प्रकार के परिणाम हैं, उनमें तीव्र अर्थात्, मिथ्यात्व, कषाय, हिंसादि के परिणाम – वे संक्लेश हैं; मंद कषाय अर्थात् दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम विशुद्ध हैं और जो कषाय रहित हैं, वे शुद्ध परिणाम हैं।

....वहाँ वीतराग विशेषज्ञानरूप अपने स्वभाव के घातक जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्म हैं; उनका संक्लेश परिणामों द्वारा तो तीव्र बन्ध होता है, और विशुद्ध परिणामों द्वारा मंद बंध होता है, तथा विशुद्ध परिणाम प्रबल हों तो पूर्वकाल में जो तीव्र बंध हुआ था, उसको भी मंद करता है। शुद्ध परिणामों द्वारा बंध नहीं होता, केवल उनकी निर्जरा ही होती है।....

अब वीतराग विशेष विज्ञानरूप अपने स्वभाव के घातक ज्ञानावरणीय आदि घातिकर्मों का संक्लेश परिणामों से तो तीव्र बंध होता है। अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम का घातना अपने संक्लेशरूप मिथ्यात्वादि परिणामों से होता है; तब निमित्तरूप से कर्म घात करते हैं – ऐसा कहा जाता है। हिंसा, चोरी, मिथ्यात्वादि के भाव से मोहनीय आदि का तीव्र बंध पड़ता है और मंदकषाय से चार घातिकर्मों का तो मंद बंध होता है। अथवा मंदकषाय प्रबल होवे तो पूर्व में हुए तीव्र बंध को भी मंद करता है। यह निमित्त का कथन है। कर्म का मंद अथवा तीव्र होना, वह तो उसके काल में स्वयं होता है; जीव के परिणाम उसमें निमित्तमात्र है।

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि – आप निमित्त को नहीं मानते ? परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त है अवश्य, परन्तु वह उपादान में कोई कार्य नहीं करता; क्योंकि निमित्त-उपादान – दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

शुद्धपरिणामों से बंध नहीं होता, केवल कर्म की निर्जरा ही होती है। सम्यग्दर्शन आदि से बंध नहीं होता। धर्म से पुण्य बंध नहीं होता। तीर्थङ्कर नामकर्म भी धर्म से नहीं बंधता। अर्थात् वीतराग-विज्ञानता से बंध नहीं होता, मात्र निर्जरा ही होती है। आत्मा की शुद्धता से बंध तो होता ही नहीं, बल्कि अबंधदशा बढ़ती जाती है।

आत्मा में शुद्धता होवे तब पुराने कर्म नहीं खिरें – ऐसा होता ही नहीं। तथा कर्म खिर जावें और आत्मा में शुद्धता न हो – ऐसा भी नहीं होता। आत्मा की पर्याय में ज्ञान की हीनता होवे और ज्ञानावरणीय कर्म का निमित्त न हो – ऐसा नहीं होता। और ज्ञान की अवस्था वृद्धिंगत होवे तब ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव कर्म के कारण हुए बिना नहीं रहता। जिसको निश्चय का यथार्थ भान होता है उसे ही व्यवहार का सच्चा ज्ञान होता है। अकेले व्यवहार वाले को तो व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

आत्मा में शुद्धि होती है, इसलिये कर्म की अवस्था को बदलना पड़ता है – ऐसा नहीं है। तथा कोई ऐसा कहे कि कर्म उदय में आता है तब जीव को राग करना पड़ता है न ? तो कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। आत्मा में राग का काल (स्वकाल, पर्यायगत योग्यता) हो तब कर्म का उदय उसके कारण से होता है। राग न करे तो कर्म का निमित्तपना भी नहीं कहलाता।

....अरहंतादि के प्रति स्तवनादिरूप जो भाव होते हैं, वे कषायों की मंदता सहित ही होते हैं, इसलिये वे विशुद्ध परिणाम हैं। पुनश्च, समस्त कषाय मिटाने का साधन हैं, इसलिये शुद्ध परिणाम का कारण हैं; सो ऐसे परिणामों से अपने घातक घातिकर्म की हीनता होने से सहज ही वीतराग-विशेषज्ञान प्रगट होता है। जितने अंशों में वह हीन हो, उतने अंशों में यह प्रगट होता है – इसप्रकार अरहंतादिक द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध होता है।....

अरहन्तादिक के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते हैं, वे कषाय की मंदता पूर्वक ही होते हैं। अत: वे विशुद्ध परिणाम हैं। तथा समस्त कषायभाव को मिटाने का साधन हैं; इसलिये अरहन्तादि शुद्ध परिणाम के कारण भी है। पंचपरमेष्ठी शुभभाव के निमित्त तो हैं ही; परन्तु वे वीतराग-विज्ञानरूप शुद्धपरिणाम में भी निमित्त हैं। अर्थात् आत्मा स्वयं शुद्ध परिणाम करता है तब उन्हें निमित्त कहते हैं। पहले यह बात आ गई है कि – अरहन्तादि स्व-पर भेदविज्ञान के कारण हैं। इसप्रकार व्यवहार भी बराबर समझना चाहिये।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि काव्य-१३६ में कहा है कि –

"उपादान का नाम ले, वे जो तजें निमित्त।
पावैं नहिं सिद्धत्व को, रहे भ्रान्ति में स्थित॥

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति कृतघ्नी नहीं होना। जैसे कोई निर्धन से धनवान हुआ हो तो वह छिपा नहीं रहता अर्थात् बाहर में प्रसिद्ध हुए बिना नहीं रहता। वैसे ही जिनके निमित्त से अपने को सच्चा भान हुआ हो, उनका विनय, सत्कार, बहुमान आदि किये बिना नहीं रहता। उनके उपकार का लोप नहीं करता और कृतघ्नी नहीं होता। यद्यपि देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो उसके कारण से होती है; परन्तु भाव कैसा होता है उसकी बात है। पंचपरमेष्ठी आत्मा को वीतरागी परिणाम में निमित्त हैं। ऐसे परिणमन से घातिकर्मों का अभाव होता है और कषाय की मंदता से घातिकर्मों का मंदपना होता है। तथा जितने अंशों में घातिकर्मों की हीनता होती है; उतने अंशों में वीतराग-विशेष ज्ञान प्रगट होता है।

आत्मा की शुद्धता अथवा कषाय की मंदता के प्रमाण में उस काल में घातिकर्मों का

हीनपना होता है, पहले पश्चात् वह नहीं होता। पहले अस्ति से कहा कि – शुद्धपरिणाम के काल में घातिकर्मों की हीनता होती है और पश्चात् नास्ति से बात की कि – घातिकर्मों की हीनता के काल में आत्मा में शुद्धता होती है; उसमें काल भेद नहीं है। इसप्रकार अरहन्तादिक से अपना प्रयोजन सिद्ध होता है। देखो ! यहाँ तो अपना प्रयोजन कैसे कारण से सिद्ध होता है – यह बात करना है। बीच में घातिकर्मों की बात आई, परन्तु यहाँ घातिकर्मों की सिद्धि नहीं करना है – ऐसा समझना।

....अथवा अरहन्तादिक पंचपरमेष्ठी के आकार का अवलोकन अथवा उनके स्वरूप का विचार, उनके वचनों का सुनना और उनके निकटवर्ती रहना तथा उनके अनुसार प्रवर्त्तना – इत्यादि सब कार्य तत्क्षण ही निमित्तभूत होकर रागादिक को हीन करते हैं। जीव-अजीवादि के विशेष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं – इसलिये ऐसे भी अरहंतादिक द्वारा वीतराग-विशेषज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।....

ये सब आत्मा के परिणाम की बात है। पंचपरमेष्ठी के आकार का विचार करना, सत्समागम का भाव करना – यह अपने परिणाम में वर्तने की बात है, बाहर की बात नहीं। जब आत्मा स्वयं राग की हीनता करता है तब (पंचपरमेष्ठी का) निकटवर्तीपना होता है – ऐसा निकटवर्तीपने का अर्थ है। आत्मा के राग के कारण शरीर की क्रिया नहीं होती, अत: अपने भाव की बात है। जब इच्छा के कारण आत्मा के प्रदेश ही नहीं चलते तो फिर इच्छा के कारण से पर की क्रिया होवे – ऐसा तो बनता ही नहीं। अरहन्तादिक के निमित्त से जीव-अजीवादिक का विशेष ज्ञान होता है। जब आत्मा स्वयं जीवादिक का ज्ञान करता है तब वे उसमें निमित्त कहलाते हैं – ऐसा समझना। पर के कारण आत्मा में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसप्रकार पंच परमेष्ठी द्वारा वीतराग विशेष ज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।

....यहाँ कोई कहे कि इनके द्वारा ऐसे प्रयोजन की तो सिद्धि इसप्रकार होती है; परन्तु जिससे इन्द्रियजनित सुख उत्पन्न हो तथा दु:ख का विनाश हो – ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि इनके द्वारा होती है या नहीं ?....

यहाँ पंचपरमेष्ठी की बात चलती हैं, वे आत्मा के सुख में निमित्त हैं या आत्मा के सुख और पैसे के सुख – दोनों में निमित्त है – यह प्रश्न है। विकार रहित शुद्ध-परिणमन करे उसमें भगवान निमित्त हैं – (यह तो ठीक) परन्तु कीर्ति-आबरु भी उनसे मिलती है या नहीं – ऐसा प्रश्न है ?

....उसका समाधान – अरहंतादिक के प्रति स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होते हैं; उनसे अघाति कर्मों की साता आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है; और यदि वे परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पापप्रकृतियों का बन्ध हुआ था, उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है....

पंचपरमेष्ठी के स्तवनरूप भक्ति में जो शुभभाव हो, उससे यशकीर्ति और सातावेदनीय आदि शुभ कर्म बंधता है। पंचेन्द्रियपना, देवपना आदि कर्म बंधते हैं। घातिकर्मों की तो सभी पाप प्रकृतियाँ हैं, अत: उनकी बात नहीं है। अघाति शुभकर्म बंधता है (उसकी बात है।) और शुभपरिणाम उग्र हो तो पूर्व के असाता कर्म व अपयश आदि कर्मों को मंद करता है। वे कर्म अपनी योग्यता से मंद होते हैं, तब भगवान की भक्ति आदि तीव्र शुभराग के निमित्त से मंद हुए – ऐसा कहा जाता हैं, अथवा वह उन्हें नष्ट करके पुण्य प्रकृतिरूप परिणमाता है। पूर्व की अपयश, असाता आदि प्रकृतियों का नाश करके शुभप्रकृतिरूप परिणमाता है।

प्रश्न – क्या प्रकृति का स्वामी शुभराग है ? क्या उस प्रकृति का (उक्त प्रकार परिणमित होने का) स्वकाल नहीं था ?

उत्तर – उस प्रकृति का उसरूप परिणमित होने का स्वकाल है, उसमें तीव्र शुभपरिणाम को निमित्त कहा जाता है। व्यवहारनय की भाषा में ऐसा आता है कि शुभपरिणाम के कारण पाप प्रकृतियों का नाश करता है और यशकीर्ति व साता आदि प्रकृतियों को बाँधता है। यह नियम मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि सभी को लागू पड़ता है। इसप्रकार नया पुण्य बाँधा, पुराना पाप नष्ट किया, पुराना पाप घटाया – ऐसे तीन कार्य शुभपरिणाम के कारण हुए। यद्यपि निमित्त के कारण कार्य नहीं होता, किन्तु (कर्म) प्रकृति की (उस प्रकार) परिणमने की योग्यता है, उसमें शुभराग निमित्त है। शुभराग कर्म की प्रकृति को परिणमाता है – यह (निमित्त सापेक्ष) व्यवहारनय का कथन है; अत: वहाँ 'ऐसा नहीं है;' किन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा है – ऐसी श्रद्धा करना और कर्म प्रकृति स्वयं अपने कारण से पलटती है – ऐसा निश्चयनय का कथन है, उसे 'सत्यार्थ ऐसा ही है' – ऐसा समझना।

....और उस पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दु:ख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। – इसप्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है।....

तथा उन (साता आदि) प्रकृतियों का उदय आने पर धन, इज्जत आदि स्वयं प्राप्त होते

हैं। प्रकृति के कारण पैसा नहीं आता; किन्तु दोनों के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। तथा आत्मा की चतुराई के कारण भी धनादि नहीं आते। विशाल बंगला, फर्नीचर एवं धनादि पदार्थों का संयोग पुण्य प्रकृति के उदय से आ मिलता है। परन्तु इन संयोगों की प्राप्ति में हर्षित होना मिथ्यादर्शन है।

कोई पण्डित कहते हैं कि समाज व्यवस्था के सही न होने के कारण पैसे वालों के पास बहुत पैसा है और गरीब के पास पैसा कम है – यह सब बातें मिथ्या हैं। संयोग का मिलना पूर्व पुण्य के अनुसार है। अभी कितने ही जीवों को अपनी भूल का ख्याल नहीं आता, इसकारण आचार्यों की भूल निकालने लगते हैं – ऐसे सभी जीव विपरीत मार्ग के अनुगामी हैं। 'परमात्म प्रकाश' में कहा है कि पुण्य से वैभव मिलता है। पुण्य के निमित्त से संयोग मिलते हैं – ऐसे कथन शास्त्रों में बहुत जगह उपलब्ध है।

पंचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा, प्रभावना से पुण्य बंधता है। मिथ्यादृष्टि को भी मन्दिर आदि बनाने का ऐसा शुभराग आता है, उसके कारण पुण्य प्रकृतियाँ बँधती हैं और उससे पैसे इत्यादि संयोग प्राप्त होते हैं। तथा पाप का उदय दूर होने से दुःख की कारणभूत सामग्री दूर होती है। मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि भक्ति आदि का शुभराग करे तो (उससे) पाप दूर होता है, रोग चला जाता है, शत्रु नहीं रहते – इसप्रकार पंचपरमेष्ठी भगवान की भक्ति आदि से लौकिकसुख की सामग्री भी मिलती है।

जैन शासन के भक्त देव, राजा आदि भक्त को सुख की कारणभूत सामग्री का संयोग कराते हैं। भक्त पुरुष के पुण्य का उदय होता है और सेठ को अनुकम्पा का भाव आवे तो वह दो-पाँच लाख रुपये देकर दरिद्रता मिटाता है। इसप्रकार राजा, सेठ आदि निमित्त बन जाते हैं। भक्तजन (देव, राजा, सेठ आदि) संयोग कराते हैं – यह व्यवहार का कथन है। भक्त का पुण्योदय हो तो ऐसा बनाव बन जाता है। ऋषभदेव भगवान को छह माह तक आहार नहीं मिला, उनके तो इन्द्र, राजा भरत आदि बहुत भक्त थे किन्तु किसी को भी वैसा विकल्प नहीं आया और भगवान के पुण्य का उदय भी नहीं था। जिसके पुण्य का उदय हो, उसे संयोग मिल जाते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्री स्वयं दूर हो जाती है। इसप्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि श्री अरहन्तादिक द्वारा होती है।

....परन्तु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषायभावों से बाह्य सामग्रियों में इष्टअनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय

के बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है। तथा कषाय है सो सर्व आकुलतामय है, इसलिये इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना यह भ्रम है।....

परन्तु वह पुण्य प्रकृति बंधे, पाप घटे और पाप का संक्रमण हो अथवा पुण्य प्रकृति का स्थिति रस बढ़े, तो भी उसमें अपना कुछ भी हित नहीं है। शरीर, पैसा, पुत्र-पुत्री आदि अच्छे हों, परन्तु उसमें कुछ हित नहीं। सर्वप्रथम संयोग का ज्ञान कराया, शुभपरिणाम के कारण पुण्य प्रकृति आदि बँधती है – ऐसा ज्ञान कराया। बाहर के संयोग से अपना हित नहीं, कारण कि अपने कषायभाव द्वारा ये स्त्री, शरीर, पैसा अनुकूल हैं तथा कपड़ा, भोजन, मकान आदि का अभाव है – इसकारण प्रतिकूल है – ऐसा इष्ट-अनिष्ट मानकर अज्ञानी सुख-दुःख मानता है। अनुकूल सामग्री में मुझे ठीक है – ऐसी सुख की कल्पना और प्रतिकूल सामग्री में मुझे ठीक नहीं – ऐसी दुःख की कल्पना जीव करता है। वस्तुतः तो वे दोनों कल्पनायें दुःख की कारण हैं। पूर्व पुण्य के कारण देव-गुरु-शास्त्र मिले और वर्तमान शुभराग करे वह पुण्य का पुरुषार्थ है। उनका आशय समझकर धर्म प्रगट करे तो उन्हें निमित्त कहा जाता है, अन्यथा अनन्तबार केवली भगवान के पास गया फिर भी कोरा रह गया।

मखमल के गद्दे सुख का कारण नहीं तथा काँटे आदि दुःख के कारण नहीं; जीव ही भ्रमवश अनिष्ट मानकर दुःख की कल्पना करता है। जीमने बैठा हो, बाग-बगीचे में अच्छी फुलवारी हो, आराम कुर्सी पर बैठा हो, पाँच-पचास मित्र साथ में हों, पंखे चलते हों, श्रीखण्ड और पूरी खाता हो तब सुख मानता है और पुण्य खत्म हो जाने पर मकान का संयोग नहीं मिलता, शरीर में रोग हुआ हो, सेवा करने वाले नहीं हों (तब दुःख मानता है), किन्तु वह दुःख का कारण नहीं; जीव ही उस सामग्री (संयोग) को अनिष्ट मानकर दुःख की कल्पना करता है। निज आत्मा सहज आनन्द स्वरूप है, उसे भूलकर पर में सुख-दुःख मानता है। प्रतिकूलता में दुःख है और अनुकूलता में सुख है – ऐसा मानना आकाश के फूल समान है; क्योंकि पर में सुख नहीं। यह जीव कल्पना करता है, वह (कल्पना) आकाश में फूल समान नहीं (किन्तु) सार्थक है; क्योंकि वह उसमें पाप बाँधता है। भरत चक्रवर्ती के समान वैभव मिले तो भी उसमें सुख नहीं। पाँच-पचास लाख रुपये मिले; किन्तु वह बाहर की सामग्री सुख नहीं देती और शरीर का रोग दुःख नहीं देता। एक सौ छह डिग्री बुखार आये और हैजा हो जाये, परन्तु वह दुखदायक नहीं है। जीव कषाय द्वारा कल्पना करके दुःख को वेदता है। वस्तुतः तो ये सब ज्ञान का ज्ञेय है। पर-सामग्री में प्रमेयत्व गुण है अतः वह ज्ञान का विषय होती है; परन्तु सुख-दुःख दाता नहीं होती।

इसप्रकार सामग्री पर से लक्ष्य हटवाया – कि बाह्य सामग्री सुख-दुःखदाता नहीं है।

अब दूसरी बात करते है कि तू जो कल्पना करता है वह आकुलतामय है। पुण्य का भाव हो अथवा पाप का भाव हो, वह सब आकुलतामय भाव है। अत: इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दु:ख से डरना, वह भ्रम है। मूढ़ लोग ऐसा मानते हैं कि शरीर अच्छा हो और श्वास निरोध करे तो धर्म होता है। पाप के कारण से अपयश हो, निर्धनता हो, वह दु:ख नहीं है और उससे डरना उचित नहीं है। सामग्री से डरना और सामग्री से प्रसन्न होना भ्रम है। अनुकूल पुत्रादि के संयोग से सुख मानना भ्रम है। अनुकूल सामग्री की इच्छा नहीं करना और प्रतिकूल सामग्री से नहीं डरना। वस्तुत: अनिष्ट तो विकार है और स्वभाव इष्ट है। स्वयं जो (मिथ्या) कल्पना करता है वही दु:ख है। सामग्री इष्ट-अनिष्ट कल्पना नहीं कराती, स्वयं कल्पना करता है।

....पुनश्च, इस प्रयोजन के हेतु अरहंतादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबंध ही होता है, इसलिये अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहंतादिक की भक्ति करने से ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होते हैं।

इसप्रकार अरहंतादिक परम इष्ट मानने योग्य हैं।....

ऐसे सांसारिक प्रयोजन से अरहन्तादिक की भक्ति करने से तीव्र कषाय होने से पाप बंध होता है। अपने को बड़ी यात्रा करनी, इससे इज्जत बढ़ेगी, पुत्र प्राप्त होगा अथवा दुनिया अच्छा कहेगी। पाँच-पचास हजार रुपये मिले उसमें से पाँच हजार (दानादि में) खर्च करे तो सब अच्छा कहेंगे – ऐसा मानता है तथा बाहर की क्रिया (उसी समय) स्तवन-पूजारूप होती हो, पूजा में हाथ आदि की व स्तवन बोलने की क्रिया होती हो, परन्तु अन्दर में अशुभ परिणाम है; इस कारण तीव्र पाप बँधता है, अत: इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। जैसे अच्छे अनाज के पकने के साथ भूसा भी होता है, वैसे ही धर्मात्मा को धर्मदशा होने पर (साथ में रहे हुए शुभ रागांश के कारण) पुण्य भी बँध जाता है। इसप्रकार पंचपरमेष्ठी की भक्ति करने से ऐसा प्रयोजन तो स्वयं ही सिद्ध होता है।

इसप्रकार श्री अरहन्तादिक परम इष्ट मानने योग्य हैं।

....तथा वे अरहंतादिक ही परम मंगल हैं। उनमें भक्तिभाव होने से परम मंगल होता है। 'मंग' अर्थात् सुख, उसे 'लाति' अर्थात् देता है; अथवा 'मं' अर्थात् पाप, उसे 'गालयति' अर्थात् गाले, दूर करे, उसका नाम मंगल है। इसप्रकार उनके द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से दोनों कार्यों की सिद्धि होती है, इसलिये उनके परम मंगलपना संभव है।....

तथा ये अरहन्तादिक ही परम मंगल हैं। उनमें भक्ति-भाव होने से परम मंगल होता है। जो लौकिक प्रयोजन का अर्थी न हो, सामग्री का अर्थी न हो। आत्मा के भान वाले को पुण्य तो सहज बंध जाता है, वह मांगलिक है। पाप भाव वाले को मांगलिक नहीं कहा जाता।

यहाँ मांगलिक की बात चलती है। मंग अर्थात् सुख, ल अर्थात् लाति, प्राप्त करावे इसलिये मांगलिक और मं अर्थात् पाप उसे गालयति अर्थात् गाले-दूर करे उसका नाम मंगल है। निमित्त, पुण्य-पाप और विकार तथा ज्ञान की क्षयोपशम पर्याय के अहंकार को आत्मा के भान द्वारा गलावे, वह मांगलिक है।

जो आत्मा के भानपूर्वक बाह्य सामग्री की अपेक्षा रहित अरहन्तादिक की भक्ति करता है, उसको दोनों सुख मिलते हैं। अतीन्द्रिय सुख मिलता है और इन्द्रियजनित सुख भी सहज ही मिल जाता है, परन्तु उस इन्द्रियजनित सुख की भावना नहीं करना।

इसप्रकार (अरहन्तादिक की भक्ति से) दोनों कार्यों की सिद्धि होती है। पंचपरमेष्ठी के स्वरूप की भावपूर्वक स्तुति करता है; इसलिये पंचपरमेष्ठी में परम मंगलपना संभव है।

मंगलाचरण करने का कारण

....यहाँ कोई प्रश्न करता है कि प्रथम ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल किया उसका क्या कारण है ?

सुख से ग्रंथ की समाप्ति हो, पाप के कारण कोई विघ्न न हो, इसलिये यहाँ प्रथम मंगल किया है। यहाँ तर्क – जो अन्यमती इसप्रकार मंगल नहीं करते हैं, उनके भी ग्रन्थ की समाप्ति तथा विघ्न का न होना देखते हैं, वहाँ क्या हेतु है ?....

शुद्धभाव प्रगट हुआ और साथ में व्यवहार शुभभाव वर्तता है, तो मंगलाचरण होता है। ग्रन्थकार को अपनी आत्मा के बहुमान के साथ ही शुभराग (भी) वर्तता है। अन्यथा ग्रंथ तो बनना हो तो बनता है, उसकी अवस्था जीव से नहीं होती।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्व और पर के आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना करके श्री समयसार का प्रारम्भ किया और ग्रंथ पूर्ण हुआ, वहाँ ग्रन्थ पूर्ण होने की योग्यता थी, इसलिए पूर्ण हुआ; और मोक्षमार्गप्रकाशक पूर्ण नहीं हुआ तो वह अपनी योग्यता के कारण पूर्ण नहीं हुआ। इसमें जीव के भाव क्या करेंगे ? कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा – ऐसा मैंने व्यवसाय किया है। उनके अप्रतिहतभाव और पुण्य का ऐसा योग – दोनों का मेल मिल गया। वे साक्षात् भगवान सीमन्धरनाथ के पास गये थे। अहा ! उनका

अप्रतिहतभाव ऐसा कि केवलज्ञान लेकर ही रहेंगे और पुण्य ऐसा कि चार सौ पन्द्रह गाथायें पूर्ण हुई; तथा अमृतचन्द्राचार्य ने उनकी टीका लिखी वह टीका भी पूर्ण हुई। आचार्यदेव पवित्रता और पुण्य में परिपूर्ण थे। पण्डितजी में पवित्रता थी पर (कुन्दकुन्दाचार्य जैसा) पुण्य नहीं था।

ग्रन्थ का प्रारम्भ किया तब उन्हें पता नहीं था कि यह पूरा नहीं होगा। परन्तु स्वयं ने अपने मांगलिक भाव किये हैं कि सुखपूर्वक ग्रन्थ पूर्ण हो और पापोदय के कारण कोई विघ्न नहीं आवे – इस हेतु से यहाँ सर्वप्रथम मंगल किया है।

अन्यमती तो 'इसप्रकार' मंगल नहीं करते हैं। देव अठारह दोषों से रहित हैं, मुनि शुद्धोपयोगी होते हैं – इत्यादि बातों की तो अन्यमतियों को खबर नहीं होती और वे मंगल भी नहीं करते, फिर भी अन्यमतियों के शास्त्र पूर्ण हुए हैं तथा उनके विघ्न का नाश देखने में आता है। वीतरागी की वाणी सिवाय अन्यमत के शास्त्र लिखे गये हैं, उन्हें ऊपर कहे अनुसार पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का पता नहीं है। व्यवहार से निश्चय होना नहीं माने – ऐसे आचार्य आदि संत होते हैं इत्यादि पंचपरमेष्ठी की, प्रतिमा की तथा देव-शास्त्र-गुरु की खबर उन्हें नहीं होती है, वे उनका विनय भी नहीं करते, फिर भी उनके ग्रन्थ (पूर्ण होकर) समाप्त हो जाते हैं, उनमें विघ्न नहीं होता। उन्हें किसी राजा-रानी की सहायता मिल जाती है तो उसका कारण क्या है ?

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंचपरमेष्ठी हैं। वे पद तो परम हितरूप दशा है। वीतरागी दृष्टि और आचरण पूर्वक ये पद होते हैं। शुभाशुभ विकार को हेय जानकर, निमित्त को हेय जानकर, आत्मा शुद्ध-चैतन्य आनन्दकन्द है – उसकी दृष्टि करके अंतर स्थिरता की हो – ऐसे पंचपरमेष्ठी के स्वरूप को पहिचानकर मंगल किया जाता हैं। अन्यमती ऐसा मंगल नहीं करते। निमित्त और दया, दानादि का शुभराग आदरणीय हैं – ऐसे अभिप्राय वाले भी ऐसा मंगल नहीं करते। आत्मा शुद्ध चिद्घनस्वरूप ही उपादेय है, पुण्य-पाप और निमित्त हेय हैं – ऐसी दृष्टि पूर्वक अन्यमती मंगल नहीं करते। फिर भी बाह्य संयोग की अनुकूलता तो पुण्य के उदय से होती है, उसमें वर्तमान चतुराई का काम नहीं है। जैन किसको कहना ? अन्यमती किसको कहना ? दया-दानादि के शुभभाव से आत्मा में लाभ मानते हैं, वे भी अन्यमती हैं। *जैन अर्थात् क्या ? पुण्य-पाप के सभी विकल्प अभाव करने योग्य ही हैं, रखने योग्य नहीं और ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, लीनता ही करने योग्य है – ऐसा जो माने वे जैन हैं।*

इसप्रकार मंगल नहीं करते। यहाँ 'इसप्रकार' शब्द पर वजन है। अरहन्त और सिद्ध पूर्ण वीतराग हो गये। आचार्य, उपाध्याय और साधु के साधकदशा में राग होने पर भी राग का

किंचित आदर नहीं है, अतः वे जैन हैं। जिसको पुण्य परिणाम रुचता है और जो उससे लाभ मानता है वस्तुतः वह पंचपरमेष्ठी का आदर नहीं करता। वह सच्चा मंगल नहीं कर सकता। आत्मा के पूर्ण स्वभाव को उपादेय मानकर जिन्होंने पूर्ण वीतरागता प्रगट की है – वे अरहन्त और सिद्ध देव हैं और आंशिक वीतरागता प्रगट की है – वे आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं। यहाँ मंगलाचरण का शुभभाव व्यवहार है।

निश्चय वीतरागी दृष्टि द्वारा उसका निषेध करके स्वभाव में स्थिरता करना, वह निश्चय मंगल है। मुनिपना शुद्धोपयोगरूप है, उन्हें अट्ठाईस मूलगुण होते हैं; परन्तु वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। पंचपरमेष्ठी आत्मा हैं। वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता आत्मा में है, उसे कौन नमस्कार करे ? जिसको राग नहीं रुचता और अकेला वीतरागी स्वभाव रुचता है, वही नमस्कार करता है। इसके सिवाय जो आत्मा को पराधीन मानता है, अनन्त आत्मायें मिलकर एक आत्मा मानता है, ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानता है, दया-दानादि के शुभराग से धर्म मानता है – ऐसी रुचि वाला पंचपरमेष्ठी को नमस्कार नहीं कर सकता। राग से हित मानने वाला जैन नहीं है। विकार से भिन्न ज्ञातामात्र स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान, लीनता में जैनपना रहता है – ऐसे समकिती जीव को विकार और निमित्त का आदर नहीं होता; किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वभाव का ही आदर होता है।

वीतराग-विज्ञान का अर्थी जीव, शास्त्र से विरुद्ध नहीं लिखता। हम तो वीतराग-विशेषज्ञानरूप होने के अर्थी बनकर पंचपरमेष्ठी की स्तुति करके मंगलाचरण करते हैं। पाँचों पद वीतराग-विज्ञान स्वरूप हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु को अल्पराग आता है, वह वीतरागता नहीं, राग है। वंद्य नहीं; किन्तु निंद्य है। जो हेय है, दोष है तुझे उसका अर्थी होना है ? या जो उपादेय है उसका अर्थी होना है ? जो वीतरागी स्वभाव है वही उपादेय है, उसे छोड़कर राग से लाभ मनवाकर वीतरागता के नाम से शास्त्र रचें, वे वीतराग विज्ञानता के बैरी हैं। सनातन जैनदर्शन वीतराग विज्ञान का एक कारण है – ऐसी दृष्टि पूर्वक अन्यमती मंगल नहीं करते, और भगवान के नाम पर मिथ्याशास्त्रों की रचना करते हैं; फिर भी उनके शास्त्र पूर्ण हो गये और विघ्न नहीं आया – इसका क्या कारण है ?

....उसका समाधान – अन्यमती जो ग्रन्थ करते हैं उसमें मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व-कषायभावों का पोषण करने वाले विपरीत अर्थों को धरते (रखते) हैं, इसलिये उसकी निर्विघ्न समाप्ति तो ऐसे मंगल किये बिना ही हो। यदि ऐसे मंगलों से मोह मंद हो जाये तो वैसा विपरीत कार्य कैसे बने ? तथा हम भी ग्रन्थ करते हैं, उसमें मोह की मंदता के कारण वीतराग तत्त्वज्ञान का

पोषण करने वाले अर्थों को धरेंगे (रखेंगे); उसकी निर्विघ्न समाप्ति ऐसे मंगल करने से ही हो। यदि ऐसे मंगल न करें तो मोह की तीव्रता रहे, तब ऐसा उत्तम कार्य कैसे बने ?....

– वीतराग की श्रद्धा-ज्ञान चारित्र से ही हित होता है – ऐसे ज्ञान बिना और मोह के तीव्र उदय से वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। निमित्त का सहारा मिलेगा अथवा शुभराग से धर्म होगा – जो इसप्रकार मिथ्यात्व भाव का पोषण करते हैं, वे तीव्र मिथ्यात्वी है। मिथ्यात्व की तीव्रता वाले को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं होती। मंद मिथ्यात्व के समय खोटे शास्त्र लिखने का भाव नहीं आता। जिस जीव के व्यवहार शुद्धि सच्ची हो, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अर्पणता हो, मिथ्यात्व की मंदता और अनन्तानुबंधी का भाव मंद हो, वह जीव भी खोटे शास्त्र नहीं लिख सकता; क्योंकि उसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आदर होता है।

भगवान आत्मा का ही आदर करके पूर्णदशा को प्राप्त करने वाले अरहन्त और सिद्ध है; उसीप्रकार आचार्य-उपाध्याय-साधु भी पूर्ण शुद्धदशा को प्राप्त होने वाले हैं – ऐसा भान वाला तो विपरीत शास्त्र रचता ही नहीं है; परन्तु मंद मिथ्यात्व वाला भी मिथ्या शास्त्र नहीं रचता। जो राग से धर्म मनावे, व्यवहार से लाभ मनावे – ऐसी प्ररूपणा और शास्त्र की रचना तीव्र मिथ्यात्व के बिना नहीं होती। अत: उनकी निर्विघ्न समाप्ति तो इसप्रकार मंगल किये बिना ही होती है। वीतराग स्वभाव का आदर और निमित्त-राग का अनादर करके उन्हें हेयरूप, स्वीकार करके मंगल करने वाला विपरीत शास्त्र नहीं रचता। जो राग-द्वेष को अहितरूप मानता है और स्वभाव को हितरूप मानता है, वह विपरीत शास्त्र नहीं लिखता। जैन नाम धराकर व्यवहार से लाभ मनवाने वाले शास्त्र की रचनारूप तीव्र कषाययुक्त कार्य की निर्विघ्न समाप्ति तो ऐसा मंगल किये बिना ही होती है।

वीतराग विज्ञान स्वभाव उपादेय है – ऐसा विशेष प्रकार जानकर मंगल करे तो मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और राग की मंदता हो जाती है, उससे विपरीत कार्य कैसे बने ?

मैं जो यह ग्रन्थ रचता हूँ, उसमें मोह की मंदता से वीतराग-विज्ञान के पोषक अर्थों का निरुपण करूँगा। मोह की मंदता माने दर्शनमोह तो नष्ट हुआ है, परन्तु चारित्रमोह भी मंद किया है। हमारे लेखन में निमित्त और राग का पोषण करने वाले भाव नहीं आयेंगे।

देखो ! श्रावकदशा में मुनि की अपेक्षा अधिक राग होने पर भी वीतराग-विज्ञान का पोषण करने को कहा है। पाँचवें अधिकार में अन्यमत के विषय में लिखा है, वह अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं, जैन के नाम से कल्पित मत-सम्प्रदाय और जैनाभासी कौन है, वह बतलाने में किसी के साथ ईर्षा नहीं, अनादर नहीं;ऽ परन्तु वीतराग-विज्ञान के पोषण के लिये है।

प्रश्न – सत्य तो प्रिय होना चाहिए ?

उत्तर – शराब बंदी की बात करने पर कलाल को ठीक नहीं लगे तो क्या मद्य निषेध की बात नहीं कहना चाहिये ? सबको ठीक लगे – ऐसा तो कोई उपदेश ही नहीं है।

आस्रव और बंध तत्त्व हेय हैं, अहितरूप हैं और स्वभाव ही निरंतर उपादेय है और संवर-निर्जरा हितरूप है – ऐसा प्रतिपादन करूँगा। इसप्रकार वीतराग की श्रद्धा-ज्ञान-आचरण का आदर नहीं करने में आवे तो मोह का तीव्रपना अर्थात् अशुभभाव रहता है, यानी कि कषाय की मंदता नहीं होती, तो वहाँ ऐसा उत्तम कार्य बनना कैसे संभव है ?

धर्मी जीव को तो पहले से ही दृष्टि में राग का आदर नहीं है; परन्तु चारित्र में राग है – इसकारण वीतराग का आदर करने के लिये उनका पूज्यपना बतलाया है। वह पंच परमेष्ठी को याद करता है। हे प्रभु ! आप हमारे नाथ हैं। इसप्रकार दृष्टि में वीतरागता होने पर भी वर्तमान दशा में परिणाम में कोमलता है। ग्रन्थ रचने में कोमलता के परिणाम हैं। ऐसे कोमल परिणाम न रहें तो ऐसा उत्तम कार्य कैसे बने ?

....ऐसे तो मानेंगे; परन्तु कोई ऐसा मंगल नहीं करता उसके भी सुख दिखायी देता है, पाप का उदय नहीं दिखायी देता और कोई ऐसा मंगल करता है उसके भी सुख नहीं दिखाई देता, पाप का उदय दिखायी देता है – इसलिये पूर्वोक्त मंगलपना कैसे बने ?....

यह बात तो ठीक है, परन्तु मुनि शुद्धोपयोगी होते हैं, गृहस्थपना छोड़कर शुद्धोपयोग-रूप मुनिधर्म अंगीकार करके अरहन्तादि होते है – इसप्रकार समझपूर्वक मंगल नहीं करने वाले के भी सुख देखने में आता है। शरीर, पैसा, बगीचा आदि का सुख देखा जाता है, वे दु:खी नहीं देखने में आते, उनके आबाल-गोपाल कुशलतापूर्वक वर्तते हैं ओर जो ऐसे मांगलिक सहित राग की मंदता से पंचपरमेष्ठी की स्तुति करता है, फिर भी वह सुखी देखने में नहीं आता। किसी समकिती का तो शरीर भी ठीक नहीं होता, धनादि नहीं होते – ऐसा पाप का उदय देखने में आता है। और तुम कहते हो कि मंगल करने वाले को सुख मिलता है, विघ्न टलते हैं, परन्तु इसमें तो तुम्हारे द्वारा कहे गये मंगल का नियम नहीं ठहरा। मंगल करने वाले को सुख और मंगल नहीं करने वाले को दु:ख होता है, इस कथन में विरोध आता है – ऐसा प्रश्न शिष्य पूछता है। कितने ही जीव सच्चे देवादिक को नहीं पहिचानते हैं। राग में धर्म नहीं और स्वभाव में से धर्म आता है – ऐसी भी उन्हें खबर नहीं है और वे कुदेवादिक को मानते हैं, फिर भी सुखी दिखते हैं और जो समझते हैं वे सुखी नहीं दिखते; अत: पूर्व में कहे अनुसार उसमें मंगलपना कैसे संभव है ?

उत्तर – हमने तो जो मांगलिक किया उसमें सुख की उत्पत्ति और दुःख का नाश होता है – यह नियम है, फिर भी तू कहता है कि किस तरह ? वह बतलाते हैं –

....जीवों के संक्लेश-विशुद्ध परिणाम अनेक जाति के हैं। उनके द्वारा अनेक कालों में पहले बँधे हुए कर्म एक काल में उदय आते हैं। इसलिये जिसप्रकार जिसके पूर्व में बहुत धन का संचय हो, उसके बिना कमाए भी धन दिखायी देता है और ऋण दिखायी नहीं देता, तथा जिसके पूर्व में ऋण बहुत हो उसके धन कमाने पर भी ऋण दिखायी देता है, धन दिखायी नहीं देता; परन्तु विचार करने से कमाना तो धन ही का कारण है, ऋण का कारण नहीं है। उसीप्रकार जिसके पूर्व में बहुत पुण्य का बंध हुआ हो, उसके यहाँ ऐसा मंगल किये बिना भी सुख दिखायी देता है, पाप का उदय दिखायी नहीं देता। और जिसके पूर्व में बहुत पापबंध हुआ हो उसके यहाँ ऐसा मंगल करने पर भी सुख दिखायी नहीं देता, पाप का उदय दिखायी देता है; परन्तु विचार करने से ऐसा मंगल तो सुख ही का कारण है, पाप उदय का कारण नहीं है। – इसप्रकार पूर्वोक्त मंगल का मंगलपना बनता है।....

जीवों के शुभ-अशुभ परिणाम अनेक जाति के हैं, जिससे पूर्व में अनेक काल में बँधे हुए कर्म एक काल में उदय में आते हैं। अभी मिथ्यादृष्टि हो और पूर्व में शुभभाव से कर्म बाँधा हो तथा अभी सम्यग्दृष्टि हो और पूर्व में अशुभभाव से कर्म बाँधा हो – इसप्रकार अनेक प्रकार से बाँधे हुए कर्म एक काल में उदय में आते हैं। जैसे कि जिसने पूर्व में बहुत धन का संचय किया हो, उस अरबपति के बिना कमाये ही लक्ष्मी दिखती है और कर्जा नहीं दिखता; परन्तु जिसके पूर्व में बहुत कर्जा हो वह वर्तमान में कमाते हुए भी देनदार देखने में आता है। दस हजार रुपये कमावे तो भी पूर्व के कर्ज के कारण कमाई नहीं दिखती। किसी का दो हजार वेतन होने पर भी कर्ज के कारण ऊँचा नहीं दिखता और किसी के पाँच सौ रुपये वेतन हो परन्तु कर्ज नहीं हो तो लक्ष्मी दिखती है।

कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, आठ वर्ष की उम्र में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर ले और बाद में विवाह करे तो वह ज्ञानी उसप्रकार के राग के योग का और पूर्व के संयोग का देखने-जानने वाला है। मिथ्यादृष्टि के लंगोटी भी न हो, उसने हजारों रानियों का त्याग किया हो, पंचमहाव्रत पालता हो; किन्तु उससे क्या ? अबन्ध स्वभावी आत्मा के ज्ञान बिना राग का आदर करने से वह परिभ्रमण ही करता है।

यहाँ तो कहते हैं कि लाखों का कर्ज हो, इसलिए कमाने पर भी वह कर्जदार ही देखने

में आता है, परन्तु उसके धन देखने में नहीं आता; तथापि विचार करने पर कमाना तो धन होने का ही कारण है, ऋण का कारण नहीं। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि ने पूर्व में शुभभाव के कारण बहुत पुण्य बाँधा हो तो वह अभी आदर-सत्कार पाता है और लोग उसे अन्नदाता कहकर बुलाते नजर आते हैं।

प्रश्न – अभी भी ऐसा पुण्य बाँधने दो न ?

उत्तर – जिसको पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है और संसार की रुचि से वह चार गति में परिभ्रमण करता है। उसे पंचपरमेष्ठी पद नहीं रुचते। भगवान ने तो आत्मा को उपादेय मानने को कहा है, अत: जिसे पुण्य की रुचि है, वह भगवान को नहीं मानता।

अभी अन्यमत के आचार्यों का बहुत सन्मान होता दिखता हो, शिर पर जरी की छत्री हो, खम्मा-खम्मा होती हो – ये सब पूर्व के पुण्य के कारण है; परन्तु आत्मा के भान बिना यह सब नष्ट हो जाने वाला है। धनाढ्य के पास पाँच करोड़ की आमदनी दिखती हो, वह धन-कुबेर कहा जाता हो, बड़े राजा के पास बहुत धन दिखता हो – यह सब पूर्व के पुण्य के कारण हैं इससे पाप का उदय नहीं दिखता। किसी अन्यमत के साधु का बहुत सत्कार होता हो और भावलिंगी मुनिराज के पाप का उदय होने से रोग आदि की प्रतिकूलता मिलती दिखे। समकिती धर्मात्मा ने पूर्व में पाप किया हो तो वर्तमान में मंगल करने पर भी पाप का उदय दिखता है। इसप्रकार यहाँ दो दृष्टान्त आये, जिनमें चार भंग उतरते हैं –

१. कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो और पूर्व के पुण्य के उदय कारण अनुकूल सामग्री हो।
२. कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो और पूर्व के पाप के उदय के कारण प्रतिकूल सामग्री मिले।
३. कोई जीव मिथ्यादृष्टि हो और पूर्व के पुण्य के कारण वर्तमान में अनुकूल सामग्री हो।
४. कोई जीव मिथ्यादृष्टि हो और पूर्व पाप के उदय के कारण प्रतिकूल सामग्री मिले। – इसप्रकार चार भंग बनते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व का पाप का उदय हो तो प्रतिकूलता दिखती है और मिथ्यादृष्टि जीव के पाप का उदय न हो तो अनुकूलता दिखती है। धर्मात्मा जीव ने पूर्व में पाप बाँधा हो तो उसके एक के बाद एक प्रतिकूलता आए, ऐसे संयोग मिलते हैं। असाता आदि अघाति कर्मों के निमित्त से प्रतिकूल सामग्री मिलती है। उसके कारण सुख-दु:ख की कल्पना करने की यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो सामग्री की बात है। धर्मात्मा निर्धन हो, मात्र पाँच रुपये में अपनी गृहस्थी चलाता हो और मिथ्यादृष्टि को पुण्य के कारण प्रात: उठते ही ताजा घी और मिठाई खाने को मिलती हा; परन्तु उसे आत्मा का भान नहीं।

प्रश्न – हमारे को तो ऐसा नगद का धंधा करना है न ?

उत्तर – वह तो महा मिथ्यात्व का कर्जा करता है, ये सब संयोग तो धूल-धाणी है, उसने ऐसा मांगलिक सुना ही नहीं; मात्र पूर्व पुण्य के उदय से बहुत दिखता है। धर्मात्मा के पूर्व पाप के उदय से प्रतिकूलता दिखती है। कोई कसाईखाने खोले और चाँदी की कुर्सी पर बैठता है और धर्मात्मा को रोटियाँ नहीं मिलती है – यह सब तो पूर्व पुण्य-पाप के अनुसार है। वस्तुतः सामग्री सुख-दुःख का कारण नहीं है, (उसमें सुख की) कल्पना दुःख का कारण है। समकिती को पूर्व पाप के कारण प्रतिकूलता होने पर भी वह परपदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करता। बाह्य सामग्री मिलने पर भी कुछ हित नहीं होता।

धर्मी जीव राग की रुचि छोड़कर पंचपरमेष्ठियों का आदर करता है – ऐसा मंगल तो सुख का ही कारण है। मंगल करने के परिणाम पाप उदय के कारण नहीं हैं। बाहर की सामग्री नहीं होने पर भी धर्मी का मांगलिक सुख का ही कारण है और जो पहिचान नहीं करता, उसके पुण्य का उदय होने पर भी सदा अमांगलिक ही है, दुःख का कारण ही है – इसप्रकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में किये हुए मंगल में मंगलपना बनता है।

धर्मी जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का भान है और वह मांगलिक भी करता है फिर भी उसे बाहर में प्रतिकूलता का संयोग क्यों देखा जाता है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है; उसका जवाब दिया है कि धर्मी को पूर्व कर्म के कारण कदाचित् प्रतिकूलता भी हो, इससे कोई धर्मी का धर्मीपना चला नहीं जाता। और अज्ञानी के कदाचित् पूर्व पुण्य के कारण बाहर में अनुकूलता दिखती हो – उसके कारण वह धर्मी है – ऐसा नहीं है।

....प्रश्न – यह बात तो सत्य है; परन्तु जिनशासन के भक्त देवादिक हैं, उन्होंने ऐसे मंगल करने वालों की सहायता नहीं की और मंगल नहीं करने वाले को दंड नहीं दिया, उसका क्या कारण ?....

कर्म के कारण अनुकूलता या प्रतिकूलता भले ही हो; परन्तु देव, राजा, सेठ आदि धर्मी की मदद क्यों नहीं करते और अधर्मी को दंड क्यों नहीं देते ?

....उसका समाधान – जीवों को सुख-दुःख होने का प्रबल कारण अपना कर्म का उदय है, इसलिये जिसके पाप का उदय हो, उसको सहाय का निमित्त नहीं बनता और जिसके पुण्य का उदय हो, उसको दण्ड का निमित्त नहीं बनता।....

बाहर में अनुकूलता हो तो ही धर्मी – ऐसा कोई धर्मी का लक्षण नहीं है। बाहर में जहर

के प्याले के बदले अमृत हो जाए, वह तो पूर्व के पुण्य के कारण है, वह धर्मी का लक्षण नहीं है। बाहर में अनुकूल सामग्री मुझे सुखरूप है और प्रतिकूल सामग्री दु:खरूप है – ऐसा मानना तो जीव का भ्रम मात्र है और वही दु:खरूप है। बाहर में संयोग कर्मानुसार बन जाते हैं, यह अघातिकर्म की बात है, घातिकर्म की नहीं। कोई जीव धर्मी होने पर भी और उसके द्वारा मांगलिक किये जाने पर भी यदि उसके पाप का उदय हो तो बाहर में कोई सहायता नहीं करते। तथा अज्ञानी अधर्मी होवे फिर भी उसके पुण्य का उदय होवे तो कोई दंड नहीं देते।

वर्तमान में (अनेक जीव) जैन नाम धारण करके विपरीत मान्यता का सेवन करके अनेक प्रकार के सम्प्रदायों को बनाकर विपरीत दृष्टि का पोषण कर रहे हैं, उन्हें कोई देव दंड नहीं देते। जैन के नाम से ऐसी मान्यता करके बैठ गये है कि साधु को भले ही फांसी दिया हो और कोई श्रावक उस साधु को छुड़ावे तो उसमें एकान्त पाप है, क्योंकि वह आज्ञा बाहर है – ऐसी मान्यता वाले अज्ञानी को पुण्य का उदय होने से इन्द्रादिक कुछ भी दंड नहीं देते और कोई धर्मी हो; परन्तु उसके पाप का उदय हो तो उसकी कोई मदद नहीं करते।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसारादि ग्रंथ बनाये और वे पूर्ण हो गये। जंगल में रहने पर भी बाहर में अनुकूलता रही और शास्त्र बन गये, यह महान् पुण्य था। आचार्यों ने षटखंडागम आदि शास्त्र रचे – यह शासन का पुण्य है और ग्रन्थ कर्त्ता का भी पुण्य है। वे मुनि इतना पुण्य लेकर आये थे कि जो शास्त्र बनाना चाहते थे, वे बन गये। अहो ! उनके अंदर में पवित्रता तो थी ही, पुण्य भी उत्कृष्ट था। श्री धरसेनाचार्य देव को गिरनार की गुफा में परमार्थ मार्ग का विकल्प उत्पन्न हुआ कि अहो ! यह शासन टिका रहे और कोई मुनि आवे तो उन्हें मैं यह ज्ञान दूँ और इसके अनुसार बनाव बन गया, वह पुण्य का उदय है; परन्तु सबको ऐसा पुण्योदय हो – ऐसा कोई नियम नहीं है। देखो, पण्डित टोडरमलजी को यह मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ बनाने का विकल्प आया; परन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका, इसकारण वे धर्मी नहीं थे – ऐसा नहीं है।

....यह निमित्त कैसे नहीं बनता सो कहते हैं – जो देवादिक हैं वे क्षयोपशमज्ञान से सबको युगपत् नहीं जान सकते। इसलिये मंगल करनेवाले और नहीं करने वाले का जानपना किसी देवादिक को किसी काल में होता है। इसलिये यदि उनका जानपना न हो तो कैसे सहाय करें अथवा दण्ड दें ? और जानपना हो, तब स्वयं को जो अतिमंदकषाय हो तो सहाय करने के या दण्ड देने के परिणाम ही नहीं होते, तथा तीव्रकषाय हो तो धर्मानुराग नहीं हो सकता, तथा मध्यमकषायरूप वह कार्य करने के परिणाम हुए और अपनी शक्ति न हो तो क्या करें ? – इस प्रकार सहाय करने का या दण्ड देने का निमित्त नहीं बनता।....

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पुण्य योग था, इससे देवी ने आकर कहा कि – ''सनातन दिगम्बर जैनधर्म एक ही सत्य है'', परन्तु पुण्य का उदय न हो तो बाहर में देवादिक की सहायता नहीं बनती और पाप का उदय न हो तो अज्ञानी को दंड नहीं होता – यह बात निमित्त की अपेक्षा से है।

जो देवादिक हैं, वे क्षयोपशम ज्ञान से सबको एक साथ नहीं जान सकते – इसकारण मंगल करने वाले का जानपना किसी देवादिक को किसी समय होता है; अत: जब उनके जानने में ही नहीं आवे तो सहायता या दंड देना किसप्रकार करे ? राजा, देव अथवा सेठ को पूर्णज्ञान नहीं है – इसकारण वे सबको एकसाथ नहीं जान सकते, और जब जानने में ही नहीं आवे तब वे धर्मी अथवा अधर्मी को सहायता अथवा दंड में निमित्त किस प्रकार बन सकते हैं ? नहीं बन सकते। यदि जानपना भी हो और उस समय अति मंदकषाय हो तो उनके द्वारा दंड अथवा सहायता करना सम्भव नहीं होता। तथा यदि उस समय तीव्रकषाय होवे तो भी उन्हें ऐसे परिणाम नहीं होते; परन्तु मध्यम मंदकषाय हो और सहायतादि का भाव (भी) हो तथापि अपनी शक्ति न होवे तो भी मदद नहीं कर सकते। जैसे कोई बहुत पैसे वाला हो, परन्तु घर में पिता की अथवा पुत्र की चलती हो तो क्या करे ? साधर्मी की सहायता करने का भाव होवे तो भी घर में अनुकूलता न हो तो वैसा करना संभव नहीं होता।

यहाँ तो धर्मी और अधर्मी को बाहर में निमित्त क्यों नहीं होते – ऐसी निमित्त सापेक्ष बात चलती है। पहले तो उनकी ओर का लक्ष्य (जानना) नहीं होता और लक्ष्य (जानना) होवे भी किन्तु अति मंदकषाय अथवा तीव्रकषाय होवे तो भी मदद करने के परिणाम नहीं होते और मदद करने का भाव होने पर भी बाहर में अनुकूलता न हो तो क्या करे ?

अब धर्मी जीव की सहायता करना और अधर्मी को दंड देना कैसे सम्भव है – इस विषय के सम्बन्ध में कहते हैं –

....यदि अपनी शक्ति हो और अपने को धर्मानुरागरूप मध्यमकषाय का उदय होने से वैसे ही परिणाम हों, तथा उस समय अन्य जीव का धर्म-अधर्मरूप कर्त्तव्य जानें, तब कोई देवादिक किसी धर्मात्मा की सहाय करते हैं अथवा किसी अधर्मी को दण्ड देते हैं। – इसप्रकार कार्य होने का कुछ नियम तो है नहीं – ऐसे समाधान किया।....

किसी जीव को ऐसा ज्ञान होवे और मध्यम मंद कषायरूप परिणाम होवे तथा बाहर में अनुकूलता (भी) होवे तो धर्मी की सहायता करने का और पापी को दण्ड देने का कार्य होता है; परन्तु सहायता हो अथवा दंड दे – ऐसा नियम नहीं है।

....यहाँ इतना जानना कि सुख होने की, दु:ख न होने की, सहाय करने की, दु:ख दिलाने की जो इच्छा है, सो कषायमय है; तत्काल तथा आगामी काल में दु:खदायक है। इसलिये ऐसी इच्छा को छोड़कर हमने तो एक वीतराग-विशेषज्ञान होने के अर्थी होकर अरहंतादिक को नमस्कारादिरूप मंगल किया है।....

मुझे सहायता मिले अथवा पापी को दु:ख हो – ऐसा भाव दु:खरूप है, उसी समय आकुलतामय है तथा भविष्य में भी दु:ख कारक है। अत: ऐसी इच्छा छोड़कर हम तो एक वीतराग-विशेष ज्ञान होने के ही अर्थी हैं। हम तो स्वभाव की एकाग्रता ही चाहते हैं, हमें अन्य कुछ नहीं चाहिये।

देखो ! शिष्य ने प्रश्न किया था, इसलिये उसका उत्तर तो दिया; परन्तु हमें वीतराग-विशेष ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ प्रयोजन नहीं है – ऐसा पण्डितजी कहते हैं। हमें तो शास्त्र लिखने का जो यह शुभभाव आया है हम तो उसके भी अर्थी नहीं हैं। हम तो चिदानन्द स्वभाव की रुचि-ज्ञान और रमणता के ही अर्थी हैं। हम निमित्त मिलाने के अथवा शुभराग करने के अर्थी नहीं हैं। अहो ! जहाँ गृहस्थ ज्ञानी भी ऐसी भावना भाते हैं तो फिर भावलिंगी संत की तो बात ही क्या करना ? वे तो मात्र वीतराग-विज्ञान के ही अर्थी हैं। शास्त्र लिखते हों और वैसा शुभभाव भी हों; तथापि ज्ञानी उसके अर्थी नहीं हैं।

ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम परम्परा

....इसप्रकार मंगलाचरण करके अब सार्थक ''मोक्षमार्गप्रकाशक'' नाम के ग्रंथ का उद्योत करते हैं। वहाँ, 'यह ग्रन्थ प्रमाण है' – ऐसी प्रतीति कराने के हेतु पूर्व अनुसार का स्वरूप निरूपण करते हैं....

इसप्रकार मंगलरूप आचरण करके अब 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ का उद्योत करते हैं। यह सिद्ध करते हैं कि मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ प्रामाणिक है। कितने ही अज्ञानी कहते हैं कि यह ग्रन्थ प्रमाण नहीं है, उन्हें कहते हैं कि यह ग्रन्थ प्रमाण है – ऐसी प्रतीति कराने के लिये कहते हैं कि हम अपने घर की कल्पित बात नहीं कहते, परन्तु पूर्व में तीर्थङ्करों, गणधरों, आचार्योंदिकों ने जो कही है, वही बात हम कहते हैं; अत: यह ग्रन्थ प्रमाण है।

....अकारादि अक्षर हैं वे अनादि-निधन हैं, किसी के किये हुए नहीं है। इनका आकार लिखना तो अपनी इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार हैं; परन्तु जो अक्षर बोलने में आते हैं, वे तो सर्वत्र सर्वदा ऐसे प्रवर्तते हैं। इसीलिये कहा है कि – 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय:।' इसका अर्थ यह

कि – जो अक्षरों का सम्प्रदाय है, सो स्वयंसिद्ध है तथा उन अक्षरों से उत्पन्न सत्यार्थ के प्रकाशक पद उनके समूह का नाम श्रुत है, सो भी अनादि-निधन है। जैसे – 'जीव' ऐसा अनादि-निधन पद है, सो जीव को बतलाने वाला है। इसप्रकार अपने-अपने सत्य अर्थ के प्रकाशक अनेक पद, उनका जो समुदाय, सो श्रुत जानना। पुनश्च, जिस प्रकार मोती तो स्वयंसिद्ध हैं, उनमें से कोई थोड़े मोतियों को, कोई बहुत मोतियों को, कोई किसी प्रकार, कोई किसी प्रकार गूँथकर गहना बनाते हैं; उसीप्रकार पद तो स्वयसिद्ध हैं, उनमें से कोई थोड़े पदों को, कोई बहुत पदों को, कोई किसीप्रकार, कोई किसी प्रकार गूँथकर ग्रंथ बनाते हैं। यहाँ मैं भी उन सत्यार्थ पदों को मेरी बुद्धि अनुसार गूँथकर ग्रन्थ बनाता हूँ; मेरी मति से कल्पित झूठे अर्थ के सूचक पद इसमें नहीं गूँथता हूँ। इसलिये यह ग्रंथ प्रमाण जानना।....

अकारादि अक्षर तो अनादि-निधन हैं, वे तो किसी के किये हुए नहीं हैं। अकारादि लिखना इच्छानुसार होता है अर्थात् ज्ञान में और विचार में ऐसा आता है कि यहाँ यह शब्द होना चाहिए – इस अपेक्षा से (लिखना इच्छानुसार होता है) ऐसा कहा है, किन्तु अक्षर नये नहीं हैं। उनका आकार लिखना तो अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकार से होता है; परन्तु जो अक्षर बोलने में आते हैं वे तो सर्वत्र, सर्वदा इसी अनुसार प्रवर्तते हैं। इसलिये कहा है कि "सिद्धो वर्ण समाम्नायः।" अर्थात् वर्ण उच्चार का सम्प्रदाय स्वयंसिद्ध है। अक्षरों की आम्नाय स्वयंसिद्ध है, नई नहीं – ऐसा कहकर अपनी निर्मानता बताते हैं और अक्षरों का स्वभाव बताते हैं।

तथा अक्षरों से उत्पन्न सत्य अर्थ के प्रकाशक पदों के समूह का नाम श्रुत है, वह भी अनादि-निधन है, आदि-अन्त से रहित है। द्रव्यश्रुत भी अनादि का है। जैसे – जीव शब्द जीव पदार्थ को बताता है। इसप्रकार अपने-अपने सत्य अर्थ के प्रकाशक अनेक पदों के समुदाय को श्रुत जानना।

तथा जैसे मोती तो स्वयं-सिद्ध है। उनमें से कोई थोड़े मोतियों को, कोई बहुत मोतियों को; कोई किसप्रकार, कोई किसप्रकार गूँथकर गहने बनाता है। वैसे ही पद तो स्वयं-सिद्ध हैं, उनमें से कोई थोड़े पदों को, कोई अधिक पदों को; कोई किसप्रकार तथा कोई किसप्रकार गूँथकर ग्रन्थ बनाते हैं अर्थात् लिखते हैं। वैसे मैं भी अपनी बुद्धिपूर्वक कल्पित-मिथ्यामार्ग के सूचक पदों को नहीं गूँथता हूँ; अतः यह ग्रन्थ प्रमाण है। अनादि के पद हैं, वे तो सच्चे हैं; परन्तु मैं तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रन्थ बनाता हूँ, मिथ्या अर्थ के सूचक पद नहीं गूँथता – अतः इस ग्रन्थ को प्रमाणभूत मानना।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की रचना करते हुए कहा है कि इस शास्त्र में भाव

में तो कहीं अन्तर नहीं है, कदाचित् शब्दों में अन्तर पड़े तो दोष ग्रहण नहीं करना। वैसे ही यहाँ पण्डितजी कहते हैं कि ग्रंथ में मेरे भाव में कोई अन्तर (फेर) नहीं है, अतः अपनी बुद्धि अनुसार ग्रन्थ बनाता हूँ – ऐसा जानना।

प्रश्न – उन पदों की परम्परा इस ग्रन्थ पर्यन्त किस प्रकार प्रवर्तमान है ?

उत्तर – अनादिकाल से श्री तीर्थङ्कर केवली होते आये हैं, वे सर्वज्ञपने से युक्त हैं, इस कारण उन्हें इन पदों का तथा उनके अर्थों का भी ज्ञान होता है। तथा श्री तीर्थङ्कर केवली का दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश होता है। जिसके द्वारा अन्य और अर्थों का उसके अनुसार श्री गणधरदेव अंग-प्रकीर्णकरूप ग्रंथ रचना करते हैं। तथा तदनुसार अन्य आचार्यादिक भी नाना प्रकार से ग्रन्थादिक की रचना करते हैं। उनका कोई अभ्यास करते हैं, कोई प्रतिपादन करते हैं, कोई सुनते हैं। इसप्रकार परम्परा मार्ग चला आता है। यह परम्परा इस क्षेत्र में किस प्रकार चली आई है यह बात 'अपनी बात' में अलग से समझायेंगे।

यहाँ ग्रन्थ की प्रामाणिकता न्याय से सिद्ध करते हैं। अनादिकाल से तीर्थंकर होते आये हैं, और उनके अनुसार परम्परा मार्ग चला आ रहा है – यह बात हो चुकी है।

अब कहते हैं कि इस क्षेत्र में इस काल में चौबीस तीर्थङ्कर हो गये हैं। उनमें अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वर्धमान स्वामी हुए हैं, उन्होंने दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश दिया; जिसमें जीवों को इन पदों ज्ञान होता है। दिव्यध्वनि तो उसके कारण थी; परन्तु भगवान निमित्तमात्र होने से ऐसा कहा है। अब उस वाणी को सुनकर गौतम गणधर आदि ने अगम्य अर्थ को भी जानकर प्रशस्त राग के वश होकर अंग-प्रकीर्णकों की रचना की है।

गणधर भगवान ने आचारांग आदि सूत्रों की रचना की है। वर्तमान में जो (श्वेताम्बरों में) आचारांगादि बनाये हुए हैं, वह तो कल्पित रचना है। गणधर के पश्चात् आचार्य हुए, उसके पश्चात् जीवों की अपनी योग्यता के कारण केवलज्ञान होने की योग्यता नहीं रही – इस कारण कालदोष के कारण केवलज्ञान नहीं रहा – यह कहा है। कितने ही काल तक बारह अंग के ज्ञाता रहे और तत्पश्चात् थोड़े अंगों के ज्ञाता रहे। उन्होंने ऐसा जाना कि भविष्य में हमारे जितने जानने वाले भी नहीं रहेंगे – ऐसा विचार कर जो भावलिंगी संत थे; उन्होंने ग्रंथ रचना की। यह सब मौखिक रचना की बात है। (तत्पश्चात्) षटखण्डागम आदि शास्त्रों की रचना बारह अंग के अनुकूल हुई।

महामुनियों द्वारा रचित ग्रन्थों का भी अभाव हुआ। तत्पश्चात् (उनके अनुसार) अन्य

आचार्यों के द्वारा रचित ग्रंथ रहे और उनमें से भी पापी पुरुषों के द्वारा कितने ही ग्रन्थ नष्ट हुए और कितने ही महान ग्रंथों का अर्थ नहीं समझने से उनका भी अभाव हुआ और जो रहे उनका भी मंद बुद्धि के कारण अभ्यास नहीं होता।

अभी भी दक्षिण में गोम्मटस्वामी के नजदीक मूड़बिद्री नगर में श्री धवल, महाधवल, जयधवल ग्रन्थ हैं; परन्तु वे दर्शनमात्र हैं। अभी तो ये धवलादि ग्रन्थ, जो कि षटखण्डागम की टीका है, बाहर प्रकाश में आ गये हैं। धवल का प्रथम भाग संवत् १९९६ (सन् १९३८ में) में राजकोट में मिला था। पण्डितजी के समय में वे शास्त्र दर्शनमात्र थे, जो अभी प्रकाशित हो गये हैं।

अब पण्डितजी कहते हैं कि – धवलादि के अतिरिक्त जो अन्य ग्रन्थ हैं, उनका भी अपनी बुद्धि के अनुसार अभ्यास करना योग्य है। थोड़े शास्त्रों का अभ्यास हो सकता है। अभी तो बहुत शास्त्रों का अभ्यास होना दुर्लभ हो गया है। ऐसे हल्के काल में जैनमत का बहुत ह्रास हुआ है। जैनमत में भी बहुत भेद हो गये हैं। फिर भी अभी भी जैन शास्त्रों में सम्यक् अर्थ के प्रकाशक पद भी प्रवर्तते हैं।

अपनी बात

....हमने इस काल में यहाँ अब मनुष्यपर्याय प्राप्त की। इसमें हमारे पूर्वसंस्कार से व भले होनहार से जैन शास्त्रों के अभ्यास करने का उद्यम हुआ जिससे व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थों का किंचित् अभ्यास करके टीका सहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र और क्षपणासार, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अष्टपाहुड, आत्मानुशासन आदि शास्त्र और श्रावक मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र – इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है; उससे हमें भी किंचित् सत्यार्थ पदों का ज्ञान हुआ है।....

अब मैंने इस काल में मनुष्यपना पाया है। वहाँ मेरे ''पूर्व संस्कार'' से अथवा ''भली होनहार'' से मुझे जैन शास्त्रों के अभ्यास का उद्यम वर्तता है।

देखो ! पण्डितजी ने दो कारण दिये हैं – एक तो पूर्व के संस्कार की बात की है और दूसरा भविष्य में भला होना है – ऐसा कहा है। यह भूत-भविष्य की संधि तो वर्तमान में करते हैं। वर्तमान में पुरुषार्थ नहीं करे तो भूतकाल और भविष्यकाल की संधि नहीं होती। यहाँ पण्डितजी कहते हैं कि मेरा भविष्य में भला होना है इसलिये मेरा पुरुषार्थ इन जैन शास्त्रों के अभ्यास में हुआ है।

अब उसमें कौन-कौन से शास्त्र निमित्त हुये हैं – यह बात करते हैं –

व्याकरण गणित आदि उपयोगी ग्रन्थों का किंचित् अभ्यास करके, टीका सहित श्रीसमयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार – ये चार अध्यात्म ग्रन्थ हैं और गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र, क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, अष्टपाहुड़ और आत्मानुशासन आदि शास्त्रों का अभ्यास किया है – ऐसा कहकर शास्त्रों का बहुमान करते हैं।

अभी तो जिसके निमित्त से समझने को मिला हो, लोग उसका नाम भी नहीं देते। अपने ज्ञान में जो शास्त्र निमित्त हुआ उसे प्रसिद्ध करने की नैतिक हिम्मत भी न होवे – ऐसे जीव को आत्मा का भान नहीं है। जिसको कषाय की मंदता में सत् देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान नहीं होता उसे अकषायभाव नहीं होता। यहाँ तो पण्डितजी वर्तमान में अपने को जो शास्त्र मिले हैं उनकी बात करते हैं और पूर्व के संस्कार की भी बात करते हैं। तथा सर्वज्ञ अनुसार जो शास्त्र है उनका मुझे अभ्यास है। (ऐसा कहते हैं।)

यहाँ तो पण्डितजी ने श्री कुन्दकुन्दाचार्य के श्रीसमयसारादि ग्रन्थों का टीका सहित मुख्य अभ्यास किया है। श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार और श्रीपंचास्तिकाय – ये चारों ग्रन्थ अपने यहाँ (सोनगढ़ में) अभी बँच गये हैं। (इन पर प्रवचन हो गए हैं) गोम्मटसार की टीका तो इन्होंने स्वयं की है। आत्मा की लब्धि (प्राप्ति) कैसे हो – उसका वर्णन लब्धिसार में है। त्रिलोकसार में तीनलोक का वर्णन है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी के शिष्य श्री उमास्वामी थे, उनका बनाया हुआ तत्त्वार्थसूत्र है। आत्मानुशासन गुणभद्राचार्य ने बनाया है। ये सभी शास्त्र, ज्ञान में निमित्त हैं। पहले समुच्चय शास्त्रों को वंदन किया था, अब यहाँ उनके नाम दिये हैं।

चरणानुयोग के शास्त्रों का भी अभ्यास किया है। मेरी बुद्धि अनुसार श्रावक-मुनि के आचारों के निरूपक शास्त्रों का भी अभ्यास वर्तता है। इसकारण मुझे सच्चे शास्त्रों के सच्चे पदों का किंचित् ज्ञान हुआ है – ऐसा कहते हैं। अपनी चमड़ी उतारकर जूते बनवा देवे – ऐसा उपकार गुरु आदि का होता है, इसके बदले जो उनके उपकार को लोपे वह तो अनन्त संसारी है। किसके पास से सुनना ? – इसका भी जिसको विवेक नहीं है, वह पात्र नहीं है। जिसको लौकिक न्याय-नीति का भी ठिकाना न हो – ऐसे जीव शास्त्र वांचन करें और जो उसे सुनने जावे वह सुनने वाला भी पात्र नहीं है।

कोई कहे कि ज्ञान तो अपने से होता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता तो शास्त्र को निमित्त

किसलिये कहते हो ? – ऐसा कहने वाले भी हैं। जो लोग शास्त्र पढ़कर कहते हैं कि मैं ऐसा कहता हूँ; किसी शास्त्र का नाम नहीं देते, वे पात्र जीव नहीं है। यहाँ तो पण्डितजी कहते है कि – शास्त्र अगाध है, इतना ज्ञान तो मेरा नहीं है, किन्तु उनमें से किंचित् सत्य पदों का ज्ञान हुआ है।

अब इस ग्रन्थ रचना का कारण कहते हैं –

....हम जैसे मंदबुद्धियों से भी हीन बुद्धि के धनी बहुत जन दिखायी देते हैं। उन्हें उन पदों का अर्थज्ञान हो, इस हेतु धर्मानुरागवश देशभाषामय ग्रंथ रचने की हमें इच्छा हुई है, इसलिये हम यह ग्रन्थ बना रहे हैं। इसमें भी अर्थ सहित उन्हीं पदों का प्रकाशन होता है। इतना तो विशेष है कि – जिसप्रकार प्राकृत-संस्कृत शास्त्रों में प्राकृत-संस्कृत पद लिखे जाते हैं, उसीप्रकार यहाँ अपभ्रंश सहित अथवा यथार्थता सहित देशभाषारूप पद लिखते हैं; परन्तु अर्थ में व्यभिचार कुछ नहीं है।....

मैं तो मंदबुद्धिवान हूँ, परन्तु मेरे से भी कम बुद्धि वाले मनुष्य इस निकृष्ट काल में देखने में आते हैं। देखो ! इतना उघाड़ होने पर भी पण्डितजी अपने को अल्प बुद्धिवान ही कहते हैं – यह उनकी कितनी निर्मानता है ? यहाँ तो थोड़ा क्षयोपशम विशेष हो तो 'मेरे जैसा कोई नहीं' – ऐसा मानकर अभिमान करते हैं। अन्य बुद्धिहीन जीवों के लिये मैं ग्रन्थ की रचना करता हूँ। इसमें भी अर्थ सहित उन्हीं पदों का प्रकाशन है। कदाचित् भाषा में त्रुटि हो, परन्तु भाव में दोष नहीं है। मैं जो कुछ पद रखूँगा उसमें जरा भी भूल नहीं है, इसकी स्वयं को सावधानी है और दूसरों से कहते हैं कि तुम भी सावधानी रखो। इसप्रकार इस ग्रन्थ पर्यन्त उन सत्यार्थ पदों की परम्परा चली आती है।

असत्यपद रचना प्रतिषेध

प्रश्न – इसप्रकार परम्परा तो हमने जानी, परन्तु उस परम्परा में सत्यार्थ पदों की ही रचना होती आई है, असत्यार्थ पद नहीं मिले – ऐसी प्रतीति हमें कैसे हो ?

आपने तो सत्यार्थ ही बात की है, परन्तु वह 'ऐसे ही है' ऐसा विश्वास हमको कैसे आवे ?

....असत्यार्थ पदों की रचना अति तीव्रकषाय हुए बिना नहीं बनती; क्योंकि जिस असत्य रचना से परम्परा अनेक जीवों का महा बुरा हो और स्वयं को ऐसी महाहिंसा के फलरूप नरक-

निगोद में गमन करना पड़े – ऐसा महाविपरीत कार्य तो क्रोध, मान, माया, लोभ अत्यन्त तीव्र होने पर ही होता है; किन्तु जैनधर्म में तो ऐसा कषायवान होता नहीं है।

प्रथम मूल उपदेशदाता तो तीर्थंकर केवली, सो तो सर्वथा मोह के नाश से सर्वकषायों से रहित ही हैं। फिर ग्रंथकर्त्ता गणधर तथा आचार्य, वे मोह के मंद उदय से सर्व बाह्याभ्यंतर परिग्रह को त्यागकर महामंदकषायी हुए हैं; उनके उस मंदकषाय के कारण किंचित् शुभोपयोग ही की प्रवृत्ति पायी जाती है और कुछ प्रयोजन ही नहीं है। तथा श्रद्धानी गृहस्थ भी कोई ग्रन्थ बनाते हैं वे भी तीव्रकषायी नहीं होते। यदि उनके तीव्रकषाय हो तो सर्व कषायों का जिस-तिस प्रकार से नाश करने वाला जो जिनधर्म उसमें रुचि कैसे होती ? अथवा जो कोई मोह के उदय से अन्य कार्यों द्वारा कषाय का पोषण करता है तो करो; परन्तु जिन-आज्ञा भंग करके अपनी कषाय का पोषण करे तो जैनीपना नहीं रहता।

इस प्रकार जिनधर्म में ऐसा तीव्रकषायी कोई नहीं होता जो असत्य पदों की रचना करके पर का और अपना पर्याय-पर्याय में बुरा करे।....

महान मिथ्यात्व के भाव बिना मिथ्यापद रचने की बुद्धि होती ही नहीं; क्योंकि असत्यपद रचना करने से जीव का बहुत बुरा होता है। अन्य जीवों के दुर्गति का कारण होता है और स्वयं का भी महा हिंसा के फल से नरक-निगोद में गमन होता है। अत: ऐसा विपरीत कार्य तो मोहादिक की तीव्रता होने पर ही बनता है। और ऐसी तीव्रकषाय का भाव वीतरागी जैनमार्ग में नहीं होता। जिसे संयोग और विकल्प की रुचि छूटकर स्वभाव का भान हुआ है उसको ऐसा पापभाव नहीं होता।

प्रथम तो भगवान सर्व कषायों से रहित हैं, उनके तो यह संभव नहीं है। तथा गणधरादि भी बाह्य और अभ्यंतर सर्व परिग्रह से रहित होकर महा मंदकषायी हुए हैं, उनके किंचित् शुभोपयोग की प्रवृत्ति होती है, उनके अन्य कुछ प्रयोजन है नहीं। अत: वे भी असत्यार्थ पदों की रचना नहीं करते। तथा सम्यग्दृष्टि ग्रन्थ बनाते हैं, उन्हें भी तीव्र कषाय नहीं होती, अपितु जैन वीतरागमार्ग की रुचि होती है। उनको ऐसी दृष्टि वर्तती है कि – 'भगवान के प्रति होने *वाला राग भी नाश करने योग्य है, व्यवहार रत्नत्रय का शुभभाव भी आदरणीय नहीं है।' कषाय* के नाश का ही जिसका उपदेश है – ऐसे जैनदर्शन की रुचि वाले सम्यग्दृष्टि जीवों के तीव्रकषाय के परिणाम नहीं होते। अत: उनके खोटे ग्रन्थ बनाने का पापभाव भी नहीं होता।

जैनमार्ग का उपदेश तो "सर्व कषायों का अभाव करना" ही है। शुभभाव से

बाहर में अनुकूलता मिलती है और पश्चात् धर्म होता है – ऐसा उपदेश जैनमार्ग में नहीं है। वहाँ तो 'किसी भी प्रकार का राग रखने लायक नहीं है' – ऐसा ही उपदेश होता है। किसी भी प्रकार से राग को जीतना – राग को मिटाना – यही जैनमार्ग है। जिसको ऐसा वीतरागमार्ग रुचा है उसको मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय नहीं होती। इसकारण उनको मिथ्या शास्त्र रचने का भाव होता ही नहीं। राग आता है वह तो वास्तव में अपकार है, उपकार नहीं। राग से किसी का लाभ नहीं और शुभ के उदय से सामग्री मिले, उससे भी आत्मा को लाभ नहीं। जिसको शुभराग रुचता है उसको वीतरागमार्ग की रुचि नहीं रहती। वीतरागमार्ग की रुचि वाले को संसार परिभ्रमण के कारणरूप राग की रुचि नहीं रहती। उसके तीव्रकषाय तो रहती ही नहीं। **जैन शास्त्रों में तो अकषाय भाव ही आदरणीय है – ऐसा उपदेश है।** तब ऐसे उपदेश की रुचि वाले को तीव्र कषायभाव होवे – ऐसा बनता ही नहीं। राग उत्पन्न करने जैसा है, राग रखने योग्य है अथवा राग की वृद्धि करने योग्य है – ऐसी दृष्टि ज्ञानी की नहीं होती। ज्ञानी तो, राग को जानने योग्य मानते हैं।

वीतराग का मार्ग तो जिस-तिस प्रकार राग को नाश करने वाला है, इसका अर्थ ही यह हुआ कि – वीतराग का उपदेश राग रखने का, राग करने का अथवा राग से वीतरागता होती है – ऐसा नहीं होता। किसी भी प्रकार का शुभ या अशुभराग होवे, वह तो स्वभाव दृष्टि के द्वारा नष्ट करने योग्य है। वीतराग मार्ग की प्ररूपणा तो ऐसी होती है कि देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होने वाला राग भी नाश करने योग्य है। परन्तु "हमारी तरफ के राग से तुझे लाभ होगा" – ऐसा उपदेशक वीतरागमार्ग को नहीं जानता। निमित्त से शुभराग अथवा धर्म होता है – यह बात तो नहीं, किन्तु निमित्त के लक्ष्य से शुभराग हो, उसे करने का भी वीतरागी शास्त्रों में कथन नहीं हैं। जैनदर्शन तो ऐसा कहता है कि – पूजा, यात्रा, भक्ति आदि का भाव होता है, वह सब छोड़ने योग्य है। 'राग से लाभ होता है' – ऐसा कहने वाला जैनदर्शन को जानता ही नहीं। सिद्ध भगवान को शुभविकल्प नहीं आता, क्योंकि जैनधर्म ही सर्वथा राग का नाश करने को कहता है। जिसको ऐसा जैनधर्म रुचा उसे खोटे शास्त्र रचने का भाव आवे – ऐसा संभव ही नहीं है।

जिसको संसार की रुचि है – ऐसा अज्ञानी जीव संसार के कार्यों में ही गहरे विचार करता है। जबकि ज्ञानी को आत्मा की रुचि होने से वह आत्मा में गहरे उतरता है कि – अहो ! वीतराग मार्ग में जितना उपदेश है वह सब राग के नाश का है। जिसने सर्व प्रकार से कषाय को नष्ट करने योग्य माना है, वह जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म प्रकृति का बंध होता है – उस रागभाव को

भी लाभदायक नहीं मानता। किसी भी प्रकार का भाव-द्रव्यबंध आत्मा को लाभदायक नहीं है, अपितु वह नष्ट करने योग्य है – ऐसा वीतरागधर्म का उपदेश है।

सोलहकारण भावना – वह आस्रवभाव है। वह भाव राग है, अत: उसके नाश का उपाय करना चाहिये। राग से लाभ हो – ऐसा वीतराग मार्ग में है ही नहीं। व्यवहार धर्म (शुभराग) का भी नाश करना – वह जैनधर्म है।

''सर्व कषायों का जिस-तिस प्रकार नाश करना – वह जैनधर्म है।''

– इस एक पद को भी भले प्रकार समझले तो कषाय भाव की रुचि नहीं रहती। इस ग्रन्थ में असत्यार्थ पदों का समावेश नहीं है – इसकी क्या गारंटी ? इस प्रश्न का यह उत्तर आया है कि जिसको जैनधर्म की रुचि हुई उसके कषाय के नाश की रुचि हुई। अत: उसे खोटे शास्त्र रचनेरूप तीव्र कषाय होवे – ऐसा कदापि संभव नहीं है। इसप्रकार इस शास्त्र में कल्पित रचना नहीं की गई है – यह कहा।

जैनधर्म तो सर्वप्रकार से कषाय का नाश करने वाला है। जैनशासन का रजिस्टर्ड ट्रेडमार्क तो 'वीतरागता' है। पर की उपेक्षा और स्व की अपेक्षा करे वह जैनमार्ग है। पर के कारण लाभ नहीं होता, मुझे मेरे से ही लाभ है। तथा पर को मेरे कारण लाभ नहीं होता, किन्तु पर को उसके कारण ही लाभ होता है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता का ज्ञान करके स्वभाव दृष्टि करना ही राग के नाश का उपाय है। जो राग से अथवा निमित्त से धर्म होना मानता है वास्तव में वह तो जैनमार्ग में आया ही नहीं, क्योंकि जैनधर्म का लक्षण तो राग का नाश करना है। मैं शुद्धचैतन्य ज्ञान और आनन्दस्वभावी हूँ, कर्म और विकार से मुक्त हूँ – ज्ञानी ऐसा मानते हैं। कोई कहे कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा – तो वह राग को रखने लायक मानता है। जो राग को रखने लायक मानता है वह राग का नाश नहीं कर सकता। जिसको ऐसी रुचि हुई है कि आत्मा विकार का नाश करने वाला है, वह असत्यार्थ पदों की रचना नहीं कर सकता।

चारों अनुयोगों का एक ही आशय है अर्थात् चारों अनुयोगों का तात्पर्य 'वीतरागता' है। अब जिसको कषाय के नाश की रुचि है, वह कषाय का पोषण करने वाले असत्यार्थ पदों की रचना नहीं कर सकता।

चरणानुयोग के शास्त्रों में, व्यवहार के कारण से निश्चय मोक्षमार्ग प्रगटता है – ऐसा कथन आवे, वहाँ भी यह आशय समझना कि व्यवहार का अभाव करे तब निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट होता है। व्यवहार दृष्टि छोड़कर निश्चय शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता

करे तो व्यवहार को निमित्तकारण कहा जाता है। ऐसी दृष्टि वाला व्यवहार से लाभ नहीं मानता, अन्य को नहीं मनवाता। लाखों रुपये दान में दोगे तो धर्म होगा – ऐसा नहीं कहता। ज्ञानी को चारित्रमोह के निमित्त से अर्थात् आत्मा की कमजोरी से राज-पाट, युद्ध आदि का अशुभभाव भले ही आवे; परन्तु वे जैन-आज्ञा भंग करके अपनी कषाय का पोषण नहीं करते। सम्यग्दृष्टि को विषय, व्यापार आदि का भाव होता है, परन्तु उसमें रुचि नहीं होती। अत: कषाय होने पर भी सम्यग्दर्शन में दोष नहीं आता।

यदि सम्यग्दृष्टि कदाचित् चारित्रमोह के उदय के निमित्त से अन्य कार्यों द्वारा कषाय का पोषण करता हो तो करे, परन्तु उससे सम्यग्दर्शन में बाधा नहीं आती। ज्ञानी को विषय-कषाय का भाव आता है इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं – ऐसा कोई माने तो वह मूढ़ है। वह दर्शन और चारित्र के भेद को नहीं जानता। जिसको जैनधर्म रुचा है ऐसे ज्ञानी को चौथे, पाँचवें गुणस्थान में विषय-कषाय के परिणाम होते हैं; परन्तु उनकी रुचि नहीं होती। कोई ऐसा माने कि सम्यग्दृष्टि को विषय-कषाय के परिणाम होते ही नहीं, तो वह मिथ्यादृष्टि है।

जो जिन-आज्ञा भंग करके अपने विषय-कषायों का पोषण करता है, उसके तो जैनपना भी नहीं रहता। बाहर में पंच महाव्रत पालता हो, परन्तु यदि राग से धर्म मानता होवे तो वह जिन-आज्ञा का भंग करता है। जिसकी ऐसी मान्यता है कि व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है, वह वीतराग की आज्ञा का भंग करता है।

प्रथम सम्यग्ज्ञान करना चाहिये। पहले व्रतादि करना चाहिये – ऐसा नहीं। वीतराग का मार्ग तो ऐसा है कि प्रथम सत्समागम में द्रव्यानुयोग का अभ्यास करे, तत्त्वार्थ श्रद्धान करे और पश्चात् चारित्र ग्रहण करे। तथापि जिनकी ऐसी मान्यता है कि पहले बाह्य चारित्र ग्रहण करे फिर सम्यग्दर्शन हो जायेगा, वे जिन-आज्ञा का भंग करते हैं। जो विषय-कषाय से लाभ मानता है, राग से धर्म मानता है, उसका जैनपना नहीं रहता। अत: ज्ञानी को मिथ्या शास्त्र रचने का भाव होता ही नहीं। असत्य पदों की रचना करने वाला पर का और अपना जन्म-जन्म में बुरा करता है।

....प्रश्न – परन्तु यदि कोई जैनाभासी तीव्र कषायी होवे तो असत्यार्थ पदों को जैन शास्त्रों में मिलावे और पश्चात् उसकी परम्परा चलती जावे तो क्या किया जाये ?

समाधान – जैसे कोई सच्चे मोतियों के गहने में झूठे मोती मिला दे, परन्तु झलक नहीं मिलती; इसलिये परीक्षा करके पारखी ठगाता भी नहीं है, कोई भोला हो वही मोती के नाम से

ठगा जाता है; तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती, शीघ्र ही कोई झूठे मोतियों का निषेध करता है। उसीप्रकार कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैनशास्त्र में असत्यार्थ पद मिलाये; परन्तु जैनशास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन है, और उस पापी ने जो असत्यार्थ पद मिलाये हैं, उनमें कषाय का पोषण करने का तथा लौकिक-कार्य साधने का प्रयोजन है, इसप्रकार प्रयोजन नहीं मिलता; इसलिये परीक्षा करके ज्ञानी ठगाता भी नहीं, कोई मूर्ख हो वही जैनशास्त्र के नाम से ठगा जाता है, तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती, शीघ्र ही कोई उन असत्यार्थ पदों का निषेध करता है।....

राग से धर्म होता है – ऐसा लिखे, लक्ष्मी की व्यवस्था आत्मा करे तो होती है – ऐसा कोई लिखे, खाने में अनियमितता से शरीर में रोग आता है तथा श्रीमहावीर भगवान विशिष्ट तत्त्व विचारक थे परन्तु सर्वज्ञ नहीं थे – ऐसी लेखनी जैन नाम धराकर शास्त्रों में लिखे तो वह तीव्रकषायी मिथ्यादृष्टि ही हैं। देखो तो सही ! पण्डितजी ने सब स्पष्ट बात करके स्पष्टीकरण कर दिया है। जो पण्डित अपनी कल्पना से जैन शास्त्रों में न्याय से विरुद्ध लिखते हैं वे तो तीव्र कषायी हैं।

जैसे कोई सच्चे मोती के गहनों में नकली मोती मिलावे तो उनकी चमक मिलती हुई नहीं आती, अत: जो परीक्षक पारखी होता है वह तो ठगाता नहीं है, कोई भोला हो वही मोती के नाम से ठगाया जाता है। श्वेताम्बर शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि जीवों की दया पालने से संसार परिमित हो जाता है तथा मुनियों को आहारदान देने से सम्यग्दर्शन होता है; ये कथन सच्चे मोतियों में नकली मोती मिलाने के समान जैन के नाम से खोटे शास्त्र लिखे हैं। जो परीक्षक पारखी होता है वह तो खोटे शास्त्रों से ठगाता नहीं है, किन्तु जो मूर्ख हो वही शास्त्रों के नाम से ठगा जाता है। तथा कोई परीक्षक होवे तो इन खोटे शास्त्रों का निषेध करता है। तथा नकली मोतियों की परम्परा भी (बहुत) नहीं चलती है, क्योंकि झूठे मोती जानने में आये बिना नहीं रहते। उसीप्रकार कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैन शास्त्रों में असत्यार्थ पद मिलावे तो ज्ञानी परीक्षा करके ऐसी परम्परा को चलने नहीं देते। पुत्र होवे तो हमारी गति होगी – ऐसा ज्ञानी नहीं मानते।

खोटे शास्त्र बनाने वाले पापियों ने उनमें जो खोटे पद रखे हैं उनका प्रयोजन तो कषाय पोषण और लौकिक कार्य साधने का है। जबकि ज्ञानी को वैसा प्रयोजन नहीं है। इसप्रकार दोनों का प्रयोजन नहीं मिलता। अत: परीक्षा करने से ज्ञानी तो ठगाता नहीं है, परन्तु कोई मूर्ख हो वही जैन शास्त्रों के नाम से ठगा जाता है।

यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि – किसी मिथ्यादृष्टि ने भगवान के नाम से खोटे शास्त्र बनाये हों और उनकी परम्परा चले, तो इसमें हमें क्या करना ? तो उसका उत्तर दिया कि 'वीतराग द्वारा कथित शास्त्रों में तो कषाय मिटाने का व लौकिक कार्य घटाने का ही प्रयोजन होता है। मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित खोटे शास्त्र इस प्रयोजन से विपरीत होते हैं; अत: वे सच्चे शास्त्र नहीं है।

युद्ध करना, वह कर्त्तव्य है – ऐसा वीतरागी शास्त्र नहीं कहते। कदाचित् ज्ञानी भी युद्ध करता है, परन्तु युद्ध करने लायक है – ऐसा वह नहीं मानता। शत्रु के नाश का भाव ज्ञानी को होता है, परन्तु वह भाव त्यागने योग्य है – ऐसा वह मानता है।

कोई कहे कि 'कोई स्त्री छोटी उम्र में विधवा हो गई होवे तो उसका पुनर्विवाह कर देना चाहिये'; तो ऐसा कथन जैन शास्त्रों में नहीं है। जो जैन शास्त्र प्रतिक्रमण के शुभभाव का भी निषेध करते हैं वे अशुभभाव करने को कैसे कह सकते हैं ? यदि कोई यह कहे कि – जैनशास्त्र पुनर्विवाह करने को कहता है, तो वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है, वह जैन शास्त्रों को समझता ही नहीं। जैन शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि चारित्रदोष के कारण जो शुभ-अशुभ भाव होते हैं वे भी आदरणीय नहीं हैं। भाव आना अलग बात है और उन भावों को करने योग्य मानना अलग बात है। लोकोत्तर मार्ग में राग का अभाव करने की ही बात है। अर्जुन युद्ध करने हेतु तैयार हुआ और फिर वापस उससे विमुख होने लगा, तब कृष्ण ने युद्ध करने को कहा – यह बात समीचीन नहीं है। जैन शास्त्र की आज्ञा युद्ध करने की नहीं है। अभी तो जैन के नाम से भी बहुत गड़बड़ चलती है, और कहते हैं कि विरोधी की हिंसा करने योग्य है, पुनर्विवाह करने योग्य है; तो ऐसा मानने वाले सब मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी का कथन कषाय मिटाने का होता है और अज्ञानी का कथन कषाय बढ़ाने का होता है। अत: उनकी परीक्षा करना चाहिये।

दूसरे जीवों को सुखी करने का भाव अथवा आहार-पानी देने का भाव होता है, वह पुण्यभाव है, फिर भी जिस शास्त्र में उसे पापभाव कहा हो, वे तो वीतरागी शास्त्र हैं ही नहीं, और उस पुण्यभाव के करते-करते धर्म हो जायेगा – ऐसा कहने वाले भी लोकोत्तर शास्त्र नहीं हैं। अत: ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है। गृहस्थों को मुनि के लिए आहार देने का भाव होता है, वह शुभभाव है, परन्तु उससे संसार परिमित नहीं होता; फिर भी उससे संसार परिमित होना माने, वह वीतराग शासन के कथन को नहीं समझता; अत: मिथ्यादृष्टि है।

नियमसार (गाथा-१४१) में कहा है कि – जो आत्मा शुभभाव के वश होता है उसके

आवश्यक नहीं है। मुनिराज शुभभाव के वश नहीं होते, अत: उनके निश्चय आवश्यक होते हैं। सम्यग्दृष्टि को शुभाशुभ भाव होते अवश्य हैं पर वे उनके वश नहीं होते। श्री रामचन्द्रजी सीताजी के वियोग में पेड़ों व पर्वतों से पूछते थे कि सीता कहाँ है ? चारित्रमोह के निमित्त से ऐसा राग होने पर भी वे उसके वश नहीं थे – इसकारण उनके निश्चय आवश्यक थे। शुभभाव भी आदरणीय नहीं है – इसप्रकार सम्यग्दृष्टि शास्त्रों की परीक्षा करने से ठगाता नहीं है।

किसी ने सच्चे हीरे-माणक में बनावटी पत्थर डाल दिये हों तो जौहरी परीक्षा करके उन्हें निकाल देता है। वैसे ही शास्त्रों में मिलाये गये खोटे पदों को ज्ञानी परीक्षा करके निकाल देता है। कोई शास्त्र में ऐसा लिखे कि – समाज को पैसों की व्यवस्था करना नहीं आती, इस कारण निर्धनता है, तो वह बात वीतरागमार्ग की नहीं है, क्योंकि पैसा मिलना अथवा नहीं मिलना तो पूर्व के शुभ अथवा अशुभ कर्म के कारण है। इसप्रकार परीक्षा करके उसका निषेध करे, क्योंकि यह बात शास्त्रों से विरुद्ध है।

जैन नाम रखाकर भगवान के नाम से ऐसे विपरीत कथन करना, वह तो ऐसे हल्के (निकृष्ट) काल में ही होता है, श्रेष्ठ काल में ऐसे पापी नहीं होते। आचार्य नाम रखाकर ऐसा लिखे कि अभी समयसार नहीं चाहिये, किन्तु महाबंध चाहिये। पहले व्यवहार आता है और बाद में उस व्यवहार में से निश्चय प्रगट होता है – ऐसा प्ररूपण करे और उसे भगवान के नाम से शास्त्रों में लिखे, तो वैसा कार्य इस निकृष्ट काल में ही होता है। ऐसे तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव अच्छे काल में नहीं होते।

शास्त्र में पहले मुनिधर्म का उपदेश दे और वह नहीं बन सके तो बाद में श्रावकधर्म की बात करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले व्यवहार होता है और बाद में निश्चय होता है। वहाँ तो प्रथम उत्कृष्ट धर्म की ही भावना होनी चाहिये – यह आशय है। जिन्हें वीतराग धर्म के शास्त्रों की खबर नहीं हैं वे ऐसे खोटे पद रचें और फिर भविष्य में, वे आचार्यों द्वारा कथित हैं, अत: सत्य हैं – ऐसी परम्परा चले; परन्तु ज्ञानी परीक्षा द्वारा उस परम्परा को चलने नहीं देते।

....दूसरी बात यह है कि – ऐसे तीव्रकषायी जैनाभास यहाँ इस निकृष्ट काल में ही होते हैं; उत्कृष्ट क्षेत्र-काल बहुत हैं, उनमें तो ऐसे होते नहीं। इसलिये जैनशास्त्रों में असत्यार्थ पदों की परम्परा नहीं चलती। – ऐसा निश्चय करना।....

जैन के नाम से मिथ्यात्व का पोषण करने वाले जीव महाविदेहक्षेत्र में नहीं होते। वर्तमान

में यहाँ तो दिगम्बर नाम धराकर भी गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। श्वेताम्बर में यशोविजय जी हो गये हैं वे कहते हैं कि – दिगम्बर पहले निश्चय और फिर व्यवहार कहते हैं, इसकारण वे मिथ्यादृष्टि हैं। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व यशोविजयजी ऐसा कह गये हैं। उन्हें तो पता पड़ा कि दिगम्बरों की मान्यता क्या है ? परन्तु वर्तमान के कितने ही दिगम्बर ऐसा मानते हैं कि पहले व्यवहार और बाद में निश्चय होता है, तो उन्हें यथार्थ दिगम्बर जैन कैसे होते हैं और उनके शास्त्र कैसे होते हैं ? इसका भी पता नहीं है। अर्थात् वे गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करने वाले ऐसे खोटे कथन करते हैं। ऐसा तो इस निकृष्ट पंचमकाल में ही होता है और इस क्षेत्र में ही होता है। अच्छे क्षेत्र और अच्छे काल में जैन शासन में ऐसे मिथ्यादृष्टि नहीं होते। अत: जैनशास्त्रों में असत्यार्थ पदों की परम्परा चलती ही नहीं – ऐसा निश्चय करना।

''परमात्मप्रकाश'' में योगीन्दुदेव ने कहा है कि व्यवहार तो राग है और निश्चय तो अराग है, तो फिर राग से अरागदशा किसप्रकार प्रगटे ? नहीं प्रगट सकती। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहले विकल्प होता है, उसको भूतनैगमनय से कारण कहने में आता है। वास्तव में व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा कथन हो वह जैनमत का कथन ही नहीं है – ऐसा जानकर खोटे की परम्परा नहीं चलने देनी चाहिये – ऐसा निर्णय करना। वर्तमान में तो यह बात मूल में ही बदल गई है।

इसप्रकार वर्तमान में जैन के नाम से जगह-जगह जहर उड़ेलते हैं; अत: अभी तो स्वयं समझले तो काम चले। किसी के साथ वाद-विवाद से पार पड़े – ऐसा नहीं है।

....प्रश्न – कषायभाव से असत्यार्थ पद नहीं मिलावे, परन्तु ग्रन्थ कर्त्ता के अपने क्षायोपशमिक ज्ञान में पदार्थ का कोई अन्यथा अर्थ भासित होने से वह असत्यार्थ पद मिलावे और उसकी परम्परा चले तो ?....

भले ही स्वयं इच्छापूर्वक खोटा नहीं लिखे परन्तु ज्ञान का उघाड़ इतना न हो और वैसा कथन करे तब तो परम्परा चले न ?

....समाधान – मूल ग्रन्थकर्त्ता तो गणधरदेव हैं, वे स्वयं चार ज्ञान के धारक हैं और साक्षात् केवली का दिव्यध्वनि-उपदेश सुनते हैं, उसके अतिशय से सत्यार्थ ही भासित होता है और उस ही के अनुसार ग्रन्थ बनाते हैं; इसलिये उन ग्रन्थों में तो असत्यार्थ पद कैसे गूँथे जायें ? तथा जो अन्य आचार्यादिक ग्रन्थ बनाते हैं, वे भी यथायोग्य सम्यग्ज्ञान के धारक हैं और वे मूल ग्रन्थों की परम्परा से ग्रन्थ बनाते हैं। दूसरी बात यह है कि – जिन पदों का स्वयं को ज्ञान न हो उनकी तो

वे रचना करते नहीं, और जिन पदों का ज्ञान हो उन्हें सम्यग्ज्ञान प्रमाण से ठीक गूँथते हैं। इसलिये प्रथम तो ऐसी सावधानी में असत्यार्थ पद गूँथे जाते नहीं, और कदाचित् स्वयं को पूर्व ग्रन्थों के पदों का अर्थ अन्यथा ही भासित हो, तथा अपनी प्रमाणता में भी उसी प्रकार आ जाये तो उसका कुछ सारा (वश) नहीं है; परन्तु ऐसा किसी को ही भासित होता है सब ही को तो नहीं, इसलिये जिन्हें सत्यार्थ भासित हुआ हो वे उसका निषेध करके परम्परा नहीं चलते देते।....

मूल ग्रन्थकर्त्ता गणधरदेव तो चार ज्ञान के धारक हैं और साक्षात् दिव्यध्वनि का उपदेश सुनते हैं। इसकारण उनको तो सत्यार्थ ही भासित होता है और उस अनुसार वे ग्रन्थ रचना करते हैं। इसकारण उन शास्त्रों में तो खोटे पद हो नहीं सकते। तथा अन्य आचार्यादि ग्रन्थ रचना करते हैं, वे भी यथायोग्य सम्यग्ज्ञान के धारक थे। अन्य भी महामुनि हो गये हैं। कुन्दकुन्दाचार्य आदि हुए वे तो सम्यग्ज्ञान के धारक थे। वे तो मूल ग्रन्थ प्रमाण ही रचना करते हैं।

वीरसेन आचार्य (धवला टीकाकार) कहते हैं कि जिस बात का हमें ख्याल न हो, वह बात लिखने की हमारे में सामर्थ्य नहीं है। कोई सूक्ष्म बात हमारे गुरु के पास से हमें न मिली हो तो मैं किसप्रकार कह सकता हूँ। ऐसे महान् समर्थ आचार्य भी, जो पता न हो उसे लिखने की हिम्मत नहीं करते और अपनी निर्मानता बतलाते हैं। जितना स्वयं को ज्ञान हो उतनी ही रचना करते हैं; क्योंकि वे भवभीरू थे, भव से डरते थे। स्वयं को ख्याल न होवे ऐसे पद वे नहीं रचते। जहाँ सावधानी होती है वहाँ खोटे पद नहीं रचे जा सकते। कदाचित् किसी का क्षयोपशम कम होवे और स्वयं को भी कदाचित् पद का अर्थ अन्यथा ही भासित होवे और अपने ख्याल में भी वैसा ही बैठ जाये तो उसका कोई महत्त्व नहीं है; परन्तु ऐसा तो किसी-किसी को ही भासित होता है, सबको नहीं। आचार्यों को इतनी बुद्धि होती है कि उन्हें देखकर सर्वज्ञ की सिद्धि हो सके। ऐसी बुद्धि होने पर भी वे निर्मानता से लिखते हैं। उनकी प्रयोजनभूत बात में तो कोई अन्तर पड़ता नहीं है, परन्तु कदाचित् धारणा के बोल में (जानने योग्य विषय में) कुछ अन्तर पड़ा हो तो कोई जानकार मिले तो उस बात को भी सुधार देता है।

....पुनश्च, इतना जानना कि – जिनको अन्यथा जानने से जीव का बुरा हो ऐसे देव-गुरु-धर्मादिक तथा जीव-अजीवादिक तत्त्वों को तो श्रद्धानी जैनी अन्यथा जानते ही नहीं; इनका तो जैनशास्त्रों में प्रसिद्ध कथन है। और जिनको भ्रम से अन्यथा जानने पर भी जिन-आज्ञा मानने से जीव का बुरा न हो, ऐसे कोई सूक्ष्म अर्थ हैं; उनमें से किसी को कोई अन्यथा प्रमाणता में लाये तो भी उसका विशेष दोष नहीं है।....

यहाँ इतना विशेष जानना कि जिन्हें अन्यथा जानने से जीव का बुरा होता है – ऐसे देव-गुरु-धर्मादि अथवा जीवादि तत्त्वों को तो श्रद्धालु जैनी भी अन्यथा नहीं जानता। परीक्षा करके खोटे को खोटेरूप जानकर तुरन्त निकाल देता है। तत्त्वादि के कथन में तो जैन शास्त्रों में कोई अन्तर है नहीं, उनका तो प्रकट प्रसिद्ध कथन है।

देखो ! यहाँ प्रश्न चल रहा है कि किसी जीव को ज्ञान का उघाड़ अल्प हो और उससे शास्त्र का अर्थ अन्यथा हो जावे और असत्य परम्परा चले तो क्या करना ? उसका उत्तर दिया कि असत्य परम्परा को ज्ञानी चलने नहीं देते। सच्चा ज्ञानी हो उसे सच्चे देवादिक की श्रद्धा होती है, इसकारण वह अर्थ को अन्यथा जानता नहीं है।

शास्त्रों में भी देवादिक का व नवतत्त्वों का यथार्थ स्वरूप तो स्थान-स्थान पर कहा ही है। जो प्रयोजनभूत बात है वह तो शास्त्र में प्रसिद्धरूप से है ही। अर्थात् उसमें तो सच्चे जैन को भी भ्रम का कारण नहीं रहता। बीच में किसी ने वीतराग के नाम से खोटे शास्त्र बनाये हैं, उनमें तो नव तत्त्वादि का तथा देवादि का स्वरूप भी यथार्थ नहीं होता; अत: वे तो जैन के शास्त्र ही नहीं हैं।

इसप्रकार मूल प्रयोजनभूत बात में तो भूल होती नहीं, परन्तु कोई सूक्ष्म अर्थ, कि जिससे जीव का बुरा नहीं होता, ऐसी साधारण धारणा – जानने योग्य बात में अन्तर पड़ गया होवे तो उसकी यहाँ विशेषता नहीं है। किसी भी सनातन वीतराग जैन आगम में देवादिक तथा नव तत्त्वादि के स्वरूप में पूर्वापर विरोध है ही नहीं। तथा कदाचित् अप्रयोजनभूत बात में अन्तर होवे तो उससे जीव का बुरा नहीं होता; अत: यहाँ उसकी मुख्यता नहीं है। ''गोम्मटसार'' में भी कहा है कि –

....'सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥
(गाथा-२७, जीवकाण्ड)

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव उपदेशित सत्य प्रवचन की श्रद्धा करता है तथा अजानमान गुरु के योग से असत्य का भी श्रद्धान करता है – ऐसा कहा है....

सम्यग्दृष्टि कदाचित् किसी अप्रयोजनभूत बात में असत्य श्रद्धान करता है, परन्तु उसमें दोष नहीं है। यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि में भूल हो तो उसका बुरा होता है।

पण्डितजी कहते हैं कि मुझे विशेष ज्ञान नहीं है, परन्तु जिन-आज्ञा भंग करने का बहुत

भय है, अत: इसी विचार के बल से इस ग्रन्थ रचना का साहस करता हूँ। इसकारण इसमें जैसा पूर्व ग्रन्थों में वर्णन है, वैसा ही वर्णन करूँगा। इसके सिवाय कल्पित रचना नहीं करूँगा, किसी जगह पूर्व ग्रन्थों में सामान्य गूढ़ वर्णन है, उसका विशेष भाव प्रगट करके यहाँ वर्णन करूँगा। इसप्रकार वर्णन करने में मैं तो बहुत सावधानी रखूँगा, फिर भी किसी स्थान पर सूक्ष्म अर्थ का अन्यथा वर्णन हो जाये तो विशेष बुद्धिमान हों वे उसे सुधार कर शुद्ध करेंगे।

आगे कहते हैं कि जीवादि छह द्रव्यों का, नवतत्त्वों का, सम्यग्दर्शनादि का और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का स्वरूप भली प्रकार जानना चाहिये, क्योंकि यह सब प्रयोजनभूत है। इनके स्वरूप की भलीभाँति परीक्षा नहीं करे तो जीव का बहुत बुरा होता है। इन प्रयोजनभूत बातों में तो किसी भी ग्रन्थ में अन्तर नहीं है, सबने स्पष्ट किया है। अत: भलीभाँति परीक्षा करके जानना चाहिये।

देवादि का स्वरूप परीक्षा करके जानने वाले को कोई भ्रमा नहीं सकता। जैसे कोई कहे कि तेरे पिताजी को मेरे पिताजी ने पूर्व भव में पचास हजार रुपये दिये थे, तो वह स्वीकार नहीं करता। उसीप्रकार कहीं प्रयोजनभूत बात में अन्तर हो तो स्वभाव की रुचि वाला उसे चलने नहीं देता।

यहाँ तो पण्डितजी कहते हैं कि इस शास्त्र में प्रयोजनभूत बात में तो कहीं भूल आयेगी नहीं, फिर भी कदाचित् किसी अप्रयोजनभूत बात में अन्तर पड़े तो उसे सुधार लेना, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

इसप्रकार इस शास्त्र रचना का निश्चय किया है। अब कौनसे शास्त्र पढ़ने, पढ़ाने और सुनने योग्य हैं, तथा उन शास्त्रों के वक्ता-श्रोता कैसे होने चाहिये। वह यहाँ कहते हैं –

बाँचने-सुनने योग्य शास्त्र

....जो शास्त्र मोक्षमार्ग का प्रकाश करें वही शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य हैं; क्योंकि जीव संसार में नाना दु:खों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लें तो उस मार्ग में स्वयं गमन कर उन दु:खों से मुक्त हों। सो मोक्षमार्ग एक वीतरागभाव हैं; इसलिये जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो उन्हीं शास्त्रों का बाँचना-सुनना उचित है। तथा जिन शास्त्रों में शृंगार-भोग-कुतूहलादिक का पोषण करके रागभाव का; हिंसा-युद्धादिक का पोषण करके द्वेषभाव का; और अतत्त्वश्रद्धान का पोषण करके मोहभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं; क्योंकि जिन राग-द्वेष-

मोह भावों से जीव अनादि से दुःखी हुआ उनकी वासना जीव को बिना सिखलाये ही थी और इन शास्त्रों द्वारा उन्हीं का पोषण किया, भला होने की क्या शिक्षा दी ? जीव का स्वभाव घात ही किया। इसलिये ऐसे शास्त्रों का बाँचना-सुनना उचित नहीं है।....

जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश करे वह आगम ही बाँचने-सुनने योग्य है। जिस भाव से बंध छूटे उस भाव को बताने वाले शास्त्र ही सच्चे हैं। देखो ! यह आगम की कसौटी है। अहित के नाश की बात बतावे और हितकारक आत्मा का यथार्थ स्वरूप बतावे वह आगम सच्चा है। जो पुण्य-पाप आस्रव से आत्मा का हित बतावे वह तो आगम ही नहीं है।

जीव पुण्य-पाप तो अनादि से करता ही आया है उसका परिवर्तन कराकर स्वभाव का आश्रय करावे वह आगम है, किन्तु आस्रव से संवर बतावे वह तो आगम ही नहीं है।

जो अहितरूप अवस्था का अभाव करके हितरूप अवस्था प्रगट करने को कहे, वह आगम है। अर्थात् मोक्षमार्ग को दर्शावे, वही आगम बाँचने-सुनने योग्य है; अन्य शास्त्र बाँचने सुनने योग्य नहीं। वर्तमान पर्याय में दुःख है, बंधभाव है। उसके नाश करने की अपूर्वदृष्टि बतावे तथा उसमें निमित्त अथवा व्यवहार का आश्रय नहीं है – ऐसी बात बतावे, वही आगम है।

आत्मा में शक्तिरूप से प्रभुता पड़ी है, वर्तमान पर्याय में पामरता है उस पामरता का नाश करना हो तो वर्तमान पुण्य-पाप का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय कर – ऐसा जो कहें वे ही शास्त्र बाँचने योग्य हैं, सुनने योग्य हैं। जिसमें राग से धर्म बताया हो, पर के आश्रय से सुख बताया हो – ऐसे शास्त्र सुनने योग्य नहीं हैं। बंधभाव के आश्रय से अबंधभाव नहीं होता – ऐसा अर्थ समझने वाले ने ही शास्त्रों का यथार्थ अर्थ समझा कहा जाता है।

आगम में प्रयोजन तो मोक्षमार्ग प्रगट कराने का है, किन्तु बंधभाव प्रगट कराने का प्रयोजन नहीं है। जो उन शास्त्रों में से "बंधभाव से लाभ होता है" – ऐसा प्रयोजन निकालता है तो उसने शास्त्रों को समझा ही नहीं है।

मोक्षमार्ग तो वीतरागी अवस्थारूप है। वह आत्मा के आश्रय से ही होता है, पुण्य-पाप और निमित्त के आश्रय से नहीं होता – ऐसा जो बतावे वही आगम है। जीव संसार में नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित है, आकुलता के परिणाम से जीव दुःखी हो रहे हैं, परन्तु रोग से या निर्धनता से दुःखी हो रहे हैं – ऐसा नहीं कहा। अब उस दुःख से मुक्त होने के लिये शास्त्र दीपक के समान है। उनके द्वारा मोक्षमार्ग पाकर उसमें गमन (परिणमन) होता है।

मोक्षमार्ग तो एक वीतरागभाव ही है। रागभाव, वह मोक्षमार्ग नहीं हैं। राग, पुण्य,

व्यवहार और निमित्त का आश्रय छोड़कर चिदानन्द आत्मा के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और रमणता होती है वही मोक्षमार्ग है। बीच में व्यवहार शुभभाव आता है वह बंधमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। राग के पेट में वीतरागभाव पड़ा है – ऐसा अज्ञानी कहता है, किन्तु यहाँ तो एकमात्र वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है – ऐसा कहा है। वीतरागभाव के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग है ही नहीं।

हल्केकाल में (पंचमकाल में) अन्य मोक्षमार्ग हो – ऐसा कभी नहीं बनता। अच्छे काल में दो और दो चार होते हैं और हल्के काल में दो और दो पाँच होते हैं – ऐसा कभी नहीं बनता। अच्छे काल में आम के पेड़ पर आम पकें और हल्के काल में निम्बौली पके – ऐसा नहीं बनता। वैसे ही अच्छे काल में वीतरागभाव से मोक्षमार्ग हो और हल्के काल में रागभाव से मोक्षमार्ग हो – ऐसा कभी नहीं बनता। अच्छे काल में निश्चय से धर्म होवे और हल्के काल में व्यवहार से धर्म होवे – ऐसा नहीं बनता। अत: यहाँ एक वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है – ऐसा कहा है।

शुरुआत में अंक होवे तो ही जोड़ में अंक आता है, (इकाई में शून्य होवे तो जोड़ में अंक नहीं आएगा) वैसे ही प्रथम वीतरागभाव से शान्ति होती है – ऐसा माने तो जोड़ में(परिणति में) शान्ति आती है; परन्तु प्रथम से ही रागभाव से मोक्षमार्ग माने तो उसके तो जोड़ में कभी वीतरागभावरूप शान्ति होगी ही नहीं। अत: जो व्यवहार का निषेध करावे और निश्चय का आदर करावे वे ही शास्त्र सच्चे हैं।

सच्चे शास्त्रों का लक्षण तो अनेकान्त है – ऐसा आगे आयेगा। व्यवहार से निश्चय नहीं होता या राग से धर्म नहीं होता – यह अनेकान्त है। शास्त्र में कहा है कि शुभभाव होते तो हैं, परन्तु उनके आश्रय से धर्म होता है – ऐसा नहीं मानना। अत: जिनमें वीतरागभाव का पोषण किया हो ऐसे शास्त्रों का बाँचना-सुनना योग्य है; परन्तु इससे विरुद्ध शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य नहीं हैं।

जिन शास्त्रों में श्रंगार, भोग, कुतूहलादि का पोषण करके रागभाव का तथा हिंसा, युद्धादि का पोषण करके द्वेषभाव का अथवा अतत्त्व श्रद्धान का पोषण करके मोहभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र मिथ्या हैं। भोग भोगने से भोग की वृत्ति शांत होती है – ऐसा कथन मिथ्यादृष्टि का है। जो ऐसा बताते हैं कि राग करते-करते राग का नाश होता है वे खोटे शास्त्र हैं। पहले बहुत श्रंगार कर लेना, तत्पश्चात् उसकी वृत्ति नहीं रहेगी, कुतूहल छूट जायेगा – ऐसा जो कहते हैं वे शास्त्र नहीं बल्कि शस्त्र हैं। जीवादि सातत्त्वों को भिन्न-भिन्न जैसे हैं

वैसे नहीं कहे बल्कि यह बतावे कि एक को दूसरे का आश्रय है, वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं – ऐसे शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य नहीं हैं।

जिज्ञासु को कैसे शास्त्र सुनने योग्य हैं, यह बात चल रही है। जो जिज्ञासु होता है उसको ऐसा निर्णय हो ही जाता है। जिन शास्त्रों में रागादि का पोषण किया हो वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं। ऐसे शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य नहीं हैं। जिनमें राग से धर्म मनवाकर राग का पोषण किया हो, हिंसा करने योग्य है – ऐसा कहकर द्वेषभाव का पोषण किया हो, वे मिथ्या शास्त्र हैं। तथा जो रागादि आस्रव की पुष्टि से संवर होना मनावे, जीव की मदद के बिना अजीव द्रव्य कुछ भी नहीं कर सकते – इसप्रकार विपरीत तत्त्वों का पोषण करके मिथ्यात्व का प्रयोजन प्रगट करते हों, वे भी कुशास्त्र हैं, वे सुनने योग्य नहीं हैं। जिसे आत्मा के कल्याण की दरकार हुई हो उसे ऐसे कुशास्त्रों का श्रवण रुचेगा ही नहीं।

राग-द्वेष-मोह तो दु:ख के कारण हैं। उन राग-द्वेष-मोह के पोषण करने की बात जिज्ञासु को नहीं रुचती। अज्ञानी राग-द्वेष-मोह का पोषण तो अनादि से कर ही रहे हैं और इससे अहित भी हो रहा है। अब इन कुशास्त्रों ने भी राग-द्वेष-मोह का ही पोषण किया तो इनने जीव का क्या भला किया ? जीव के स्वभाव का घात ही किया। स्वभाव की उत्पत्ति (वीतरागभाव की प्राप्ति) होने का तो इनमें कुछ आया ही नहीं। कुशास्त्र और उनके सुनाने वाले, स्वभाव के घात में ही निमित्त हैं। अत: ऐसे शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य नहीं हैं तथा लिखने-लिखाने, पढ़ने-पढ़ाने योग्य नहीं हैं।

देखो ! नवतत्त्व हैं, वे नवतत्त्व स्वतन्त्र हैं। जीव है वह अजीव का कुछ करे ऐसा नहीं है, अजीव के कारण से जीव नहीं है। पुण्य-पाप आस्रव हैं, उनके कारण से संवर-निर्जरा नहीं और संवर-निर्जरा के कारण से मोक्ष नहीं। संवर-निर्जरा पर्याय कोई जबरदस्ती मोक्ष पर्याय को नहीं लाती। संवर-निर्जरा साधक स्वभाव (अवस्था) है, व्यवहार से उसे मोक्ष का कारण कहा है। वस्तुत: यदि एक तत्त्व के कारण दूसरा तत्त्व हो तो नवतत्त्व स्वतन्त्र नहीं रहते।

पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल ने ''आत्मावलोकन'' में कहा है कि – साधक स्वभाव साध्यभाव को बलात्कारपने परिणमाता नहीं हैं। अर्थात् संवर-निर्जरारूप जो पर्याय प्रगटती है वह मोक्षपर्याय को बलजोरी से परिणमावे – ऐसा नहीं बनता, फिर भी कोई ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म आत्मा की पर्याय को बलजोरी से परिणमाता है – ऐसा तो नहीं, किन्तु पूर्व पर्याय का व्यय हुआ वह नई पर्याय को करे – ऐसा भी नहीं है। संवर-निर्जरा की पर्याय

का व्यय होकर मोक्ष की पर्याय प्रगट होती है, वहाँ वह व्ययरूप पर्याय बलजोरी से मोक्ष की पर्याय को प्रगट नहीं कराती। संवर-निर्जरा के कारण मोक्ष होता है – ऐसा व्यवहार कथन है, वहाँ आस्रव-बंध की पर्याय मोक्ष का निमित्त (कारण) नहीं परन्तु शुद्ध पर्याय ही मोक्ष का निमित्त (कारण) है – ऐसा बताना है।

यहाँ तो कहते हैं कि संवर-निर्जरा के कारण मोक्ष होता है – ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है; तो फिर जो राग के कारण वीतरागता माने वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है ही। यहाँ निमित्त की बात तो कहीं रह गई। पूर्व का भाव तो मात्र साक्षीरूप होता है, वह बलजोरी से नई पर्याय को प्रगट नहीं करता। तथा संवर-निर्जरा की पर्याय प्रगट होती है, उसके कारण मोक्ष होता है – ऐसा भी नहीं है। देखो तो सही ! जहाँ संवर-निर्जरा को भी मात्र साक्षीभूत कहा है, तो फिर निमित्त और राग के परिणाम संवर-निर्जरा को बलजोरी से लावें – ऐसा तो कभी बनता ही नहीं।

दोपहर के समय एक फूल खिलता है, उस फूल के खिलने में सूर्य साक्षीभूत है। सूर्य है, इसलिये फूल खिला – ऐसा नहीं है, सूर्य बलजोरी से फूल को नहीं खिलाता। उसीप्रकार संवर-निर्जरारूप अपूर्ण शुद्धपर्याय बलजोरी से पूर्ण पर्याय को नहीं प्रगटाती; परन्तु वह तो मात्र साक्षीभूत है। साधकभाव साक्षीभूत है। इसप्रकार सातों तत्त्वों को स्वतन्त्र कहा है। किसी तत्त्व के कारण किसी तत्त्व का परिणमन नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य की निमित्तता साक्षीभूत है। निमित्त को प्रत्यक्ष साक्षीभूत है – ऐसा जानना। निमित्त आवे इसलिये उपादान की पर्याय को होना पड़ता है – ऐसा मानने वाला निमित्त की पर्याय को साक्षीभूत नहीं मानता, परन्तु (निमित्त) बलजोरी से परिणमाता है – ऐसा मानता है। सातों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, साक्षीभूत हैं। कोई तत्त्व किसी को बलजोरी से नहीं परिणमाता। इसके सिवाय कोई सात तत्त्वों की बात अन्य प्रकार करता हो – ऐसा शास्त्र वास्तव में शास्त्र ही नहीं, शस्त्र है।

पुण्य से धर्म कहे और पाप से पुण्य कहे – ऐसे शास्त्र बाँचने योग्य नहीं हैं। पुण्य-पाप – दोनों व्यवहार अपेक्षा भिन्न (भेद रूप) हैं फिर भी दोनों को एक कहे तो वह मिथ्यात्व है। निश्चय से दोनों पाप हैं, परन्तु व्यवहार से जो भेद है, उसे न जाने तो पुण्य-पाप दो तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, उन्हें वह नहीं मानता। जैसे किसी ने किसी अन्य से कहा कि यह दही कुत्ता खा नहीं जाये इसका ध्यान रखना, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि बिल्ली या अन्य पशु आकर भले ही खा जाये; उससमय वहाँ कुत्ता खड़ा था तो उसकी मुख्यता से यह बात कही थी। उसीप्रकार

किसी समय शास्त्रों में निमित्त की मुख्यता से बात की हो तो उसके अन्तर रहस्य की सब बात समझ लेनी चाहिये। शास्त्र में किसी समय शुभभाव को शुद्धता का कारण कहा हो, तो वहाँ राग के पोषण के लिये वैसा नहीं कहा है – ऐसा समझना। जिन शास्त्रों में राग के पोषण के कथन हों वे शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य नहीं हैं।

जैन कुल में जन्म लेकर भी वीतरागी मार्ग कैसा है और कैसे शास्त्र सच्चे हैं ? इसकी भी परीक्षा नहीं करता। जैन शास्त्रों के विषय में ऊपर कहे अनुसार जो साक्षात् अथवा परम्परा से वीतराग भाव का पोषण करें वे ही शास्त्र बाँचने-सुनने योग्य हैं।

वक्ता का स्वरूप

....अब इनके वक्ता का स्वरूप कहते हैं – प्रथम तो वक्ता कैसा होना चाहिये कि जो जैनश्रद्धान में दृढ़ हो; क्योंकि यदि स्वयं अश्रद्धानी हो तो औरों को श्रद्धानी कैसे करे ? श्रोता तो स्वयं ही से हीनबुद्धि के धारक हैं, उन्हें किसी युक्ति द्वारा श्रद्धानी कैसे करे ? और श्रद्धान ही सर्व धर्म का मूल है।....

प्रथम तो वक्ता जैन श्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये। समस्त धर्मों के साथ समन्वय करने वाले को जैन की श्रद्धा नहीं है। वह तो वक्ता होने योग्य ही नहीं; क्योंकि जो स्वयं ही अश्रद्धालु हो वह अन्य को श्रद्धालु कैसे बना सकता है।

महा विदेहक्षेत्र, बीस तीर्थङ्कर, असंख्यात द्वीप-समुद्रादि होंगे या नहीं – इसकी भी जिसे अभी शंका हो, शास्त्र इसप्रकार कहता है – ऐसा कहे, परन्तु हमें इसकी श्रद्धा नहीं है – ऐसा कहने वाला वक्ता उपदेशक होने योग्य नहीं है। जहाँ स्वयं की ही श्रद्धा का ठिकाना नहीं है वह अन्य को श्रद्धालु होने में निमित्त कैसे हो सकता है ? श्रोता तो स्वयं से ही हीन बुद्धि वाले हैं वह उन्हें किसी प्रकार सम्यक् युक्ति से श्रद्धालु किसप्रकार करेगा ? नहीं कर सकेगा।

"श्रद्धान ही सर्व धर्म का मूल है।" (१) रत्नत्रयरूप धर्म, (२) वस्तु के स्वभावरूप धर्म, (३) दशलक्षण धर्म और (४) अहिंसा धर्म – इन सबका मूल तो सम्यग्दर्शन है। जिसको केवलज्ञान की श्रद्धा नहीं हो ऐसा जीव वक्ता होवे तो वह सच्चा वक्ता नहीं है। जिसको केवलज्ञान की अथवा क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है, उसको सम्यग्दर्शन न होवे तो वह अन्य को सम्यग्दर्शन का निमित्त किसप्रकार होगा ? वक्ता को जैनधर्म की ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये कि इन्द्र डिगाने आये तो भी डिगे नहीं।

अब ज्ञान की बात करते है।

....वक्ता कैसा होना चाहिये ? कि – विद्याभ्यास करने से जिसको शास्त्र बाँचने योग्य बुद्धि प्रगट हुई हो। कारण कि ऐसी शक्ति बिना वक्तापने का अधिकारी कैसे हो ?....

शास्त्र ज्ञान के बिना वक्ता नहीं हो सकता। ज्ञान नहीं हो तो वह गड़बड़ किये बिना रहे नहीं।

....पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जो सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार के व्यवहार-निश्चयादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय पहिचानता हो; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो कहीं अन्य प्रयोजन सहित व्याख्यान हो उसका अन्य प्रयोजन प्रगट करके विपरीत प्रवृत्ति कराये।....

सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार से निश्चय-व्यवहारादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय भलीभांति जानता हो, वही सच्चा वक्ता हो सकता है।

यह निमित्त का कथन है, यह व्यवहार और भेद का कथन है, यह निश्चय का कथन है – ऐसा पता न हो तो, कहीं अन्य प्रयोजन सहित व्याख्यान हो उसका अन्य प्रयोजन प्रगट करके विपरीत प्रवृत्ति करावे। शास्त्र में, 'कर्म के उदय से विकार होता है' ऐसा कथन आवे, यदि वहाँ प्रयोजन नहीं समझे और निमित्त के कारण ही विकार होना मान ले तो विपरीतता होती है। ऐसे कथन का प्रयोजन तो कर्म के सम्बन्ध का ज्ञान कराना है। उसे नहीं समझने वाला वक्ता होने योग्य नहीं है। शास्त्र के कथन का भाव नहीं समझे तो विपरीतता आये बिना नहीं रहती। ऐसा वक्ता अन्य को सम्यग्ज्ञान में निमित्त नहीं हो सकता।

आगे (निमित्त-उपादान की चिट्ठी में) वक्ता-श्रोता की चोभंगी ली है। उसमें वक्ता अज्ञानी और श्रोता ज्ञानी होता है। वहाँ अज्ञानी वक्ता के पास से सुनना – यह आशय नहीं है। किसीसमय अज्ञानी वक्ता होता है, उसे ज्ञानी भलीभांति समझता है। इसप्रकार जो शास्त्रज्ञान में प्रवीण हो, वही वक्ता होने योग्य है।

यहाँ उपदेशक कैसा होता है ? यह बात चल रही है। कोई कहे कि उपदेशक कैसा भी हो, अपने को तो सुनने से काम है न ? तो यह बात ठीक नहीं है।

वक्ता कैसा होना चाहिये ? इसमें तीन प्रकार आ गये है –

१. प्रथम तो वह जैन श्रद्धान में दृढ़ होना चाहिये।

२. विद्याभ्यास के द्वारा शास्त्र बाँचने योग्य बुद्धि प्रगट हुई हो।

३. सम्यग्ज्ञान से सर्वप्रकार निश्चय-व्यवहार को जानने वाला होना चाहिये। अब चौथी बात करते हैं।

....पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसे जिन-आज्ञा भंग करने का भय बहुत हो; क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो कोई अभिप्राय विचार कर सूत्रविरुद्ध उपदेश देकर जीवों का बुरा करे।....

उसको जिन-आज्ञा भंग करने का बहुत भय होना चाहिये। जो व्यक्ति करोड़पति की पेढ़ी पर बैठा हो वह खानदानी होना चाहिये। उसीप्रकार जिनेश्वर की गद्दी पर बैठा हो, वह यथार्थ ज्ञाता होना चाहिये। वह राग और पर से धर्म नहीं मनवाता। चारों अनुयोगों का प्रयोजन वीतरागता है। अर्थात् स्व की अपेक्षा और पर की उपेक्षा करना, वह प्रयोजन है। जो सूत्र से विरुद्ध उपदेश करके अन्य का बुरा करने में निमित्त होते हैं – ऐसे जीवों को जिन-आज्ञा भंग होने का भय नहीं हैं।

अत: श्रोताओं को प्रथम इस बात का निर्णय करना चाहिये कि किस उपदेशक से सुनना। **....शास्त्र में (उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला में) कहा है –**

बहु गुणविज्जाणिलयोअसुत्तभासी तहावि मुत्तत्वो।
जह वरमणिजुत्तो विहु विग्घयरो विसहरो लोए॥१८॥

"जो पुरुष बहुत क्षमादि गुणों तथा व्याकरणादि विद्या का स्थान है, फिर भी वह उत्सूत्रभाषी है तो छोड़ने योग्य ही है। जैसे उत्कृष्ट मणिसंयुक्त सर्प लोक में विघ्न का ही करने वाला है।"....

व्याकरणादि का ज्ञान होवे, क्षमावान होवे, परन्तु यदि वह जीव शास्त्र से विरुद्ध उपदेश करता होवे तो वह छोड़ने योग्य है। स्वयं ने माना और मनवाया हो उस बात को पकड़कर सच्ची बात ख्याल में आने पर भी पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ता और किसी भी प्रकार से अपने पक्ष की पुष्टि करता है तो वह सच्चा वक्ता नहीं है। ऐसा उपदेशक तो स्वयं सत्य बात सुनने योग्य भी नहीं है, तब फिर वह सुनाने योग्य (वक्ता होने योग्य) हो – ऐसा तो संभव नहीं है। भले ही अपनी आत्मा का अहित हो जाये, परन्तु अज्ञानी बाहर में प्रतिष्ठा के लिये विपरीत अर्थ करता है – ऐसे वक्ता का उपदेश सुनने योग्य नहीं है।

....पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसको शास्त्र बाँचकर आजीविका आदि लौकिक-कार्य साधने की इच्छा न हो; क्योंकि यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता, उसे तो कुछ श्रोताओं के अभिप्राय के अनुसार व्याख्यान करके अपना प्रयोजन साधने का ही

साधन रहे। तथा श्रोताओं से वक्ता का पद उच्च है; परन्तु यदि वक्ता लोभी हो तो वक्ता स्वयं हीन हो जाय और श्रोता उच्च हो।....

जिसे शास्त्र बाँचकर आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने का अभिप्राय हो, मान-सत्कार के लिये अथवा अन्य को अंकुश में रखने के लिये उपदेश देता हो तो वह अज्ञानी, पाप भाव वाला है। जिसकी भावना पैसे वालों के अनुसार कहकर उनकी खुशामद करने की हो, वैसे वक्ता का उपदेश सुनने योग्य नहीं है। ज्ञानी को ऐसी अभिलाषा नहीं होती। तथा जो आशावान होवे वह यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता। श्रोता की अपेक्षा वक्ता का पद ऊँचा होता है, परन्तु यदि वक्ता लोभी होवे तो वह श्रोताओं से नीचा होता है।

....पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसके तीव्र क्रोध-मान नहीं हो; क्योंकि तीव्र क्रोधी-मानी की निन्दा होगी, श्रोता उससे डरते रहेंगे, तब उससे अपना हित कैसे करेंगे ? पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जो स्वयं ही नाना प्रश्न उठाकर स्वयं ही उत्तर दे; अथवा अन्य जीव अनेक प्रकार से बहुत बार प्रश्न करें तो मिष्ट वचन द्वारा जिसप्रकार उनका संदेह दूर हो उसीप्रकार समाधान करे। यदि स्वयं में उत्तर देने की सामर्थ्य न हो तो ऐसा कहे कि इसका मुझे ज्ञान नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रोताओं का संदेह दूर नहीं होगा, तब कल्याण कैसे होगा ? और जिनमत की प्रभावना भी नहीं हो सकेगी।....

वक्ता में तीव्र क्रोध, मानादि नहीं होना चाहिये, क्योंकि लोक में तीव्र क्रोधी-मानी की निन्दा होती है। जिसमें लौकिक सज्जनता भी न होवे, जो तुच्छ प्रकृति वाला होवे – क्रोधी होवे तो ऐसे वक्ता से श्रोता डरते रहते हैं। इसकारण ऐसे वक्ता से श्रोताओं का भला नहीं होता।

स्वयं ही नाना प्रकार के प्रश्न खड़े करके उनका उत्तर दे अथवा अन्य जीव अनेक प्रकार से विचार पूर्वक प्रश्न करे तो मिष्ट वचन द्वारा जैसे उनका संदेह दूर हो वैसे समाधान करे। यदि स्वयं में उत्तर देने की सामर्थ्य न हो तो ऐसा कहे कि – मुझे इसका ज्ञान नहीं है, अत: विशेष ज्ञानी से पूछकर उत्तर दूँगा। अथवा किसी अवसर में तुम्हें कोई विशेष ज्ञानी मिले तो उनसे पूछकर अपना संदेह दूर करना और मुझे भी बतलाना।

धर्म से विरुद्ध क्या है, उसका ख्याल न रखे और अपनी पण्डिताई रखने के लिये जैसा-तैसा जवाब दे दे, तो वह वक्ता के योग्य नहीं है। यदि प्रकरण से विरुद्ध अर्थ का उपदेश करे तो विरुद्ध श्रद्धान होने से श्रोताओं का बुरा होता है।

शास्त्र में बंध का अधिकार चलता हो, वहाँ द्रव्यदृष्टि कराने के लिये "आत्मा शुद्ध

स्वभावी है और वह बंध का कारण है ही नहीं'' – ऐसा बतलाकर, बंधभाव कर्म का है – – ऐसा कहा जाता है। अब यदि उस कथन के भाव को नहीं समझे और विरुद्ध अर्थ करके श्रोताओं को उपदेश देवे कि – कर्म ही राग कराता है, तो ऐसे वक्ता का उपदेश सुनने योग्य नहीं है, क्योंकि उससे संदेह दूर नहीं होता, तो फिर हित तो होगा ही कैसे ? नहीं होगा। ऐसे वक्ता से तो उल्टे जैनधर्म की निन्दा होती है।

....पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसके अनीतिरूप लोकनिंद्य कार्यों की प्रवृत्ति न हो; क्योंकि लोकनिंद्य कार्यों से वह हास्य का स्थान हो जाये, तब उसका वचन कौन प्रमाण करे ? वह जिन धर्म को लजाये। पुनश्च, वक्ता कैसा होना चाहिये कि जिसका कुल हीन न हो, स्वर भंग न हो, मिष्ट वचन हो, प्रभुत्व हो; जिससे लोक में मान्य हो – क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उसे वक्तापने की महंतता शोभे नहीं – ऐसा वक्ता हो। वक्ता में ये गुण तो अवश्य चाहिये।....

तथा जिसके लोकनिंद्य अनीतिरूप कार्यों की प्रवृत्ति न हो – ऐसा वक्ता शोभास्पद है। क्योंकि लोकनिंद्य कार्यों से वह हास्य का पात्र हो जाये तो उसके वचन को प्रमाण कौन करे? वह तो उल्टे जैनधर्म को लजाता है। परस्त्री का लंपटी हो, खोटी रीति से हजारों रुपये पचा लेता हो, लड़की के रुपये लेता हो – ऐसे लोकनिंद्य कार्य करने वाला वक्ता के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उसके वचन कोई नहीं मानता, वह तो जैनधर्म को लजाता है।

जिसका कुल हीन हो, हाथ-पैर आदि अंग भंग हो – ऐसा वक्ता नहीं होता। ज्ञानी वक्ता प्रभुतायुक्त होता है – ऐसा वक्ता लोक में मान्य होता है। ऐसा नहीं होवे तो वक्तापने की महत्ता शोभित नहीं होती। इसप्रकार उपरोक्त गुण तो वक्ता में अवश्य होने चाहिये।

....श्री आत्मानुशासन (काव्य-५ में) में भी कहा है कि –

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥५॥

अर्थ – जो बुद्धिमान हो, जिसने समस्त शास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया हो, लोक मर्यादा जिसके प्रगट हुई हो, आशा जिसके अस्त हो गई हो, कांतिमान हो, उपशमी हो, प्रश्न करने से पहले ही जिसने उत्तर देखा हो, बाहुल्यता से प्रश्नों को सहनेवाला हो, प्रभु हो, परकी तथा पर के द्वारा अपनी निन्दा रहितपने से पर के मन को हरनेवाला हो, गुणनिधान हो, स्पष्ट मिष्ट जिसके वचन हों – ऐसा सभा का नायक धर्म कथा कहे।....

जो बुद्धिमान हो, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जानता हो, लोक मर्यादा जिसके प्रगट हुई हो, उपशमवंत हो, कांतिमान हो, गुणनिधान हो, स्पष्ट-मिष्ट जिसके वचन हों – ऐसा वक्ता उपदेशक होने के योग्य है।

सभा में किसप्रकार बोलना चाहिये – ऐसी लोक मर्यादा को जो जानता है। कोई चंदा-चिट्टा करवाने का लालच न हो। कषाय मंद हो, कैसे भी प्रश्न आवें तो उन्हें सहन करने की शक्ति हो, उसका धैर्य छूटे नहीं, जिसकी जगत में महत्ता हो अर्थात् जो जगत में प्रमाणभूत हो, स्वयं अन्य की निन्दा नहीं करता हो और अपनी निन्दा अन्य कोई न करता हो – ऐसी योग्यता वाला वक्ता होता है। ऐसा सभा का नायक धर्म कथा करने योग्य है।

....पुनश्च, वक्ता का विशेष लक्षण ऐसा है कि यदि उसके व्याकरण-न्यायादिक तथा बड़े-बड़े जैन शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो विशेषरूप से उसको वक्तापना शोभित हो। पुनश्च, ऐसा भी हो; परन्तु अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो वह जिनधर्म का मर्म नहीं जानता, पद्धति ही से वक्ता होता है। अध्यात्मरसमय सच्चे जिनधर्म का स्वरूप उसके द्वारा कैसे प्रगट किया जाये ? इसलिये आत्मज्ञानी हो तो सच्चा वक्तापना होता है, क्योंकि प्रवचनसार में ऐसा कहा है कि – आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान, संयमभाव – यह तीनों आत्मज्ञान से शून्य कार्यकारी नहीं है।....

मुख्य वक्ता तो केवली भगवान हैं। अथवा छठवें गुणस्थान में वर्तते मुनि हैं वे मुख्य वक्ता हैं और गौणरूप से पाँचवें तथा चौथे गुणस्थान वाले भी वक्ता होते हैं।

तथा वक्ता का विशेष लक्षण यह है कि – यदि उसे व्याकरण, न्यायादि व महान शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो वक्तापना विशेष शोभता है। तदुपरान्त अध्यात्म रस द्वारा अपने स्वरूप का यथार्थ अनुभव हुआ होवे तो वह सच्चा वक्ता है। आत्मा पर से और विकार से रहित है, उसका जिसको भान नहीं है वह वक्ता सच्चा नहीं है। मात्र पद्धति बुद्धि से पढ़ना-पढ़ाना होवे तो वह कभी जैनधर्म के मर्म को नहीं जानता। अत: वक्ता आत्मज्ञानी होना चाहिये। अध्यात्म रस जिसमें हो वही सच्चा जैनधर्मी है – ऐसा भी यहाँ सिद्ध किया है। कर्म प्रकृति का ज्ञान हो, वह जैनधर्मी है – ऐसा नहीं कहा है।

जैनधर्म राग रसमय नहीं, किन्तु अध्यात्म रसमय है। सम्यग्दृष्टि को राग आता अवश्य है, पर वह धर्म नहीं है। यदि स्वयं ही अध्यात्म रसमय जैनधर्म को नहीं जानता होवे तो श्रोताओं को सच्चा धर्म प्रगट कराने में निमित्त कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। अत: आत्मज्ञान बिना सच्चा वक्तापन नहीं हो सकता।

''प्रवचनसार'' में भी कहा है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभाव – ये तीनों आत्मज्ञान से शून्य कार्यकारी नहीं हैं।

आगम का ज्ञान हो, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा हो, और पंचमहाव्रत पालता हो; परन्तु शुद्धात्मा के आश्रय बिना ये तीनों भाव आत्मा को कुछ भी लाभदायक नहीं हैं; अर्थात् हितरूप नहीं हैं। आत्मा के ज्ञान बिना वह मिथ्यादृष्टि ही है।

....तथा दोहापाहुड़ में भी कहा है –

पंडिय पंडिय पंडिय कण छोड़ि वि तुस कंडिया।
पय अत्थं तुट्ठोसि परमत्थ ण जाणइ मूढ़ोसि॥

अर्थ – हे पांडे ! हे पांडे !! हे पांडे !!! तू कण को छोड़कर मात्र तुस (भूसी) ही कूट रहा है; तू अर्थ और शब्द में ही सन्तुष्ट है, परन्तु परमार्थ को नहीं जानता; इसलिये मूर्ख है।....

यहाँ तीन बार पांडे-पांडे कहा है, अर्थात् आगमज्ञान वाला पांडे, नवतत्त्व की श्रद्धा वाला पांडे और संयमभाव वाला पांडे – ऐसा अज्ञानी चावल को छोड़कर मात्र छिलका (भूसी) ही कूटता है। वह तो मात्र शब्द में ही सन्तुष्ट हुआ है, परन्तु आत्मा को नहीं जानता। अक्षर म्लेच्छ है। दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि जो नय शून्य है, उसे ''आदिपुराण'' में म्लेच्छ कहा है।

जो पुरुष अज्ञानी है वह हित-अहित को नहीं जानता। उसे तो स्त्री-पुत्रादि संसार है। और जो पण्डित अर्थ व शब्द में सन्तुष्ट है, परन्तु भेद-अभेद, निश्चय-व्यवहार को नहीं जानता, वह मूर्ख है। तत्त्वज्ञान को नहीं जानने वाला पण्डित शास्त्र में रचा-पचा है – इसकारण उसका संसार शास्त्र है। जो समझता है उसके लिये ज्ञान में, शास्त्र निमित्त है, परन्तु जो शास्त्र के परमार्थ को नहीं जानता उसके लिए शास्त्र संसार है। अत: जो ज्ञानी होवे और अध्यात्मरसरूप जैनधर्म को जानता होवे, वही सच्चा वक्ता है। इसप्रकार वक्ता के स्वरूप का निर्णय करके खोटा उपदेश नहीं सुनना बल्कि सच्चे वक्ता का उपदेश सुनना – यह प्रयोजन है।

....तथा चौदह विद्याओं में भी पहले अध्यात्म विद्या प्रधान कही है। इसलिये जो अध्यात्मरस का रसिया वक्ता है, उसे जिनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना। पुनश्च, जो बुद्धि ऋद्धि के धारक हैं तथा अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञान के धनी वक्ता हैं; उन्हें महान वक्ता जानना। – ऐसे वक्ताओं के विशेष गुण जानना।....

चौदह विद्याओं में अध्यात्म विद्या प्रधान है। संसार की वकीलात या डॉक्टरी की विद्या प्रधान नहीं है। जिस विद्या से मुक्ति होवे वही सच्ची विद्या है। संसार की कला तो बंध का कारण

है। अत: चौदह विद्याओं में आत्मा की विद्या को ही प्रधान कहा है। उस अध्यात्म विद्या का रसिक वक्ता हो वह शोभता है। शस्त्र बनाने की विद्या, यंत्र-तंत्र-जंत्र आदि की विद्या तो लौकिक विद्या है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, इसकी दृष्टि पूर्वक जिसको संसार का रस छूटा हो, वह अध्यात्म रस का रसिया है। अपनी ज्ञानपर्याय किसी एक ज्ञेय में लीन हो जावे, उसका नाम रस है।

आत्मा का ज्ञान पर में एकाग्र होवे, वह संसार का रस है और आत्मा में एकाग्र होवे, वह अध्यात्म रस है। अत: अध्यात्म रसिक वक्ता होवे उसे ही धर्म के रहस्य का वक्ता जानना। तथा जो वक्ता बुद्धि-ऋद्धि धारक हो अथवा अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान का धनी हो, उसे महान वक्ता जानना। – ऐसी विशेषतायें होवें तो बहुत ही उत्तम है। इसप्रकार उपदेशक कैसा होता है ? उसके विशेष गुणों की व्याख्या की।

....सो इन विशेष गुणों के धारी वक्ता का संयोग मिले तो बहुत भला है ही, और न मिले तो श्रद्धानादिक गुणों के धारी वक्ताओं के मुख से ही शास्त्र सुनना। इसप्रकार के गुणों के धारक मुनि अथवा श्रावक उनके मुख से तो शास्त्र सुनना योग्य है, और पद्धतिबुद्धि से अथवा शास्त्र सुनने के लोभ से श्रद्धानरदिगुणरहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना उचित नहीं है।....

सो ऐसे वक्ता का योग मिले तो बहुत ही अच्छा है। ऐसे गुणवंत मुनि के पास शास्त्र सुनना योग्य है। अभी जिसे यह भी पता न हो कि किससे सुनना, तो फिर सम्यग्ज्ञान कैसे हो? नहीं होता। अत: सच्चे वक्ता के पास से उपदेश सुनना।

कदाचित् ऐसे महान वक्ता न मिलें तो श्रद्धानादि गुणों के धारक वक्ताओं के मुख से शास्त्र श्रवण करना; परन्तु पद्धति बुद्धि से अर्थात् परम्परा से चली आ रही पद्धति से, अथवा शास्त्र सुनने के लोभ से श्रद्धानादि गुणों से रहित पापी पुरुषों से शास्त्र सुनना योग्य नहीं है।

जैसे कोई भी वस्तु लेने जाते हैं तो जिसके पास वह वस्तु मिलती हो उसकी दुकान पर जाते हैं, परन्तु अन्य के यहाँ जाये तो वह वस्तु मिले नहीं। उसीप्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के पास धर्म सुनने जाना योग्य नहीं है। कहा भी है कि –

....तं जिण आणपरेण य धम्मो सोयव्व सुगुरुपासम्मि।
अह उचिओ सद्धाओ तस्सुवएसस्स कहगाओ ।।

(उपदेश सिद्धांत रत्नमाला-गाथा २३)

''जो जिन आज्ञा मानने में सावधान है, उस जीव को निर्ग्रन्थ गुरु के निकट में ही धर्म

श्रवण करना योग्य है। कदाचित् निर्ग्रन्थ मुनि न मिलें तो उनके ही भाव को जो कहता हो ऐसे श्रावक के मुख से शास्त्र श्रवण करना।....

यथार्थ मुनि के उपदेश को कहने वाला हो और जैनधर्म का श्रद्धालु हो – ऐसे वक्ता का उपदेश सुनने योग्य है। परन्तु मिथ्यादृष्टि हो, शिष्यों का लालची व पैसों का लोभी हो – ऐसे वक्ता का उपदेश सुनना योग्य नहीं है। जो मात्र धर्म उपदेश देने वाला होता है वही अपना और पर का भला करता है। परन्तु जो कषायवश उपदेश देता है वह अपना तो बुरा करता ही है अन्य का बुरा होने में निमित्त भी बनता है। इसप्रकार वक्ता का स्वरूप कहा।

श्रोता का स्वरूप

....अब श्रोता का स्वरूप कहते हैं। यहाँ नवीन प्रारम्भिक श्रोता कैसा होता है, उसकी बात पहले करते हैं।

भली होनहार है इसलिए जिस जीव को ऐसा विचार आता है कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये मेरे भाव होते हैं उनका क्या फल लगेगा ? जीव दुःखी हो रहा है सो दुःख दूर होने का क्या उपाय है ? – मुझको इतनी बातों का निर्णय करके कुछ मेरा हित हो सो करना – ऐसे विचार से उद्यमवन्त हुआ है। पुनश्च, इस कार्य की सिद्धि शास्त्र सुनने से होती है ऐसा जानकर अति प्रीतिपूर्वक शास्त्र सुनता है; कुछ पूछना हो सो पूछता है; तथा गुरुओं के कहे अर्थ को अपने अन्तरङ्ग में बारम्बार विचारता है और अपने विचार से सत्य अर्थों का निश्चय करके जो कर्त्तव्य हो उसका उद्यमी होता है – ऐसा तो नवीन श्रोता का स्वरूप जानना।....

भली होनहार है इसलिये जिस जीव को ऐसा विचार आता है कि – मैं कौन हूँ ? कहाँ से आकर यहाँ जन्म धारा है ? मरकर कहाँ जाऊँगा ? मेरा स्वरूप क्या है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? इत्यादि का जिसने निर्णय किया है। आत्मा अधर से आया है या पूर्व भव में से आया है ? मैं इस कुल में जन्मा हूँ तो कहाँ से आया हूँ ? मैं कौन हूँ ? मरकर कहाँ जाऊँगा अर्थात् यह देह छूटेगी तब मैं कहा जाऊँगा ? – ऐसा विचारवान श्रोता होना चाहिये। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? और यह सब प्रवर्तन क्या हो रहा है ? खाना, पीना, व्यापार-धन्धा करना आदि जो हो रहा है वह क्या है ? मेरे जो ये भाव हो रहे हैं अर्थात् जो ये पापभाव होते हैं; कुटुम्ब, व्यापार, शरीरादि के भाव होते हैं – उनका क्या फल आयेगा ? और यह जीव दुःखी क्यों हो रहा है ? – ऐसे विचार करने वाला योग्य श्रोता है। जिसको दुःख ही नहीं लगता होवे वह योग्य श्रोता नहीं है।

यह दु:ख ऐसा ही रहेगा या अन्य कुछ होगा – ऐसा पहले श्रोता निश्चित करता है। अरे रे ! यह जीव दु:खी हो रहा है। मेरे में शान्ति नहीं दिखती उसका क्या कारण है ? और इस दु:ख के अभाव का क्या उपाय होगा ? मुझे इतनी बातों का निर्णय करके मेरा हित हो वैसा करना – ऐसा विचार पहले मिथ्यादृष्टि करता है। और जो जीव ऐसा विचार करके आत्मा के कल्याण के लिये उद्यमवंत हुआ है वह श्रोता होने योग्य है।

आत्मा का कल्याण शास्त्र सुनने से होता है – ऐसा जानकर श्रोता अति प्रीतिपूर्वक शास्त्र सुनता है, अनमने ढंग से नहीं। जैसे कोई व्यापार की बात करे तो लक्ष्मी का रागी प्रेम से सुनता है, वैसे ही आत्मा की रुचिवाला जीव अत्यन्त प्रेम से शास्त्र सुनता है।

अज्ञानी तो लौकिक अनुकूलता में लीन रहता है। अर्थात् उसे वर्तमान में दु:ख नहीं लगता। ऐसा श्रोता धर्म सुनने लायक नहीं है। यहाँ तो पहले श्रोता यह विचार करता है कि मैं वर्तमान अनुकूलता में भी दु:खी हूँ। अत: वह दु:ख से मुक्त होने के लिये धर्म श्रवण करता है। संसार में बारह महीनों की कमाई का हिसाब निकालने बैठे तो वहाँ उपयोग लगाता है। परन्तु वह सब तो दु:खरूप है – ऐसा जिसने जाना है, वह जीव शास्त्र को प्रेमपूर्वक सुनता है और गुरु के द्वारा कहे गये अर्थ को अपने अन्तर में बारम्बार विचारता है। तथा अपने विचार से सत्य अर्थ का निर्णय करके जो कर्त्तव्य हो उसमें उद्यमी होता है। तथा अपने को समझ में नहीं आने पर गुरु से पूछकर सत्य अर्थ का निश्चय करता है, और जो करने योग्य हो उसमें उद्यमवंत होता है – ऐसा तो नवीन श्रोता होता है।

....पुनश्च, जो जैनधर्म के गाढ़ श्रद्धानी हैं तथा नाना शास्त्र सुनने से जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है तथा व्यवहार-निश्चयादि का स्वरूप भलीभाँति जानकर जिस अर्थ को सुनते हैं, उसे यथावत् निश्चय जानकर अवधारण करते हैं; तथा जब प्रश्न उठता है तब अति विनयवान होकर प्रश्न करते हैं अथवा परस्पर अनेक प्रश्नोत्तर कर वस्तु का निर्णय करते हैं; शास्त्राभ्यास में अति आसक्त हैं; धर्मबुद्धि से निंद्य कार्यों के त्यागी हुए हैं – ऐसे उन शास्त्रों के श्रोता होना चाहिये।....

जो जैनधर्म का दृढ़ श्रद्धालु हो, नाना प्रकार के शास्त्र सुनने से जिसकी बुद्धि निर्मल हुई हो, सम्यग्ज्ञान द्वारा निश्चय-व्यवहार को भली-भांति जानता हो, वह धर्म का श्रोता है। उपादान-निमित्त आदि का स्वरूप भली-भाँति जानकर सुने हुए अर्थ को निर्णय करता हैं। अपने को प्रश्न उत्पन्न होने पर अति विनयवान होकर प्रश्न करता है अथवा अन्य श्रोताओं के साथ परस्पर चर्चा करके निर्णय करता है। धर्म बुद्धि से निंद्य कार्यों का त्यागी हुआ है – ऐसा जीव

शास्त्र का श्रोता होना चाहिये। जो लौकिक में भी न शोभे – ऐसा कार्य करता हो, वह श्रोता होने के योग्य नहीं है, तो ऐसा जीव कभी वक्ता तो हो ही नहीं सकता। कषाय के कार्य नहीं करे, सज्जन मनुष्य होवे तो वह कहता है कि – अपने को ऐसे निंद्य कार्य नहीं शोभते। परस्पर झगड़ा करना, गाली देना, मारामारी करना – ये सब लौकिक निंद्य कार्य हैं जो सज्जन मनुष्य को शोभा नहीं देते।

बाहर से त्यागी हुआ हो, वैराग्य न हो, परन्तु लौकिक सज्जनता का ठिकाना न हो, अभिमान करता हो तो वह धर्म के प्रति रुचिवंत नहीं है। ऐसा जीव जैन शास्त्र का श्रोता नहीं हो सकता। इसप्रकार श्रोता के मुख्य लक्षण कहे। अब उसके विशेष गुणों की बात करते हैं।

....श्रोताओं के विशेष लक्षण ऐसे हैं – यदि उसे कुछ व्याकरण-न्यायादिक का तथा बड़े जैनशास्त्रों का ज्ञान हो तो श्रोतापना विशेष शोभा देता है। तथा ऐसा भी श्रोता हो, किन्तु उसे आत्मज्ञान न हुआ हो तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सके; इसलिये जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूप का आस्वादी हुआ है, वह जिनधर्म के रहस्य का श्रोता है। तथा जो अतिशयवन्त बुद्धि से अथवा अवधि-मन:पर्यय से संयुक्त हो तो उसे महान श्रोता जानना। ऐसे श्रोताओं के विशेष गुण हैं। ऐसे जिनशास्त्रों के श्रोता होना चाहिये।....

जिसको व्याकरण, न्यायादि अथवा महान जैन शास्त्रों का ज्ञान होवे तो श्रोतापना विशेष शोभता है। व्याकरण आदि का ज्ञान होवे तो शास्त्र के अर्थ विशेष रूप से जान सकता है। जिससे श्रोतापना विशेष शोभता है। परन्तु ऐसा होने पर भी आत्मज्ञान न होवे तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सकता। अत: जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूप का आस्वादी हुआ है, वह जैनधर्म के रहस्य का श्रोता है। तथा अतिशय उत्कृष्ट श्रोता ऐसा होता है कि – अतिशय बुद्धि द्वारा अथवा अवधि-मन:पर्यय ज्ञान से संयुक्त हो, वह महान श्रोता है। केवली तो श्रोता हैं नहीं, गणधर पद तक श्रोतापना होता है। जिन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ हो उन्हें सुनना शेष नहीं रहता।

इसप्रकार श्रोता के विशेष गुण कहे।

....पुनश्च, शास्त्र सुनने से हमारा भला होगा – ऐसी बुद्धि से जो शास्त्र सुनते हैं, परन्तु ज्ञान की मंदता से विशेष समझ नहीं पाते उनको पुण्यबन्ध होता है; विशेष कार्य सिद्ध नहीं होता। तथा जो कुल प्रवृत्ति से अथवा पद्धति बुद्धि से अथवा सहज योग बनने से शास्त्र सुनते हैं, अथवा सुनते तो हैं परन्तु कुछ अवधारण नहीं करते; उनके परिणाम अनुसार कदाचित् पुण्यबन्ध होता है, कदाचित् पापबन्ध होता है। तथा जो मद-मत्सर भाव से शास्त्र सुनते हैं अथवा तर्क करने का ही जिनका अभिप्राय है, तथा जो महंतता के हेतु अथवा किसी लोभादिक प्रयोजन के हेतु से शास्त्र

सुनते हैं, तथा जो शास्त्र तो सुनते हैं परन्तु सुहाता नहीं है – ऐसे श्रोताओं को केवल पापबन्ध ही होता है।....

शास्त्र सुनने से हमारा भला होगा – ऐसी बुद्धि से जो शास्त्र तो सुनता है, परन्तु ज्ञान की मंदता से विशेष नहीं समझता; उसे पुण्य बंध होता है। विशेष कार्य सिद्ध नहीं होता स्वयं समझने का पुरुषार्थ न करे तो उसे कोई समझ दे दे – ऐसा नहीं है। आत्मा का विशेष कार्य जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह इसके नहीं होता।

तथा कुल प्रवृत्ति से अथवा सहजयोग बन जाने पर कोई जीव शास्त्र को सुनता है, परन्तु स्वयं अवधारण नहीं करता तो उसे उसके परिणाम अनुसार किसी समय पुण्य तो किसी समय पाप बंध होता है। हमारे कुल की परिपाटी है इसलिये शास्त्र सुनने जाना पड़ता है, वहाँ शुभभाव करे तो पुण्य बंध और अशुभभाव करे तो पाप बंध होता है।

सच्चे शास्त्र को सुनता है, परन्तु शास्त्र क्या कहते हैं, इसका निर्णय नहीं करता; इसलिये वह जीव जैसे भाव करे तदनुसार पुण्य अथवा पाप बंध होता है। अपने मित्र जाते हैं, अथवा पर्व के दिन हैं इसलिये अपने को भी जाना चाहिये अथवा कुल परम्परा से सुनने जाये, तो उसे सुनने का कुछ लाभ नहीं होता। गाँव में सुनाने वाले आ गये हैं तो चलो, अपने को अन्य कुछ काम नहीं है इसलिये सुनने चलें – ऐसी बुद्धि से सुनने वाले को धर्म नहीं होता।

तथा जो मद-मत्सर भाव पूर्वक शास्त्र सुनता है अर्थात् जिसकी प्रकृत्ति सत्ताप्रिय हो और बाहर की बुद्धि का अभिमान हो, वह मद से सुनता है – इसकारण ऐसी बुद्धि से तो उसे अकेला पाप बंध ही होता है।

जो जीव मत्सरभाव से सुनते हैं, उनका अभिप्राय वाद और तर्क करने का ही होता है। अथवा वे महंतता या लोभादिक के प्रयोजन से शास्त्र सुनते हैं। तथा सुनते तो हैं, परन्तु वह सुहाता नहीं – ऐसे श्रोताओं को केवल पाप बंध ही होता है।

अच्छे श्रोता कैसे होते हैं – यह बात आ गई। अब जो मद-मत्सर भावपूर्वक अथवा वाद करने अथवा सुनकर मात्र तर्क करने के लिये सुनते हैं, वे सच्चे श्रोता नहीं हैं। उन्हें धर्म तो होता ही नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं होता; उन्हें तो एकान्त पाप ही होता है। कोई महंतता अथवा लोभादिक के प्रयोजन से सुनता है, उसे भी केवल पाप ही होता है।

कोई शास्त्र तो सुने, परन्तु उपदेश सुहाता नहीं – रुचता नहीं; उसे "हमारी बात उड़ जाती है, इसमें हमारा कुछ नहीं रहता, हमारा सब मान खण्डित हो जाता है" – ऐसे अभिमान

के कारण केवल पाप बँधता है। सुनने के साथ-साथ सीखना-सिखाना आदि भी समझ लेना। अपने मान के लिये सुने, सिखावे, लिखे-लिखावे तो ऐसे अभिप्राय वाला जीव केवल पाप ही बाँधता है। इसप्रकार श्रोता का स्वरूप समझना।

इसप्रकार शास्त्र का तथा वक्ता-श्रोता का स्वरूप कहा गया। वहाँ उचित शास्त्र को उचित वक्ता होकर बाँचना तथा उचित श्रोता होकर सुनना योग्य है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप – यथार्थ वीतरागभाव दर्शावे, ऐसे उचित शास्त्र को उचित वक्ता के पास से उचित श्रोता होकर सुनना योग्य है।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता

अब मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता बतलाते हैं –

....इस संसार अटवी में समस्त जीव हैं वे कर्मनिमित्त से उत्पन्न जो नाना प्रकार के दु:ख उनसे पीड़ित हो रहे हैं; तथा वहाँ मिथ्या-अंधकार व्याप्त हो रहा है, उस कारण वहाँ से मुक्त होने का मार्ग नहीं पाते, तड़प-तड़पकर वहाँ ही दु:ख को सहते हैं।....

संसाररूपी अटवी में सभी जीव कर्म के निमित्त से अर्थात् अपने नैमित्तिक अपराध से उत्पन्न अनेक प्रकार के दु:खों से पीड़ित हो रहे हैं। पुण्य के फल को भोगने का भाव भी दु:ख है। पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ भाव आदि दु:ख हैं। इनसे संसारी जीव दु:खी हो रहे हैं और छूटने का उपाय नहीं पा रहे हैं; परन्तु तड़फ-तड़फ कर वहाँ ही दु:ख सहन करते हैं।

....ऐसे जीवों का भला होने के कारणभूत तीर्थंकर केवली भगवानरूपी सूर्य का उदय हुआ; उनकी दिव्यध्वनिरूपी किरणों द्वारा वहाँ से मुक्त होने का मार्ग प्रकाशित किया। जिस प्रकार सूर्य को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं मार्ग प्रकाशित करूँ, परन्तु सहज ही उसकी किरणें फैलती हैं, उनके द्वारा मार्ग का प्रकाशन होता है; उसीप्रकार केवली वीतराग हैं, इसलिये उनके ऐसी इच्छा नहीं है कि हम मोक्षमार्ग प्रगट करें, परन्तु सहज ही वैसे ही अघातिकर्मों के उदय से उनका शरीररूप पुद्गल दिव्यध्वनिरूप परिणमित होता है, उसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता है।

पुनश्च, गणधर देवों को यह विचार आया कि जब केवलीसूर्य का अस्तपना होगा तब जीव मोक्षमार्ग को कैसे प्राप्त करेंगे ? और मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना जीव दु:ख सहेंगे; ऐसी करुणाबुद्धि से अंगप्रकीर्णकादिरूप ग्रन्थ वे ही हुए महान् दीपक उनका उद्योत किया।

पुनश्च, जिसप्रकार दीपक से दीपक जलाने से दीपकों की परम्परा प्रवर्तती है उसीप्रकार

किन्हीं आचार्योंदिकों ने उन ग्रन्थों से अन्य ग्रन्थ बनाये और फिर उन पर से किन्हीं ने अन्य ग्रन्थ बनाये। इसप्रकार ग्रन्थ होने से ग्रन्थों की परम्परा प्रवर्तती है। मैं भी पूर्व ग्रन्थों से यह ग्रन्थ बनाता हूँ।....

भगवान जैसे महान वक्ता मिले – साक्षात भगवान के पास सुना, परन्तु कहीं सुख नहीं मिला। यह जीव चैतन्य स्वभाव के भानरूप संवर-निर्जरा के बिना दु:खी ही हो रहा है। अज्ञान अंधकार से दु:खी हो रहा है। भगवान का उदय तो जगत में दु:ख का नाश करने के लिये है। जैसे जगत में सूर्य का उदय अंधकार के नाश के लिये है; वैसे ही भगवानरूपी सूर्य का उदय वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप प्रकाश द्वारा जगत के दु:ख के नाश के लिये है। आत्मा एक समय में पूर्णानन्द स्वरूप है – ऐसे आत्मा का प्रकाश करने के लिये भगवानरूपी सूर्य का उदय है।

प्रश्न – भगवान के निमित्त से तो चारों गतियाँ खुल गई न ?

उत्तर – नहीं, भगवान उसमें निमित्त नहीं हैं, भगवान तो केवल वीतराग मार्ग के ही निमित्त है। वस्तुत: भगवान तो स्वयं के लिये हुए हैं, जगत के जीवों के लिये नहीं। यहाँ वक्ता-श्रोता की संधि कहनी है, इसलिये भगवान जगत के अज्ञान अंधकार का – जगत के दु:ख का नाश करने में निमित्त हैं – ऐसा कहा है कि – ऐसे दु:खी जीवों के कल्याण के लिये तीर्थङ्कर भगवानरूपी सूर्य का उदय हुआ।

भगवान ऋषभदेव के होने के पूर्व अट्ठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक भरतक्षेत्र में भोगभूमि थी। यहाँ के जीव मरकर स्वर्ग जाते – ऐसी एक ही गति थी। उससमय यहाँ से कोई नरक-निगोद नहीं जाता था। परन्तु जहाँ भगवान ऋषभदेव हुए कि चारों गतियों में जाने की योग्यता वाले जीव भी हो गये। परन्तु भगवान नरक-निगोद जाने में निमित्त नहीं हैं, वे तो एकमात्र वीतरागी मोक्षमार्ग में ही निमित्त है।

व्यवहार से निश्चय होता है, राग से वीतरागता होती है – ऐसा बतलाने के लिये भगवान का अवतार नहीं हुआ।

प्रश्न – हमें तो पुण्य को पुण्य मानना है ?

उत्तर – जिसने पुण्य से लाभ होता है, धर्म होता है – ऐसा माना उसने पुण्य को माना ही नहीं है। परन्तु पुण्य विकार-आस्रव है, वह संवर-निर्जरा नहीं है। इसप्रकार आस्रव को और संवर-निर्जरा को यथार्थ जाने, उसी ने पुण्य को सही प्रकार से जाना कहलाता है।

भगवान की दिव्यध्वनिरूपी किरणों के द्वारा मुक्त होने का उपाय प्रकाशित हुआ। जीव मुक्त हो और बंधे नहीं – इसके लिये भगवान का उपदेश है। जैन शासन मुक्त होने का मार्ग ही बतलाता है। गोम्मटसार आदि ग्रन्थ भी मुक्त होने का ही मार्ग बतलाते हैं। उनमें भी जीव की पर्याय में विकार व कर्म निमित्त कैसा होता है ? उसका अभाव किसप्रकार होवे ? – यह बतलाकर मुक्त होने का ही उपाय बतलाया है।

भगवान केवली के इच्छा नहीं है कि मैं मार्ग प्रकाशूँ। जिसप्रकार मृदंग के इच्छा नहीं है कि मैं आवाज निकालूँ, पर मृदंग पर थाप पड़ते ही आवाज निकलती है। उसीप्रकार भगवान के इच्छा नहीं है, पर पूर्व की शरीर नाम प्रकृति – भाषा नाम प्रकृति के निमित्त से सहज दिव्यध्वनि छूटती है। उसके निमित्त से सहज मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता है। उसे सुनकर गणधरदेव को विचार आया कि केवली सूर्य के अस्त होने पर जीव मोक्षमार्ग को किसप्रकार प्राप्त करेंगे और मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना दु:खी होंगे ? – ऐसी करुणा बुद्धि से उन्होंने अंग-प्रकीर्णक आदि महान दीपक किये और उन्हीं दीपकों से अन्य दीपकों की परम्परा चलती है। गणधर द्वारा किये गये (अंग-प्रकीर्णकरूप) दीपकों से अन्य आचार्यों ने शास्त्ररूपी दीपक किये, आचार्यों के अनुसार अन्य आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना की। मैं भी उस अनुसार इस ग्रन्थ को बनाता हूँ।

....पुनश्च, जिस प्रकार सूर्य तथा सर्व दीपक हैं वे मार्ग को एकरूप ही प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार दिव्यध्वनि तथा सर्व ग्रन्थ हैं वे मोक्षमार्ग को एकरूप ही प्रकाशित करते हैं; सो यह भी ग्रन्थ मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है। तथा जिसप्रकार प्रकाशित करने पर भी जो नेत्र रहित अथवा नेत्र विकार सहित पुरुष हैं उनको मार्ग नहीं सूझता, तो दीपक के तो मार्गप्रकाशकपने का अभाव हुआ नहीं है; उसीप्रकार प्रगट करने पर भी जो मनज्ञान रहित हैं अथवा मिथ्यात्वादि विकार सहित हैं उन्हें मोक्षमार्ग नहीं सूझता, तो ग्रंथ के तो मोक्षमार्गप्रकाशकपने का अभाव हुआ नहीं है।

इसप्रकार इस ग्रंथ का मोक्षमार्गप्रकाशक ऐसा नाम सार्थक जानना।....

जैसे सूर्य और सब दीपक मिलकर मार्ग को एक ही रूप प्रकाशते हैं, वैसे ही भगवान की वाणी तथा सभी आचार्य द्वारा रचित शास्त्र एक ही प्रकार से मोक्षमार्ग को प्रकाशते हैं। इसीप्रकार यह ग्रन्थ भी एक ही प्रकार से मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है।

यहाँ तो मोक्षमार्ग एक ही प्रकार है – ऐसा कहते हैं। व्यवहार (राग) मोक्षमार्ग है ही नहीं, निश्चय (वीतरागभाव) एक ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग दो हैं ही नहीं। एक वीतरागभाव

ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभभाव मोक्षमार्ग है ही नहीं – ऐसा भगवान की वाणी में आया है। यह शास्त्र भी एक निश्चय मोक्षमार्ग का प्रकाश करता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य आदि ने वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक ही मोक्षमार्ग है – ऐसा कहा है।

जैसे अंधे को (आंख में फूला वाले को) प्रकाश होने पर भी मार्ग नहीं सूझता। इससे दीपक के मार्ग को प्रकट करने के स्वभाव का अभाव नहीं हुआ। वैसे ही वीतराग की वाणी में मोक्षमार्ग प्रगट करने पर भी जो मनुष्य ज्ञान रहित, विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान व विपरीत आग्रह सहित हैं; यथार्थ बात आवे वहाँ कहते हैं कि 'अकेले निश्चय की बात करते हैं, व्यवहार की बात तो कहते ही नहीं' – ऐसे विपरीत आग्रह के कारण उन्हें मोक्षमार्ग नहीं सूझता। परन्तु इससे भगवान की वाणी का व वीतरागी ग्रन्थों का मोक्षमार्ग को प्रगट करने के स्वभाव का अभाव नहीं होता। इसप्रकार इस ग्रन्थ का ''मोक्षमार्गप्रकाशक'' यह नाम सार्थक जानना।

कितने ही लोग 'यह ग्रन्थ दिगम्बर तेरापंथी श्रावक का बनाया हुआ है' यह कहकर इस ग्रंथ को नहीं मानते, कारण कि उनके द्वारा माने गये पद्मावती आदि देव-देवियों की पूजन का इसमें निषेध किया है; जो उन्हें नहीं रुचता। परन्तु वास्तव में यह शास्त्र तो यथार्थ वीतरागी मोक्षमार्ग का प्रकाशक है।

....प्रश्न – मोक्षमार्ग के प्रकाशक ग्रन्थ तो पूर्व में भी थे, तुम नया क्यों बनाते हो ?

समाधान – जिस प्रकार बड़े दीपकों का तो उद्योत बहुत तेलादिक के साधन से रहता है, जिनके बहुत तेलादिक की शक्ति न हो उनको छोटा दीपक जला दें तो वे उसका साधन रखकर उसके उद्योत से अपना कार्य करें; उसीप्रकार बड़े ग्रन्थों का तो प्रकाश बहुत ज्ञानादिक के साधन से रहता है, जिनके बहुत ज्ञानादिक की शक्ति नहीं है उनको छोटा ग्रन्थ बना दें तो वे उसका साधन रखकर उसके प्रकाश से अपना कार्य करें; इसलिये यह छोटा सुगम ग्रन्थ बनाते हैं।

पुनश्च, यहाँ जो मैं यह ग्रन्थ बनाता हूँ सो कषायों से अपना मान बढ़ाने के लिये अथवा लोभ साधने के लिये अथवा यश प्राप्त करने के लिये अथवा अपनी पद्धति रखने के लिये नहीं बनाता हूँ। जिनको व्याकरण – न्यायादिका, नय-प्रमाणादिक का तथा विशेष अर्थों का ज्ञान नही है उनके इस कारण बड़े ग्रन्थों का अभ्यास तो बन नहीं सकता; तथा किन्हीं छोटे ग्रन्थों का अभ्यास बने तो भी यथार्थ अर्थ भासित नहीं होता। – इसप्रकार इस समय में मंदज्ञानवान् जीव बहुत दिखायी देते हैं, उनका भला होने के हेतु धर्मबुद्धि से यह भाषामय ग्रन्थ बनाता हूँ।....

जैसे बड़े दीपक के लिये बहुत तेल चाहिये, उसीप्रकार महान शास्त्रों को समझने के

लिये बहुत ज्ञान चाहिये। परन्तु जिनकी वैसी बुद्धि नहीं हो उनके लिये छोटे दीपक की भांति लघु ग्रन्थ बनाकर देते हैं। जैसे छोटे दीपक में तेल आदि साधन थोड़ा होवे तो भी उसका काम चल जाता है; वैसे ही जिसके बुद्धि आदि साधन थोड़ा हो उसके लिये छोटा ग्रन्थ बनाते हैं, उसके निमित्त से उसे यथार्थ मोक्षमार्ग समझना सुगम पड़ता है।

ऐसे सरल ग्रन्थ को कौन नहीं समझेगा ? इसे समझने के लिये कोई संस्कृत व्याकरण आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस लघु ग्रन्थ में भी हमने केवल एक वीतराग मोक्षमार्ग का ही प्रकाश किया है।

यह ग्रन्थ पूर्वरचित ग्रन्थों के ही अनुसार है। यह ग्रन्थ लघुकाय और सुगम है। तथा यह ग्रन्थ मैं अपने मान पोषण के लिये अथवा लोक में अपनी प्रसिद्धि के लिये नहीं रचता हूँ, परन्तु जिनको विशेष व्याकरण, न्याय आदि का ज्ञान नहीं है, विशेष अर्थों का ज्ञान नहीं है – ऐसे मंदबुद्धि वाले जीवों के लिये यह ग्रन्थ बनाता हूँ। जिसे नय-प्रमाणादिक का विशेष ज्ञान नहीं होता वह महान् ग्रंथों का अभ्यास नहीं कर सकता तथा उसे छोटे ग्रन्थों का अभ्यास करने पर भी यथार्थ अर्थ भासित नहीं होता। इस समय ऐसे मंदबुद्धि वाले जीव बहुत हैं – उनके कल्याण के लिये मैं इस ग्रंथ की रचना करता हूँ।

इस ग्रन्थ में कुदेवादिक के निषेधरूप पाँचवाँ अधिकार है, वह तो जैन के सिवाय अन्य को खटकता है; परन्तु दिगम्बर नाम धराकर बीसपंथी जो धरणेन्द्र-पद्मावती की मान्यता करते हैं, उनका भी इसमें निषेध किया है – इसकारण उन्हें भी खटकता है। वे लोग भी इस ग्रन्थ को नहीं मानते। अज्ञानी गृहीत मिथ्यादृष्टि को संसार की पापवासना होती है। वे तो "कुदेव को लौकिक रूप में मानने में मिथ्यात्व नहीं" – ऐसा मानते हैं। अर्थात् जैसे लौकिक व्यवहार में राजा आदि का सत्कार करते हैं; उसीप्रकार हम लौकिक कार्यों के लिये कुदेवादि को पूजते हैं तो क्या बाधा है ? परन्तु यह बात ही सत्य नहीं है; क्योंकि राजा, सेठ आदि का सत्कार करने में और देवादिक में पूज्यभाव होने में अन्तर है, इसमें तो गृहीत मिथ्यात्व होता है; जबकि राजादि के सत्कार में तो अस्थिरता का राग है।

इस मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना के संदर्भ में दो कारण दिये हैं –

१. व्याकरणादि के अभ्यास बिना महान ग्रन्थों का अभ्यास नहीं बनता।
२. नाना ग्रन्थों का अभ्यास करने पर भी मन्दबुद्धि से उनका अर्थ भासित नहीं होता। शास्त्र में क्या कहा है, उसका यथार्थ भाव भासित नहीं होता। उपादान-निमित्त के भाव का पता नहीं होने से विपरीत अर्थ किये बिना नहीं रहता।

शास्त्र में किस अपेक्षा से कथन किया है ? यह निमित्त का कथन है या यह यथार्थ कारण बताया है – इसका उचित अर्थ क्या है ? यह भासित नहीं होता। अभी तो अल्प बुद्धि वाले जीव बहुत दिखते हैं इस कारण यह ग्रन्थ बनाने का भाव हुआ है।

....पुनश्च, जिस प्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि क प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ी को अमृत-पान कराये और वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।....

जैसे किसी महान गरीब मनुष्य को अवलोकन मात्र चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होने पर भी वह उसके सन्मुख देखे तक नहीं तो उसके जैसा अभागा कौन होगा ? कोई गरीब मनुष्य से कहे कि अरे भाई ! अभी इस चिन्तामणि की ओर देख तो सही ! परन्तु वह उसके सामने नहीं देखता। तथा कोढ़ी को अमृतपान करावे किन्तु वह न करे – ये दो दृष्टान्त दिये हैं। इसी प्रकार आत्मा को कर्म के निमित्त से रोग है। जो संसार में पीड़ित है, दुःखी है – ऐसे जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने, फिर भी वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा कौन कर सकता है ? ऐसा ग्रन्थ मिलने पर भी अभ्यास न करे तो ऐसे विपरीत मनुष्य के अभाग्य की महिमा कौन कर सकता है ? अपने को तो उसके भवितव्य का ही विचार करके समता आती है।

मोक्षमार्ग के सुगम उपदेश का निमित्त मिलने पर भी अभी उसकी रुचि नहीं करे – ज्ञान नहीं करे तो उसकी अपात्रता का वर्णन कौन कर सकता है ? अर्थात् उसका भवितव्य ही ऐसा है – ऐसा विचार करके अपने को समता आती है। कहा भी है –

.... साहीणे गुरु जोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अहसुदृडा भवभवविहुणा॥

(उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला-गाथा ९३)

अहो ! स्वाधीन उपदेश दाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्म वचनों को नहीं सुनते वे धीठ हैं और उनका दुष्ट चित्त है।....

अहो ! इस काल में भी स्वाधीन आत्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है – ऐसा कहने वाले गुरु मिलें और उपदेश सुनने के लिये फुरसत न निकाले, वह जीव दुष्ट है, मूर्ख है और जिस संसार भय से तीर्थङ्करादि महापुरुष डरे... अहो ! इस संसार में चारों गतियों में दुःख

से पीड़ितपना है, कहीं शरण नहीं है, कहीं भी आत्मा को शान्ति नहीं है – ऐसा विचारकर गणधर, आचार्यादि भी डरे हैं। युवा पुरुष होवे, पुण्यशाली दिखता होवे, उसका मुर्दा श्मशान में जलता होवे – उसे देखकर किसी को क्षणिक वैराग्य होता है; वैसे वैराग्य की यहाँ बात नहीं है। परन्तु चारों गतियाँ दु:खरूप हैं, स्वर्ग का भव होवे, बाहर में अनुकूल संयोग होंवे – वे भी दु:ख ही हैं – इसप्रकार अनन्त तीर्थङ्कर संसार से डरकर स्वभाव का साधन करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। चक्रवर्ती जैसी सम्पदा थी, फिर भी उसके लक्ष्य से अकेला दु:ख है – ऐसा जानकर त्यागी हुए; परन्तु अज्ञानी को संसार का भय नहीं होता।

छह खण्ड का वैभव होवे, छियानवे हजार अप्सरा जैसी सुन्दर रानियाँ होवे; वे सब तो पर हैं; परन्तु मेरे आत्मा ने आत्मा की संभाल छोड़कर पर की संभाल की – ऐसे संसार से चक्रवर्ती-बलदेवादि डरे। सिंह का कान पकड़े तो उसके छक्के छूट जायें – ऐसा वासुदेव के शरीर का बल था, किन्तु वे भी संसार से डरे; परन्तु यह जीव संसार से नहीं डरता। अत: यह महासुभट है। भट का पुत्र है अर्थात् भटवीर है। तीर्थङ्कर डरे किन्तु यह नहीं डरता, अत: बड़ा भटवीर है। जिस संसार से महान शक्ति के स्वामी तीर्थङ्कर डरे, उस संसार से जिसको भय नहीं है, वह महा सुभट है।

....पुनश्च, प्रवचनसार में भी मोक्षमार्ग का अधिकार किया है, वहाँ प्रथम आगमज्ञान ही उपादेय कहा है। सो इस जीव का तो मुख्य कर्त्तव्य आगमज्ञान है। उसके होने से तत्त्वों का श्रद्धान होता है, तत्त्वों का श्रद्धान होने से संयमभाव होता है, और उस आगम से आत्मज्ञान की ही प्राप्ति होती है; तब सहज ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुनश्च, धर्म के अनेक अङ्ग हैं उनमें एक ध्यान बिना उससे ऊँचा और धर्म का अंग नहीं है; इसलिये जिस-तिस प्रकार आगम-अभ्यास करना योग्य है।

पुनश्च, इस ग्रन्थ का तो बाँचना, सुनना, विचारना बहुत सुगम है – कोई व्याकरणादिक का भी साधन नहीं चाहिये; इसलिये अवश्य इसके अभ्यास में प्रवर्तो। तुम्हारा कल्याण होगा।....

"प्रवचनसार" में जहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार है, वहाँ भी प्रथम आगमज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है – ऐसा कहा है। अत: इस जीव का मुख्य काम तो आगमज्ञान करना ही है; क्योंकि उससे तत्त्व की श्रद्धा होती है। प्रथम आगमज्ञान करना – ऐसा इस शास्त्र में कहा है, परन्तु पहले क्रिया करने जैसी है – ऐसी कहीं नहीं कहा है। अत: इस जीव का मुख्य कार्य तो आगमज्ञान करना है। यहाँ आगमज्ञान होने पर तत्त्वश्रद्धान होता है और तत्त्वों का श्रद्धान होने पर संयमभाव

होता है और उससे आत्मज्ञान भी प्राप्त होता है; जिससे सहज मोक्ष होता है। जिसको आत्मज्ञान होता है उसके आगमज्ञान निमित्त कहलाता है; परन्तु सबको आत्मज्ञान होता है – ऐसा नियम नहीं है। इसलिये आत्मज्ञान भी होता है – ऐसा कहा है। परन्तु किसी को आगमज्ञान बिना आत्मज्ञान होवे – ऐसा नहीं बन सकता। आत्मज्ञान होने पर सहज मोक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें भी एक ध्यान सिवाय स्वाध्याय की अपेक्षा अन्य एक भी अंग ऊँचा नहीं है। अत: आगम का अभ्यास करना योग्य है। तथा इस ग्रन्थ का तो बाँचना, सुनना और विचारना बहुत सुगम है।

यहाँ आगमज्ञान करने से तत्त्वार्थश्रद्धान होता है – ऐसा कहा है, कोई इसका विपरीत अर्थ करता है कि ज्ञानी की देशना बिना भी सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ देशनालब्धि की बात नहीं है, परन्तु प्रथम आगमज्ञान होता है – ऐसा कहना हैं। जो इस बात को नहीं समझते, ऐसे त्यागी और पण्डित, मुनि तथा आचार्यों की भी भूल निकालते हैं। तथा बहुत लोग इसप्रकार कहते हैं कि दूसरे मुनियों ने आचार्य की गाथा के अनुसार टीका नहीं की है। इसप्रकार स्वयं इस बात को नहीं समझते – ऐसा नहीं मानकर आचार्यों की भूल निकालते हैं।

आचार्यदेव ने गाथा में अस्ति से कथन किया होवे तो उस बात को समझाने के लिये अन्य आचार्य नास्ति से उसकी टीका करके समझाते हैं। अत: टीका गाथा से अलग प्रकार की कर दी है – ऐसा नहीं है। गाथा में निश्चय की बात की होवे और टीका में पर्याय से (व्यवहार से) समझावे तो इसमें टीका में कोई दोष नहीं है; फिर भी अज्ञानीजन महासंत मुनियों की और आचार्य भगवंतों की भूल निकालते हैं। वे लोग उसका अर्थ नहीं समझते। अत: इस सुगम ग्रन्थ का अभ्यास करना कार्यकारी है। इस ग्रन्थ का अभ्यास करने के लिये किसी व्याकरणादि की भी आवश्यकता नहीं है। अत: इस ग्रन्थ का अभ्यास अवश्य करना, जिससे आत्मा का कल्याण होगा।

इसप्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित
मोक्षमार्गप्रकाशक के पहले 'पीठबंध प्ररूपण' अधिकार पर
दिनांक २९ -९-५२ से १३ -१०-५२ एवं २७ -४-५४ से १६ -८-५४ तक हुए
आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

दूसरा अधिकार
संसार अवस्था का स्वरूप

प्रथम समझाते हैं कि तुझे संसार है या मोक्षमार्ग है ? मोक्षमार्ग प्रगटरूप हो तब तो समझाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु मोक्षमार्ग प्रगट नहीं है। पर्याय में संसार दशा है। यहाँ उस अवस्था का निरूपण करते हैं। अनादि से (जीव को) कर्मबंधन का रोग लग रहा है, उसका निदान करते हैं कि तुझे कर्मबंधन हुआ है उसका कारण क्या है ?

सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हैं –

दोहा

मिथ्याभाव अभावतैं, जो प्रगटै निजभाव।
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव॥

आत्मा के वर्तमान में सुखरूप दशा नहीं है परन्तु मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र भाव है। उनका अभाव होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव प्रगटे वह निजभाव है। मिथ्याभाव का व्यय होकर मोक्षमार्ग का उत्पाद होता है और आत्मा कायम (ध्रुव) रहता है। मोक्षमार्ग जयवंत रहो। वह अभी है और सदा जयवंत रहो। मोक्ष के कारणरूप मोक्षमार्ग जयवंत रहो – ऐसा कहा है। यही मोक्ष का उपाय है।

पहले अधिकार में ग्रन्थ की प्रामाणिकता और सार्थकता बतलाई, उसके लिये मंगलाचरण आदि किया तथा अरहन्त को नमस्कार क्यों किया – यह बतलाकर पीठिका लिखी थी। अब इस ग्रन्थ में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं। शब्द-शब्द में सत् का निरूपण होगा, असत् का निषेध होगा। (यह ग्रन्थ) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रकाशक है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निषेधक है।

....अब इस शास्त्र में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं। वहाँ बन्धन से छूटने का नाम मोक्ष है। इस आत्मा को कर्म का बन्धन है और उस बन्धन से आत्मा दु:खी हो रहा है, तथा इसके दु:ख दूर करने ही का निरन्तर उपाय भी रहता है; परन्तु सच्चा उपाय प्राप्त किये बिना दु:ख दूर नहीं होता और दु:ख सहा भी नहीं जाता; इसलिये यह जीव व्याकुल हो रहा है।....

वहाँ बंधन से छूटने का नाम मोक्ष है। इस आत्मा को कर्मबंधन है, उससे यह दु:खी

हो रहा है। अबंध-स्वभाव के आश्रय से सुखी हुआ जाता है और कर्म आदि निमित्त की ओर के झुकाव से दु:खी होता है। भावबंध के और द्रव्यबंध के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है – इस कारण जीव कर्मबंधन से दु:खी हो रहा है – ऐसा कहा है। संसारी जीव दु:ख दूर करने का उपाय करता है परन्तु वास्तविक उपाय प्राप्त किये बिना दु:ख दूर नहीं होता। मोक्षमार्गरूप वीतरागी दशा प्राप्त हुए बिना दु:ख दूर नहीं होता और दु:ख सहन भी नहीं होता। प्रतिकूल संयोग मिलने पर दु:खी-दु:खी होता है। तेतीस सागर की आयु की स्थिति पर्यन्त सातवें नरक की वेदना परवश होकर सहन करता है। ऐसे अनन्त भव किये और इसप्रकार के दु:खों को सहन किया। इसप्रकार के दु:ख सहे नहीं जाते इसलिए ही जीव आकुल-व्याकुल हो रहा है।

....इसप्रकार जीव को समस्त दु:ख का मूलकारण कर्म बन्धन है। उसके अभावरूप मोक्ष है वही परमहित है, तथा उसका सच्चा उपाय करना वही कर्त्तव्य है; इसलिये इस ही का इसे उपदेश देते हैं। वहाँ, जैसे वैद्य है सो रोग सहित मनुष्य को प्रथम तो रोग का निदान बतलाता है कि इस प्रकार यह रोग हुआ है; तथा उस रोग के निमित्त से उसके जो-जो अवस्था होती हो वह बतलाता है। उससे उसको निश्चय होता है कि मुझे ऐसा ही रोग है। फिर उस रोग को दूर करने का उपाय अनेक प्रकार से बतलाता है और उस उपाय की उसे प्रतीति कराता है – इतना तो वैद्य का बतलाना है। तथा यदि वह रोगी उसका साधन करे तो रोग से मुक्त होकर अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, यह रोगी का कर्त्तव्य है।....

इसप्रकार जीव के समस्त दु:खों का मूलकारण कर्मबंधन है अर्थात् जिन भावों से कर्मबंधन होता है – ऐसे अनेक प्रकार के औपाधिक भावों से परिभ्रमण हो रहा है। अत: वे भाव दु:ख के मूल हैं। अज्ञानी मानता है कि जड़कर्म दु:ख के कारण हैं, किन्तु यह बात मिथ्या है। जिन भावों से कर्म बंधते हैं वे भाव दु:ख के मूल हैं। उनका अभाव होकर मोक्षदशा प्रगट होना ही परमहित है। संवर-निर्जरा हित है और मोक्ष परमहित है; इसके सिवाय अन्य कोई हितरूप नहीं है। तथा उसका सच्चा उपाय ही कर्त्तव्य है, अर्थात् शुद्ध आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणतारूपी मोक्षमार्ग कर्त्तव्य है – यह उपादानरूप मूल उपाय है। निमित्तरूप से सत् शास्त्रादि का वांचन मोक्ष का उपाय है। उपाय कहो, मोक्षमार्ग कहो, मोक्ष का कारण कहो – सब एक ही है। यह एक ही करने योग्य है। अत: दु:खी जीवों को सुखी होने का यह एक ही उपदेश देते हैं।

प्रथम दृष्टान्त देते हैं। जैसे वैद्य रोग सहित मनुष्य को प्रथम रोग का निदान बतलाता है कि गैस बनती हो व बैचेनी हो तो अमुक दर्द है – ऐसा कहे अथवा पुरानी पेचिस के कारण आंतों में दर्द रह गया है उससे खून बढ़ता नहीं है इत्यादि प्रकार से रोग बतलावे और रोग के

निमित्त से जो अवस्थायें होती हों वे बतलावे। जैसे कि अमुक रोग से शरीर फीका (कांतिहीन) पड़ गया है इत्यादि। तब रोगी को रोग का निश्चय होता है कि मुझे ऐसा ही रोग है; तथा वह वैद्य उस रोग के दूर करने का उपाय अनेक प्रकार से बतलाता है कि यह पुड़िया लेना, इसके ऊपर दूध लेना, फिर यह गोली लेना... इत्यादि प्रकार से उपाय बतावे और ऐसा कहे कि इस उपाय से अनेकों का दर्द मिट गया है, उसकी प्रतीति करावे – इतना तो वैद्य का कर्त्तव्य है और वह रोगी उन दवा आदि का साधन करे तो रोग से मुक्त होकर निरोगी होता है – यह रोगी का कर्त्तव्य है।

....उसीप्रकार यहाँ कर्मबन्धनयुक्त जीव को प्रथम तो कर्मबन्धन का निदान बतलाते हैं कि ऐसे यह कर्मबन्धन हुआ है; तथा उस कर्मबन्धन के निमित्त से इसके जो-जो अवस्था होती है वह बतलाते हैं। उससे जीव को निश्चय होता है कि मुझे ऐसा ही कर्मबन्धन है। तथा उस कर्मबन्धन के दूर होने का उपाय अनेक प्रकार से बतलाते हैं और उस उपाय की इसे प्रतीति कराते हैं – इतना तो शास्त्र का उपदेश है। यदि यह जीव उसका साधन करे तो कर्मबन्धन से मुक्त होकर अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, यह जीव का कर्त्तव्य है।....

यहाँ कर्मबंधन युक्त जीव को प्रथम तो कर्मबंधन का निदान दर्शाते हैं कि इसप्रकार कर्मबंधन हुआ है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों के (उदयादि) निमित्त है और उसके कारण जो-जो अवस्थायें होती हैं वे बतलाते हैं। अपनी अवस्था में संसार है, बंधन है और निमित्तरूप से कर्म हैं। जीव स्वयं विपरीत परिणमन करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है – इत्यादि प्रकार से दर्शाने पर जीव को निश्चय होता है कि मुझे इसीप्रकार का कर्मबंधन है। तथा उस कर्मबंधन को दूर करने का उपाय अनेक प्रकार से बतलाते हैं। जीव ने अन्य तो अनन्त उपाय किये किन्तु संसार का अभाव नहीं हुआ। अत: आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता – यह एक ही उपाय है। इसप्रकार उपाय की प्रतीति कराते हैं। इतना तो शास्त्र का उपदेश है। अब यह जीव उसका साधन करे तो कर्मबंधन से मुक्त होकर प्रवर्ते अर्थात् रोगरहित – संसार दशा रहित होकर अपने स्वभावरूप प्रवर्ते। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (की एकता) कारण है और इस कारण से अवश्य मोक्ष होता है, अत: यह अचूक उपाय है।

कर्मबंधन का निदान

....वहाँ प्रथम ही कर्मबंधन का निदान बतलाते हैं।

कर्मबन्धन होने से नाना औपाधिक भावों में परिभ्रमणपना पाया जाता है, एकरूप रहना नहीं होता; इसलिये कर्मबन्धन सहित अवस्था का नाम संसार-अवस्था है। इस संसार-अवस्था

में अनन्तानन्त जीवद्रव्य हैं वे अनादि ही से कर्मबन्धन सहित हैं। ऐसा नहीं है कि पहले जीव न्यारा था और कर्म न्यारा था, बाद में इनका संयोग हुआ है। तो कैसे हैं? – जैसे मेरुगिरि आदि अकृत्रिम स्कन्धों में अनन्त पुद्गलपरमाणु अनादि से एकबन्धनरूप हैं, फिर उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं, इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है। उसीप्रकार इस संसार में एक जीवद्रव्य और अनन्त कर्मरूप पुद्गल परमाणु उनका अनादि से एकबन्धनरूप है, फिर उनमें कितने ही कर्मपरमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं। – इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।....

यहाँ कोई प्रश्न करे कि यह कर्मबंधन तो दिखता नहीं है, (फिर उसे कैसे माना जाये?)

समाधान – पर में झपट्टे मारता (आसक्ति करता) दिखता है यह भाव कर्मबंध का हेतु है और यह भाव ज्ञानपर्याय में ज्ञात होता है। लकड़ी-लकड़ी द्वारा जानने में नहीं आती परन्तु ज्ञान से ज्ञात होती है। राग-द्वेषादि होते हैं वे कर्मबंधन के हेतु हैं – ऐसा ज्ञान में ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है, परन्तु उसे अज्ञानी नहीं जानता। पर की नास्ति में और स्वज्ञान की अस्ति में स्वज्ञान की अस्ति से राग-द्वेषादि ज्ञात होते हैं। जिसको अपनी सामर्थ्य की प्रतीति नहीं है उसे पर्यायवान ऐसे द्रव्य की प्रतीति कहाँ से आयेगी ? संसार अवस्था में, वर्तमान में विकार और अल्पज्ञता दिखती है; वे निमित्त के आश्रय से हुए भाव हैं, परन्तु वे भाव स्वभाव के आश्रय से नहीं होते। स्वभाव के आश्रय से तो वीतरागता होती है – ऐसा सिद्ध करेंगे।

जीव को कर्मबंधन है; उसका आश्रय करने से जीव अनेक प्रकार के औपाधिक भाव-राग-द्वेष, पुण्य-पाप, अल्पज्ञता आदि करता है, इस कारण उसके परिभ्रमण होता है। स्वभाव के आश्रय से एकरूपता होती है किन्तु अनेकरूपता नहीं होती। निमित्त तथा संयोग तरफ के झुकाव (सन्मुखता) में अनेकता होती है। पल में दुकान की व्यवस्था का भाव करता है, किसी को पुत्र के मर जाने से दुःख होता है, किसी का पुत्र कुपुत्र निकल जावे (तो दुःखी होता है) किसी का पुत्र सुपुत्र निकल जावे तो प्रसन्न होता है...इत्यादि अनेक भावरूपता कर्म के आश्रय से होती है। वहाँ कर्म अनेक भाव कराता है – ऐसा नहीं है, परन्तु (स्वयं ही) स्वभाव को चूककर कर्म के लक्ष्य से अनेक विकारी भाव करता है – ऐसा बताकर कर्मबंध का निमित्तपना सिद्ध किया है।

उस कर्मबंधन सहित अवस्था का नाम संसारदशा है। कर्म संसारदशा नहीं है परन्तु कर्मबंधन सहित जीव की दशा का नाम संसारदशा है। इस संसार अवस्था में अनन्तानन्त जीव हैं वे अनादि से ही कर्मबंधन सहित हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले आत्मा शुद्ध था और कर्म

जुदे थे और फिर दोनों का संयोग होकर अशुद्धदशा हुई। जीव और कर्म का अनादि से सम्बन्ध है, वह किस प्रकार है यह बतलाते हैं –

जैसे सूर्य, चन्द्र तथा मेरु आदि अकृत्रिम स्कंध हैं उन्हें किसी ने किया (बनाया) नहीं है, उनमें अनन्त परमाणु अनादिकाल से एक बंधानरूप हैं, अनादि से वही के वही परमाणु नहीं परन्तु वैसी आकृति वाले अनादि से हैं। उनमें से कोई परमाणु भिन्न पड़ते हैं तो कोई नये आते हैं – इसप्रकार मिलना और बिछुड़ना हुआ करता है, तथापि उस स्कंध का आकार वैसा का वैसा रहता है। अनन्त परमाणु आते और जाते हैं, उनका कोई कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है।

इस दृष्टान्तानुसार संसार में एक जीवद्रव्य और अनंत कर्म के परमाणु – ये दोनों अनादिकाल से एक बंधानरूप हैं। जीव पहले था और बाद में कर्म आये – ऐसा नहीं है; दोनों अनादि से हैं। उनमें से कोई कर्म (परमाणु) भिन्न होते हैं और कोई नये आते हैं – इसप्रकार मिलना और भिन्न होना होता रहता है।

कर्मों के अनादिपने की सिद्धि

....प्रश्न – पुद्गल परमाणु तो रागादि के निमित्त से कर्मरूप परिणमते हैं तो अनादि से कर्मरूप किसप्रकार हैं ?....

रागरूप दशा हो तब कर्म बंधते हैं; परन्तु राग निमित्त न हो तो कर्म किस प्रकार बंधें ?

....समाधान – निमित्त तो नवीन कार्य हो उसमें ही संभव है। अनादि कर्मबंधन में निमित्त का कुछ प्रयोजन नहीं है।....

शिष्य ने प्रश्न किया है कि कर्मबंध में राग का निमित्तपना होना चाहिए ? उसका समाधान यह है कि नवीन कर्म बंधते हैं उसमें राग का निमित्तपना होता है – यह बात सत्य है; परन्तु कर्मबंधन रूप अवस्था नई नहीं है, वह तो अनादि की है; अत: उसमें निमित्त की आवश्यकता नहीं है। यदि अनादि कर्मबंध में भी निमित्त होगा तब तो उसकी भी आदि हो जाती है। नवीन (कर्मबंध) में निमित्त की उपस्थिति होती है परन्तु पुराने में (अनादि में) निमित्त नहीं हो सकता; कर्मबंधन अनादि से है – ऐसा सिद्ध करना है और कर्मबंधन अनादि से है ऐसा सिद्ध करने पर संसारदशा भी अनादि की है – ऐसा सिद्ध हो जाता है।

सूर्य-चन्द्र अनादि से हैं, उनमें निमित्त क्या ? जैसे उनमें निमित्त नहीं है वैसे ही जीव के अनादि से कर्म है उसमें निमित्त नहीं। नये कर्म बंधते हैं उसमें विकार का निमित्तपना अवश्य है, परन्तु अनादि के कर्मबंध में निमित्त की आवश्यकता नहीं है।

....जैसे – नवीन पुद्गल परमाणुओं का बंधान तो स्निग्ध-रूक्ष गुण के अंशों ही से होता है और मेरुगिरि आदि स्कन्धों में अनादि पुद्गलपरमाणुओं का बंधान है, वहाँ निमित्त का क्या प्रयोजन है ? उसीप्रकार नवीन परमाणुओं का कर्मरूप होना तो रागादिक ही से होता है और अनादि पुद्गल परमाणुओं की कर्मरूप ही अवस्था है, वहाँ निमित्त का क्या प्रयोजन है ?....

जैसे नये पुद्गलों की बंधरूप अवस्था होती है वह स्निग्ध और रुक्षत्व के अंशों से ही होती है, परन्तु मेरुपर्वत, चन्द्र, तारे और सूर्यादिक जो अनादि के स्कंध हैं वहाँ निमित्त का क्या प्रयोजन है ? जैसे सप्ताह में सात दिन होते हैं उनमें पहला वार कौनसा ? पहला भव कौनसा ? मुर्गी पहले या अण्डा पहले ? जैसे इनमें कोई पहले-पीछे नहीं हैं, परन्तु अनादि से हैं; उसीप्रकार आत्मा के साथ पुद्गल कर्म अनादि से हैं, कोई पहले-पीछे नहीं। नये कर्मबंधन में तो रागादिक का निमित्तपना संभव है – होता है, परन्तु अनादि कर्म में निमित्त का क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि अनादि कर्म सम्बन्ध में निमित्त नहीं होता। इसप्रकार आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादि से है – यह सिद्ध किया।

....तथा यदि अनादि में भी निमित्त मानें तो अनादिपना रहता नहीं; इसलिये कर्म का बन्धन अनादि मानना।....

कर्मबंधन दु:ख का मूल है और आत्मा का स्वभाव सुख का मूल है। आत्मा को अनादि से कर्मबंधन क्यों है ? यह बताते हैं – यदि यह कहा जाए कि अनादि कर्मरूप अवस्था के लिये राग निमित्त है तो कर्म की आदि हो जाती है – अनादिपना नहीं रहता। अत: कर्म का सम्बन्ध अनादि जानना। श्री प्रवचनसार शास्त्र की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति में सामान्य ज्ञेयाधिकार है, वहाँ कहा है कि "रागादिक का कारण तो द्रव्यकर्म है तथा द्रव्यकर्म का कारण रागादिक हैं।" तब वहाँ तर्क किया है कि इसप्रकार तो इतरेतराश्रयदोष आता है। जड़ कर्म के निमित्त से राग हो और राग के कारण वह का वही कर्म बंधे तो इतरेतराश्रयदोष आता है, कहीं रुकाव-अटकाव नहीं रहता, तब वहाँ इसप्रकार उत्तर दिया है कि – **"नैवं अनादिप्रसिद्ध द्रव्यकर्म्म सम्बन्धस्य तत्र हेतुत्वेनोपादानात्।"**

अर्थ – इसप्रकार इतरेतराश्रयदोष नहीं है। जिन जड़ कर्मों के निमित्त से राग होता है वे के वे ही जड़कर्म नहीं बंधते हैं। राग के कारण तो नये कर्म बंधते हैं। वर्तमान राग से पुराने कर्म बंधते हों तब तो इतरेतराश्रयदोष लगता है, परन्तु वर्तमान राग से नये कर्म बंधते हैं अत: यह दोष नहीं लगता। जिन द्रव्यकर्मों के निमित्त से राग हुआ उस राग से वे के वे ही कर्म बंधें – ऐसा मानने में आवे तो दोष लगे; परन्तु ऐसा नहीं होने से दोष नहीं लगता।

तथा अनादि का स्वयं-सिद्ध द्रव्यकर्म का सम्बन्ध है, उसे यहाँ कारणपनेरूप से ग्रहण किया है और युक्ति से ऐसा ही संभव है। पहले यह राग था और पीछे कर्म निमित्त हुए – ऐसा है ही नहीं। यदि कर्म के निमित्त बिना जीव को पहले रागादिक कहेंगे तो रागादिक जीव का निज स्वभावभाव हो जायेगा।

आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है। उसकी पर्याय में विकार अनादि से है – यह बात यहाँ सिद्ध नहीं करना है, यहाँ तो अनादि कर्मबंधन सिद्ध करना है। अनादि कर्म है, इसलिये विकार है – ऐसा नहीं, परन्तु कर्म के निमित्तपने बिना विकार हो तो विकार स्वाश्रित हो जाये और ऐसा होने से विकार कभी मिटे नहीं, कारण कि परनिमित्त बिना होवे उसका नाम ही स्वभाव है। यद्यपि विकार करने वाला स्वयं है और आत्मद्रव्य स्वयं ही पर्याय में विकाररूप परिणमता है, तथापि निमित्त बिना और उसके आश्रय बिना विकार नहीं होता।

यहाँ द्रव्यबंध अनादि से है यह सिद्ध करना है। भावबंध और द्रव्यबंध के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है – ऐसा सिद्ध करते हैं। विकार के समय निमित्त न हो और निमित्त बाद में आवे तो विकार स्वभाव सिद्ध हो जावे अथवा परनिमित्त की उपस्थिति बिना विकार हो तो विकार स्वभाव हो जाये।

अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म जीव को परिभ्रमण कराते हैं, परन्तु यह मान्यता भूल भरी है। कर्म जड़ हैं, उनसे जीव परिभ्रमण नहीं करता, परन्तु जीव अपनी भूल से परिभ्रमण करता है तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। पहले भूल थी फिर कर्म आया – ऐसा नहीं है और कर्म आया इस कारण भूल हुई – ऐसा भी नहीं है। स्वयं भूल करे तब कर्म निमित्तरूप होता है।

इसप्रकार कर्म का अनादि सम्बन्ध सिद्ध किया।

प्रश्न – यदि द्रव्य न्यारे-न्यारे हैं तो अनादि से उनका सम्बन्ध कैसे संभव है ?

समाधान – पानी और दूध में कोई पहले-पीछे नहीं हैं, दोनों एक साथ हैं। गन्ने का रस और गूदा एक साथ हैं। सोना और मिट्टी में पहले-पीछे कोई नहीं हैं। तेल और तिल में पहले-पीछे कोई नहीं हैं। छिलके और धान का सम्बन्ध अनादि का है – इन सब दृष्टान्तों में सम्बन्ध अनादि का है। इसीप्रकार जीव और कर्मों का सम्बन्ध अनादि से ही जानना, परन्तु ये नये आकर मिले नहीं हैं।

तथा तुम कहते हो कि यह कैसे संभव है ? परन्तु अनादि से जैसे कोई जुदे-जुदे द्रव्य हैं वैसे ही मिले हुए द्रव्य भी हैं। चन्द्र, सूर्य अनादि से हैं, उसमें विरोध नहीं है। दूध और पानी अनादि से साथ-साथ हैं, उसमें विरोध नहीं है, वे दो भिन्न द्रव्य हैं। पानी भाप बनकर उड़ जाता है और दूध का मावा हो जाता है; इसप्रकार दोनों के भिन्न होकर रहने में भी विरोध नहीं है – ऐसा संभव होने में कोई विरोध नहीं है। संभव अर्थात् सम्यक् प्रकार से स्थिति होना, वह संभव है उसमें विरोध नहीं है।

....प्रश्न – सम्बन्ध या संयोग कहना तो तब ही संभव है जब पहले भिन्न हों और बाद में मिले हों, परन्तु यहाँ अनादिकाल से मिले हुए जीव और कर्मों का सम्बन्ध कैसे कहा ?

समाधान – अनादि से तो मिले थे; परन्तु बाद में भिन्न हुए तब जाना कि भिन्न थे तो भिन्न हुए, इसलिये पहले भी भिन्न ही थे – इसप्रकार अनुमान से तथा केवलज्ञान से प्रत्यक्ष भिन्न भासित होते हैं। इससे, उनका बन्धन होने पर भी भिन्नपना पाया जाता है। तथा उस भिन्नता की अपेक्षा उनका सम्बन्ध अथवा संयोग कहा है; क्योंकि नये मिले, या मिलें ही हों, भिन्न द्रव्यों के मिलाप में ऐसे ही कहना संभव है।....

वे पदार्थ अनादि से तो मिले हुए थे पर बाद में भिन्न हुए तब जाना कि भिन्न थे तो भिन्न हुए। सोना और मिट्टी भिन्न हो सकते हैं। शरीर और आत्मा भिन्न हैं तो भिन्न हो सकते हैं। दूध को गर्म करने से पानी भाप बनकर अलग हो जाता है। इसप्रकार भिन्न हैं तो भिन्न हो सकते हैं। अत: (जाना जाता है कि) पहले भी भिन्न ही थे।

इसप्रकार अनुमान से परोक्ष अथवा केवलज्ञान से प्रत्यक्ष भिन्न भासते हैं। छद्मस्थ प्रत्यक्ष नहीं जानता फिर भी उसका अनुमान ज्ञान यथार्थ है। उनका बंधान होने पर भी भिन्नपना ज्ञात हो जाता है। आत्मा और कर्म साथ होने पर भी एक नहीं हो जाते, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। जैसे लड्डू में गुड़, घी और आटा होता है – ये सब चीजें साथ दिखने पर भी भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार आत्मा और कर्म एक बंधानरूप होने पर भी दोनों भिन्न-भिन्न हैं, एकमेक नहीं हो गये। इस भिन्नता की अपेक्षा से उनका संयोग अथवा सम्बन्ध कहा है, कारण कि नये कर्म मिलें या अनादि से मिले हुए ही हों परन्तु भिन्न द्रव्यों के मिलाप को ऐसे कहना ही संभव है। संयोग सम्बन्ध कहते ही दो वस्तुयें भिन्न सिद्ध होती हैं और भिन्न द्रव्यों का ऐसा सम्बन्ध होने में विरोध नहीं है।

इसप्रकार जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध है।

जीव और कर्मों की भिन्नता

....वहाँ जीवद्रव्य तो देखने-जानने रूप चेतना गुण का धारक है तथा इन्द्रियगम्य न होने योग्य अमूर्तिक है, संकोच विस्तार शक्तिसहित असंख्यातप्रदेशी एकद्रव्य है। तथा कर्म है वह चेतनागुणरहित जड़ है और मूर्तिक है, अनन्त पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड है, इसलिए एकद्रव्य नहीं है। इसप्रकार ये जीव और कर्म हैं – इनका अनादि सम्बन्ध है, तो भी जीव का कोई प्रदेश कर्मरूप नहीं होता और कर्म का कोई परमाणु जीवरूप नहीं होता; अपने-अपने लक्षण को धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। जैसे सोने-चाँदी का एक स्कंध हो, तथापि पीतादि गुणों को धारण किए सोना भिन्न रहता है और श्वेतादि गुणों को धारण किये चाँदी भिन्न रहती है – वैसे भिन्न जानना।....

जीवद्रव्य तो देखने-जानने के स्वभाव वाला है, तथा जीव इन्द्रियों से ज्ञात हो वैसा नहीं है; परन्तु अनुमान से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान से जानने में आवे ऐसा है। अमूर्तिक है अर्थात् स्पर्शादि गुण रहित है तथा संकोच-विस्तार शक्तिवाला असंख्यात प्रदेशी एकद्रव्य है। चींटी की पर्याय में से हाथी की पर्याय में जाए तो विस्तार पावे, हाथी में से चींटी हो तो संकोच पावे – ऐसा संकोच-विस्तार शक्तिवाला जीव है।

अब कर्म उससे विरुद्ध लक्षण वाले हैं, यह बतलाते हैं –

कर्म चेतनागुण रहित हैं, उन्हें पता नहीं है कि हम आत्मा के साथ बंधे हैं। कर्म मूर्तिक है और अनन्त पुद्गलपरमाणुओं का पुंज है। आत्मा मूर्तिक नहीं होता। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है तो भी जीव का कोई प्रदेश कर्मरूप नहीं होता और कर्म का कोई परमाणु जीवरूप नहीं होता।

यदि जीव का एक प्रदेश कर्मरूप होवे तो सम्पूर्ण आत्मा कर्मरूप हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। जीव विकार करे तो कर्म को निमित्त कहते हैं, परन्तु कर्म जीव को हैरान करते हैं – ऐसा मानना भ्रम है।

यदि कर्म के कारण जीव मूर्तिक हो जाये – ऐसा मानें तो दो द्रव्य एक हो जायेंगे। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से एक प्रदेश की चौड़ाई एक परमाणु जितनी है –अत: आत्मप्रदेश परमाणुरूप हो जायेगा ? परन्तु ऐसा नहीं है। प्रदेश परमाणुरूप नहीं होता और परमाणु जीवरूप नहीं होता। दोनों अपने-अपने स्वरूप में अथवा अपने-अपने भाव को धारण करते हुए भिन्न ही रहते हैं। पुद्गल अपने रूपीपने के लक्षण से ज्ञात होने योग्य है और जीव चेतना लक्षण से ज्ञात होता है अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

जैसे सोने और चाँदी का एक स्कंध हो तथापि सोना अपने पीलेपन, चिकनेपन, भारीपन आदि गुणों को धारण कर रखता है और चाँदी अपने श्वेतादि गुणों को धारण करती है – इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न रहते हैं – ऐसा जानना। इसीप्रकार आत्मा और कर्म को भिन्न-भिन्न जानना।

भाई ! इस शास्त्र का बारंबार अभ्यास करना और अन्तर का अनुभव करना। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी इस शास्त्र को सत्शास्त्र कहा है। यह शास्त्र दिव्यध्वनि के अनुसार लिखा गया है।

अमूर्तिक आत्मा से मूर्तिक कर्मों का बंधान किसप्रकार होता है ?

....अब शिष्य प्रश्न करता है कि मूर्तिक-मूर्तिक का तो बंधान होना बने, परन्तु अमूर्तिक आत्मा और मूर्तिक कर्मों का बंधन कैसे संभव है ?....

....समाधान – जिसप्रकार व्यक्त – इन्द्रियगम्य नहीं हैं ऐसे सूक्ष्म पुद्गल तथा व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं ऐसे स्थूल पुद्गल – उनका बंधान होना मानते हैं; उसीप्रकार जो इन्द्रियगम्य होने योग्य नहीं है ऐसा अमूर्तिक आत्मा और इन्द्रियगम्य होने योग्य मूर्तिक कर्म – इनका भी बंधान होना मानना। तथा इस बंधान में कोई किसी को करता तो है नहीं। जब तक बंधान रहे तब तक साथ रहें – बिछुड़ें नहीं, और कारण-कार्यपना उनके बना रहे; इतना ही यहाँ बंधान जानना। सो मूर्तिक-अमूर्तिक के इसप्रकार बंधान होने में कुछ विरोध है नहीं।....

जैसे अव्यक्त-इन्द्रियों के अगोचर ऐसे सूक्ष्म पुद्गलों के साथ व्यक्त-इन्द्रिय गोचर ऐसे स्थूल पुद्गलों का बंधान होना मानते हैं, उसमें विरोध नहीं दिखता। जीव शरीर में से निकल जाने के बाद शरीर फूल जाता है, उसमें सभी इन्द्रियगम्य पुद्गल ही होते हों – ऐसा नहीं है, सूक्ष्म परमाणु भी आते और जाते हैं। इस बंधान के होने में विरोध नहीं है। तथा आत्मा के ज्ञान में घड़ी, शरीर, गुड़ आदि ज्ञात होते हैं वे सब पदार्थ रूपी हैं फिर भी अरूपी ज्ञान में ज्ञात होते हैं – ऐसा मूर्तिक पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध न हो तो ज्ञान में ज्ञात नहीं हो सकते। जैसे इसप्रकार का सम्बन्ध होने में विरोध नहीं आता; वैसे ही संसारदशा में जीव और कर्म के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप से बंधनरूप रहने में विरोध नहीं दिखता। अत: जो इन्द्रियगम्य नहीं है ऐसे अमूर्तिक आत्मा के इन्द्रियगम्य होने योग्य ऐसे मूर्तिक कर्मों के साथ बंधन है – ऐसा मानना।

देखो ! यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में पीठबंध अधिकार पूर्ण होने के पश्चात् यह

संसार अवस्था का निरूपक अधिकार चल रहा है। आत्मा की पर्याय में अनेक प्रकार की संसार अवस्था होती है – ऐसा जाने तो उसके नाश करने का उपाय करे। संसार अवस्था का निरूपण करते हुए उस अवस्था में जड़ कर्म निमित्त है – ऐसा कहा है परन्तु जड़ कर्म संसार अवस्था नहीं कराता। यहाँ अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बंधान किस प्रकार है – यह बात चल रही है।

आत्मा अरूपी है और कर्म रूपी हैं। उनका एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होकर बंधान होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे इस स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म पुद्गल आकर मिलते हैं, उसमें बाधा नहीं आती; वैसे ही अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मों का बंधान होने में आपत्ति नहीं है। इसतरह अरूपी आत्मा के साथ रूपी कर्मों का बंधान है – ऐसा जानना।

अरूपी आत्मा और जड़कर्म एक क्षेत्र में रहते हैं तथापि कोई किसी का कर्त्ता नहीं है। आत्मा कर्म को करे और कर्म आत्मा की संसार अवस्था को करे – ऐसा नहीं बनता। यहाँ संसारदशा का वर्णन करते हुए अनादि से उस दशा में कर्म का निमित्त है – ऐसा कहा है, परन्तु वह संसारदशा कर्म के कारण नहीं है। वह दशा तो आत्मा की भूल से हुई है। पहले गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक की संसारदशा है, उसे कर्म नहीं करता – ऐसा कहते हैं। वह दशा आत्मा की अपनी परिणति की योग्यता से हुई है, कर्म से नहीं हुई। आत्मा राग-द्वेष की पर्याय को करता है; परन्तु कर्म की अवस्था को नहीं करता – ऐसा सिद्धान्त यहाँ बताया है। इस बात को ध्यान में रखकर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को बराबर जानना चाहिये।

आगे आयेगा कि जब कर्म का तीव्र उदय हो तब तो पुरुषार्थ नहीं हो सकता और वहाँ तो ऊपर के गुणस्थानों से भी गिर जाता है।[१] इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म के कारण गिर जाता है। आत्मा अपनी योग्यता से उसरूप परिणमता है उससमय कर्म निमित्तमात्र है – ऐसा समझना चाहिये। इसीलिये यहाँ यह सिद्धान्त बतलाया है कि संसार की कोई भी अवस्था हो उसका कर्त्ता आत्मा है, कर्म नहीं और कर्म की किसी भी अवस्था का कर्त्ता आत्मा नहीं है।

आत्मा संसार अवस्थारूप होता है, अत: संसार पर्याय चेतन की विकारी अवस्था है, वह जड़कर्म की अवस्था नहीं है। कर्म उस अवस्थारूप होता नहीं और कर्म के कारण वह अवस्था नहीं होती। आत्मा और कर्म दोनों न्यारे-न्यारे हैं और दोनों भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक (जयपुर संस्करण), पृष्ठ ३१३.

शरीर, वह संसार नहीं है; स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, आदि का संयोग भी संसार नहीं है और कर्म भी संसार नहीं है। यदि शरीर संसार हो तो शरीर जल जाने पर संसार भी जलकर राख हो जाना चाहिये और मुक्ति हो जाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। तथा स्त्री, पुत्रादि में भी संसार नहीं है। आत्मा का संसार तो आत्मा की पर्याय में है। अज्ञानी पर में अपना संसार मानता है, उसे तो संसार क्या है यह भी खबर नहीं है, तो फिर संसार रहित मोक्षदशा की खबर तो उसे होगी ही कहाँ से ? नहीं होती।

अब कहते हैं कि जबतक आत्मा और कर्म का एकक्षेत्रावगाही बंधन होकर सम्बन्ध रहे वहाँ तक वे दोनों साथ रहते हैं, पृथक् नहीं होते और दोनों के परस्पर कारण-कार्यपना बना रहता है – इसे बंधान जानना। आत्मा स्वयं विकाररूप कार्य करे तो कर्म निमित्त होता है – यह कार्य कारणपना है; और पुद्गल कर्मरूप होता है, उसमें जीव का विकारी भाव निमित्त है – यह कार्य-कारणपना है। अथवा तो कर्म और आत्मा के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसको यहाँ बंधन जानना।

इसप्रकार मूर्तिक कर्म और अमूर्तिक आत्मा के बंधन होने में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों के संसार दशा है और निमित्तरूप कर्म का बंध भी है – ऐसा जानना।

घाति-अघाति कर्म और उनका कार्य

....तथा वे कर्म ज्ञानावरणादि भेदों से आठ प्रकार के हैं। वहाँ चार घातिया कर्मों के निमित्त से तो जीव के स्वभाव का घात होता है। ज्ञानावरण-दर्शनावरण से तो जीव के स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन उनकी व्यक्तता नहीं होती; उन कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार किंचित् ज्ञान-दर्शन की व्यक्तता रहती है। तथा मोहनीय से जो जीव के स्वभाव नहीं हैं ऐसे मिथ्याश्रद्धान व क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय उनकी व्यक्तता होती है। तथा अन्तराय से जीव का स्वभाव, दीक्षा लेने की सामर्थ्यरूप वीर्य उसकी व्यक्तता नहीं होती; उसके क्षयोपशम के अनुसार किंचित् शक्ति होती है।

इसप्रकार घातिया कर्मों के निमित्त से जीव के स्वभाव का घात अनादि ही से हुआ है। ऐसा नहीं है कि पहले तो स्वभावरूप शुद्ध आत्मा था, पश्चात् कर्म-निमित्त से स्वभावघात होने से अशुद्ध हुआ।....

अब वे कर्म ज्ञानावरणादि भेदों से आठ प्रकार के हैं। यह सामान्य कर्मों की बात की। अब इनमें से चार घाति कर्मों की बात करते हैं।

ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के निमित्त से तो जीव के स्वभाव का घात होता है। जब आत्मा स्वयं ज्ञान-दर्शन की हीनतारूप परिणमता है तब ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म को निमित्त कहा जाता है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय से जीव के ज्ञान-दर्शन स्वभाव की व्यक्तता नहीं होती।

आत्मा में ज्ञान-दर्शन की हीनता होती है उसमें कर्म निमित्त है, परन्तु कर्म के कारण हीनता नहीं होती। वह हीनता अपने कारण से है – ऐसा निर्णय करे तो पुरुषार्थ की उग्रता करे। कर्म के क्षयोपशम के अनुसार किंचित् ज्ञान-दर्शन की व्यक्तता रहती है। वहाँ पूर्ण ज्ञान नहीं इसलिये कर्म का निमित्त है। यदि कर्म का निमित्त न हो तो पूर्णदशा होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि पूर्णदशा में कर्म का निमित्त नहीं होता। आत्मा जाननहार-देखनहार है; उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता वह (संसाररूपी) रोग है, उसमें कर्म का निमित्त है – यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं।

घाति कर्मों में मोहनीय कर्म है, उसके द्वारा जीव के स्वभाव से विरुद्ध मिथ्या श्रद्धान अथवा क्रोध, मान, माया और लोभादि कषायों की व्यक्तता होती है। आत्मा में पर से लाभ होता है, पुण्य करते-करते धर्म होता है, जब ऐसी विपरीत मान्यता और हर्ष, शोक, रति, अरति आदि कषायें स्वभाव को भूलकर होती है, तब निमित्तरूप मोहनीय कर्म है। मिथ्यात्व का पाप महान है और उसका फल अनन्त दु:ख है, यह अज्ञानी को ज्ञात नहीं होता। जैसे किसी भी मनुष्य के लकड़ी की मार पड़ने पर वह बेहोश हो जाता है तब उसे दु:ख ज्ञात नहीं होता, परन्तु इस कारण उसका दु:ख कम नहीं हुआ, किन्तु और भी अधिक बढ़ गया है; वैसे ही अज्ञानी को मिथ्यात्व का महान दु:ख है, फिर भी मूढ़ता के कारण उसे वह भासित नहीं होता। अत: दु:ख नहीं है – ऐसा नहीं है। ये मिथ्यात्व आदि भाव मोहनीय कर्म कराता है – ऐसा नहीं है; परन्तु आत्मा स्वयं करता है उसमें वह मोहनीय कर्म निमित्तमात्र है।

घाति कर्मों में अन्तराय कर्म है। दीक्षा अर्थात् चारित्र लेने की सामर्थ्यरूप वीर्य की व्यक्तता अन्तराय कर्म के उदय में नहीं होती। अन्तराय कर्म के क्षयोपशमानुसार किंचित् शक्ति रहती है। मोक्ष का मूल कारण चारित्र है और चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन है। जब आत्मा चारित्र की पूर्णदशा रूप वीर्य को प्रगट नहीं करता, तब उसमें अन्तराय कर्म निमित्त है। अन्तराय कर्म के उदय के कारण चारित्र का वीर्य प्रगट नहीं होता – ऐसा नहीं है। यहाँ मात्र दीक्षा अर्थात् चारित्र प्रगट होने की सामर्थ्य की ही बात ली है; भोग, उपभोग, दानादि की बात नहीं ली है। चारित्र के वीर्य की मुख्यता है।

इसप्रकार घाति कर्मों के निमित्त से जीव के स्वभाव का अनादि से ही पर्याय में घात

हुआ है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य – ये चार गुण हैं और ये स्वभाव हैं। इनकी प्रगटता नहीं होने में चार घाति कर्म निमित्त हैं – ऐसी बात की है। यह अनादि से ही है परन्तु ऐसा नहीं समझना कि पहिले तो स्वभावरूप शुद्ध आत्मा था, परन्तु बाद में कर्म के निमित्त से स्वभाव घात द्वारा अशुद्ध हुआ; बल्कि संसारदशा अनादि की है – ऐसा समझना।

....प्रश्न – घात नाम तो अभाव का है। पहले जिसका सद्भाव हो उसका अभाव कहना संभव है, परन्तु यहाँ स्वभाव का सद्भाव तो है ही नहीं तो फिर (कर्मों ने) घात किसका किया ?

उत्तर – अनादि से ही जीव के ऐसी शक्ति होती है कि यदि कर्म का निमित्त न हो तो केवलज्ञानादि अपने स्वभाव रूप प्रवर्ते। परन्तु अनादि से ही कर्मों का सम्बन्ध होने से उस शक्ति का व्यक्तपना नहीं हुआ। अत: शक्ति-अपेक्षा स्वभाव है, उसको व्यक्त न होने देने की अपेक्षा घात किया कहते हैं।....

भगवान आत्मा में ऐसी शक्ति है कि यदि वह कर्म का अवलम्बन न ले तो पर्याय में भी केवलज्ञानादि प्रगट होवे ही, परन्तु वह अनादि से कर्म का अवलम्बन लेता है – इसकारण प्रगट दशा नहीं है। अत: शक्ति अपेक्षा स्वभाव है उसके व्यक्त न होने में ज्ञानावरणादि कर्म निमित्त हैं, इसलिए घात किया – ऐसा कहते हैं। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है – यह बतलाया है। निमित्त न हो तो नैमित्तिक भाव भी नहीं होता। अनादि से पर्याय में द्रव्यस्वभाव का कार्य (व्यक्तता) नहीं हुआ, अत: निमित्त भी अनादि का है – ऐसा निश्चित होता है। परन्तु कर्म के कारण अनादि से संसार है – ऐसा नहीं है।

....तथा चार अघातिया कर्म हैं, उनके निमित्त से इस आत्मा को बाह्य सामग्री का सम्बन्ध बनता है। वहाँ वेदनीय से तो शरीर में अथवा शरीर से बाह्य नाना प्रकार सुख-दु:ख के कारण परद्रव्यों का संयोग जुड़ता है; आयु से अपनी स्थिति पर्यन्त प्राप्त शरीर का सम्बन्ध नहीं छूट सकता; नाम से गति, जाति, शरीरादिक उत्पन्न होते हैं; और गोत्र से उच्च-नीच कुल की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार अघाति कर्मों से बाह्य सामग्री एकत्रित होती है, उसके द्वारा मोह-उदय का सहकार होने पर जीव सुखी-दु:खी होता है। और शरीरादिक के सम्बन्ध से जीव के अमूर्त्तत्वादिस्वभाव अपने स्व-अर्थ को नहीं करते – जैसे कोई शरीर को पकड़े तो आत्मा भी पकड़ा जाये। तथा जब तक कर्म का उदय रहता है तब तक बाह्य सामग्री वैसी ही बनी रहे, अन्यथा नहीं हो सके – ऐसा इन अघाति कर्मों का निमित्त जानना।....

अब अघाति कर्मों की बात करते हैं। चार अघाति कर्म हैं; उनके निमित्त से आत्मा को बाह्य सामग्री का सम्बन्ध बनता है। यहाँ पहिले सामान्य अघाति कर्मों के निमित्त की बात की है।

उसमें वेदनीय कर्म की बात करते हैं, वेदनीय कर्म से तो शरीर में अथवा शरीर से बाह्य नाना प्रकार के सुख-दुःख के कारणरूप परद्रव्यों का संयोग जुड़ता है। देखो ! यहाँ एक सिद्धान्त दर्शा दिया है कि – शरीर में रोग होना अथवा निरोगता होनी और पैसे आना या जाना, उनमें वेदनीय कर्म निमित्त है; किन्तु ये कार्य आत्मा के उद्यम से होते हैं – ऐसा नहीं है। वर्तमान में एक विद्वान तो कहता है कि समाज को व्यवस्था रखना आती ही नहीं, इस कारण गरीबों के पास पैसा नहीं है। परन्तु यह बात मिथ्या है। यहाँ तो पण्डित टोडरमलजी कहते हैं और गोम्मटसार में भी आता है कि सामग्री का संयोग वेदनीय कर्म के निमित्त से होता है, आत्मा के कारण से नहीं। ऐसा निर्णय करे तो पर के कार्य करने का उत्साह मिट जावे और मोक्ष के मार्ग में चले तो अन्तर का सच्चा पुरुषार्थ प्रगट हो।

यहाँ घाति-अघाति कर्मों के कार्य की बात चल रही है। आत्मा स्वयं अपने को भूलता है उसमें घातिकर्म निमित्त है। अघातिकर्म का कार्य बाह्य सामग्री का संयोग कराना है – ऐसा कहा है; परन्तु सामग्री कर्म के कारण नहीं मिली है, सामग्री तो उसके स्वयं के कारण से मिलती है, उसमें वेदनीय आदि अघाति कर्म निमित्त हैं। आत्मा के पुरुषार्थ के कारण वह बाह्य सामग्री आती-जाती नहीं है – ऐसा यहाँ सिद्ध किया है।

कोई किसी का कुछ कर दे या सामग्री ला दे – यह बात नहीं है। शरीर में और शरीर के बाहर अनेक प्रकार के सुख-दुःख के निमित्तरूप पर-द्रव्यों का संयोग होता है। साता-असाता का उदय होता है, उस अनुसार संयोग मिल जाते हैं। शरीर में रोग हो उस समय वैद्य, दवा आदि जो भी संयोग मिल जाते हैं, उसमें आत्मा का पुरुषार्थ कारण नहीं है, परन्तु उसमें वेदनीय कर्म निमित्त होता है। अतः उसकी रुचि छोड़ दे, निमित्ताधीनदृष्टि छोड़ दे और विकार का कार्य छोड़ने के लिये स्वभावदृष्टि करे; ऐसा कहने का हेतु है। पैसा आने या जाने में आत्मा की बुद्धि कुछ भी काम नहीं आती। वह तो वेदनीय कर्म के निमित्त से आता और जाता है। इसप्रकार अघाति कर्मों में वेदनीय कर्म का कार्य कहा।

अब आयुकर्म की बात करते हैं, आयुकर्म से अपनी स्थिति पर्यन्त प्राप्त हुए शरीर का सम्बन्ध नहीं छूट सकता। अर्थात् शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, उसमें आयुकर्म निमित्त है। जब तक आयु हो वहाँ तक शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटता। आयु पूर्ण होने पर तो अनेक

डॉक्टर मिलकर भी उसे नहीं रख सकते। इन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी इसे रोकने में – बचाने में समर्थ नहीं होते। उपचार बराबर नहीं किया, इसकारण मरण हो गया – ऐसा नहीं है। आयु-कर्म के निमित्त से वह सम्बन्ध रहता है और छूटता है। आत्मा के पुरुषार्थ के कारण उसका रहना या छूटना नहीं होता। यह अघातिकर्मों में आयुकर्म के कार्य की बात हुई।

अब नामकर्म के कार्य की बात करते हैं, नामकर्म के कारण गति, जाति और शरीरादि उत्पन्न होते हैं। अर्थात् नामकर्म गति, जाति, संहनन, संस्थान, इन्द्रियादि बाह्य वस्तुओं को खेंचकर नहीं लाता। शरीर, जाति, गति आदि जो मिलते हैं वे तो उनके अपने कारण से मिलते हैं, उसमें नामकर्म निमित्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये संयोग आत्मा के पुरुषार्थ के कारण मिलते हैं – यह बात नहीं है। आत्मा का पुरुषार्थ उनमें किंचित्मात्र भी काम नहीं आता। अच्छी इन्द्रियाँ मिलना या अच्छा रूप मिलना – यह सब नामकर्म के निमित्त से मिलता है – ऐसा यहाँ सिद्ध किया है।

अब गोत्रकर्म के कार्य की बात करते हैं। गोत्रकर्म से उच्च-नीच कुल की प्राप्ति होती है। पूर्व में जिस प्रकार का गोत्रकर्म बांधा हो उसप्रकार उच्च-नीच गोत्र मिलता है।

इसप्रकार अघाति कर्मों से बाह्य सामग्री एकत्रित होती है, वह सामग्री सुख-दु:ख नहीं कराती; परन्तु आत्मा स्वयं सुख-दु:ख की कल्पना करता है। आत्मा मोहकर्म के उदय में जुड़ता है तब सुख-दु:ख होते हैं।

अघातिकर्म बाहर के संयोगों में निमित्त हैं – यह बात करके अब वे आत्मा का स्वभाव प्रगट नहीं होने देने में निमित्त हैं – यह बात करते हैं।

शरीरादि के निमित्त से अपने अमूर्तत्वादि स्वभाव व्यक्त नहीं होते – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के प्रतिजीवी गुणों की व्यक्तता स्वयं के कारण से नहीं होती, उसमें वे निमित्त हैं, तथा जहाँ तक कर्म का उदय रहे वहाँ तक बाह्य सामग्री भी वैसी ही बनी रहती है, अन्यथा नहीं हो सकती। इसप्रकार अघाति कर्म के निमित्त से आत्मा का अमूर्तत्वादि स्वभाव प्रगट नहीं होता और अन्य बाह्य संयोग मिलते हैं – ऐसा कहा।

यहाँ संसार अवस्था का वर्णन चल रहा है। संसार दशा तो जीव का एक समय का विकार है। उसमें कर्म निमित्त है। इस आत्मा में कर्म का बल जरा भी नहीं है। कर्म आत्मा को विकार नहीं कराता। जब उन कर्मों का उदय काल हो तब आत्मा स्वयं ही स्वभावरूप नहीं परिणमता, विभावरूप परिणमता है – ऐसा कहा है; परन्तु यह नहीं कहा कि उदय के प्रमाण में आत्मा

(विभाव रूप) परिणमता है और वहाँ अघाति कर्मों के निमित्त से तो उसी अनुसार बाह्य सामग्री मिलती है – ऐसा कहा है। घाति कर्म और अघाति कर्म में इतना अन्तर है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र में उदय के काल में उदय प्रमाण परिणमे – ऐसा नियम नहीं है; परन्तु अघाति कर्मों के निमित्त से उतने ही प्रमाण में उस अनुसार ही बाह्य संयोग मिलते हैं, उसमें फेरफार नहीं होता। यदि घाति कर्म के उदय प्रमाण ही आत्मा में विकार हो तो फिर संसार का अभाव नहीं हो सकता। इसप्रकार घाति कर्म और अघाति कर्म के कार्यों में अन्तर है। घाति कर्म के उदय में आत्मा स्वयं स्वभावरूप परिणमन नहीं करके विभावरूप परिणमता है और अघाति कर्म के उदय में अन्य द्रव्य उसी अनुसार सम्बन्धरूप होकर स्वयं परिणमते हैं। यह घाति-अघाति कर्मों के निमित्त की बात है। अघाति कर्म जड़ हैं, उन्हें कोई नही भोगता। पूर्व में परिणाम किये थे उनके निमित्त से अघाति कर्म बंधे, उनके उदय के समय बाहर में उनके प्रमाण ही सामग्री मिलती है; उसमें आत्मा का वर्तमान प्रयत्न कुछ कारण है – ऐसा नहीं है।

आत्मा का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है, इस कारण वह संयोगों को जानता है। वे संयोग उनके कारण से आते हैं उसमें अघाति कर्म निमित्त है – ऐसा (ज्ञान) जानता है। यदि उस समय राग करे तो नया बंध होता है। वर्तमान संयोग मिला उसके साथ (आत्मा का) जानने का सम्बन्ध है, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है और वे संयोग किस कारण से मिले – यह बताना हो तो अघाति कर्म के निमित्त से मिले – ऐसा कहा जाता है। जीव ने पूर्व में वैसे भाव किये थे तो उस प्रकार के अघाति कर्म बंधे थे – ऐसी परम्परा से आत्मा के साथ सम्बन्ध कहा जाता है। परन्तु आत्मा के (वर्तमान प्रयत्न के कारण) बाहर में लक्ष्मी, देव-शास्त्र-गुरु आदि मिलते हैं – ऐसा नहीं है।

निर्बल जड़कर्मों द्वारा जीव के स्वभाव का घात और बाह्य सामग्री मिलना

....यहाँ कोई प्रश्न करे कि – कर्म तो जड़ हैं, कुछ बलवान् नहीं है; उनसे जीव के स्वभाव का घात होना व बाह्य सामग्री का मिलना कैसे संभव है ?....

देखो ! शिष्य के मुख में पण्डितजी ने यह प्रश्न डाला है। अभी के पण्डित और त्यागी तो कहते हैं कि कर्मों के जोर के कारण चारित्र प्रगट नहीं होता और कोई ग्यारहवें गुणस्थान में से भी गिर जाते हैं – तो यह बात मिथ्या है। अज्ञानी कर्म का जोर मानता है वह मूढ़ता है अघाति कर्म पर-संयोग को लावें और घाति कर्म आत्मा के गुणों का घात करें – ऐसी ताकत कर्मों में नहीं है तथा उन्हें खबर भी नहीं है तो वे जीव के स्वभाव का घात किस प्रकार करते हैं ? और बाह्य सामग्री भी वे किस प्रकार मिलाते हैं ? कर्म तो निर्बल हैं।

....समाधान – यदि कर्म स्वयं कर्त्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिये और बलवानपना भी चाहिये; सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्मों का उदयकाल हो; उस काल में स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणमन नहीं करता, विभावरूप परिणमन करता है, तथा जो अन्य द्रव्य हैं वे वैसे ही सम्बन्धरूप होकर परिणमित होते हैं।

जैसे – किसी पुरुष के सिर पर मोहनधूल पड़ी है उससे वह पुरुष पागल हुआ; वहाँ उस मोहनधूल को ज्ञान भी नहीं था और बलवानपना भी नहीं था, परन्तु पागलपना उस मोहनधूल ही से हुआ देखते हैं। वहाँ मोहनधूल का तो निमित्त है और पुरुष स्वयं ही पागल हुआ परिणमित होता है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है।

तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय के काल में चकवा-चकवियों का संयोग होता है; वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं, दिन में किसी ने करुणा-बुद्धि से लाकर मिलाये नहीं हैं, सूर्योदय निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। उस ही प्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना। – इस प्रकार कर्म के उदय से अवस्था है।

जगत में अनन्त निमित्त-नैमित्तिक कार्य बन रहे हैं उसमें ज्ञान और शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। शिर हिलता है तब परछाई भी उसके कारण वैसी ही होती है; हाथ खड़ा करे वहाँ परछाई भी वैसी ही होती है अर्थात् वहाँ स्थित परमाणु सफेद पर्यायरूप थे वे काली पर्यायरूप होते हैं, परन्तु वे हाथ के कारण नहीं होते। इन दोनों की अवस्था करने में कोई ईश्वर कर्त्ता नहीं, परन्तु हाथ की पर्याय और रजकणों की पर्याय स्वतन्त्र उसके द्रव्य के कारण से होती है। कोई किसी का कर्त्ता नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय अपने उपादान के कारण से होती है। एक द्रव्य में अन्य द्रव्य की प्रेरणा, तीनकाल में नहीं होती। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हजारों-लाखों बन रहे हैं। कोई किसी के कारण से नहीं है।

अब निर्बल जड़कर्मों के निमित्त से जीव के स्वभाव का घात और बाह्य सामग्री का मिलाना किस प्रकार होता है। – यह बात समझाते है।

यदि कर्म स्वयं कर्तारूप होकर प्रयत्नपूर्वक जीव के स्वभाव का घात करे अथवा बाह्य सामग्री मिलावे तब तो कर्म में चेतनपना तथा बलवानपना चाहिये, परन्तु ऐसा तो है नहीं। कर्म स्वयं कर्त्तारूप होकर 'मैं इसके गुणों को घातूँ और साता का उदय है अत: धनादि का संयोग मिला दूँ' – ऐसे कर्ता होकर तो कुछ करता नहीं। परन्तु ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

बन जाता है। यहाँ निमित्त है और सामने (उपादान में) कार्य होता है – इन दोनों का एक ही काल है, आगे-पीछे नहीं। जो स्वयं (अपने में) संसार अवस्था को करने वाला है उसको निमित्त होता है। जो संसार अवस्थारूप नहीं होता उसकी बात नहीं है। यहाँ लोग भ्रम में पड़े हैं कि कर्म कर्त्ता नहीं यह बात तो बराबर है; परन्तु निमित्त आता है तब तो जीव को परिणमना पड़ता है तो कहते हैं कि यह बात भी मिथ्या है।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वाभाविक ही ऐसा मेल है कि जब कर्म का उदय काल हो तब आत्मा स्वयं संसारदशारूप से परिणमता है और अघाति कर्मों का उदयकाल हो तब बाहर के संयोग उनके कारण से आ मिलते हैं।

जैसे किसी पुरुष के शिर पर मंत्रित मोहनधूल पड़ने से वह पुरुष पागल (परवश) बन गया। अब वहाँ मंत्रित धूल को ज्ञान नहीं है और उसमें बलवानपना भी नहीं है फिर भी पागलपना उस मोहनधूल से ही हुआ देखने में आता है। वस्तुत: मंत्रित धूल का तो मात्र निमित्तपना ही है, परन्तु पागल होकर तो वह पुरुष स्वयं ही परिणमता है। मंत्र-तंत्र से कोई पागल नहीं बनता, परन्तु जिसमें पागल होने की योग्यता हो उसको ऐसा निमित्त होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक समय का होता है। पागल होने का और मंत्रित धूल का एक ही काल है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। उसमें कोई कर्त्ता तो है नहीं। देव-शास्त्र-गुरु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। वाणी आदि का मिलना वह वर्तमान पुरुषार्थ के आधीन नहीं है और वाणी का योग बना इस कारण आत्मा में कार्य होता है – ऐसा नहीं है। वाणी सुनने के समय अशुभभाव करना या शुभभाव करना, वह आत्मा का पुरुषार्थ है। वाणी का होना और आत्मा का पुरुषार्थ होना – इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु दोनों एक-दूसरे के कारण नहीं है – यह बात दृष्टान्त से कहते हैं –

जैसे सूर्योदय के समय चकवा-चकवी का संयोग होता है, वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेष-बुद्धि से अथवा बलपूर्वक उन्हें अलग नहीं किया है, वैसे ही दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से उन्हें मिलाया नहीं हैं; परन्तु स्वयं ही सूर्योदय का निमित्त पाकर मिलते हैं और सूर्यास्त का निमित्त पाकर स्वयं ही पृथक् होते है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है।

भोईं आमली का वृक्ष होता है, जब सूर्योदय होता है तो उसके पत्ते खिल जाते हैं और सूर्यास्त हो तब मुरझा जाते है – ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बन रहा है। यदि सूर्य इसका कर्त्ता हो तब तो सभी हरितकाय के पत्ते खिल जाना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। सूर्योदय हो तब लाखों मनुष्य जगते हैं और सूर्यास्त हो तब सोने की तैयारी करते हैं; सूर्य उसका कर्त्ता

नहीं है, क्योंकि बहुत से ऐसे भी होते हैं कि जो रात्रि में जगते हैं और सुबह से सायंकाल तक सोते हैं। यदि वह सूर्य के कारण होता हो तो सबको समान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है; सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। इसीप्रकार कर्मों का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना।

एक समय का निमित्त-नैमित्तिक भाव है, उसे कौन जान सकता है ? केवली सिवाय वह नहीं जाना जाता। तथापि अज्ञानी निमित्त के कारण नैमित्तिक भाव मानता है। निमित्त आया इसलिये नैमित्तिक भाव हुआ – यह बात एकदम मिथ्या है। मूढ़ जीव कर्म को प्रेरक निमित्त कहकर कर्म के कारण आत्मा में विकार होना मानता है, उसने पर्याय का काल नहीं माना अर्थात् पर्याय को स्वतन्त्र नहीं माना। उसका समस्त ज्ञान विपरीत है। वह निमित्त-नैमित्तिक भाव को नहीं समझता। आत्मा में संसार अवस्थारूपी कार्य होता है उसमें कर्म निमित्त है – ऐसी भी जिसे अभी खबर नहीं है वह स्वतन्त्र रीति से संसार अवस्था का नाश नहीं कर सकेगा। उसे बतलाते हैं कि संसार अवस्था कर्म के कारण नहीं है।

अब नवीन कर्म बंध किसप्रकार होता है – वह कहते हैं –

नवीन बंध विचार

....जैसे सूर्य का प्रकाश है सो मेघपटल से जितना व्यक्त नहीं है उतने का तो उस काल में अभाव है, तथा उस मेघपटल के मन्दपने से जितना प्रकाश प्रगट है वह उस सूर्य के स्वभाव का अंश है–मेघपटलजनित नहीं है। उसी प्रकार जीव का ज्ञान-दर्शन-वीर्य स्वभाव है; वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय के निमित्त से जितना व्यक्त नहीं है उतने का तो उस काल में अभाव है। तथा उन कर्मों के क्षयोपशम से जितने ज्ञान, दर्शन, वीर्य प्रगट हैं वह उस जीव के स्वभाव का अंश ही है, कर्मजनित औपाधिकभाव नहीं है। सो ऐसे स्वभाव के अंश का अनादि से लेकर कभी अभाव नहीं होता। इस ही के द्वारा जीव के जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है कि यह देखने वाली जाननेवाली शक्ति को धरती हुई वस्तु है वही आत्मा है।

तथा इस स्वभाव से नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता; क्योंकि निजस्वभाव ही बन्ध का कारण हो तो बन्ध का छूटना कैसे ? तथा उन कर्मों के उदय से जितने ज्ञान, दर्शन, वीर्य अभावरूप हैं उनसे भी बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वयं ही का अभाव होने पर अन्य को कारण कैसे हो ? इसलिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय के निमित्त से उत्पन्न भाव नवीन कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं।....

जैसे मेघ पटल से सूर्य का जितना प्रकाश व्यक्त नहीं होता उतना तो उस काल में उसका अभाव है। तथा उस मेघ पटल के मंदपने से जितना प्रकाश व्यक्त होता है वह उस सूर्य के स्वभाव

का अंश है, मेघ पटल जनित नहीं। सूर्य तो कायम है, उसके प्रकाश का सद्भाव और अभाव कितना है, उसकी बात की। वह है तो अपने कारण परन्तु उसमें मेघ पटल का निमित्त है।

वैसे ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म के निमित्त से जीव का जितना ज्ञान, दर्शन, वीर्य स्वभाव प्रगट नहीं होता उतना तो उस काल में उसका अभाव है। ज्ञानावरणादि कर्मों का जितना अवलम्बन है उतना तो स्वयं के कारण (योग्यता से) पर्याय में ज्ञानादिक का अभाव है। परन्तु वह बंध का कारण नहीं। ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अभाव बंध होने में कारण नहीं होता, क्योंकि अभाव बंध का कारण नहीं होता। जैसे एक मनुष्य जो मर गया हो वह लकड़ी लेकर किसी (अन्य) को मार नहीं सकता, वैसे ही ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अभाव, बंध का कारण नहीं होता।

तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का सद्भाव है, वह तो जीव के स्वभाव का अंश है, कर्मोदय जनित औदयिकभाव नहीं। एकेन्द्रिय निगोद से लेकर समस्त अज्ञानी जीवों को जो उघाड़ है वह तो जीव का स्वभाव है। अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य अथवा अभव्य जीव संसार अंवस्था में हैं। उन सब जीवों को जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ है वह उनका स्वभाव है। वह बंध का कारण नहीं, क्योंकि वह (भाव) कर्मोदयजन्य उपाधिभाव नहीं है।

इसप्रकार स्वभाव के अंश का अनादि से लेकर कभी भी अभाव नहीं होता। उसके द्वारा ही जीव का निश्चय किया जा सकता है।

चैतन्य ज्योति की प्रगटरूप दशा अनादि से है, उसका कभी भी अभाव नहीं होता। उसके द्वारा ही जीव के जीवत्व का निश्चय किया जा सकता है। देखो ! इन्द्रियों द्वारा जीव का निर्णय होता है ऐसा नहीं कहा। भगवान आत्मा शक्तिरूप से ज्ञान, दर्शन और वीर्य के स्वभावरूप है, उस शक्ति से 'यह जीव है' – ऐसा निश्चित होता है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मन, वाणी, देह से जीव का निर्णय हो सकता है – ऐसा नहीं कहा है। परन्तु ज्ञान, दर्शन, वीर्य स्वभाव वाला जीव है – ऐसा निर्णय करके अनन्त जीव केवली परमात्मा होकर सिद्धपद को प्राप्त हुए है। स्वभाव का अंश अनादि का है। वह कभी अभावरूप नहीं होता। उसका परिणमन भले ही हीन हो परन्तु स्वभाव का एक अंश तो सदा प्रगट रूप रहता ही है। यदि उस अंश का अभाव हो तब तो जीव का ही अभाव हो जाये।

यह स्वभाव का जो अंश ज्ञानरूप है वह केवलज्ञान का अंश है, दर्शनरूप अंश है वह केवलदर्शन का अंश है और चारित्ररूप अंश है वह यथाख्यात चारित्र का अंश है; उसके द्वारा

परिपूर्ण जीव स्वभाव का निर्णय होता है। इसप्रकार निर्णय करना ही मुक्ति का कारण है। अनन्तजीव अपना निर्णय यथार्थरूप से करते हैं उसकी बात की है। बंध का अभाव और बंध का भाव किस प्रकार होता है – यह यहाँ कहना है।

स्वभाव का अंश आवरणरूप नहीं होता – ऐसा निर्णय कौन कर सकता है ? कि जिसको द्रव्य-गुण-पर्याय, देव-शास्त्र-गुरु आदि का यथार्थ ज्ञान हो, वही कर सकता है, अन्य नहीं कर सकता। जिसको यथार्थ निर्णय हुआ है वह समझता है कि यह जो जानने-देखने की शक्ति को धारण करने वाली वस्तु है वही आत्मा है।

जैसे सूर्य की किरणों द्वारा यह सूर्य है – ऐसा निर्णय होता है। वैसे ही जानने-देखने के स्वभाव से आत्मा का निर्णय होता है। उस स्वभाव के द्वारा नवीन कर्मों का बंध नहीं होता। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि निगोद के जीव को भी जितना स्वभाव का अंश प्रगट है वह कर्म के बंध होने में कारण नहीं होता। इसप्रकार सत्य बात को धारण तो कर ! इसके धारण किये बिना अन्तर्मुखता कहाँ से होगी ? इन्द्रियाँ नहीं, राग नहीं किन्तु आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है, उसके द्वारा आत्मा का निर्णय होता है – ऐसा निर्णय कर ! ऐसा निर्णय करने के पश्चात् ही निमित्त का ज्ञान सच्चा होगा।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वभाव बंध का कारण हो तो बंध से छूटना हो ही नहीं सकता। ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ है उसके द्वारा तो बंध नहीं होता; परन्तु कर्म के उदय के निमित्त से ज्ञान, दर्शन, वीर्य, जितने अभावरूप है, उनसे भी बंध नहीं होता।

मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र – इन तीनों को बंध कारण अन्यत्र कहा है, परन्तु यहाँ तो सीधा ज्ञान-दर्शन-वीर्य बंध के कारण नहीं – ऐसा कहा है, क्योंकि स्वभाव बंध का कारण नहीं होता। और जिसका अभाव है वह अन्य को कारणरूप कैसे हो सकता है ? संसार अवस्था तो आत्मा की पर्याय है, उसमें कर्म का निमित्त है। उसमें बंध का कारण कौन है ? यह कहते हैं। ज्ञान-दर्शन-वीर्य के अंश का सद्भाव तथा अभाव संसारदशा होने पर भी वह बंध का कारण नहीं। इसलिए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के निमित्त से उत्पन्न भाव बंध के कारण नहीं हैं। ये तीनों उघाड़ में निमित्त है तथा अभाव में भी ये तीनों कर्म निमित्त है। अत: उघाड़ तथा अभाव-दोनों नवीन कर्म बंध के कारण नहीं हैं। यह बात तो एकदम समझ में आवे ऐसी है। आत्मा है तो उसकी वर्तमान दशा संसाररूप है कि मुक्तिरूप है ? संसाररूप है तो उसमें जितना ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंश उघाड़रूप है और जितना अंश अभाव रूप है – इन दोनों में से एक भी नवीन कर्म बंध का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़

है वह स्वभाव है अत: बंध का कारण नहीं और जो अभावरूप है वह बंध का कारण कैसे हो? अत: वह भी बंध का कारण नहीं हैं। देखो ! यहाँ कहते है कि ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ अंश संसारदशा में भी न हो तो जीव का अभाव हो जाये और पूर्ण हो तो संसारदशा न रहे। अत: आंशिक उघाड़रूप और आंशिक अभावरूप से ज्ञान, दर्शन और वीर्य हैं, परन्तु वे बंध का कारण नहीं हैं। आगे कहेंगे कि मिथ्यात्व और रागादिक बंध के कारण हैं।

ज्ञान, दर्शन, वीर्य की पर्याय है उसका धारक तो आत्मा है। उसका निर्णय करे तो बंध का अभाव हो। परन्तु इसके (ज्ञान, दर्शन, वीर्य के सद्भाव, अभाव रूप अंश के) कारण बंध नहीं होता। समझने की दरकार किये बिना यह बात समझ में नहीं आ सकती। अन्यथा बात तो सरल और सहज है।

....तथा मोहनीय कर्म के द्वारा जीव को अयथार्थ-श्रद्धानरूप तो मिथ्यात्वभाव होता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय होते हैं। वे यद्यपि जीव के अस्तित्वमय हैं, जीव से भिन्न नहीं हैं, जीव ही उनका कर्त्ता है, जीव के परिणमनरूप ही वे कार्य हैं; तथापि उनका होना मोहकर्म के निमित्त से ही है, कर्मनिमित्त दूर होने पर उनका अभाव ही होता है, इसलिये वे जीव के निजस्वभाव नहीं, औपाधिक भाव हैं। तथा उन भावों द्वारा नवीन बन्ध होता है; इसलिये मोह के उदय से उत्पन्न भाव बन्ध के कारण हैं।....

देखो ! अब बंधन किस कारण होता है वह कहते हैं – मोहनीय कर्म के उदय से अर्थात् आत्मा मोहनीय कर्म के उदय के समय उसमें जुड़ता है तब उसे अयथार्थ श्रद्धानरूप मिथ्यात्व अथवा क्रोध, मान, माया, लोभादिरूप कषाय भाव होते हैं।

जब मोहनीय कर्म का उदय हो उस समय जीव स्वयं अतत्त्वार्थ श्रद्धान करता है वह मिथ्यात्व-भाव है और जीव कषायभाव करता है, वे नवीन बंध के कारण हैं।

देखो ! यह बात तो समझ में आ सकने योग्य सरस है। आज भगवान महावीर मुक्त हुए हैं वे स्वभाव के आश्रय से ही मुक्त हुए हैं – यह एक ही मार्ग है।

जीव को संसार दशा में नया बंध होता है वह जीव के द्वारा किये गये मिथ्यात्वादि भावों से ही होता है। वे मिथ्यात्वादि भाव जीव के अस्तित्व में होते हैं। वे भाव जीव से भिन्न नहीं हैं। जीव स्वयं उनरूप होता है – परिणमता है।

इसप्रकार निम्न चार बातें की –

१. मिथ्यात्वादि भाव जीव के अस्तित्व में होते हैं। २. वे भाव जीव से भिन्न नहीं हैं।

३. उस विभावदशा का कर्ता जीव स्वयं ही है ४. वह जीव के परिणमन का ही कार्य है।

इसप्रकार समझकर आत्मा ज्ञान-दर्शन की मूर्ति है, उसके स्वभाव में ये भाव नहीं है जो ऐसा निर्णय करे उसको नया बंध नहीं होकर मुक्ति होती है।

आज संवत् २००१ के साल का नया वर्ष है। नये वर्षारम्भ का सुप्रभात मांगलिक किसे कहते है ? वह यहाँ कहते हैं। यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक के दूसरे अधिकार में संसार अवस्था का वर्णन चलता है। उस संसार अवस्था में दो प्रकार हैं एक तो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ है और दूसरे पुण्य-पाप रूप औदयिकभाव हैं, वे औदयिकभाव आदरणीय नहीं हैं और जो निरूपाधिक निज स्वभांव है वह आदरणीय है – ऐसा आत्मा का अन्तर अनुभव करके निर्णय करना वह भावश्रुतज्ञान केवलज्ञानरूपी सुप्रभात का कारण होता है और वह केवलज्ञान, केवलदर्शनादि पूर्ण स्वभाव प्रगट होने के पश्चात् सादि-अनन्त है अत: मांगलिक है।

भगवान को केवलज्ञान रूपी सुप्रभात प्रगट हुआ और उनकी दिव्यध्वनि खिरी, उसमें ऐसा आया कि आत्मा की पर्याय में जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ है वह स्वभाव होने के कारण बंध का कारण नहीं है। आत्मा ने अनादि से ही कर्त्तारूप होकर मोह-राग-द्वेषरूप औपाधिक भावरूप कार्य किया है, वह संसार है और वही बंध का कारण है।

अब मोक्ष एवं मोक्षमार्ग कैसे होता है वह कहते हैं। जो ज्ञान पर का लक्ष्य करके औपाधिकभावरूप होता है उस ज्ञान को स्वभाव सन्मुख करके अन्तर्दृष्टि करे तो केवलज्ञानरूपी सुप्रभात के कारणरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। जो भाव कर्म के निमित्त वाला है उसे औपाधिकभाव कहते हैं। उस औपाधिकभाव के साथ रहा हुआ ज्ञान का जो उघाड़ है उसमें ऐसा आना चाहिये कि यह औपाधिकभाव है, इसका लक्ष्य छोड़ने योग्य है और निमित्त का लक्ष्य भी छोड़ने योग्य है। ऐसा निर्णय विकल्पात्मक द्रव्यश्रुत में होता है। इस विकल्प वाले श्रुतज्ञान को सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत कहा है।

ज्ञान, दर्शन, वीर्य की पर्याय जो अंशरूप अभिव्यक्त है आत्मा उसका कर्त्ता और वह आत्मा का कार्य है और वह निरुपाधिक अंश है। उसका धारक आत्मा निरुपाधिक द्रव्य है; वह आदरणीय है। तथा वर्तमान पुण्य-पाप रूप औदयिकभाव जो कि देव-गुरु-शास्त्रादि के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ भाव है, वह छोड़ने योग्य है। अत: औपाधिकभाव का लक्ष्य छोड़ने योग्य है – वैसा विकल्पपूर्वक निर्णय करना, उसको भगवान द्रव्यश्रुत कहते हैं। ज्ञान,दर्शनवीर्य की प्रगट पर्याय मनुष्यभव में विशेष होती है। उसमें निर्णय करे कि यह प्रगट पर्याय है वह स्वभाव

का अंश है। वह अंश अंशीरूप शुद्ध निरुपाधिक द्रव्य का है – इसप्रकार स्वभाव को पकड़ना ही नूतन वर्ष का मांगलिक सुप्रभात है।

आज नूतन वर्ष का दिन बाहर में अनुकूल रहे – ऐंसी भावना लोग करते हैं। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि बाहर में अनुकूलता या प्रतिकूलता है ही नहीं। तथा आत्मा की पर्याय में दो अंश हैं – उसमें ज्ञान-दर्शन-वीर्य का अंश तो अनुकूलता का है। और मिथ्यात्व रागादिरूप अंश प्रतिकूलता का है और आत्मा तो स्वभाव से ही चिदानन्द-ज्ञानानन्द स्वरूपी है। अब उसकी पर्याय में जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकास है वह निरुपाधिक स्वभाव का अंश है, उसे अन्तर्मुख करके आत्मा को ग्रहण करे तो औपाधिकभाव का अंश नहीं रहता। यही मांगलिक और नववर्ष का सुप्रभात है।

यहाँ बंध कैसे होता है – यह बात चल रही है परन्तु उसके साथ ही अबंध मोक्षमार्ग कैसे होता है ? यह भी कहा जा रहा है। औपाधिकभाव टालने योग्य हैं। जो देव-शास्त्र-गुरु ऐसा कहते हैं वे सच्चे हैं और जो ऐसा नहीं कहते वे मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव श्री प्रवचनसार के चारित्र अधिकार की शुरुआत करते हुए कहते है कि मुनिपना बताने वाले – उसके प्रणेता हम ये खड़े। अर्थात् तुम्हें मुनिपना प्रगट करना हो तो उसकी विधि के कहने वाले हम हैं। – ऐसा कहकर कहा है कि जितना औपाधिकभाव है वह सब छोड़ने योग्य है। द्रव्यश्रुत द्वारा विकल्प से भी ऐसा निर्णय करे कि जितना उघाड़रूप अंश है वह तो निज स्वभाव है उसके द्वारा अन्तर्मुख दृष्टि करे और औपाधिकभाव छोड़ने योग्य है – ऐसा निर्णय करके भावश्रुत से आत्मा का ग्रहण करे तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।

आचार्य, संत, मुनि ऐसा कहते हैं कि भले ही आत्मा मनुष्य, देव या तिर्यन्च की गति में हो परन्तु वहाँ जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़रूप अंश है उसमें ऐसा निर्णय करे। देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि तेरा वर्तमान उघाड़ है उसे निरूपाधिक अन्तर तत्त्व के सन्मुख कर तो आत्मा पकड़ में आ सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण आत्मा को पकड़ने का निमित्त तो द्रव्यश्रुत है; अतः उस द्रव्यश्रुत को सम्पूर्ण श्रुत कहने में आता है।

आत्मा को शान्ति चाहिये हो तो वह शान्ति पूर्ण और सादि-अनन्त काल तक रहने वाली होनी चाहिये। ऐसी शान्ति किसको होती है ? जिसने आत्मा के उघाड़ और विकल्प द्वारा आत्मा तरफ सन्मुखता करके निर्णय किया कि जो औपाधिकभाव हैं वह समस्त ही छोड़ने लायक है और निरुपाधिक स्वभाव आदरणीय है – ऐसा द्रव्यश्रुत से निर्णय करे। ऐसा निर्णय करने वाले को देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं, उसका भी निर्णय होता है। जो उस द्रव्यश्रुतज्ञान

पूर्वक निर्विकल्प भावश्रुत से आत्मा को पकड़े उसे ऐसी शान्ति का कारण प्रगट होकर पूर्ण शान्ति का प्राप्त होना वह सुप्रभात का मांगलिक है।

जिन्हें विकल्प नहीं और पूर्णदशा प्रगट हो गई है – ऐसे सर्वज्ञदेव तथा जिन्हें विकल्प हैं – ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु और उनके द्वारा प्ररूपित शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि जो ज्ञान का उघाड़रूप अंश है उसके द्वारा और विकल्प द्वारा निर्णय कर कि आत्मा में जितना औपाधिकभाव है वह सब छोड़ने योग्य है – यह द्रव्यश्रुत ज्ञान है। तत्पश्चात् आत्मा में अन्तर्मुख होने से आत्मा पकड़ में आने योग्य है। इससे विरुद्ध कहने वाले देव-शास्त्र-गुरु सच्चे नहीं हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो साध्य-साधक और शास्त्र कैसे होते हैं ? और वे क्या कहते हैं ? तेरा वर्तमान उघाड़ रूप अंश है उसे अन्तर्मुख करने से अन्तर स्वभावभाव रूपी पर्याय प्रगटे – ऐसा है। प्रथम ऐसा निर्णय विकल्प में करे तो उस विकल्प का अभाव करके भावश्रुत द्वारा आत्मा को पकड़े और उसको मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो – वही नूतन वर्ष का मांगलिक है। यह जो बात कही जा रही है यदि इसे अन्तर में रुचिपूर्वक उपयोग को लगाकर नहीं समझे तो उसके मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और संसार का अन्त नहीं आता। पहले आत्मा स्वयं समझे कि आत्मा तो आनन्द शक्ति का कंद है। इसका वर्तमान उघाड़ है उसे अन्तर्मुख करे तो वह केवलज्ञानरूपी सुप्रभात का कारण होगा।

पद्मनंदि पंचविंशति में आचार्य भगवान कहते हैं कि केवलज्ञान, केवलदर्शनरूपी चक्षुओं का खुल जाना ही सुप्रभात है – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने केवली परमात्मा को अन्तर में उतारा है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार परमागम की पहली गाथा में सिद्ध परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थापित करके वंदन करते हैं। यह पंचमकाल है इसमें अभी केवलज्ञानरूपी सुप्रभात उगे – ऐसा नहीं है इसलिए प्रस्ताना (शगुन) रखते हैं। अत: केवलज्ञान रूपी सुप्रभात उग जायेगा। जिसको अपनी आत्मा में सर्व सिद्धों का आदर आया है उसको विकार और अल्पज्ञता का आदर नहीं रह सकता। वर्तमान पर्याय को अन्तर्मुख करने वाले को पर का आदर नहीं रहता। किसी भी शास्त्र की गाथा लो या टीका लो, उसमें संतों ने वीतरागमार्ग की, केवलज्ञान की बात की है। अहो ! जिसने सिद्धों का आदर करने का निश्चय किया उसको वास्तव में मैं पूर्णानन्द की मूर्ति आत्मा हूँ उसका आदर है और पर्याय में जो अल्पज्ञता और विकार है, उसका उसे आदर नहीं है। जिसको सुप्रभातरूपी प्रकाश प्रगट करना हो तो उसके लिए तो केवलज्ञानरूप सुप्रभात ही मांगलिक है। ऐसा प्रथम आत्मा में भावश्रुतज्ञान से निर्णय करना चाहिये। औपाधिकभाव वह निज स्वभाव नहीं है उसका लक्ष्य छोड़ना चाहिये।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है –

"उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं बार ।।"

ज्ञान, दर्शन, वीर्य का प्रगट अंश, जीव का स्वभाव है और औपाधिकभाव, स्वभाव नहीं हैं – ऐसा कहकर जीव का जीवपना, जीव का सिद्धपना, भावपना ज्ञान, दर्शन और वीर्य द्वारा निश्चित होता है – यह बताया है। उस प्रगट भाव को अन्तर्मुख करे तो औपाधिकभावों का अभाव होकर सुप्रभात प्रगट होता है।

श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४३६ में कहा है कि – वीरेन्द्रनन्दि नाम के आचार्य का शिष्य ऐसा मैं यह ग्रन्थ कर्त्ता नेमिचन्द्र हूँ, जो शास्त्र के शिक्षादायक गुरु के चरणप्रसाद से अनन्त संसार समुद्र का पार पा गया हूँ, उन श्रुतगुरु अभयनन्दि आचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार श्रुतगुरु को नमस्कार किया है।

जिन्हें ज्ञान का समुद्र उछल रहा था ऐसे ये नेमिचन्द्र मुनि थे। अभी तो ऐसे मुनि नहीं हैं। वे मुनि कहते हैं कि अहो श्रुतगुरु ! आपके चरण से संसार का पार पाया। उनको क्षयोपशम ज्ञान का समुद्र फट पड़ा था। जिनको धवल और महाधवल शास्त्रों का अभ्यास था वे संत मोक्ष के निकट आ गये थे – ऐसे मुनियों को भी गुरु का बहुमान आये बिना नहीं रहता। पंचमकाल के मुनि में भी कितनी विनय है, विनय में झुक पड़े हैं। किसी भी आचार्य का कथन हो परन्तु उन सबमें एक ही बात होती है। गोम्मटसार, समयसार, अष्टसहस्त्री, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में एक वीतरागभाव का ही पोषण करने की बात है।

देखो ! नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती संत मुनि थे। वे पर के कारण आत्मा को लाभ होता है – ऐसा तो मानते ही नहीं थे। यहाँ निमित्त की प्रधानता से शुभ विकल्प उठा है अत: लिखने में तो ऐसा आया है, परन्तु आत्मा शुभ विकल्प से तिरता है – ऐसा वे नहीं मानते थे। फिर भी उनको गुरु का बहुमान आये बिना नहीं रहता और स्वयं वीरेन्द्रनन्दि के शिष्य थे ऐसा भी कहते हैं। अनन्तसंसार रूपी सागर है, उसका पार मैं गुरु की सेवा से पाया हूँ। इसप्रकार गुरु को विनय करके नमस्कार किया है। यहाँ निमित्त की प्रधानता से शुभ विकल्प उठा है, अत: लेखनी तो ऐसी आती है, परन्तु वास्तव में तो अन्तर आत्मा का विनय ही यहाँ उछला है।

हे नाथ ! शिक्षादायक गुरु ! मैं आपके प्रसाद से संसार तिरा हूँ। मेरे संसार का अन्त आ गया है। इस प्रकार विनय दर्शाया है। गुरु का नाम प्रगटरूप से शास्त्र में दिया है। जिनके निमित्त से पाया उनका बहुमान करते हैं और अपनी पात्रता दर्शाते हैं। आत्मा तो स्वभाव से आनन्द

का कंद है परन्तु पर्याय में वर्तमान में आनन्द नहीं है, दुःख प्रगट है, वह हेय है – ऐसा आपने निर्णय कराया – ऐसा कहकर गुरु का विनय किया है। अज्ञानी मूढ़ जीव "स्वयं से ज्ञान हुआ है" – ऐसा मानकर निमित्त का विनय नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा चिदानन्द है, उसमें अन्तर्मुख होकर देखे तो विश्वास हो जाये। उस अखण्डानन्द आत्मा के अवलम्बन से केवलज्ञानरूपी सुप्रभात प्रगट होता है।

नववर्ष में दिन सुख से व्यतीत हों – ऐसा लोग आशीर्वाद माँगते है। परन्तु आत्मा को समझे बिना सुख से दिन व्यतीत होना संभव नहीं है। इसलिये यहाँ तो कहते हैं कि वर्तमान ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंकुर त्रिकाली का अंश है। उसके द्वारा त्रिकाली आत्मतत्त्व का निर्णय होता है। जैसे आम के दो-चार पत्ते जमीन से बाहर निकले हों उस पर से निश्चित हो जाता है कि इसका बीज आम की गुठली है। वह बीज अव्यक्त होने पर भी पत्तों पर से उसका निर्णय हो जाता है। वैसे ही ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंश है वह चैतन्य का अंश है। उसके द्वारा चैतन्य स्वभावी आत्मा का निर्णय होता है, क्योंकि वह राग-द्वेष अथवा पुण्य-पाप का अंश नहीं है, वह औपाधिकभाव नहीं है। इसप्रकार आत्मा का निर्णय करना, वह मांगलिक है।

आत्मा अनन्त शक्ति का भण्डार है। उसका आश्रय लेने से सम्यक् अंकुर प्रगट होते हैं। ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंकुर तो अनादि से है, परन्तु उस अंकुर को स्वभाव सन्मुख करे तो सम्यग्दर्शनरूपी अंकुर प्रगट हो और केवलज्ञानरूपी मांगलिक सुप्रभात प्रगट हो जाए। देह होने पर भी वह सुप्रभात प्रगट होता है। उसके पूर्व सम्यग्दर्शनरूपी भोर होती है और फिर केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट होता है।

आत्मा का उघाड़रूप अंश वह औपाधिकभाव नहीं, स्वभाव है – इसप्रकार अस्ति-नास्ति से बात की है। औपाधिकभाव, वह निजस्वभाव नहीं है और ज्ञान, दर्शन, वीर्य, वह निजस्वभाव है। अतः ज्ञान, दर्शन, वीर्य से बंध नहीं होता; बंधन तो पुण्य-पापरूपी औपाधिकभावों से ही होता है।

आत्मा का जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंश है वह निरुपाधिक है और वह अंश आत्मा का होने से आत्मा भी निरुपाधिक है – ऐसे निरूपाधिक आत्मा का निर्णय करना मांगलिक है और वह सुप्रभात का कारण है। औपाधिकभाव बंध का कारण है और निरूपाधिकभाव मोक्षमार्ग एवं मोक्ष का कारण है – ऐसा निर्णय करना ही केवलज्ञानरूपी सुप्रभात का कारण है एवं मांगलिक है।

आत्मा में अनादिकाल से जो बंध अवस्था है, वह बताते हैं। उसमें जो ज्ञान, दर्शन,

वीर्य का उघाड़ और अभाव है वह बंध का कारण नहीं है। यह आत्मा ज्ञान, दर्शनादि अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसकी पर्याय में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अनादि से आंशिक उघाड़ है। यदि वह उघाड़ न हो तो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह उघाड़ आत्मा का निज स्वभाव होने से बंध का कारण नहीं और जितना अभाव है वह भी बंध का कारण नहीं। बंध का कारण तो मोह है यहाँ तक बात आ चुकी है। अब संसार अवस्था में अघाति कर्मों के निमित्त से क्या होता है ? वह कहते हैं।

....तथा अघातिकर्मों के उदय से बाह्य सामग्री मिलती है, उसमें शरीरादिक तो जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही होकर एक बंधानरूप होते हैं और धन, कुटुम्बादिक आत्मा से भिन्न रूप हैं इसलिये वे सब बन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं होता। उनमें आत्मा को ममत्वादिरूप मिथ्यात्वादिभाव होते हैं वही बन्ध का कारण जानना।....

अघाति कर्मों के उदय से बाह्य सामग्री का संयोग होता है। बाह्य सामग्री आत्मा के प्रयत्न से नहीं आती। एक को मोटा और एक को पतला शरीर मिलता है, वह पूर्व के कर्म के कारण है। वे संयोग बंध का कारण नहीं, किन्तु आत्मा में जो मिथ्यात्वादिरूप भाव होते हैं वे ही बंध के कारण हैं – ऐसा निर्णय करे तो मोह के नाश का उपाय करे। अब यहाँ कहते हैं कि अघाति कर्मों के निमित्त से जो बाहर में संयोग मिलते हैं, उनमें शरीरादिक तो जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप होकर ही रहते हैं और धन, परिवार आदि बाहर के संयोगरूप रहते हैं। पैसा मिलना, वह तो पूर्व के अघाति कर्म का उदय उसप्रकार का हो तो मिलता है। वर्तमान प्रयत्न का वह फल नहीं है। वर्तमान में भोगने का भाव हुआ वह मोह के कारण से हुआ है तथा नवीन बंधन का कारण होता है – ऐसा समझना।

मोक्षमार्ग समझाने से पूर्व बंधन किस कारण से होता है ? यह समझाते हैं। विपरीत मान्यता और राग-द्वेषादि ही एकमात्र बंधन के कारण हैं। गरीब से धनवान होना, वह तो अघाति कर्म के निमित्त से होता है। पूर्व में जिस प्रकार का कर्म बाँधा हो उसी के प्रमाण में (अनुसार) सामग्री मिलती है। वह शरीरादि व धनादि सामग्री बंध का कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं। कंचन, कामिनी और कुटुम्ब बंधन के कारण नहीं हैं। अत: उनके छोड़ने से बंधन नहीं छूटता। ये कुटुम्बादि तो अघाति कर्मों के फल हैं। कुटुम्ब के प्रति ममत्व करना, संसार वृद्धि का कारण है; कुटुम्ब संसार का कारण नहीं है। पुत्र-पुत्री, बहु-समधी, स्त्री आदि मिले हैं वे सब आत्मा से दूर-भिन्न हैं, वे कोई दोष के कारण नहीं हैं। शरीर, इन्द्रियाँ आदि तो एकक्षेत्रावगाही हैं, वे भी बंध के कारण नहीं हैं तो फिर यह धनादि तो आत्मा से अत्यन्त दूर वर्तते हैं, वे तो पूर्व कर्म

के कारण मिले हैं, वे आत्मा को बंध के कारण कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि परद्रव्य बंध का कारण नहीं होता।

यहाँ तो स्पष्ट कहा है कि परद्रव्य बंध का कारण नहीं है और परद्रव्य मुक्ति का कारण भी नहीं है। निमित्त कारण नहीं है – यह बात कह रहे हैं। परवस्तु बंध का कारण नहीं होती, परन्तु आत्मा उसमें मिथ्यात्वादि भाव करता है – वह बंध का कारण है। आँखों से दिखे नहीं, शरीर काम करे नहीं फिर भी ममता करके व्यापारादि का कार्य करने का भाव, बंध का कारण है। मैंने बराबर ध्यान रखा इसलिये व्यवस्था रहती है – यह मिथ्याभाव बंध का कारण है।

मैं पैसों की व्यवस्था भलीभाँति कर सकता हूँ – यह मिथ्याभाव है। अज्ञानी व्यर्थ ही अभिमान करता है और वर्तमान प्रयत्न व्यर्थ होने पर भी ममत्व करके शरीर मेरा, मैं सुन्दर, मुझमें योग्यता बहुत है – ऐसा मानकर स्वयं बंध का कर्त्ता होता है। कर्म बंधन कराता है – ऐसा नहीं। आत्मा का भाव बंधन का कारण है, पर-वस्तु बंधन का कारण नहीं है – ऐसा यहाँ सिद्ध किया है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि पर-वस्तु बंधन का कारण नहीं है तो फिर वस्त्र हो या नहीं हो, उससे मुनिपने में क्या बाधा आती है ?

समाधान – परवस्तु बंधन का कारण नहीं है। वस्त्र बंधन का कारण नहीं है, परन्तु वस्त्र-पात्र रखने में जो ममत्वभाव है, वह बंधन का कारण है। उनके प्रति ममत्व भाव न हो और वस्त्र पात्र हो – ऐसा नहीं बनता। अत: जिसको वस्त्र-पात्र है उसको ममत्वभाव है फिर भी उस स्थिति में मुनिपना मनवाना, वह मिथ्यात्वभाव है; वह भाव अनन्त संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। मोटर बंध का कारण नहीं है, परन्तु मोटर में बैठने का भाव बंध का कारण है – ऐसा जानना। जो पर-वस्तु को बंध का कारण मानता है वह वस्तु के स्वभाव को समझा ही नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८०२ में आता है कि जो जीव अरिहन्त, सिद्ध, प्रतिमा, तपश्चरण, निर्दोष शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु, वीतराग प्ररूपक धर्म और मुनि आदे के समूहरूप संघ के प्रतिकूल वर्तता है और इनके स्वरूप की विपरीत श्रद्धा करता है, वह दर्शनमोह को बांधता है – इस कारण वह अनन्त संसार में भटकता है। कुदेवादिक का आदर और सच्चे देवादिक का अनादर करना दर्शनमोह के बंध का कारण है। कुदेवादिक बंध के कारण नहीं, क्योंकि वे तो पर-वस्तु हैं; परन्तु उनके प्रति रुचि का भाव और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अरुचि का भाव, वह मिथ्यात्व के बंध का कारण है और अनन्तसंसार का कारण है। यहाँ संसारदशा का

वर्णन चलता है। यह संसारदशा पर्याय है, त्रिकाली स्वभाव नहीं। संसारदशा में जो बंध होता है वह ममत्व एवं मिथ्यात्वभाव से होता है। पैसा, मकान आदि का ममत्वभाव, बंध का कारण है – ऐसा जानना।

योग और उससे होने वाले प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध

....तथा इतना जानना कि नामकर्म के उदय से शरीर, वचन और मन उत्पन्न होते हैं; उनकी चेष्टा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चंचलपना होता है, उससे आत्मा को पुद्गलवर्गणा से एक बन्धान होने की शक्ति होती है, उसका नाम योग है। उसके निमित्त से प्रति समय कर्मरूप होने योग्य अनन्त परमाणुओं का ग्रहण होता है। वहाँ अल्पयोग हो तो थोड़े परमाणुओं का ग्रहण होता है और बहुत योग हो तो बहुत परमाणुओं का ग्रहण होता हैं। तथा एक समय में जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करे उनमें ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों का और उनकी उत्तर प्रकृतियों का जैसे सिद्धान्त में कहा वैसे बंटवारा होता है। उस बंटवारे के अनुसार परमाणु उन प्रकृतियों रूप स्वयं ही परिणमित होते हैं।....

अब विशेष में नामकर्म के उदय से शरीर, वचन और मन उपजता है, उनकी चेष्टा के निमित्त से आत्म प्रदेशों का चंचलपना होता है। जिसके द्वारा आत्मा के पुद्गल वर्गणाओं से एक बंधानरूप होने की शक्ति होती है, उसको योग कहते हैं। नामकर्म बंधा उसके निमित्त से मन, वचन, काया मिलते हैं, उनके निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है। आत्मा के प्रदेशों का कम्पन वह नैमित्तिक कार्य है, उसमें मन, वाणी और देह निमित्त है; वह जड़ की चेष्टा है। उससमय आत्मा के प्रदेशों में चंचलपना होता है। उस चंचलपने के कारण आत्मा के प्रदेशों में कर्म आते हैं – उसे योग कहते हैं। उस योग के निमित्त से नये कर्मों के होने योग्य रजकणों का ग्रहण होता है – ऐसा कहा है। कंपन में देह-मन-वाणी निमित्त है और कर्मों के आने में योग का कंपन निमित्त है। वे कर्म योग के कंपन के प्रमाण (अनुसार) में आते हैं।

अब वहाँ एक समय में ग्रहण हुए पुद्गल परमाणु ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृति व उनकी उत्तर प्रकृतियों में सिद्धान्त में कहे अनुसार स्वयं बँट जाते हैं। आत्मा के प्रदेशों में कर्म आते हैं वे ज्ञानावरणादि रूप स्वयं बंट जाते हैं और इसप्रकार वे कर्म स्वयं ही परिणम जाते हैं। इसप्रकार योग को भी बंधन का कारण कहा है अर्थात् कषाय और योग दोनों बंध के कारण हैं – ऐसा कहा है।

....विशेष इतना है कि योग दो प्रकार का है। १. शुभयोग और २. अशुभयोग। वहाँ धर्म के अंगों में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होने पर तो शुभयोग होता है और अधर्म के अंगों में उनकी प्रवृत्ति होने पर अशुभयोग होता है।....

यहाँ धर्म के अंग अर्थात् शुभभाव में शुभ योग होता है और अधर्म के अंग अर्थात् अशुभ भावरूप पाप भाव में अशुभयोग होता है। पुत्र-पुत्री, धनादिक की व्यवस्था करना – यह सब पापभाव है, अधर्म का अंग है, यह कर्तव्य नहीं है। दया, दान, भक्ति आदि के शुभभाव को शुभ योग कहते हैं।

....शुभ योग हो चाहे अशुभ योग हो परन्तु सम्यक्त्व पाये बिना घातिया कर्म का बंध तो निरंतर होता ही रहता है। किसी समय किसी भी प्रकृति का बन्ध हुए बिना नहीं रहता। इतना विशेष है कि मोहनीय के हास्य-शोक युगल में, रति-अरति युगल में, तीनों वेदों में एक काल में एक-एक ही प्रकृति का बन्ध होता है।....

दया, दान, भक्ति, व्रत के परिणाम करे तथापि आत्मा के भान बिना घाति-कर्मों की सभी प्रकृतियां बंधती रहती हैं। अत: उसका संसार पार किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। अज्ञानी दया पाले या दान दे, संत-मुनि को आहारदान दे तो भी उसको धर्म नहीं होता, परन्तु पुण्य बंध होता है। चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ सत्ता और उदय में होती हैं, तथा मिथ्यादृष्टि के ४५ प्रकृतियों का बंधन तो निरंतर हुआ करता है – यह मोटा सिद्धान्त है।[१] शुभ या अशुभ भाव करे परन्तु आत्मा के भान बिना उसे घातिया कर्मों की ४५ प्रकृतियों का बंध निरंतर हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि योग के कारण जो बंधन होता है उसे यहाँ गौण किया है अर्थात् संसार में परिभ्रमण का मूल कारण तो मिथ्यात्व ही है – ऐसा कहा है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी लड़ाई में खड़ा हो तो भी उसको मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का बंध नहीं होता और द्रव्यलिंगी मुनि हो परन्तु वह मिथ्यादृष्टि होने से उसके निरंतर चारों घाति कर्मों की प्रकृतियाँ बंधती है। इसलिये आत्मा के शुभयोग हो चाहे अशुभयोग हो – उसकी विशेषता नहीं है, इससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। यह संसार दशा में क्या हो रहा है उसकी बात चलती है। मिथ्यादृष्टि को शुभयोग में भी निरंतर घाति कर्मों का बंधन हुआ ही करता है, किसी भी समय किसी भी प्रकृति का बंध हुए बिना नहीं रहता। यह अस्ति-नास्ति से बात की है। कर्म की स्थिति-रस की घट-बढ़ होती है उसकी मुख्यता नहीं है।

सभी प्रकृतियों का बंधन होता है इसमें इतना समझना कि मोहनीय के हास्य-शोक युगल में, रति और अरति युगल में और तीन प्रकार के वेद में से एक काल में किसी एक कर्म प्रकृति का ही बंध होता है अर्थात् हास्य-शोक – इन दो में से एक, रति-अरति – इन दो में से एक

१. घातिकर्मों की ४७ प्रकृतियाँ है, उनमें सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति बंधन योग्य नहीं है; अत: ४५ प्रकृतियों का बंध निरन्तर होता रहता है।

और तीन वेद में से एक – इसप्रकार एक काल में एक ही प्रकृति का बंध होता है। इसप्रकार घाति कर्म की प्रकृतियों के बंध की बात हुई।

....तथा अघातिया कर्मों की प्रकृतियों में शुभयोग होने पर सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है, अशुभयोग होने पर असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है, मिश्रयोग होने पर कितनी ही पुण्य प्रकृतियों का तथा कितनी ही पाप-प्रकृतियों का बन्ध होता है।....

अब अघाति प्रकृतियों में शुभयोग हो तब सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों और अशुभ योग हो तब असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का बंध होता है। जिसको आत्मा का भान नहीं है उसको कदाचित शुभयोग हो तो सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियाँ बंधती हैं और अशुभ योग हो तो असातावेदनीय की पाप प्रकृतियाँ बंधती हैं। अत: अघाति कर्मों के बंध में तो अन्तर पड़ता है; परन्तु घाति कर्मों के बंधन में अन्तर नहीं पड़ता। तथा मिश्रयोग हो तो कोई पुण्य प्रकृति और कोई पाप प्रकृति का बंध होता है। इस कारण योग को आस्रव कहा है।

....इस प्रकार योग के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है। इसलिये योग है वह आस्रव है। तथा उसके द्वारा ग्रहण हुए कर्मपरमाणुओं का नाम प्रदेश है, उनका बन्ध हुआ और उनमें मूल-उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ; इसलिये योगों द्वारा प्रदेशबन्ध तथा प्रकृतिबन्ध का होना जानना।....

इस योग द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गल परमाणुओं का नाम प्रदेश है, उनका जो बंध हुआ उसमें मूल-उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ, अत: योग से प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध होता है – ऐसा समझना। कंपन के कारण परमाणु आते हैं और वे परमाणु उनकी योग्यता प्रमाण बंध जाते हैं; परन्तु इसकी यहाँ विशेषता नहीं है। संसार अवस्था में नये आवरण आते हैं, उनमें प्रकृति-प्रदेश का आवरण, वह तो योग के कारण से है।

इसप्रकार आठ कर्मों में मोहनीय कर्म और नाम कर्म – ये दो बंध में निमित्त होते हैं, अन्य छह कर्म तो निमित्त भी नहीं होते। इनमें भी मुख्यपने तो मोहनीय कर्म के निमित्त से आत्मा मिथ्यात्व भाव करता है, वह बंध का कारण है – ऐसा कहा है और नामकर्म के निमित्त से जो मन-वचन-काया मिलते हैं, उनके निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में चंचलपना होता है – वह प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध का कारण है – ऐसा कहा है, परन्तु इसकी मुख्यता नहीं है।

कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध

....तथा मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं, उन सबका नाम सामान्यत: कषाय है। उससे उन कर्म प्रकृतियों की स्थिति बँधती है। वहाँ जितनी स्थिति बँधे उसमें आबाधाकाल को छोड़कर पश्चात् जब तक बँधी स्थिति पूर्ण हो तब तक प्रति समय उस प्रकृति का उदय आता ही रहता है। वहाँ देव-मनुष्य-तिर्यंचायु के बिना अन्य सर्व घातिया-अघातिया प्रकृतियों का, अल्प कषाय होने पर थोड़ा स्थितिबन्ध होता है, बहुत कषाय होने पर बहुत स्थितिबन्ध होता है। इन तीन आयु का अल्प कषाय से बहुत और बहुत कषाय से अल्प स्थितिबन्ध जानना।....

जो कर्म सत्ता में था उसकी स्थिति पूर्ण होकर उदयरूप होती है, उसको यहाँ उदय कहते हैं। *उस मोह के उदय से यहाँ मिथ्यात्व क्रोधादिरूप भाव होते हैं, उन सबका सामान्यत: 'कषाय' ऐसा नाम जानना।*

आत्मा विपरीत मान्यता करता है उसमें मोहनीय कर्म निमित्त है। *यहाँ मिथ्यात्वादि को कषाय भाव कहा है।* वहाँ जितनी स्थिति बाँधी हो उसमें आबाधाकाल छोड़कर तत्पश्चात् जब तक बंधी स्थिति पूर्ण न हो वहाँ तक प्रतिसमय उन प्रकृतियों का उदय आया ही करता है। वहाँ अल्प कषाय हो तो देव, तिर्यन्च, मनुष्य आयु के अलावा बाकी सर्व घाति-अघाति कर्म प्रकृतियों का थोड़ा स्थिति बंध होता है। शुभभाव से देव, तिर्यन्च, मनुष्य आयु की अल्प स्थिति नहीं बंधती और अन्य प्रकृतियों की अल्पस्थिति बंधती है; परन्तु यहाँ उसकी विशेषता नहीं है। अशुभ भाव हो तो इन तीन आयु की स्थिति थोड़ी बंधती है और अन्य प्रकृतियों की स्थिति बहुत बंधती है।

यहाँ नवीन बंध किस प्रकार होता है उसकी बात चल रही है। योग के निमित्त से प्रकृति प्रदेश बंध होता है उसकी मुख्यता नहीं है, परन्तु कषाय के कारण से स्थिति-अनुभाग बंध होता है उसकी मुख्यता है।

जिसके परिणाम में से कुदेवादिक की रुचि छूटी है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पुष्टि, आश्रय, प्रमोद वर्तता है – वह मंद मिथ्यात्व है, वह मंद कषायरूप शुभभाव है। जिसको ऐसी अल्प कषाय हो उसके देव, मनुष्य, तिर्यन्च की आयुष्य की स्थिति बहुत बंधती है। जिसको आत्मज्ञान नहीं है ऐसा जीव मंद मिथ्यात्व करता है और उसको देव-मनुष्य-तिर्यन्च आयु की प्रकृति के सिवाय सर्व घाति और अघाति कर्म प्रकृतियों का थोड़ा स्थिति बंध पड़ता है। मिथ्यादृष्टि जीव के मंद कषाय और तीव्र कषाय में स्थिति बंध कैसा होता है उसका वर्णन चलता है। मिथ्यात्वी को बहुत कषाय हो तो तीन आयु की प्रकृति सिवाय घाति-अघाति सर्वप्रकृतियों

का बहुत स्थिति बंध होता है और देव, मनुष्य व तिर्यन्च – इन तीन आयु का अल्प कषाय हो तो बहुत और बहुत कषाय हो तो अल्प स्थिति बंध पड़ता है।

जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति नहीं है उसे तो साता वेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी की स्थिति नहीं बंधती, किन्तु जिस मिथ्यादृष्टि को सच्चे देवादिक की श्रद्धा है उसको सातावेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी की स्थिति बंधती है। तीव्र मिथ्यात्व हो और कषाय बहुत हो तो निगोद की स्थिति बहुत बंधती है। *जिसको सच्चे देवादिक की श्रद्धा नहीं है उसके कदाचित् शुभभाव हो, परन्तु मिथ्यात्व की मंदता नहीं होती। गृहीत मिथ्यात्व सहित तीव्र कषाय हो उसके निगोद की बहुत स्थिति पड़ती है।*

इसप्रकार स्थिति बंध की बात करके अब अनुभाग बंध की बात करते हैं।

....तथा उस कषाय द्वारा ही उन कर्मप्रकृतियों में अनुभाग शक्ति का विशेष होता है। वहाँ जैसा अनुभागबन्ध हो वैसा ही उदयकाल में उन प्रकृतियों का बहुत या थोड़ा फल उत्पन्न होता है। वहाँ घाति कर्मों की सर्वप्रकृतियों में तथा अघाति कर्मों की पाप प्रकृतियों में तो अल्प कषाय होने पर अल्प अनुभाग बँधता है, बहुत कषाय होने पर बहुत अनुभाग बँधता है; तथा पुण्य-प्रकृतियों में अल्प कषाय होने पर बहुत अनुभाग बँधता है, बहुत कषाय होने पर थोड़ा अनुभाग बँधता है।

इस प्रकार कषायों द्वारा कर्म प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग का विशेष हुआ; इसलिये कषायों द्वारा स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध का होना जानना।....

इन मिथ्यात्व, क्रोधादिरूप कषायों से ही कर्म प्रकृतियों में अनुभाग शक्ति के भेद होते हैं।

जिस प्रकृति का जैसा बंध हुआ हो उसका अनुभाग वैसा ही उदय में आता है, अन्य नहीं आता। यदि उस उदय के समय आत्मा को अल्प कषाय हो तो घातिकर्म की सर्व प्रकृतियों में और अघातिकर्मों की पाप प्रकृतियों में थोड़ा अनुभाग बंधता है और बहुत कषाय हो तो उनमें बहुत अनुभाग बंधता है। तथा अघाति कर्मों की पुण्य प्रकृतियों में अल्प कषाय हो तो बहुत और तीव्र कषाय हो तो थोड़ा अनुभाग बंधता है। अल्प कषाय हो तो पुण्य प्रकृतियों में बहुत रस पड़ता है और तीव्र कषाय हो तो पुण्य प्रकृतियों में थोड़ा रस पड़ता है। इसप्रकार कषायों से कर्म प्रकृतियों में स्थितिबंध और अनुभागबंध के भेद पड़ते हैं। अत: कषाय के कारण ही स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है – ऐसा जानना। इसप्रकार योग से प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध होता है और कषाय से स्थितिबंध अनुभागबंध होता है।

इन स्थितिबंध और अनुभागबंध में तात्पर्य यह है कि – जिसको सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा नहीं है, जो अरिहन्तादिक की प्रतिमा और वीतराग धर्म से विमुख होकर विपरीतता का सेवन करता है, उसके सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति का (मिथ्यात्व का) बंध पड़ता है। वह अनन्त संसारी है। मंद मिथ्यात्व और मंद कषाय हो तो भी पाप प्रकृतियों का बंध हुए बिना नहीं रहता और तीव्र कषाय हो तब भी पुण्य प्रकृतियों का थोड़ा रस बंधता है। इसप्रकार पुण्य-पाप का चक्र चला करता है और इस कारण जीव अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

जो कुदेवादिक की श्रद्धा नहीं छोड़ता उसके तो मिथ्यात्व भी मंद नहीं होता। ऐसे जीवों को तो आत्मा की प्राप्ति किसी प्रकार नहीं होती। वे तो अनन्त संसार के कारणरूप मिथ्यात्व को ही बाँधते हैं – ऐसा वस्तु का स्वरूप है। संसार दशा में मंद और तीव्रपना तो अनादि से हुआ ही करता है।

....यहाँ जिसप्रकार बहुत मदिरा भी है और उसमें थोड़े कालपर्यन्त थोड़ी उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति है तो वह मदिरा हीनपने को प्राप्त है, तथा यदि थोड़ी भी मदिरा है और उसमें बहुत कालपर्यन्त बहुत उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति है तो वह मदिरा अधिकपने को प्राप्त है; उसी प्रकार बहुत भी कर्मप्रकृतियों के परमाणु हैं और उनमें थोड़े कालपर्यन्त थोड़ा फल देने की शक्ति है तो वे कर्मप्रकृतियाँ हीनता को प्राप्त हैं, तथा थोड़े भी कर्मप्रकृतियों के परमाणु हैं और उनमें बहुत कालपर्यन्त बहुत फल देने की शक्ति है तो वे कर्मप्रकृतियाँ अधिकपने को प्राप्त हैं।

इसलिए योगों द्वारा हुए प्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्ध बलवान् नहीं हैं, कषायों द्वारा किया गया स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध ही बलवान् है; इसलिये मुख्यरूप से कषाय को ही बन्ध का कारण जानना। जिन्हें बन्ध नहीं करना हो वे कषाय नहीं करें।....

अब अनुभाग का दृष्टान्त देते हैं – जैसे बहुत मदिरा हो, तथापि उसमें थोड़े काल तक थोड़ी उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति हो तो वह मदिरा हीनपने को प्राप्त कहलाती है अर्थात् वह हल्की मदिरा कहलाती है और थोड़ी मदिरा हो, फिर भी उसमें बहुत काल तक बहुत उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति हो तो वह मदिरा अधिकपने को प्राप्त है; अर्थात् उसे तीव्र मदिरा कहते हैं। वैसे ही कर्म प्रकृतियों में बहुत परमाणु हों फिर भी उनमें थोड़े काल तक थोड़ा फल देने की शक्ति हो तो वह कर्म प्रकृति हीनपने का प्राप्त है तथा कर्म प्रकृतियों के थोड़े परमाणु हों और उनमें बहुत काल तक बहुत फल देने की शक्ति हो तो वह कर्म प्रकृति अधिकपने को प्राप्त है।

यहाँ प्रदेश की महत्ता को निकाल दिया है। बहुत परमाणु हों फिर भी फल देने की शक्ति

कम हो और कम परमाणु हों फिर भी फल देने की शक्ति अधिक हो। अत: योग से होने वाला प्रकृति-प्रदेश बंध बलवान नहीं है – ऐसा कहना है। परन्तु मिथ्याश्रद्धा एवं कषायों से होने वाला स्थिति-अनुभाग बंध ही बलवान है। जैसे शरीर में छोटी फुंशी हो और अन्दर में पीप बहुत हो और फुंशी बड़ी हो परन्तु पीप कम हो (; अत: फुंशी का बड़ा-छोटा होना महत्त्वपूर्ण नहीं है) इसीप्रकार मुख्यरूप से मिथ्यात्व सहित कषाय ही बंध का कारण जानना। अत: जिनको बंध नहीं करना हो, वे मिथ्यात्व और राग-द्वेष नहीं करें; बल्कि आत्मा के स्वभाव की रुचि और उसमें स्थिरता करें। सर्वप्रथम मिथ्यात्व को छोड़ो अर्थात् आत्मा के स्वभाव की रुचि करो। इसके सिवाय सब संसार परिभ्रमण का कारण है। प्रकृति-प्रदेश बंध की मुख्यता नहीं किन्तु स्थिति-अनुभाग बंध की मुख्यता है – ऐसा कहा है। मिथ्यात्व के त्याग के लिये सर्वप्रथम कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़ना चाहिये और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना चाहिये। फिर इनसे भी लाभ नहीं होता – ऐसी श्रद्धा करना चाहिये – यह बंध के नाश का उपाय है।

ज्ञानहीन जड़-पुद्गल परमाणुओं का यथायोग्य प्रकृतिरूप परिणमन

अब पुद्गल परमाणु स्वयं ही यथायोग्य प्रकृति आदिरूप परिणम जाते हैं – ऐसी बात पहले आई थी। उस पर से **प्रश्न होता है कि पुद्गल परमाणु तो जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है तो वे यथायोग्य प्रकृतिरूप होकर कैसे परिणम जाते हैं ?** जड़ को किसप्रकार खबर पड़ती है कि आत्मा ने ऐसे राग-द्वेष किए हैं अत: हमें इसीप्रकार परिणमना ?

....उत्तर – देखो ! प्रथम दृष्टान्त से समझाते है कि जैसे भूख लगने पर मुख द्वार से ग्रहण किया भोजनरूप पुद्गल पिण्ड माँस, शुक्र और रुधिरादि धातुरूप परिणमता है। उस भोजन के परमाणुओं में से यथायोग्य किसी धातुरूप थोड़े व किसी धातुरूप अधिक परमाणु होते हैं। उनमें भी कितने ही परमाणुओं का सम्बन्ध थोड़े काल तक और कितने ही परमाणुओं का सम्बन्ध बहुत काल तक रहता है। तथा उन परमाणुओं में कोई तो अपना कार्य करने की बहुत शक्ति रखते हैं और कोई थोड़ी शक्ति रखते हैं। अब ऐसा होने में कोई भोजनरूप पुद्गल पिण्ड को ज्ञान तो है नहीं कि 'मैं ऐसा परिणमूं' तथा अन्य भी कोई परिणमाने वाला है नहीं; परन्तु ऐसा ही कोई निमित्त-नैमित्तिकभाव बन रहा है।....

अर्थात् अपने स्वतंत्र परिणमन के कारण परिणमित हो रहे हैं, उसके कारण ही परिणमन होता है। जितने परमाणु नीम में आते हैं वे नीम रूप ही परिणमते हैं – ऐसी उन पुद्गलों की योग्यता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है।

....उसी प्रकार कषाय होने पर योगद्वार से ग्रहण किये हुए कर्मवर्गणारूप पुद्गल पिण्ड ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमते हैं। उन कर्म परमाणुओं में यथायोग्य किसी प्रकृतिरूप थोड़े और किसी प्रकृतिरूप बहुत परमाणु होते हैं। उनमें कितने ही परमाणुओं का सम्बन्ध बहुत काल तक और कितने ही परमाणुओं का सम्बन्ध थोड़े काल तक रहता है। उन परमाणुओं में कोई तो अपना कार्य करने की बहुत शक्ति रखते हैं और कोई थोड़ी शक्ति रखते हैं। अब ऐसा होने में कोई कर्मवर्गणारूप पुद्गल पिण्ड को ज्ञान तो है नहीं कि 'मैं ऐसा परिणमूं' तथा अन्य कोई परिणमाने वाला भी है नहीं; परन्तु ऐसा ही कोई निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। उससे वैसे ही परिणमन पाया जाता है।....

यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञ ने देखा है उस प्रकार परमाणु स्वयं ही परिणमन कर रहे हैं। कषाय और योग निमित्त हैं और जो कर्म परमाणु परिणमित हो रहे हैं वे नैमित्तिक हैं। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। परमाणु में परिणमन शक्ति है, अत: उसे कोई अन्य परिणमाता नहीं है।

....लोक में निमित्त-नैमित्तिक बहुत ही बन रहे हैं। जैसे मंत्रनिमित्त से जलादिक में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में सर्पादि रोकने की शक्ति होती है; उसी प्रकार जीवभाव के निमित्त से पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है। यहाँ विचार कर अपने उद्यम से कार्य करे तो ज्ञान चाहिये, परन्तु वैसा निमित्त बनने पर स्वयमेव वैसे परिणमन हो तो वहाँ ज्ञान का कुछ प्रयोजन नहीं है।

इसप्रकार नवीन बन्ध होने का विधान जानना।....

लोक में भी ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत बन रहे हैं। जैसे मंत्र के निमित्त से जलादि में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है। साता का उदय हो और रोग मिटने का स्वकाल हो तो मंत्रादिक के निमित्त से पानी से रोग मिटा – ऐसा कहने में आता है। मंत्र से पानी की पर्याय नहीं हुई और पानी की पर्याय से रोग का नाश नहीं होता; परन्तु रोग मिटे तो उसे निमित्त कहते हैं। यहाँ तो कर्म पुद्गल स्वयं के कारण परिणमते हैं, उन्हें अन्य कोई नहीं परिणमाता – ऐसा सिद्ध करते हैं।

निमित्त के सम्बन्ध से होने वाली आत्मा की अवस्था संसार है और स्वभाव के सम्बन्ध से जो अवस्था होती है, वह मोक्षमार्ग है। यहाँ संसार अवस्था का निरूपण चल रहा है।

संसार अवस्था कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ कार्य है, आत्मा के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ कार्य नहीं। क्योंकि आत्मा का मूलस्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द और शान्ति है। वही

आत्मा का पूर्ण कार्य है। उसके कारणरूप मोक्षमार्ग आत्मा के सम्बन्ध से होता है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त शक्तियाँ हैं – ऐसे आत्मा का आश्रय लेकर जो कार्य होता है वह पूर्ण मोक्षदशा का कारण है। वह कार्य जिसके नहीं हुआ उसके वर्तमान कार्य दशा कैसी होती है ? उसके निमित्त के सम्बन्ध से होने वाली कार्यरूप संसारदशा होती है वह नैमित्तिक दशा है और कर्म, वह निमित्त है। कर्मरूप निमित्त के अवलम्बन से आत्मा के स्वभाव को चूककर कार्य होता है – ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात चलती है।

आत्मा ने जैसे भाव किये उनका निमित्त पाकर जड़कर्म ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होते हैं, वह नैमित्तिक कार्य है। आत्मा की विकारी दशा होती है वह निमित्त है और पुद्गल कर्म की अवस्था होती है वह नैमित्तिक है – इसप्रकार आत्मा का और कर्मों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्म आत्मा को संसार नहीं कराता और आत्मा के राग के कारण कर्म को बंधना पड़े – ऐसा नहीं है; परन्तु इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है, वह बतलाते हैं। इसके परिज्ञान बिना संसार का अभाव कभी नहीं हो सकता। संसारदशा आत्मा का कार्य है। आत्मा में जब वह कार्य होता है तब उसको कर्म निमित्तरूप होते हैं। जीव के विकार के सम्बन्ध से जड़ परमाणु अपने कारण से (योग्यता से) कर्मरूप परिणमे उसे कर्म कहते हैं। इसके सिवाय अन्य पदार्थ कर्म नहीं कहलाते। यहाँ दृष्टान्त से इसे स्पष्ट करते हैं –

जैसे मंत्र के निमित्त से जलादिक में रोग को दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकड़ आदि में सर्प को रोकने की शक्ति होती है। यहाँ निमित्त होने की शक्ति की बात की है। जब रोग मिटने का स्वकाल होता है तब निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान कराया है। रोग मिटने के समय मंत्रित जल है उसका निमित्त होने का कार्य है, समुद्र के पानी या अन्य पानी में निमित्त होने की योग्यता नहीं है। यद्यपि रोग तो रोग के कारण मिटता है, मंत्र के कारण नहीं मिटता, रोग मिटने का समय हो तब मंत्रित पानी का निमित्त होता है। निमित्त के सम्बन्ध से होने वाले कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। निमित के कारण कार्य होता है – ऐसा है ही नहीं। प्रतिसमय ऐसे अनन्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बन रहे है।

जब सर्प रुकता है तब कंकड़ में निमित्तरूप से शक्ति है – ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार जीव के भाव के निमित्त से पुद्गल परमाणुओं में ज्ञानावरणादि कर्मरूप होने की शक्ति होती है। पुद्गल में कर्मरूप होने की शक्ति स्वतन्त्रपने है। निमित्त के सम्बन्ध के काल में वह कर्मवर्गणा कर्मरूप होती है, दोनों का समय एक है, किन्तु निमित्त किसी को करता नहीं तथा जीव के भाव के कारण कर्म परिणमते नहीं। जीवभाव तो निमित्तमात्र है। पुद्गल स्वयं अपनी शक्ति के कारण ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं। कोई जीवभाव उन्हें नहीं परिणमाता। तथा पुद्गलों

में जानने का स्वभाव भी नहीं है। यहाँ विचारपूर्वक अपने उद्यम से कार्य करे तो वहाँ ज्ञान की आवश्यकता अवश्य है, परन्तु तथारूप निमित्त बनने पर स्वयं वैसा परिणमन हो वहाँ ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है। कर्म का भाव स्वयं होने लायक होता है, वह होता है उसमें ज्ञान की जरूरत नहीं है। जैसे शक्कर को ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, परन्तु मुँह में डालते ही वह पिघलने लगती है। इसीप्रकार नवीन बंध होने का विधान जानना।

अनादि से कर्म है उनकी बात पहिले की थी, उनमें तो निमित्त की आवश्यकता (प्रयोजन) नहीं है, परन्तु यहाँ तो जो नवीन बंध होता है उसमें ऊपर कहे अनुसार कर्म निमित्त होते हैं – ऐसा कहा है।

यहाँ तक तो तेरे विकार के प्रमाण में कर्म का बंध होता है – यह बात की है। अब तेरे में जो अवस्था अनादि से होती आई है वह कहते हैं।

सत्तारूप कर्मों की अवस्था

अब जो परमाणु कर्मरूप परिणमित हुए हैं उनका जब तक उदयकाल नहीं आवे वहाँ तक उनका जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान रहता है। अर्थात् कर्मों के उदय का काल न आवे वहाँ तक वे जीव के साथ एक क्षेत्रावग्राहरूप रहते हैं। अब उनमें पलटना होता है वह कहते हैं –

....वहाँ जीवभाव के निमित्त से कई प्रकृतियों की अवस्था का पलटना भी हो जाता है। वहाँ कई अन्य प्रकृतियों के परमाणु थे वे संक्रमणरूप होकर अन्य प्रकृतियों के परमाणु हो जायें। तथा कई प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग बहुत थे सो अपकर्षण होकर थोड़े हो जायें, तथा कई प्रकृतियों की स्थिति एवं अनुभाग थोड़े थे सो उत्कर्षण होकर बहुत हो जायें। इसप्रकार पूर्व में बँधे हुए परमाणुओं की भी जीवभावों का निमित्त पाकर अवस्था पलटती है, और निमित्त न बने तो नहीं पलटे, ज्यों की त्यों रहे।

इसप्रकार सत्तारूप कर्म रहते हैं।....

वहाँ जीवभाव के निमित्त से कई प्रकृतियों की अवस्था में पलटना भी हो जाता है। कर्म पुण्य-पाप के अनुसार पलट जाता है। प्रकृति में पलटने की योग्यता के कारण से वह जीव के शुभाशुभ भावों का निमित्त पाकर पलट जाती हैं। सभी प्रकृतियाँ नहीं पलटती किन्तु कुछ प्रकृतियों में पलटना होता है। और किसी अन्य प्रकृति के परमाणु थे वे संक्रमणरूप होकर अन्य प्रकृति के परमाणु हो जाते हैं। तथा किसी प्रकृति का स्थिति-अनुभाग बहुत था उसका अपकर्षण

होकर कम रह जाता है। तथा किसी प्रकृति का स्थिति-अनुभाग कम था उसका उत्कर्षण होकर बहुत हो जाता है। शुभ परिणाम हो तो पुण्य का रस बढ़ जाता है और अशुभ परिणाम हो तो पाप का रस बढ़ जाता है। साता का रस हो वह शुभभाव का निमित्त पाकर बढ़ जाता है। आत्मा के परिणामों का निमित्त पाकर उत्कर्षण होता है। यह सब क्रमबद्ध है।

इसप्रकार जीवभाव के निमित्त से पूर्व में बांधे हुए कर्मों की अवस्था भी पलंटती है, निमित्त नहीं बने तो नहीं पलटती, ज्यों की त्यो रहती है। इसप्रकार सत्तारूप कर्म रहते हैं। जहाँ कर्मों का पलटना न होना हो वहाँ जीवभाव का निमित्तपना भी नहीं होता। परन्तु ऐसा नहीं है कि कर्मों की अवस्था को तो पलटना था परन्तु जीवभाव का निमित्त नहीं बना इसलिये पलटना नहीं हुआ। यदि जीवभाव के कारण कर्म की अवस्था का पलटना हो तब तो उनमें कर्त्ता-कर्म भाव हो जाये और निमित्त-नैमित्तिक भाव रहे नहीं। जब कर्म अपने आप पलटता है तब जीवभाव को निमित्त कहते हैं – ऐसा यहाँ तात्पर्य है, क्योंकि यहाँ तो बंध सत्तारूप कैसे रहता है यह बताना है। कुम्हार के चाक ऊपर मिट्टी का पिण्ड है उसका कवेलू होना हो तो उस प्रकार से कुम्हार का हाथ निमित्त होता है और कवेलू न होना हो तो उसको वैसा निमित्त नहीं है। इस कारण कवेलू नहीं हुआ – ऐसा कहना निमित्त का कथन है परन्तु निमित्त नहीं आया इस कारण कवेलू नहीं हुआ – ऐसा नहीं है।

यहाँ जीव के कर्म का सम्बन्ध है और वे कर्म सत्तारूप पड़े हैं उनका वर्णन किया। अब उदय की बात करते हैं।

कर्मों की उदयरूप अवस्था

....तथा जब कर्म प्रकृतियों का उदयकाल आये तब स्वयमेव उन प्रकृतियों के अनुभाग के अनुसार कार्य बने। कर्म उन कार्यों को उत्पन्न नहीं करते। उनका उदयकाल आने पर वह कार्य बनता है – इतना ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध जानना। तथा जिस समय फल उत्पन्न हुआ उसके अनन्तर समय में उन कर्म रूप पुद्गलों को अनुभाग शक्ति का अभाव होने से कर्मत्वपने का अभाव होता है, वे पुद्गल अन्य पर्यायरूप परिणमित होते हैं – इसका नाम सविपाक निर्जरा है।

इसप्रकार प्रति समय उदय होकर कर्म खिरते हैं।....

जब उन कर्म प्रकृतियों का उदय काल आता है तब उन प्रकृतियों के अनुभाग अनुसार स्वयं कार्य बन जाता है। जब आत्मा स्वयं विकार करता है तब वह स्वयं अपने कारण से प्रकृति के आश्रय से करता है। जीव अनुभाग के अनुसार विकार करता है अर्थात् अनुभाग के प्रमाण

में विकार होता है – ऐसा नहीं है, परन्तु विकार तो कर्म के अनुसरण से होता है और धर्म आत्मा के अनुसरण से होता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। जो आत्मा का अनुसरण नहीं करता और कर्म का अनुसरण करता है, उसको विकार होता है – ऐसा यहाँ कहना है। परन्तु कर्म का उदय आया इसलिए आत्मा में विकार होता है – ऐसा नहीं है। आत्मा नित्यानन्द है, उसका अनुसरण छोड़ा अर्थात् कर्म का अनुकरण किया। आत्मा का अनुसरण करे तब तो आत्मा की वीतरागी पर्याय हो, परन्तु उसका लक्ष्य छोड़कर कर्म का अनुसरण किया इस कारण राग होता है।

यहाँ कहना यह है कि आत्मा में विकार स्वयं होता है, कर्म विकार नहीं कराता। स्वयं होता है माने विपरीत पुरुषार्थ बिना होता है – ऐसा नहीं। जो विकार हुआ है वह कर्म का अपराध नहीं है किन्तु जीव के अपराध से ही स्वयं अपने में हुआ है – ऐसी वस्तुस्थिति है। यह आत्मा का अनुसरण नहीं करके कर्म का अनुसरण करता है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है और उसका परिणमन भी स्वतन्त्र होता है।

प्रकृतियों के अनुभाग अनुसार स्वयं कार्य बन जाता है – इसका अर्थ ऐसा है कि घातिकर्म की प्रकृति के उदय के समय आत्मा जितने प्रमाण में उससे जुड़ता है उतना विकाररूप परिणमता है और ज्ञान की हीनतारूप परिणमता है तथा अघातिकर्मों में वेदनीय आदि का जैसा उदय हो वैसे शरीरादि (संयोग) मिलते हैं। नामकर्म के उदय के प्रमाण में ही बाहर की इन्द्रियादि मिलती हैं। इसप्रकार प्रकृतियों के अनुभाग अनुसार कार्य स्वयं बन जाता है – ऐसा यहाँ तात्पर्य जानना।

इसप्रकार घातिकर्म के निमित्त से उसके उदय प्रमाण में ही विकार या ज्ञानादिक का होना नहीं होता, परन्तु अघातिकर्म के निमित्त से उसके प्रमाण में ही बाहर की सामग्री मिलती है। घाति-अघाति कर्म के निमित्त से होने वाले कार्य में इतना अन्तर है।

दो वस्तुयें भिन्न कहना और दोनों का परिणमन एक-दूसरे के कारण मानना – ऐसा मानने वाला दो वस्तुओं को पृथक् नहीं मानता है। जीव ने ध्यान नहीं दिया इस कारण जड़ का कार्य बराबर नहीं हुआ – ऐसा है ही नहीं। क्योंकि दोनों पृथक् वस्तुयें हैं। दो हैं वे एक नहीं। भिन्न-भिन्न हैं तो भिन्न-भिन्न कार्य कर रहे हैं। दो पदार्थ एक होकर कार्य करें तो कर्म ने जीव के स्वभाव का घात किया कहा जाये, परन्तु ऐसा तो बनता नहीं। त्रिलोकनाथ वीतरागदेव प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता को जाहिर करते हैं। अत: यहाँ कहा है कि आत्मा में स्वयं कार्य बन जाता है, परन्तु कर्म उस कार्य को उत्पन्न नहीं करता। दोनों का स्वकाल एक समय में साथ है तो कर्म आत्मा के कार्य को किस प्रकार उत्पन्न करे ? परन्तु कर्मों का उदय काल आने पर आत्मा में विकार का कार्य स्वयं बन जाता है और अघाति कर्म के उदय काल के समय उसके प्रमाण में बाहर में कार्य स्वयं बन जाता है। इतना ही यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानना।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का उदयकाल आया तब आत्मा में अपनी योग्यता प्रमाण विकार और ज्ञानादिक का हीन परिणमन स्वयं होता है और अघातिकर्म के उदय काल के समय उसके प्रमाण में बाहर में स्वयं कार्य बन जाता है – इसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानना। एक-दूसरे के कारण से कार्य होना मानने में आवे तो कर्त्ता-कर्म हो जाता है।

जिस समय फल उपजा उसके बाद के समय में उन कर्मरूप पुद्गलों की अनुभाग शक्ति का अभाव होने से कर्मपने का भी अभाव होता है। वे पुद्गल अन्य पर्यायरूप परिणमित हो जाते हैं इसका नाम ही सविपाक निर्जरा है। उदय आकर छूट जाने का नाम सविपाक निर्जरा है। इसप्रकार प्रति समय उदय होकर कर्म खिरते हैं।

....कर्मत्वपने की नास्ति होने के पीछे वे परमाणु उसी स्कंध में रहें या अलग हो जायें – कुछ प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ उतना जानना कि – इस जीव को प्रति समय अनन्त परमाणु बँधते हैं; वहाँ एक समय में बँधे हुए परमाणु आबाधाकाल को छोड़कर अपनी स्थिति के जितने समय हों उनमें क्रम से उदय में आते हैं। तथा बहुत समयों में बँधे परमाणु जो कि एक समय में उदय आने योग्य हैं वे इकट्ठे होकर उदय में आते हैं। उन सब परमाणुओं का अनुभाग मिलकर जितना अनुभाग हो उतना फल उस काल में उत्पन्न होता है। तथा अनेक समयों में बंधे परमाणु बंधसमय से लेकर उदय समय पर्यन्त कर्मरूप अस्तित्व को धारण कर जीव से सम्बन्धरूप रहते हैं।....

कर्मपने को नाश पाते हुए वे परमाणु उसी स्कंध में रहें या भिन्न हो जावें, उससे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। अर्थात् कर्म की अवस्था का परिणमन बदलकर अकेले भिन्न-भिन्न परमाणु ही हो जावें, ऐसा नहीं है परन्तु वहीं के वहीं स्कंधरूप भी रह सकते हैं, तथापि कर्मरूप नहीं रहते।

धर्म समझने वाले को प्रथम इसका ज्ञान होता है, क्योंकि धर्म करना है इसका अर्थ ऐसा हुआ कि वर्तमान में अधर्म हो रहा है और उस अधर्म की अवस्था में निमित्त भी होता है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

यहाँ कर्मों की बंध, उदय और सत्तारूप अवस्था की बात चल रही है। आत्मा की संसार अवस्था है अनादि की है और वह दु:खरूप है – ऐसा जीव जाने तो उसके अभाव का पुरुषार्थ करे। संसारदशा माने वास्तव में तो पुण्य-पाप, आस्रव और बंध तत्त्व की बात है और उसके निमित्तरूप कर्मों का बंधन होता है, यह अजीव तत्त्व की बात है। यह नव तत्त्वों की बात है।

विशेष में, संसारी जीव के प्रति समय अनन्त परमाणु बंधते हैं। वहाँ एक समय में बंधे हुए परमाणु आबाधाकाल छोड़कर अपनी स्थिति के जितने समय हों उन सर्व में क्रमशः उदय में आते हैं। जो कर्म का बंधन होता है उसमें समय लगता है अर्थात् वह अमुक काल में पकता है। जैसे धान लम्बे काल में पकता है, रजका (एक प्रकार का घास) अल्प काल में पकता है। वैसे ही कर्मों में भी यह क्रम होता है कि वे अमुक समय में उदय में आवेंगे। तथा बहुत समय में बंधे परमाणु जो कि एक समय में उदय आने योग्य है वे सब इकट्ठे होकर उदय में आते हैं। जैसे देनदार ने अपने लेनदारों को अमुक काल का समय दिया हो तो सब एकसाथ भी लेनदार हो जाते हैं। वैसे ही कर्मों में भी एकसाथ उदय आने योग्य हों वे सब एकसाथ उदय में आते हैं। उन सब परमाणुओं का अनुभाग मिलने से जितना अनुभाग हो उतना फल उस काल में उत्पन्न होता है। तथा अनेक समय में बंधे हुए परमाणु बंध समय से लेकर उदय समय तक कर्मरूप अस्तित्त्व को धारण करते हुए जीव से सम्बन्धरूप रहते हैं अर्थात् बहुत काल में बंधे हुए कर्मों का उदय न आवे वहाँ तक वे जीव के साथ रहते हैं।

इसप्रकार कर्मों की बंध, उदय, सत्तारूप अवस्था जाननी चाहिये। बंध एक समय की अवस्था, उदय एक समय की अवस्था और सत्ता की जहाँ तक उदय न आवे वहाँ तक अवस्था होती है। वहाँ प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध मात्र परमाणु बंधते हैं। एक समय प्रबद्ध मात्र निर्जरित होते हैं तथा डेढ़ गुण हानि से गुणित समयप्रबद्ध मात्र सदा सत्ता में रहते हैं। इन सबका विशेष वर्णन आगे कर्म अधिकार में लिखूँगा वहाँ से जानना – ऐसा पण्डित श्री टोडरमलजी कह गये हैं परन्तु आगे लिखा नहीं जा सका। ग्रन्थकर्त्ता का भाव विशेष लिखने का था – ऐसा जानना।

द्रव्यकर्म व भावकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति

अब द्रव्यकर्म किसे कहना और भावकर्म किसको कहना – यह बात करते हैं –

....तथा इस प्रकार यह कर्म है सो परमाणुरूप अनन्त पुद्गलद्रव्यों से उत्पन्न किया हुआ कार्य है, इसलिये उसका नाम द्रव्यकर्म है। तथा मोह के निमित्त से मिथ्यात्व-क्रोधादिरूप जीव के परिणाम हैं वह अशुद्धभाव से उत्पन्न किया हुआ कार्य है, इसलिये इसका नाम भावकर्म है। द्रव्यकर्म के निमित्त से भावकर्म होता है और भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। तथा द्रव्यकर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्यकर्म – इसी प्रकार परस्पर कारणकार्यभाव से संसार चक्र में परिभ्रमण होता है।....

कर्म है वह परमाणुरूप अनन्त पुद्गल द्रव्यों से उत्पन्न हुआ कार्य है इससे उसका नाम द्रव्यकर्म है और मोह के निमित्त से मिथ्यात्व, क्रोधादिरूप जीव के परिणाम होते हैं वह अशुद्धरूप

से उत्पन्न हुआ जीव का कार्य है – इससे उसका नाम भाव कर्म है। जीव के मिथ्यात्वादि भाव निमित्त के लक्ष्य से होते हैं – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु वे भाव निमित्त के कारण होते हैं –ऐसा नहीं कहना है, बल्कि जीव के अशुद्धभाव का कार्य होने से उसको भावकर्म कहते हैं। भावकर्म अर्थात् आत्मा का विकारी कार्य, कर्म माने कार्य – ऐसा अर्थ है। यहाँ तो जीव अनादि से भावकर्म करता है उसकी बात है। राग-द्वेष के अभाव से संसार का नाश करता है उसकी बात यहाँ नहीं है, परन्तु कारण – कार्य सिद्ध करते हैं। संसारचक्र चला करता है उसकी बात है।

अब द्रव्यकर्म के निमित्त से भावकर्म होता है और भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म बंधते हैं, पुन: द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म – इसी प्रकार परस्पर में कारण-कार्य भाव से संसारचक्र में परिभ्रमण होता है। इसी ग्रन्थ में आगे प्रश्न है कि द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म – ऐसा चक्र चला ही करता है तो मोक्ष का उपाय किस प्रकार करना ? तो वहाँ कहा है कि जीव संसारचक्र को तोड़ सकता है। और यहाँ संसार अवस्था का निरूपण है अत: संसार कैसे चला आता है – यह वर्णन करते हैं। प्रयत्नपूर्वक बंधन को तोड़ देता है – यह बात तो जब मोक्षमार्ग की बात करना हो तब करेंगे। तथा संसार में परिभ्रमण क्यों हुआ ? – यह बतलाने के लिये द्रव्यकर्म के कारण से भावकर्म और भावकर्म के कारण द्रव्यकर्म – ऐसा संसारचक्र बताया जा रहा है।

....इतना विशेष जानना कि –तीव्र-मंद बन्ध होने से या संक्रमणादि होने से या एक काल में बँधे अनेक काल में या अनेक काल में बँधे एककाल में उदय आने में किसी काल में तीव्र उदय आये तब तीव्रकषाय हो, तब तीव्र ही नवीन बन्ध हो; तथा किसी काल में मंद उदय आये तब मंद कषाय हो, तब मंद ही बन्ध हो। तथा उन तीव्र-मंद कषायों ही के अनुसार पूर्व बँधे कर्मों का भी संक्रमणादिक हो तो हो।

इसप्रकार अनादि से लगाकर धाराप्रवाह रूप द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्रवृत्ति जानना....

अब उसमें कम-ज्यादा (तीव्र-मंद बंध) करता है उसकी बात कर रहे हैं। तथा तीव्र-मंद बंध होने से अथवा संक्रमणादि होने से अथवा एक काल में बंधे अनेक काल में और अनेक काल में बंधे एक काल में उदय आने से किसी काल में तीव्र उदय आने से तीव्र कषाय होती है और नवीन बंध भी तीव्र होता है। तथा किसी काल में मंद उदय आने से मंदकषाय होती है और नवीन बंध भी मंद होता है। तथा इन तीव्र-मंद कषायों के अनुसार पूर्वबद्ध कर्मों में भी संक्रमणादि हों तो होते हैं।

आत्मा के परिणाम का निमित्त पाकर कर्म का संक्रमण भी हो जाता है। और बहुत कर्मों का एक साथ उदय आता है उस समय जीव की तीव्र कषाय की योग्यता के कारण वह तीव्र कषाय करता है। उस समय कर्मों का निमित्त कैसा होता है यह कहते हैं। इस बात को नहीं समझने वाले तो इस कथन को पढ़कर विपरीत अर्थ निकालते हैं कि बहुत कर्मों का उदय आया है इसलिए जीव को तीव्र कषाय करनी पड़ती है – परन्तु यह बात सही नहीं है। अज्ञानी मानता है कि कर्म का उदय आवे तो एक बार तो जीव को उसमें जुड़ना ही पड़ता है, परन्तु ऐसा माने तो जीव का संसार कभी मिटेगा नहीं। तीव्र उदय आने पर तीव्र कषाय होती है – ऐसा नहीं, परन्तु आत्मा जैसी कषाय करे वैसी होती है। कर्म का तीव्र उदय हो इसलिए तीव्र कषाय और मंद उदय हो इसलिए मंद कषाय होती है – ऐसा नहीं है।

संसारचक्र कैसे चलता है ? उसकी बात करते हुए कर्मों के उदय के और श्रद्धा व चारित्र गुण की पर्याय का संसार में परिभ्रमण कराने वाला कैसा मेल होता है वह कहते हैं। पहले सामान्य बात की थी। अनेक काल में बंधे कर्मों का उदय एक काल में आता है और एक काल में बंधे कर्म अनेक काल में उदय में आते हैं – ऐसा कहकर फिर कहते हैं कि किसी काल में तीव्र उदय आता है। मिथ्यात्व का भी तीव्र उदय होता है उस समय संसार में परिभ्रमण करने वाला जीव अपनी रुचि से – योग्यता से तीव्र मिथ्यात्वरूप कषाय को करता है; अत: उदय अनुसार कषाय होती है – ऐसा कहा गया है। परन्तु कर्म के उदय के कारण कषाय होती है – ऐसा सिद्धान्त नहीं है।

सिद्धान्त तो यह है कि जीव विकार के करने और विकार के टालने में स्वतन्त्र है। इस बात को लक्ष्य में रखकर ही इस कथन का अर्थ समझना चाहिये। जब कर्मों का उदय मंद होता है, उस समय जीव अपनी योग्यता से ही मंदकषाय करता है और नवीन बंध मंद होता है। सबके परिणाम एक समान नहीं होते अत: किन्हीं को कर्म का संक्रमण हो तो होता है – ऐसा कहा गया है। जीव तीव्र-मंद कषाय करता है तब बहुत जीवों को पूर्वबद्ध कर्म संक्रमणरूप होता है, परन्तु संक्रमण सबके नहीं होता। इसप्रकार शुभ या अशुभ परिणाम से सभी कर्म संक्रमण को प्राप्त नहीं हो जाते। यह बात संसारदशा के समय की है, केवली की बात नहीं; क्योंकि उन्हें तो भावमोक्ष है।

जीव तीव्र-मंद कषाय करे तो पूर्वबद्ध कर्मों का 'भी' संक्रमण हो जाता है। यहाँ 'भी' कहने का तात्पर्य क्या है ? वह कहते हैं कि – नये बंध की बात नहीं की है, परन्तु यहाँ तो पुराने कर्म की बात करनी है अत: 'भी' शब्द का प्रयोग किया है। कर्मों में संक्रमण करने की

योग्यता ऐसी होती है और निमित्त भी जीवभाव का ऐसा होता है – इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

देखो ! इस ग्रन्थ को सुगम कहा है क्योंकि यह प्रचलित भाषा में लिखा गया है और इस कारण सुगमता से समझ में आता है, यदि संस्कृत-व्याकरण हो तब तो समझना कठिन पड़े, परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसा नहीं है।

यहाँ तो अनादि से संसार में कारण-कार्य सम्बन्ध चला आता है – यह कहा गया है। इसप्रकार अनादिकाल से लेकर धाराप्रवाह रूप द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्रवृत्ति जाननी।

नोकर्म का स्वरूप और प्रवृत्ति

....तथा नामकर्म के उदय से शरीर होता है वह द्रव्यकर्मवत् किंचित् सुख-दुःख का कारण है, इसलिये शरीर को नोकर्म कहते हैं। यहाँ नो शब्द ईषत् (अल्प) वाचक जानना। सो शरीर पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड है और द्रव्यइन्द्रिय, द्रव्यमन, श्वासोच्छ्वास तथा वचन – ये भी शरीर ही के अंग हैं; इसलिये उन्हें भी पुद्गलपरमाणुओं के पिण्ड जानना।

इसप्रकार शरीर के और द्रव्यकर्म के सम्बन्ध सहित जीव के एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान होता है। सो शरीर के जन्म समय से लेकर जितनी आयु की स्थिति हो उतने काल तक शरीर का सम्बन्ध रहता है। तथा आयु पूर्ण होने पर मरण होता है तब उस शरीर का सम्बन्ध छूटता है, शरीर-आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं। तथा उसके अनन्तर समय में अथवा दूसरे, तीसरे, चौथे समय जीव कर्मोदय के निमित्त से नवीन शरीर धारण करता है; वहाँ भी अपनी आयुपर्यंत उसीप्रकार सम्बन्ध रहता है, फिर मरण होता है तब उससे सम्बन्ध छूटता है। इसी प्रकार पूर्व शरीर का छोड़ना और नवीन शरीर का ग्रहण करना अनुक्रम से हुआ करता है।....

तथा नामकर्म के निमित्त से शरीर होता है वह द्रव्यकर्मवत् किंचित् सुख-दुःख का कारण है – अतः शरीर को नोकर्म कहते हैं। यहाँ 'नो' शब्द अल्पता का वाचक जानना। जैसे कर्म सुख-दुःख में निमित्त कारण है; वैसे ही शरीर भी सुख-दुःख में किंचित् निमित्त है; परन्तु शरीर सुख-दुःख उत्पन्न नहीं करता। नोकर्म किंचित् कारण है – ऐसा कहकर द्रव्यकर्म मुख्य कारण है – ऐसा बताना है। सुख-दुःख की कल्पना में वास्तव में निमित्त कारण द्रव्यकर्म है और शरीर भी किंचित कारण है – ऐसा कहना है। अब शरीर तो पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है तथा द्रव्येन्द्रिय, द्रव्यमन, श्वासोच्छ्वास और वचन – ये शरीर के ही अंग होने से ये भी पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड हैं। इन्द्रिय,मन, वचन, श्वासोच्छ्वास आदि शरीर के ही अंग हैं; अतः

वे पुद्गल हैं। वचन को भी शरीर का अंग कहा है। श्वास भी पुद्गल है, आत्मा नहीं। इसप्रकार शरीर और द्रव्यकर्म के सम्बन्ध सहित जीव का एकक्षेत्रावगाहरूप बंधन होता है। आत्मा के भान बिना शरीर का सम्बन्ध नहीं छूट सकता। यह सम्बन्ध अनादिकाल से चला आया है। कर्म और आत्मा का एकक्षेत्रावगाहपना है, ऐसे ही शरीर और आत्मा का सम्बन्ध जन्म से मृत्यु तक रहता है। शरीर के जन्म से अर्थात् माता के गर्भ में आया वहीं से आयु पूर्ण हो वहाँ तक शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। किसी भी कारण से शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटता, परन्तु आयु पूर्ण हो तो ही शरीर का सम्बन्ध छूटता है। अर्थात् शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

शरीर छूटने के बाद दूसरे अथवा तो तीसरे या चौथे समय में जीव कर्मोदय के निमित्त से नवीन शरीर धारण करता है। तात्पर्य यह है कि अधिक से अधिक चार समय में तो जीव नवीन शरीर धारण कर लेता है। जहाँ नवीन शरीर धारण करता है वहाँ भी वह अपनी आयु स्थिति पर्यंत उसी प्रमाण से सम्बन्धरूप रहता है, फिर आयु पूर्ण होने पर उससे भी सम्बन्ध छूट जाता है। इसप्रकार पूर्व शरीर का छोड़ना और नवीन शरीर का धारण करना अनुक्रम से हुआ ही करता है – इसप्रकार जीव अनन्तकाल से परिभ्रमण किया ही करता है।

....तथा यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी है तथापि संकोच-विस्तार शक्ति से शरीर प्रमाण ही रहता है; विशेष इतना कि समुद्घात होने पर शरीर से बाहर भी आत्मा के प्रदेश फैलते हैं और अन्तराल समय में पूर्व शरीर छोड़ा था उस प्रमाण रहते हैं।....

तथा यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी है तो भी संकोच-विस्तार शक्ति से शरीर प्रमाण ही रहता है। संकोच-विस्तार की स्वयं की शक्ति होने से चींटी की पर्याय में जाये तो चींटी प्रमाण ओर हाथी की पर्याय में जाये तो हाथी प्रमाण उस शरीर में रहता है। विशेष इतना कि समुद्घात होने पर शरीर के बाहर भी आत्मा के प्रदेश फैलते हैं और अंतराल समय में पूर्व शरीर छोड़ा था उस प्रमाण रहते हैं।

....तथा इस शरीर के अंगभूत द्रव्यइन्द्रिय और मन उनकी सहायता से जीव के जानपने की प्रवृत्ति होती है। तथा शरीर की अवस्था के अनुसार मोह के उदय से जीव सुखी-दु:खी होता है। तथा कभी तो जीव की इच्छा के अनुसार शरीर प्रवर्तता है, कभी शरीर की अवस्था के अनुसार जीव प्रवर्तता है; कभी जीव अन्यथा इच्छारूप प्रवर्तता है, पुद्गल अन्यथा अवस्थारूप प्रवर्तता है।

इसप्रकार इस नोकर्म की प्रवृत्ति जानना।....

तथा इस शरीर के अंगभूत द्रव्येन्द्रिय और मन की सहायता से जीव में जानपने की प्रवृत्ति होती है और शरीर की अवस्थानुसार मोह के उदय से जीव सुखी-दु:खी होता है। जानपने की योग्यता तो आत्मा की है परन्तु उसमें इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं। स्वयं विचार करता है तब मन निमित्त होता है और अपने शरीर के निमित्त से सुख-दु:ख की कल्पना होती है। तथा कभी तो जीव की इच्छा के अनुसार शरीर प्रवर्तता है, कभी शरीर की अवस्था के अनुसार जीव प्रवर्तता है; कभी जीव अन्यथा इच्छारूप प्रवर्तता है, पुद्गल अन्यथा अवस्थारूप प्रवर्तता है। किसी समय शरीर की अवस्था जीव की इच्छानुसार प्रवर्तती है। आत्मा में चलने की इच्छा हुई तब शरीर की क्रिया होती है, अत: इच्छा अनुसार क्रिया होती है – ऐसा कहा है। तथा किसी समय शरीर की अवस्थानुसार जीव प्रवर्तता है, जैसे कि रेलगाड़ी में खड़ा हो और वहाँ धक्का लगे तो शरीर के गिरने के साथ ही आत्मा भी गिर जाता है। यहाँ शरीर के कारण आत्मा में और आत्मा के कारण (इच्छा के कारण) शरीर में (कार्य) होता है – यह बात नहीं सिद्ध करना है, परन्तु किसी समय ऐसा मेल हो जाता है। यहाँ तो संसार अवस्था में क्या हो रहा है – यह बताया है; परन्तु एक-दूसरे के कारण कुछ होता है – ऐसा कहने का आशय नहीं है।

यहाँ संसार अवस्था के निरूपण में नोकर्म का स्वरूप और उसकी प्रवृत्ति कैसी होती है, यह बात चल रही है। इस आत्मा के अनादि से शरीर के साथ सम्बन्ध है, उसमें किसी समय तो जीव की इच्छा प्रमाण शरीर पलटता है अर्थात् उसे किसी समय ऐसा लगता है कि मेरी इच्छा के अनुसार शरीर चलता है। और किसी समय शरीर की अवस्थानुसार जीव की अवस्था प्रवर्तती है। भाव यह है कि जीव की अवस्था का और शरीर की अवस्था का मेल मिल जाता है, इससे अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि शरीर के कारण से आत्मा की अवस्था होती है; परन्तु वस्तुत: आत्मा की अवस्था शरीर के कारण नहीं होती। क्योंकि किसी समय जीव अन्यथा इच्छारूप और पुद्गल अन्यथारूप प्रवर्तता है। इसप्रकार नोकर्म की प्रवृत्ति जानना।

अनादि से अज्ञानी मानता है कि मेरे कारण से शरीर की अवस्था होती है। परन्तु जीव तो अरूपी, जानने-देखने वाला है, उसके कारण से जड़ की अवस्था नहीं होती। जैसे कि शरीर में सफेद बाल आते है, कमजोरी आती है, प्रिय स्त्री का वियोग हो जाता है – इत्यादि कार्य जीव की इच्छा के बिना ही होते हैं, अत: इच्छा के कारण से शरीरादि पर-द्रव्यों की अवस्था नहीं होती है। आत्मा के कारण पर की अवस्था मानना ही अनादि की भ्रमणा है। बीस-बीस वर्ष की युवावस्था हो और टी.बी. के होस्पीटल में अशरण होकर पड़े रहते हैं। दवा के लिये सेकड़ों रुपये खर्च करते हैं, परन्तु शरीर की अवस्था तो जो होने योग्य हो वही होती है, प्रथम

ऐसा जानना चाहिये। पुद्गलास्तिकाय का पलटना उसके अपने कारण से होता है – ऐसा नहीं मानकर जो जीवास्तिकाय के कारण मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। अत: जैसा है वैसा मानना चाहिये।

अब कहते हैं कि जीव अनन्त काल तो निगोद में व्यतीत करता है –

नित्यनिगोद और इतरनिगोद

....अब अनादिकाल से लेकर प्रथम तो इस जीव के नित्यनिगोदरूप शरीर का सम्बन्ध पाया जाता है। वहाँ नित्यनिगोद के शरीर को धारण करके आयु पूर्ण होने पर मरकर फिर नित्यनिगोद शरीर को ही धारण करता है, फिर आयु पूर्ण करके मरकर नित्यनिगोद शरीर को ही धारण करता है। इसी प्रकार अनन्तानन्त प्रमाण सहित जीवराशि है सो अनादि से वहाँ ही जन्म-मरण किया करती है।....

ऐसे अनंत जीव निगोद के एकेन्द्रिय शरीर में पड़े हैं। कभी त्रस हुए ही नहीं हैं। वहीं मरते है और फिर से वहीं जन्मते हैं। यह आत्मा भी अनन्तकाल वहाँ रहा है, दो इन्द्रिय हुआ नहीं। और अभी मनुष्यभव मिला तो अभिमान आ गया है। सम्यग्दृष्टि जीव तो ऐसा विचारता है कि –

यदि पाप निरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्॥

– गाथा २७वीं, रत्नकरण्ड श्रावकाचार

यदि ज्ञानावरणादि अशुभ पाप प्रकृतियों का आस्रव रुक गया है तो मुझे अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है ? और यदि मुझे पाप का आस्रव हो और सम्पदा आवे तो उस सम्पदा से मुझे क्या प्रयोजन है ?

यदि कुपुत्र जन्मा हैं तो तेरी लक्ष्मी उड़ा देगा और सुपुत्र जन्मा है तो तेरी लक्ष्मी की परवाह नहीं करेगा। अत: तुझे पर से और तृष्णा से क्या लाभ है ? कुछ भी लाभ नहीं। वर्तमान में कदाचित् लक्ष्मी नहीं हो तब भी यदि पाप का अभाव करके स्वरूप संपदा की प्राप्ति हुई तो फिर अन्य सम्पदा से मुझे क्या काम है ? और पाप के परिणाम हों तो अन्तर की सम्पदा तो लुटती है तब बाहर की लक्ष्मी मिले उससे भी मुझे क्या लाभ है ? कुछ लाभ नहीं है। – ऐसा सम्यग्दृष्टि विचारता है। अज्ञानी पाँच-पच्चीस लाख रुपये कमावे तो उन्हीं में सर्वस्व मानकर सुख मान बैठता है। परन्तु जहाँ पाप का संचय होता है और स्वरूप लक्ष्मी लुटती है, वहाँ इस

लक्ष्मी से कुछ लाभ नहीं है। मिथ्यात्व का आस्रव होता है वही सबसे बड़ा नुकसान है। और सम्यग्दृष्टि के तो वह आस्रव रुक गया होता है अत: वह गरीब हो तो भी उसको कुछ नुकसान नहीं। नरक की अनन्त प्रतिकूलतायें हों फिर भी सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि इनके कारण से मुझे दु:ख नहीं है और न इनसे मेरी कुछ हानि ही है। और मिथ्यादृष्टि को कदाचित स्वर्ग की सम्पदा मिले तो भी उससे उसको कुछ लाभ नहीं।

लक्ष्मी क्लेश से भरी है और जड़ है – ऐसा सम्यग्दृष्टि विचारता है। धर्मी जीव न्याय विरुद्ध कुटिलता आदि नहीं करता। वह जानता है कि पुण्य होगा तो पैसा मिलेगा और रहेगा तथा पाप होगा तो चला जायेगा।

यहाँ तो निगोद की बात चलती हैं कि जीव ने वहाँ अनन्तकाल व्यतीत किया है। इस प्रकार अनन्तानन्त प्रमाण सहित जीवराशि अनादि काल से निगोद में ही जन्म-मरण किया करती है।

तथा वहाँ से छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव निकलते हैं। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायों में व दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय पर्यायों में अथवा नरक, तिर्यन्च, देव और मनुष्यरूप पंचेन्द्रिय पर्यायों में भ्रमण करते हैं – इस प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हैं। तथा फिर मरकर निगोद में जाते हैं, उसे इतर निगोद कहते हैं।

वहाँ कितने ही काल रहकर वहाँ से निकलकर अन्य पर्यायों में भ्रमण होता है। अब यह परिभ्रमण करने का उत्कृष्ट काल पृथ्वी आदि स्थावर जीवों में सूक्ष्म तथा बादर मिलकर असंख्यात कल्पमात्र है। दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रस पर्याय में कुछ अधिक दो हजार सागर है। त्रस में अर्थात् नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव आदि के भव करे तो ज्यादा से ज्यादा दो हजार सागर वहाँ रहता है। फिर निगोद में जाता है। इतर निगोद में ढ़ाई पुद्गल परावर्तन मात्र रहता है जो कि अनन्त काल है। सूक्ष्म और बादर निगोद – इन दोनों में रहे तो इतने काल रहे, ऐसा समझना। तथा इतर निगोद में से निकलकर कोई जीव स्थावर पर्याय पाकर फिर निगोद में जाते हैं।

इसप्रकार एकेन्द्रिय पर्यायों में उत्कृष्ट परिभ्रमण काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन मात्र है और सबका जघन्य काल एक अन्तर्मुहुर्त है। कोई मनुष्य पैसा कमावे और उससे अभिमानी हो जाये तब दूसरा मनुष्य कहता है कि तू छोटा था तब निर्धन था, याद कर ! वैसे ही यहाँ कहते हैं कि हे जीव ! मान-सन्मान मिलने पर तू अभिमान करता है, परन्तु तूने ऐसे निगोद के अनन्त भव किये हैं, उनके दु:ख को याद कर – ऐसा कहकर समझाते हैं।

इसप्रकार जीव के अधिकांश तो एकेन्द्रिय पर्याय का ही धारण करना होता है, वहाँ से निकलकर अन्य पर्याय पाना, वह 'काकतालीयन्यायवत्' है। अर्थात् कौऐ का निकलना और उसी समय जामुन के फल का गिरना और उसके मुँह में जाना – इसके जैसा है। जैसे यह दुर्लभ है वैसे ही मनुष्यपना दुर्लभ है। हे जीव ! ऐसी संसारदशा तू अनन्त काल से भोग रहा है – ऐसा ज्ञान कराया है; क्योंकि तुझे कर्म बंधन का रोग हुआ है। तूने भावकर्म का बंधन किया तो द्रव्यकर्म का सम्बन्ध हुआ है। यह बड़ा रोग है – ऐसा जानना।

अब यह कहते हैं कि तेरी भूल से होने वाले इस रोग में कर्म निमित्तमात्र हैं।

कर्मबंधन रूप रोग के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्था

अब इस कर्मबंधन रूप रोग के निमित्त से जीव की कैसी अवस्थायें हो रही हैं – वह कहते है –

ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मोदयजन्य अवस्था

....प्रथम तो इस जीव का स्वभाव चैतन्य है वह सर्वद्रव्यों के सामान्य – विशेष स्वरूप को प्रकाशित करने वाला है।....

दया, दान व हिंसादि की वृत्ति उत्पन्न होती है वह तेरा स्वरूप नहीं है। तेरा रूप तो चैतन्य है। जीव, चेतन है और उसके गुण, वे चैतन्य हैं। आत्मा स्वभाववान और चैतन्य स्वभाव है। उसकी पर्याय में अपने ही अपराध से पुण्य-पाप के भाव होते हैं। वे उसका मूल स्वभाव नहीं हैं; परन्तु चैतन्य ही आत्मा का मूल स्वभाव है। जगत के सभी पदार्थों को सामान्य और विशेषरूप से जानने-देखने का उसका स्वभाव है।

....जो उनका स्वरूप हो वैसा अपने को प्रतिभासित हो, उसी का नाम चैतन्य है। वहाँ सामान्यस्वरूप प्रतिभासित होने का नाम दर्शन है, विशेषस्वरूप प्रतिभासित होने का नाम ज्ञान है। ऐसे स्वभाव द्वारा त्रिकालवर्ती सर्वगुणपर्यायसहित सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष युगपत् बिना किसी सहायता के देखे-जाने ऐसी शक्ति आत्मा में सदा काल है; परन्तु अनादि ही से ज्ञानावरण, दर्शनावरण का सम्बन्ध है – उसके निमित्त से इस शक्ति का व्यक्तपना नहीं होता। उन कर्मों के क्षयोपशम से किंचित् मतिज्ञान-श्रुतज्ञान पाया जाता है और कदाचित् अवधिज्ञान भी पाया जाता है, अचक्षुदर्शन पाया जाता है और कदाचित् चक्षुदर्शन व अवधिदर्शन भी पाया जाता है।....

जैसा उनका स्वरूप होता है वैसा ही अपने को भासित होता है उसका ही नाम चैतन्य है। आत्मा का और पर का जैसा स्वरूप है वैसा ही आत्मा जानता है। समस्त आत्माओं का

स्वभाव चैतन्यमय है। ज्ञान अपने को तथा साथ में रहे हुए अनंत गुणों को और वर्तमान पर्याय में होते विकार को तथा उसमें निमित्तरूप पर पदार्थ को; सबको जैसे है वैसे जानता है – इसका नाम ही चैतन्य है। ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जीव ने उसका अनादि से आजतक एक सैकेण्डमात्र भी विश्वास नहीं किया। मैं बनिया, पर का करने वाला, राग वाला – इत्यादि प्रकार से अज्ञानी अपने को मानता है। परन्तु अपना चैतन्य स्वभाव पर से भिन्न है, उसे नहीं मानता। उससे कहते हैं कि भाई ! आत्मा का स्वरूप पर के कारण या राग के कारण से जानने में आवे – ऐसा नहीं है, परन्तु उसका अपना स्वभाव ही जानने का है इससे वह जानता है।

जैसे नींबू का खट्टा, शक्कर का मीठा, नमक का खारा, अफीम का कड़वा स्वभाव है; वैसे ही आत्मा का स्वभाव चैतन्य है। जैसे दर्पण का स्वच्छ स्वभाव है; वैसे ही आत्मा का स्वच्छ स्वभाव है। उसमें पर-पदार्थ प्रतिभासते हैं अर्थात् पर-पदार्थ पर में है और आत्मा उनसे भिन्न रहकर उन्हें जानता है। यह एक ही सुखी होने का उपाय है। ज्ञान सिवाय अन्य कोई सुखी होने का उपाय नहीं है। पैसे से सुख माना है – यही महान भूल है – दुःख है। लोगों की संयोगी दृष्टि है, वे बाहर से सुख मानते हैं। उन्हें वास्तविक वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है। वे पर से लाभ मानते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि – भगवान ! तुझे यह दुःख क्यों हुआ है ? तेरा स्वभाव तो जानने-देखने का है। जो अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव को समझे और अन्दर में ऐसा विश्वास करे, वह ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी संसार में हो और बाहर में पुण्य का ठाठ भी बहुत हो, फिर भी वह पर को अपना नहीं मानता। वह राग का कर्त्ता नहीं होता। और अज्ञानी साधु हो फिर भी उसे स्वरूप का भान नहीं होता। उसकी तो, निमित्त से लाभ होता है और पुण्य करते-करते धर्म होता है – ऐसी-ऐसी मान्यतायें होती हैं। वह जीव, आत्मा चैतन्य स्वभावी है – ऐसा नहीं मानता।

द्रव्य त्रिकाली है, उसके गुण भी त्रिकाली है और उसकी पर्याय एकसमय की नई-नई होती है। इसका भेद किये बिना अर्थात् भाग किये बिना प्रतिभास हो उसे दर्शन कहते हैं। देखो, यह स्वभाव सम्पदा की बात करते हैं। स्वभाव ऐसा होने पर भी थोड़ा देखता है, थोड़ा जानता है। और यह विकारदशा है – यह क्या हो रहा है ? यह तेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा कहते हैं। द्रव्य क्या, गुण क्या, पर्याय क्या, पर क्या, विकार क्या ? -इत्यादि का पृथक्-पृथक् भेद पाड़कर जानता है, उसका नाम ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा का ऐसा दर्शन-ज्ञान स्वभाव है।

अब ऐसे स्वभाव द्वारा तो त्रिकालवर्ती सर्व गुण-पर्याय सहित सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष युगपत् सहाय बिना देख-जान सके – ऐसी शक्ति आत्मा में निरंतर मौजूद है।

यहाँ स्वभाव से कहा है परन्तु राग से, पुण्य से, पर से आत्मा जानता है – ऐसा नहीं कहा। आत्मा की सामर्थ्य सर्व को जानने की है। जो इसकी प्रतीति नहीं करता उसको अनादि की संसारदशा है; परन्तु इस स्वभाव की प्रतीति आई उसको संसारदशा नहीं रहती। यहाँ आत्मा की शक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि स्वभाव से सब पदार्थों को एक साथ पर की सहायता बिना जानता-देखता है तथापि अनादि से इसका विश्वास नहीं करता, अत: संसार दशा है।

जीव का स्वभाव तो समस्त पदार्थों को गुण-पर्याय सहित जानने का है, तथापि वह व्यक्त (प्रगट) नहीं है। – यही संसार अवस्था है। पर्याय में विकार और अल्पज्ञता है वह मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा जाने तो संसारदशा नहीं रहती।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण का सम्बन्ध अनादि काल से है जिसके निमित्त से इस शक्ति का व्यक्तपना नहीं होता। आत्मा ज्ञान-दर्शनरूपी सूर्य है। एक समय में पर की सहायता बिना सबको जाने-ऐसा उसका स्वभाव होने पर भी कर्म-निमित्त के सम्बन्ध से पर्याय में उस शक्ति का व्यक्तपना नहीं है। कर्म ने उस शक्ति को रोका नहीं है, कर्म तो निमित्तमात्र है। आत्मा स्वयं हीन अवस्थारूप परिणमता है तब कर्म को निमित्त कहते हैं। आत्मा स्वभाव का सम्बन्ध नहीं जोड़ता और निमित्त का सम्बन्ध जोड़ता है तब पर्याय में ज्ञान-दर्शन की हीनता होती है। ज्ञानावरण कर्म के उदय का और आत्मा की पर्याय में हीनता का समकाल है। इस कारण ज्ञानावरण के निमित्त से ज्ञान की पर्याय व्यक्त नहीं होती – ऐसा कहा जाता है।

कर्म की पर्याय का आत्मा की ज्ञान पर्याय में अत्यन्त अभाव है अत: वह ज्ञान को कैसे रोके ? परन्तु आत्मा पर के लक्ष्य से शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं करता तब कर्म निमित्त होते हैं। और जब आत्मा में अपनी योग्यता से आंशिक जानने का उघाड़ होता है तब ज्ञानावरणी कर्म का भी क्षयोपशम होता है, तब मतिज्ञान-श्रुतज्ञान होता है। जब आत्मा स्वयं कर्म के आधीन होता है तब जीव की पर्याय में व्यक्तता अल्प होती है, पूर्ण व्यक्तता नहीं होती। कर्म के कारण पूर्ण पर्याय नहीं होती – ऐसा नहीं है।

कभी जीव को अवधिज्ञान होता है।

इसप्रकार ज्ञान की प्रवृत्ति की बात करके अब दर्शन की प्रवृत्ति कैसी होती है वह कहते हैं –

वहाँ किसी समय चक्षुदर्शन और किसी समय अचक्षुदर्शन होता है, और कभी अवधिदर्शन भी होता है।

अब मति-श्रुतज्ञान की पराधीनता का वर्णन करते हैं –

मतिज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति

....वहाँ प्रथम तो मतिज्ञान है; वह शरीर के अंगभूत जो जीभ, नासिका, नयन, कान, स्पर्शन ये द्रव्यइन्द्रियाँ और हृदयस्थान में आठ पुँखरियों के फूले कमल के आकार का द्रव्यमन – इनकी सहायता से ही जानता है। जैसे – जिसकी दृष्टि मंद हो वह अपने नेत्र द्वारा ही देखता है परन्तु चश्मा लगाने पर ही देखता है, बिना चश्मे के नहीं देख सकता। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान मंद है, वह अपने ज्ञान से ही जानता है परन्तु द्रव्यइन्द्रिय तथा मन का सम्बन्ध होने पर ही जानता है, उनके बिना नहीं जान सकता। तथा जिस प्रकार नेत्र तो जैसे के तैसे हैं, परन्तु चश्मे में कुछ दोष हुआ हो तो नहीं देख सकता। अथवा थोड़ा दीखता है या और का और दीखता है; उसी प्रकार अपना क्षयोपशम तो जैसा का तैसा है, परन्तु द्रव्यइन्द्रिय तथा मन के परमाणु अन्यथा परिणमित हुए हों तो जान नहीं सकता अथवा थोड़ा जानता है अथवा और का और जानता है। क्योंकि द्रव्यइन्द्रिय तथा मनरूप परमाणुओं के परिणमन को और मतिज्ञान को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये उनके परिणमन के अनुसार ज्ञान का परिणमन होता है। उसका उदाहरण – जैसे मनुष्यादिक को बाल-वृद्ध-अवस्था में द्रव्यइन्द्रिय तथा मन शिथिल हो तब जानपना भी शिथिल होता है; तथा जैसे शीत वायु आदि के निमित्त से स्पर्शनादि इन्द्रियों के और मन के परमाणु अन्यथा हों तब जानना नहीं होता अथवा थोड़ा जानना होता है।....

आत्मा स्वयं अपनी कमजोरी से हीन प्रवर्तता है वही पराधीन प्रवृत्ति है। किसी कर्म ने पराधीनता कराई है – ऐसा नहीं है, क्योंकि पर्याय स्वयं-सिद्ध स्वतन्त्र सत् है, उसका सत्पना पर के कारण नहीं है। तथा उस पर्याय में पर-पर्याय का अभाव है।

प्रथम तो शरीर के अंगभूत ही जीभ, नासिका, नेत्र, कान और स्पर्शन – ये पाँच द्रव्येन्द्रियाँ तथा हृदय स्थान में आठ पंखुड़ियों के फूले हुए कमल के आकार वाला द्रव्यमन है – इन दोनों की सहायता से मतिज्ञान जान सकता है – यह कथन निमित्त का है। वस्तुतः तो पाँच इन्द्रियाँ जड़ है, वे आत्मा नहीं तथा द्रव्यमन भी जड़ है, आत्मा विचारता है उसमें वह निमित्तमात्र है। वे इन्द्रियाँ तथा मन कुछ जानते नहीं है; क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं है और न भविष्य में जानेंगे ही। आत्मा उनकी सहायता से जानता है इसका अर्थ यह है कि आत्मा जानता है उसमें वे निमित्त है। आत्मा में मतिज्ञान होता है वह निमित्त के अवलम्बन से होता है – ऐसी ही उसकी योग्यता है – इस कारण वह इन्द्रियों और मन की सहायता से होता है – ऐसा कहा गया है।

जैसे मंददृष्टि वाला मनुष्य देखता तो अपने नेत्र से ही है परन्तु चश्मा लगाने पर ही देखता

है – बिना चश्मा लगाये नहीं देख सकता; वैसे ही आत्मा का ज्ञान मंद है, अब वह जानता तो अपने ही ज्ञान से है; परन्तु द्रव्येन्द्रिय और मन का संयोग होने पर ही जान सकता है, इसके बिना नहीं। चक्षु देखती है यह उपादान है और चश्मा निमित्त है इतना बतलाना है, वैसे ही वास्तव में तो ज्ञान अपना मंद है वह पराधीनता है। क्षयोपशम ज्ञान की योग्यता ही ऐसी है कि पाँच इन्द्रियाँ और मन का निमित्त हो तो जानता है; परन्तु इसका आशय निमित्त के कारण से जानता है – ऐसा नहीं है।

तथा नेत्र तो ज्यों के त्यों हों परन्तु चश्में में कोई दोष हो तो देख नहीं सकता, थोड़ा देखता है या अन्यथा देखता है; वैसे ही क्षयोपशम ज्ञान तो जैसा का तैसा हो परन्तु द्रव्येन्द्रिय अथवा मन के परमाणु अन्यथा परिणमित हुए हों तो वह जान नहीं सकता। मंददृष्टि वाले के नेत्र तो ठीक हों परन्तु चश्मा दोष वाला हो तो देखता नहीं – ऐसी आँखों की भी योग्यता है। उसी प्रकार आत्मा का उघाड़ तो ऐसा का ऐसा हो परन्तु पाँच इन्द्रियाँ और मन अन्यथा प्रकार परिणमित हुए हो तो वह जान नहीं सकता – ऐसी योग्यता और पराधीनता आत्मा की है – ऐसा कहने का यहाँ अभिप्राय है।

बौद्ध ऐसा मानते हैं कि ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होता है। अब कोई जैन होकर भी यह कहे कि ज्ञेय के कारण से ज्ञान होता है तो वह भी बौद्ध ही है। वस्तुत: तो आत्मा अपने क्षयोपशम के कारण ही जानता है। बौद्धमत वाले पर से ज्ञान होना मानते हैं और जैन मिथ्यादृष्टि निमित्त आवे तो ज्ञान होता है – ऐसा मानते हैं, वस्तुत: वे बौद्ध ही हैं।

अब कहते हैं कि द्रव्येन्द्रिय अथवा मनरूप परमाणुओं के परिणमन के तथा मतिज्ञान के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अर्थात् आत्मा इन्द्रियों के कारण नहीं जानता, परन्तु इन्द्रियों और ज्ञान की पर्याय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक समय में होता है, आगे-पीछे नहीं होता। यहाँ तो मतिज्ञान की पराधीनता बतलानी है। अत: द्रव्येन्द्रिय अथवा मन के परमाणुओं के अनुसार ज्ञान का परिणमन होता है – ऐसा कहा है।

जैसे मनुष्यादि को बाल, वृद्ध अवस्था में यदि द्रव्येन्द्रिय और मन शिथिल हो तो जानपना शिथिल होता है। बालपने में अथवा वृद्ध अवस्था में इन्द्रियों का शिथिलपना है – इस कारण ज्ञान का हीनपना है – ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञान के हीनपने के और इन्द्रियों के शिथिलपने में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान का हीनपना पर के कारण नहीं है, किन्तु अपनी योग्यता के कारण है। यह बात समझना लोगों को कठिन पड़ती है, अणुबम गिरने जैसी लगती है। परन्तु अब लोग समझने लगे हैं कि निमित्त के कारण अवस्था नहीं होती। तथा शीत, वायु आदि

के निमित्त से स्पर्शनादि इन्द्रियों के अथवा मन के परमाणु अन्यथा हों तो जानपना नहीं होता, थोड़ा होता है या अन्यथा होता है। जीभ में रोग होने पर स्वाद को जानने की योग्यता नहीं होती – ऐसा परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अनादिकाल से पर्याय में ऐसी पराधीनता वर्तती है। ज्ञान की पर्याय पराधीन हो रही है तथापि बाहर में स्वतन्त्र हुआ हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। वस्तुतः पर्याय, स्वभाव के अवलम्बन से पूर्ण कार्य करे, वह स्वतन्त्रता है।

ज्ञान, दर्शन गुण आत्मा का है और पर्याय भी आत्मा की है, तो भी वह पर्याय पर के अवलम्बन से वर्तती है – यह पराधीनता है – ऐसा निर्णय करके स्वभाव के आश्रय से पर्याय प्रगट करे तो स्वाधीन दशा प्रगट होती है।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि –

चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्धसमान सदा पद मेरौ।
मोह-महातम आतम अंग, कियौ परसंग महातम घेरौ।
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहों गुन नाटक आगम केरौ।
जासु प्रसाद सधै शिवमारग, बेगि मिटै भववास बसेरौ॥

आत्मा की शक्ति तो सिद्ध समान है, परन्तु मैंने आत्मा को भूलकर पर का संग किया है। अहो ! चैतन्य स्वयं-सिद्ध स्वतन्त्र है, उसके आश्रय से मेरी ज्ञान कला प्रगट हुई है, अब मैं समयसार नाटक कहूँगा। मैं स्वभाव के आश्रय से परिपूर्ण दशा को प्रगट करूँगा – ऐसा कहते हैं।

इन्द्रियाँ और मन के साथ मतिज्ञान की पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात करके अब बाह्य पदार्थों के साथ भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है वह कहते हैं।

....तथा इस ज्ञान को और बाह्य द्रव्यों को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। उसका उदाहरण – जैसे नेत्रइन्द्रिय को अंधकार के परमाणु अथवा फूला आदि के परमाणु या पाषाणादि के परमाणु आड़े आ जायें तो देख नहीं सकती। तथा लाल काँच आड़ा आ जाये तो सब लाल दीखता है, हरित आड़ा आये तो हरित दीखता है – इस प्रकार अन्यथा जानना होता है।

तथा दूरबीन, चश्मा इत्यादि आड़े आ जायें तो बहुत दीखने लग जाता है। प्रकाश, जल, हिलव्वी काँच इत्यादि के परमाणु आड़े जायें तो भी जैसे का तैसा दीखता है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियों तथा मन के भी यथासम्भव जानना। मंत्रादिक के प्रयोग से अथवा मदिरापानादिक से अथवा भूतादिक के निमित्त से नहीं जानना, थोड़ा जानना या अन्यथा जानना होता है। इसप्रकार यह ज्ञान बाह्य द्रव्य के भी आधीन जानना।....

इस ज्ञान को और बाह्य पदार्थों को भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे अंधकार के परमाणु, फूला आदि के परमाणु अथवा पाषाणादि के परमाणु आड़े आ जायें तो नेत्र इन्द्रिय देख नहीं सकती। लाल काँच आड़े आने पर लाल और हरा काँच आड़े आने पर हरा दिखता है। तथा दूरबीन, चश्मा आदि आड़े आ जायें तो बहुत दिखता है और प्रकाश, जल, काँच आदि के परमाणु आड़े आवें तो कुछ का कुछ दिखता है। इसप्रकार अन्य द्रव्यों, द्रव्येन्द्रियों तथा मन को यथासंभव निमित्त-नैमित्तिकपना जानना।

अंधकार के समय जान नहीं सके – ऐसी ज्ञान की पराधीनता है। तथा लाल काँच आड़े आने के समय ज्ञान की योग्यता लाल देखने की है – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ऐसा नहीं माने और लाल काँच के कारण लाल जानना माने तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं मानकर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध माना कहा जायेगा। परन्तु पर के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध तो है नहीं। अज्ञानी मानता है कि निमित्त आया तो ज्ञान हुआ है। जो स्वतन्त्र पर्याय को नहीं मानता उसको स्वतन्त्र द्रव्य है – ऐसी दृष्टि तीनकाल में भी नहीं होती और जिसे द्रव्यदृष्टि नहीं होती उसको सम्यग्दर्शन भी नहीं होता।

दूरबीन और चश्मा होता है इसलिये ज्ञान विशेष जानता है – ऐसा नहीं हैं; किन्तु वस्तुतः तो उस क्षयोपशम की ही वैसी योग्यता है। तथा पानी में और काँच में अन्य प्रकार दिखता है। काँच उंडा हो तो मुँह अन्य प्रकार दिखता है वह काँच के कारण नहीं, परन्तु वहाँ क्षयोपशम ज्ञान की योग्यता ही वैसी है, उसमें काँच निमित्तमात्र है। उपादान निमित्त को खींचता है – ऐसा नहीं, परन्तु निमित्त निमित्त के कारण से होता है। अतः जहाँ-जहाँ ज्ञान की पर्याय होती है वहाँ-वहाँ वैसा निमित्त होता है – ऐसा समझना चाहिये। वर्तमान ज्ञान की पराधीन दशा है – ऐसा जानकर, आत्मा का स्वभाव स्वतन्त्ररूप से पूर्ण जानने का है – उसकी दृष्टि करना, यह इस कथन का सार है। अनादि से स्वभाव का सम्बन्ध किया नहीं और निमित्त का सम्बन्ध किया है, अतः मोक्ष नहीं हुआ। यह बात यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाकर कहते हैं।

संसार अवस्था में आत्मा पराधीनपने परिभ्रमण कर रहा है, इसका यहाँ ज्ञान कराते हैं। संसार दशा आत्मा की विपरीत और हीन पर्याय है। आत्मा का स्वभाव तो प्रत्यक्ष-युगपत् सहाय बिना एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को जानने का है, तथापि अनादि कर्म निमित्त से पराधीन वर्त रहा है। उसमें से यहाँ पर मतिज्ञान की पराधीनता की बात चल रही है। मतिज्ञान की पर्याय तो आत्मा की है, परन्तु बाह्य जैसे निमित्त अनेक प्रकार के होते हैं वैसे अनेक प्रकार से पराधीनता से जानती है। दूरबीन, चश्मा आदि हो तो अधिक देखना होता है और हरा काँच आड़े आने पर हरा जानना होता है – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

मंत्रादिक के प्रयोग से, मदिरादिक के पान से अथवा भूतादिक के निमित्त से जानना नहीं होता, थोड़ा जानना होता है अथवा तो अन्यथा जानना भी होता है। इस प्रकार मतिज्ञान बाह्य द्रव्य के आधीन होकर प्रवर्तता है। यहाँ मदिरा के कारण पागल होता है – ऐसा नहीं कहना है परन्तु मतिज्ञान की पर्याय अपनी योग्यता से ऐसी पराधीन होती है, यह कहना है। यह आत्मा का रोग है। निमित्त दृष्टि वाले इस कथन से ऐसा मानते हैं कि ज्ञान की अवस्था पर के कारण होती है, परन्तु ऐसा है नहीं। पराधीन होने की ज्ञान की अपनी योग्यता है, पर-पदार्थ तो उसमें निमित्तमात्र है।

....तथा इस ज्ञान (मतिज्ञान) द्वारा जो जानना होता है वह अस्पष्ट होता है। जैसे दूर से कैसा ही जानता है, नजदीक से कैसा ही जानता है, तत्काल कैसा ही जानता है, बहुत काल पश्चात् कैसा जाने। किसी पदार्थ को संशयरूप जाने, किसी को अन्यथा जाने तथा किसी को किंचित्मात्र जाने – इसप्रकार अनेक प्रकार से निर्मल जानना नहीं होता।....

ज्ञान की पर्याय अपनी होने पर भी किसी समय संशय से जानती है। जैसे किसी समय कोई मनुष्य सो रहा हो उसके काले बाल देखकर वह मच्छरों का ढेर लगे – ऐसा विपरीत भी जानता है। इसप्रकार अनेक प्रकार से मतिज्ञान स्पष्टरूप से नहीं जानता। इसप्रकार अनादि से मतिज्ञान निमित्त द्वारा अर्थात् अपनी योग्यता से प्रवर्त्तता है।

....इस प्रकार यह मतिज्ञान परीधानता सहित इन्द्रिय – मन द्वार से प्रवर्तता है। उन इन्द्रियों द्वारा तो जितने क्षेत्र का विषय हो उतने क्षेत्र में जो वर्त्तमान स्थूल अपने जानने योग्य पुद्गल स्कन्ध हों उन्हीं को जानता है। उनमें भी अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा अलग-अलग काल में किसी स्कन्ध के स्पर्शादिकका जानना होता है। तथा मन द्वारा अपने जानने योग्य किंचित्मात्र त्रिकाल सम्बन्धी दूर क्षेत्रवर्ती अथवा समीप क्षेत्रवर्ती रूपी-अरूपी द्रव्यों और पर्यायों को अत्यन्त अस्पष्टरूप से जानता है। सो भी इन्द्रियों द्वारा जिसका ज्ञान हुआ हो अथवा जिसका अनुमानादिक किया हो उस ही को जान सकता है। तथा कदाचित् अपनी कल्पना ही से असत् को जानता है। जैसे स्वप्न में अथवा जागते हुए भी जो कदाचित् कहीं नहीं पाये जाते ऐसे आकारादिक का चिंतवन करता है और जैसे नहीं हैं वैसे मानता है। इस प्रकार मन द्वारा जानना होता है। सो यह इन्द्रियों व मन द्वारा जो ज्ञान होता है उसका नाम मतिज्ञान है।....

वहाँ इन्द्रियों से समस्त क्षेत्र को नहीं जानता, थोड़े क्षेत्र को और उसमें भी अपनी योग्यता प्रमाण और उसमें भी वर्तमान को और उसमें भी स्थूल स्कंध को जानता है। और उसमें भी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा और भिन्न-भिन्न काल में कुछ स्कंधों का जानपना होता है, एक साथ

तथा सबका जानना नहीं होता – ऐसी आत्मा की पराधीनता है। अपनी स्वाधीनता का भान नहीं होने से इसे इस पराधीनता का ख्याल भी यथार्थ नहीं आता। इसप्रकार मतिज्ञान इन्द्रियों के आधीन वर्तता है – यह बात कही। अब ज्ञान मन के द्वारा पराधीन वर्तता है वह कहते हैं – मन के निमित्त से जो मतिज्ञान होता है वह अपने को जानने योग्य किंचित्मात्र त्रिकाल सम्बन्धी दूर व समीप क्षेत्रवर्ती रूपी-अरूपी द्रव्यों व पर्यायों को अत्यन्त अस्पष्ट जानता है – इसकारण वह ज्ञान पराधीन है। यह आटा था अभी लोई है और अब इसकी रोटी होगी – इस प्रकार मन द्वारा भूत और भविष्य को मिलाकर किंचित् जानता है। रोटी खाऊँगा तो भूख मिटेगी – ऐसा वर्तमान में थोड़ा जानता है। तथा कोई पदार्थ दूर हो या नजदीक हो अथवा रूपी हो या अरूपी हो, उन्हें मन से जानता है। मैं आत्मा हूँ, मेरी पर्याय बालरूप थी, वृद्धावस्था में देह छूट जायेगी – इसप्रकार द्रव्य-पर्याय को मन द्वारा जानता है – यह पराधीनता है। मन से अस्पष्ट और किंचित् जानना होता है। पहले इन्द्रियों से जाना हो अथवा अनुमान किया हो, उसका जानना होता है। तथा ठूँठ हो उसे मनुष्य जानता है – इसप्रकार असत् को भी जानता है। स्वप्न में पदार्थ जैसे नहीं है वैसे कल्पना से मानता है। इसप्रकार मन द्वारा जानना होता है। इसप्रकार जो ज्ञान इन्द्रियों और मन के द्वारा होता है उसका नाम मतिज्ञान है।

यह मतिज्ञान की सामान्य बात की, अब इसमें विशेष बात करते हैं –

पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और वनस्पतिरूप एकेन्द्रियों को मात्र स्पर्श का ही ज्ञान है। तीनकाल-तीनलोक को जानने वाला आत्मा मात्र स्पर्श को ही जानता है, यह एकान्त पराधीनता ही है। तथा दो इन्द्रिय लट, शंख आदि जीवों को स्पर्श और रस का ज्ञान है। कीड़ी, मकोड़ा आदि तीन इन्द्रिय जीवों को स्पर्श, रस और गंध का ज्ञान है। भंवरा, मक्खी और पतंगादिक चार इन्द्रिय जीवों को स्पर्श, रस, गंध और वर्ण का ज्ञान है। तथा मछली, गाय, कबूतर आदि तिर्यन्च तथा मनुष्य, देव, नारकी आदि पंचेन्द्रिय जीवों को स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दों का ज्ञान है। तथा तिर्यन्चों में कोई संज्ञी और कोई असंज्ञी है। उनमें संज्ञी को तो मन जनित ज्ञान होता है परन्तु असंज्ञियों को नहीं। तथा मनुष्य, देव, नारकी संज्ञी ही हैं – उन सबको मनजनित ज्ञान होता है। श्वेताम्बर में नारकी के अपर्याप्त में संज्ञीपना नहीं मानते, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि नारकी के वहाँ भी संज्ञीपना है। संज्ञी-असंज्ञीपने का भेद एकमात्र तिर्यन्चों में ही होता है। इन सभी (संज्ञी) को मनजनित ज्ञान होता है। ऐसी मतिज्ञान की पराधीनता है। जब मतिज्ञान की इतनी पराधीनता है तो फिर जीव बाह्य वस्तुओं के आधीन होकर वर्ते उसकी तो क्या बात करनी ? अर्थात् वह तो पराधीनता है ही। यह वस्तु मुझे सुखरूप है और यह वस्तु

मुझे दु:खरूप है – ऐसी कल्पना से जीव अनादि से दु:खी हो रहा है – यही पराधीनता है। इसप्रकार मतिज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति की बात पूर्ण हुई।

श्रुतज्ञान की पराधीन प्रवृत्ति

....अब, मतिज्ञान द्वारा जिस अर्थ को जाना हो उसके सम्बन्ध से अन्य अर्थ को जिसके द्वारा जाना जाये सो श्रुतज्ञान है। वह दो प्रकार का है – १. अक्षरात्मक २. अनक्षरात्मक। जैसे 'घट', यह दो अक्षर सुने या देखे वह तो मतिज्ञान हुआ; उनके सम्बन्ध से घट-पदार्थ का जानना हुआ सो श्रुतज्ञान है। इसप्रकार अन्य भी जानना। यह तो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। तथा जैसे स्पर्श द्वारा शीत का जानना हुआ वह तो मतिज्ञान है; उसके सम्बन्ध से 'यह हितकारी नहीं है इसलिये भाग जाना' इत्यादिरूप ज्ञान हुआ सो श्रुतज्ञान है। इसप्रकार अन्य भी जानना। यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।....

अब श्रुतज्ञान की बात करते हैं – श्रुत माने शास्त्र, यह बात नहीं है, परन्तु आत्मा की ज्ञान पर्याय की बात है। मतिज्ञान द्वारा जिस अर्थ को जाना हो उसके सम्बन्ध से अन्य पदार्थों को जिसके द्वारा जाने वह श्रुतज्ञान है। पहले मतिज्ञान से जाना हो फिर श्रुतज्ञान होता है।

वह दो प्रकार का होता है – १. अक्षरात्मक और २. अनक्षरात्मक।

वहाँ जैसे घट शब्द सुना या घट को देखा, इसमें घट शब्द का ज्ञान वह मतिज्ञान है और घट पदार्थ का ज्ञान वह श्रुतज्ञान है। – यह तो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है।

तथा जैसे स्पर्श द्वारा शीत का जानना हुआ वह तो मतिज्ञान है; और उसके सम्बन्ध से 'यह हितकारी नहीं है इसलिये यहाँ से भाग जाना' इत्यादिक ज्ञान हुआ वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। इसीप्रकार अन्य भी समझना। पानी ठण्डा है – ऐसा जानना वह मतिज्ञान की पर्याय है। पानी ठण्डा है; इस कारण ज्ञान हुआ है – ऐसा नहीं है; परन्तु मतिज्ञान की पर्याय हुई उसमें निमित्त कैसा है और पराधीनता कैसी है ? – यह बताया है। पानी ठण्डा है – ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् यह ठण्डा पानी हितकारी नहीं है अत: मुझे भाग जाना – ऐसा जो ज्ञान हुआ, वह श्रुतज्ञान है। यहाँ हवा-पानी ठीक नहीं है अत: मुझे यहाँ रहना ठीक नहीं है – ऐसे ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञान करे इसलिये वहाँ से चले जाने की क्रिया होती है – ऐसा नहीं है। बिच्छु के डंक का ज्ञान हुआ वह मतिज्ञान है और यह अहितकारी है – ऐसा जानना, वह श्रुतज्ञान है। इसी प्रकार अन्य भी जानना।

....अब एकेन्द्रियादि असंज्ञी जीवों के तो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। तथा शेष

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान होता है। अब वह श्रुतज्ञान भी जो अनेक प्रकार से पराधीन ऐसे मतिज्ञान के भी आधीन है अथवा अन्य अनेक कारणों के आधीन होता है। इस कारण वह महा पराधीन है – ऐसा जानना।....

श्रुतज्ञान की पराधीनता बताते हुए वह ज्ञान मतिज्ञान के आधीन है; ऐसा कहा है और अन्य भी पराधीनता बहुत कही है; इस कारण यह ज्ञान महापराधीन है – ऐसा कहा है। पर की क्रिया तो आत्मा के विकल्पानुसार नहीं होती, परन्तु आत्मा की पर्याय मति-श्रुतज्ञान की होती है वह भी स्वाधीन नहीं बल्कि पराधीन है।

अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान केवलज्ञान की प्रवृत्ति

अब अवधिज्ञान की पराधीनता की बात करते हैं। अपनी मर्यादानुसार क्षेत्र-काल की प्रमाणतापूर्वक रूपी पदार्थों का जिसके द्वारा स्पष्टपने जानना हो वह अवधिज्ञान है। वह ज्ञान सभी देवों और नारकियों में होता है तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यन्च और मनुष्यों में भी किन्हीं-किन्हीं को होता है और असंज्ञी तक के जीवों के तो यह ज्ञान होता ही नहीं।

यह ज्ञान भी शरीरादि पुद्गलों के आधीन है। इसके तीन भेद हैं – १. देशावधि, २. परमावधि और ३. सर्वावधि। उसमें थोड़े काल की मर्यादापूर्वक किंचित् मात्र रूपी पदार्थ को जानना, देशावधि ज्ञान है; वह किन्हीं जीवों को होता है। तथा परमावधि और सर्वावधि तो मुनि के ही होते हैं। ये तीनों ज्ञान परमावधि, सर्वावधि व मन:पर्ययज्ञान मोक्षमार्ग में अर्थात् सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं। केवलज्ञान मोक्षस्वरूप है। इस कारण इस अनादि संसार अवस्था में उसका सद्भाव नहीं है। अत: यहाँ केवलज्ञान की बात नहीं की है।

इसप्रकार ज्ञान की प्रवृत्ति जानना।

चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवलदर्शन की प्रवृत्ति

....अब, इन्द्रिय तथा मन को स्पर्शादिक विषयों का सम्बन्ध होने से प्रथम काल में मतिज्ञान से पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकन रूप प्रतिभास होता है उसका नाम चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शन है। वहाँ नेत्र इन्द्रिय द्वारा दर्शन होने का नाम तो चक्षुदर्शन है; वह तो चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों को ही होता है। तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र – इन चार इन्द्रियों और मन द्वारा जो दर्शन होता है उसका नाम अचक्षुदर्शन है; वह यथायोग्य एकेन्द्रियादि जीवों को होता है।....

देखो ! जैसे वैद्य रोग बताता है वैसे ही यहाँ ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति पराधीन है वह रोग है, ऐसा बताते हैं। ज्ञान की बात तो हो गई। अब दर्शन में चक्षु, अचक्षुदर्शन की प्रवृत्ति पराधीन

है वह कहते हैं। इन्द्रिय अथवा मन के स्पर्शादि विषयों का सम्बन्ध होने पर प्रथम काल में, मतिज्ञान होने के पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकन रूप प्रतिभास होता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं। वहाँ नेत्र द्वारा जो दर्शन हो वह चक्षुदर्शन है। शेष चार इन्द्रियों और मन द्वारा जो दर्शन हो वह अचक्षुदर्शन है। मतिज्ञान होने के पूर्व भेद किए बिना अन्तर में चक्षु-अचक्षु का व्यापार होता है, वह दर्शन उपयोग है। चक्षु द्वारा मतिज्ञान होता है उसके पहले का भेद किए बिना का अन्दर दर्शन गुण का व्यापार है – वह चक्षुदर्शन है। और चक्षु के अलावा अन्य इन्द्रियों से स्पर्शादि का मतिज्ञान होता है उसके पूर्व सामान्य सत्तामात्र अवलोकन होना – वह अचक्षुदर्शन है। गुड़ पदार्थ का सम्बन्ध हो और उसका मतिज्ञान हो उस ज्ञान होने के पहले अन्तर व्यापार – वह दर्शन है। इस चक्षु-अचक्षु दर्शन में पराधीनता है। वह जीव की पर्याय है, उसका ज्ञान करना चाहिये।

जिसे बहुत प्रकार के रोग हों तो उसे बहुत प्रकार से समझाने में आता है। वैसे ही यहाँ ज्ञान और दर्शन में बहुत प्रकार से पराधीनता है, वह बताते हैं।

आँख जिसमें निमित्त है – ऐसा ज्ञान होने के पूर्व दर्शन उपयोग होता है वह चक्षुदर्शन है। यह लाल है, यह काला है – ऐसा जो चक्षु से देखने में आता है वह तो मतिज्ञान है, वह चक्षुदर्शन नहीं, परन्तु उस मतिज्ञान के होने के पूर्व सामान्य अवलोकनरूप व्यापार होता है – वह चक्षुदर्शन है। चक्षुदर्शन चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय वाले जीवों के ही होता है। अन्य चार इन्द्रियों और मन द्वारा जो दर्शन होता है वह अचक्षुदर्शन है। वे निमित्त है, इसकारण अचक्षुदर्शन होता है – ऐसा नहीं है; परन्तु मतिज्ञान में चार इन्द्रियाँ और मन निमित्त हैं, उस मतिज्ञान के होने के पूर्व भेद किए बिना जो सामान्य अवलोकनरूप व्यापार होता है – वह अचक्षुदर्शन है। इस चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का उपयोग संसारदशा में पराधीनपने हो रहा है इसका ज्ञान यहाँ कराया जा रहा है। इसे जानकर पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावदृष्टि कर – ऐसा कहने का यहाँ आशय है।

संसारदशा पराधीन है। वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। शरीर, कर्म, मन, वाणी जड़ हैं, उन्हें संसार नहीं है। संसार आत्मा की विकारी दशा है। जिसको संसारदशा की भी खबर नहीं वह धर्म किस प्रकार करेगा ? संसार, आत्मा की पराधीन दशा है, उसमें कर्म का निमित्तपना है। जीव को अनादि से पर्याय में संसार का रोग लगा हुआ है, परन्तु जिसे यह संसार रोग है – ऐसा लगा हो वह उपचार करे। आत्मा अरूपी चैतन्यस्वभावी है। उसकी पर्याय में विकार है, उसे रोग कहते हैं। आत्मा जानने वाला है, शरीरादि पर का कुछ करना आत्मा

का स्वभाव नहीं है। शरीरादि जड़ हैं, उनका आत्मा कुछ नहीं करता और शरीर आत्मा का कुछ नहीं करता; परन्तु ऐसा भान नहीं है – इस कारण आत्मा अपने अज्ञान से पराधीन दशा भोग रहा है वही संसार है।

लोग तत्त्वज्ञान किये बिना धर्म करना है – ऐसा मान बैठे हैं। सर्वज्ञ क्या कहते हैं उसकी लोगों को खबर नहीं है। आत्मा का मूलस्वरूप तीनकाल के पदार्थों को जानने-देखने का है; परन्तु अनादि से पर के वश हुआ होने से अपनी ज्ञान और दर्शन की पर्याय हीन हो रही है। यहाँ चक्षुदर्शनादि की बात चलती है।

आत्मा में दर्शनगुण त्रिकाल है, उसकी पर्याय में चक्षुदर्शन अथवा अचक्षुदर्शन की अवस्था हो रही है। अल्पज्ञ को खबर नहीं पड़ती कि यह दर्शन का व्यापार हो रहा है। यह दर्शन हुआ – ऐसा ज्ञान जानता है। छद्मस्थ उसकी प्रतीति कर सकता है। सर्वज्ञपरमात्मा के ज्ञान और दर्शन उपयोग एक साथ होता है। केवली भगवान के दर्शन उपयोग को भी केवलज्ञान जानता है। उनका केवलदर्शन भी अपने को पृथक् करके नहीं देखता। सामान्य भेद किए बिना सब देखे, वह केवलदर्शन है, परन्तु उसकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो छद्मस्थ ज्ञानी या अज्ञानी के दर्शन उपयोग की बात है। छद्मस्थ को दर्शन का कार्य होता है परन्तु वह दर्शन को पकड़ नहीं सकता, वह दर्शन की प्रतीति कर सकता है कि ज्ञान होने के पूर्व दर्शनोपयोग होता है, परन्तु 'यह दर्शनोपयोग है' – ऐसा उसी समय छद्मस्थ जीव नहीं जान सकता।

जीव का स्वभाव परिपूर्ण जानने-देखने का है, अल्प जानना-देखना, वह भी उसका वास्तविक स्वभाव नहीं है, तो फिर देश, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्रादि या शरीरादि का कुछ कर दे – ऐसा तो उसका स्वभाव है ही नहीं। जड़ की अवस्था जड़ से होती है। यहाँ कहते हैं कि अल्पदर्शन की अवस्था भी तेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव ही आदरणीय है – ऐसी प्रतीति कर।

यहाँ अचक्षुदर्शन की बात चलती है। चक्षु के अलावा चार इन्द्रियाँ तथा मन द्वारा ज्ञान होने के पूर्व सामान्य अवलोकन रूप व्यापार को अचक्षुदर्शन कहते हैं। वह यथायोग्य एकेन्द्रियादिक जीवों के होता है।

तथा अवधि के विषयों का सम्बन्ध होने पर अवधिज्ञान के पूर्व जो सत्तामात्र अवलोकनरूप प्रतिभास होता है उसका नाम अवधिदर्शन है। यह जिनके अवधिज्ञान संभव हो उन्हीं को होता है।

अवधिज्ञान होने के पूर्व अवधिदर्शन होता है। स्वर्ग, नरकादि में अवधिज्ञान होने के पूर्व सामान्य अवलोकनरूप व्यापार होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। स्वर्ग में इन्द्र उपयोग लगाये और ख्याल में आवे कि सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वह अवधिज्ञान है। उस अवधिज्ञान के होने से पूर्व सामान्य अवलोकनरूप व्यापार होता है, वह अवधिदर्शन है। उसमें भेदपूर्वक जानना नहीं होता। जिसको अवधिज्ञान होता है उसी को यह अवधिदर्शन होता है। ये चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शन मतिज्ञान, अवधिज्ञानवत् पराधीन जानना।

केवलदर्शन मोक्षस्वरूप है। केवलदर्शन एक समय में तीनकाल-तीनलोक के पदार्थों का सामान्यरूप अवलोकन करता है। वह स्वतन्त्र है और केवली के होता है, छद्मस्थ के नहीं होता। इस प्रकार दर्शन का सद्भाव होता है।

....इसप्रकार ज्ञान-दर्शन का सद्भाव ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षयोपशम के अनुसार होता है। जब क्षयोपशम थोड़ा होता है तब ज्ञान-दर्शन की शक्ति थोड़ी होती है; जब बहुत होता है तब बहुत होती है। तथा क्षयोपशम से शक्ति तो ऐसी बनी रहती है, परन्तु परिणमन द्वारा एक जीव को एक काल में एक विषय का ही देखना और जानना होता है। इस परिणमन ही का नाम उपयोग है। वहाँ एक जीव को एक काल में या तो ज्ञानोपयोग होता है या दर्शनोपयोग होता है। तथा एक उपयोग के भी एक भेद की प्रवृत्ति होती है। जैसे – मतिज्ञान हो तब अन्य ज्ञान नहीं होता। तथा एक भेद में भी एक विषय में ही प्रवृत्ति होती है। जैसे – स्पर्श को जानता है तब रसादिक को नहीं जानता। तथा एक विषय में भी उसे किसी एक अङ्ग में ही प्रवृत्ति होती है। जैसे – उष्णस्पर्श को जानता है तब रूक्षादिक को नहीं जानता।....

इसप्रकार ज्ञान-दर्शन का सद्भाव ज्ञानावरण दर्शनावरण के क्षयोपशमानुसार होता है। जब उघाड़ थोड़ा हो तब ज्ञान-दर्शन की शक्ति थोड़ी होती है और बहुत उघाड़ हो तब ज्ञान-दर्शन की शक्ति भी बहुत होती है। 'शक्ति' से यहाँ त्रिकाली शक्ति की बात नहीं है। त्रिकाली शक्ति तो परिपूर्ण है; परन्तु पर्याय में जो ज्ञान-दर्शन उघाड़रूप होते हैं उनकी बात करते हैं। पर्याय की ताकत की बात करते हैं। त्रिकाली शक्ति में से प्रगटरूप शक्ति उघड़ी (व्यक्त हुई) उसकी बात है – यह उघाड़ की बात हुई।

अब उपयोग की बात करते हैं। लब्धरूप परिणमन तो प्रतिसमय है, परन्तु उपयोगरूप परिणमन की बात करते हैं। उस उपयोगरूप परिणमन के द्वारा एक जीव के एककाल में किसी एक ही विषय का देखना या जानना होता है। उघाड़ तो बहुत होता है, उसे क्षयोपशम कहते हैं और जानने-देखने का प्रगट कार्य हो उसे उपयोग कहते हैं। तथा जानने-देखने की लब्धिरूप

शक्ति एक साथ होती है परन्तु जिस समय जानने का कार्य करे तब देखने का कार्य नहीं कर सकता और देखने का कार्य करे तब जानने का कार्य नहीं कर सकता, अर्थात् एक काल में या तो ज्ञान उपयोग या दर्शन उपयोग होता है। पर्याय में देखने तथा जानने की लब्धरूप शक्ति एकसाथ वर्तती है तथापि एकसाथ दोनों का उपयोगरूप कार्य नहीं कर सकता; तो फिर आत्मा शरीरादि पर पदार्थों का काम कर सके – ऐसा नहीं बनता। अज्ञानी अभिमान करता है कि पर के कार्य मुझसे होते हैं – ऐसा मानकर संसार में ही परिभ्रमण करता है।

उस उघाड़रूप पर्याय में दर्शन उपयोग और ज्ञान उपयोग क्रमसर होता है। तथा दर्शन में चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन का उघाड़ साथ होने पर भी एक साथ उपयोग नहीं होता; एक ही भेदरूप प्रवृत्ति होती है। तथा मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय, इसप्रकार चार ज्ञान का उघाड़ हो तो भी मतिज्ञान का उपयोग हो उस समय अन्य ज्ञान का उपयोगरूप कार्य नहीं हो सकता। इसप्रकार आत्मा की पर्याय में ज्ञान की पराधीनता है।

तथा एक भेद में भी किसी एक विषय में ही प्रवृत्ति होती है। जैसे कि मतिज्ञान में सुनने की तरफ उपयोग हो तब अन्य का ख्याल नहीं होता। स्पर्श के ज्ञान के समय अन्य रसादिक गुणों को नहीं जानता। तथा एक विषय में भी उसके किसी एक अंग में ही प्रवृत्ति होती है। जैसे कि मतिज्ञान से स्पर्श में ठण्डे को जाने उस समय चिकनाहट को नहीं जानता। समस्त अंगों को एकसाथ नहीं जान सकता – ऐसी पराधीनता है। इसप्रकार एक जीव के एक काल में एक ज्ञेय व दृश्य में ज्ञान व दर्शन का परिणमन होता है।

जब उपयोग सुनने में लगा हो तब आँख के समक्ष रहा हुआ पदार्थ भी नहीं दिखता। एक मनुष्य बही खातों में इतना तल्लीन हो गया कि उसके नजदीक से साँप निकलकर चला गया तथापि उसे ख्याल नहीं रहा। उपयोग एक विषय की तरफ ही कार्य कर सकता है – ऐसी पराधीन दशा है। लब्धरूप शक्ति होने पर भी उपयोग में पराधीनता हो रही है।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है। उसके भान बिना अज्ञानी के मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र होते हैं। यह सब पराधीन दशा हो रही है, इसकी उसे खबर नहीं है। हर्ष सन्निपात वाले को अपने रोग का पता नहीं होता और वह खिलखिलाकर हँसता है; वैसे ही अज्ञानी धर्म के परिज्ञान बिना अल्प उघाड़दशा में और राग-द्वेष में तथा पर में हर्ष मान रहा है।

एक पदार्थ की ओर उपयोग लगा हो तब अन्य पदार्थ नजदीक होने पर भी नहीं दिखता। इसीप्रकार अन्य प्रवृत्ति भी देखने में आती है।

तथा उस परिणमन में शीघ्रता बहुत होने से किसी समय ऐसा मानता हैं कि अनेक विषयों का युगपत् देखना-जानना होता है। आईसक्रीम खाते समय ठण्डे का, मीठे का और सुगन्ध का ज्ञान युगपत् होता दिखाई देता है; परन्तु वह युगपत् नहीं, क्रम-क्रम से होता है। जैसे कौए की आँख में दो गोलक हैं परन्तु पुतली एक है, वह इतनी शीघ्र फिरती है कि जिससे दोनों गोलखों का साधन करती है। वैसे ही इस जीव के पाँच इन्द्रियाँ और मन आदि द्वार तो अनेक हैं उपयोग एक है, परन्तु वह फिरता इतना शीघ्र है कि जिससे सर्व द्वारों का साधन रहता है।

इसप्रकार पर्याय की पराधीनता भान होने से धर्मी जीव को प्रगट पर्याय की भी रुचि नहीं होती। रुचि तो अन्तर्मुख स्वभाव की ही है। चार ज्ञान प्रगट हों तो भी वह क्षयोपशमिकज्ञान है, उनकी रुचि धर्मी को नहीं होती तो फिर धर्मी राग और पर पदार्थ की रुचि करे – यह तो संभव ही नहीं है।

चार ज्ञान वाले के भी एक ज्ञान के समय दूसरा ज्ञान उपयोगरूप नहीं और एक ज्ञान में भी एक विषय को जाने तब अन्य विषय को नहीं जानता – ऐसा पराधीनपना है, इसकारण उनकी भी रुचि करने योग्य नहीं है। पूर्ण ज्ञानस्वभाव एक ही आदरणीय है – ऐसा इस कथन का भाव है।

....यहाँ प्रश्न है कि – एक काल में एक विषय का जानना अथवा देखना होता है तो इतना ही क्षयोपशम हुआ कहो, बहुत क्यों कहते हो ? और तुम कहते हो कि क्षयोपशम से शक्ति होती है तो शक्ति तो आत्मा में केवलज्ञान-दर्शन की भी पायी जाती है।....

आत्मा में उघाड़ बहुत कहते हो और कार्य थोड़ा कहते हो तो फिर कार्य जितना उघाड़ कहो न ? एक काल में एक ही विषय को जानता है तो उतना ही उघाड़ कहो न ? बहुत उघाड़ क्यों कहते हो ? तथा तुम कहते हो कि क्षयोपशम से शक्ति होती है परन्तु शक्ति तो आत्मा में केवलज्ञान-दर्शन की है।

....समाधान – जैसे किसी पुरुष के बहुत ग्रामों में गमन करने की शक्ति है। तथा उसे किसी ने रोका और यह कहा कि पाँच ग्रामों में जाओ, परन्तु एक दिन में एक ग्राम को जाओ। वहाँ उस पुरुष के बहुत ग्राम जाने की शक्ति तो द्रव्य-अपेक्षा पायी जाती है; अन्य काल में सामर्थ्य हो, परन्तु वर्त्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है – क्योंकि वर्तमान में पाँच ग्रामों से अधिक ग्रामों में गमन नहीं कर सकता। तथा पाँच ग्रामों में जाने की पर्याय-अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है, क्योंकि उनमें गमन कर सकता है; तथा व्यक्तता एक दिन में एक ग्राम को गमन करने की ही पायी जाती है।

उसीप्रकार इस जीव के सर्व को देखने-जानने की शक्ति है। तथा उसे कर्म ने रोका और इतना क्षयोपशम हुआ कि स्पर्शादिक विषयों को जानो या देखो, परन्तु एक काल में एक ही को जानो या देखो। वहाँ इस जीव के सर्वको देखने-जानने की शक्ति तो द्रव्य-अपेक्षा पायी जाती है; अन्य काल में सामर्थ्य हो, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है, क्योंकि अपने योग्य विषयों से अधिक विषयों को देख-जान नहीं सकता। तथा अपने योग्य विषयों को देखने-जानने की पर्याय-अपेक्षा वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है, क्योंकि उन्हें देख-जान सकता है; तथा व्यक्तता एक काल में एक ही को देखने या जानने की पायी जाती है।....

आत्मा में ज्ञान-दर्शन की शक्ति है वह ध्रुव गुणरूप शक्ति है तथा पर्याय में उघाड़ है वह तो पर्याय की शक्ति है। उसमें से उपयोगरूप परिणमन होता है। जैसे किसी पुरुष में बहुत गाँवों में गमन करने की शक्ति तो है परन्तु उसे किसी ने रोका और कहा कि इन पाँच गाँवों में ही जाओ और वह भी एक दिन में किसी एक गाँव में ही जाओ।

इसमें तीन बात ली हैं –

१. बहुत गाँवों में जाने की शक्ति कही।
२. उसमें से पाँच गाँवों में जाने की छूट दी।
३. उसमें से भी एक दिन में किसी एक गाँव में ही जाने को कहा।

अब उस पुरुष में द्रव्य अपेक्षा से बहुत गाँवों में जाने की शक्ति तो है, अन्य काल में उसकी सामर्थ्य होगी, परन्तु वह वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है। वर्तमान में तो वह पाँच गाँवों से अधिक गमन नहीं कर सकता। तथा पाँच गाँवों में जाने की सामर्थ्यरूप शक्ति वर्तमान में पर्याय अपेक्षा से है इससे वह उतने में ही जा सकता है और गमन करने की व्यक्तता एक दिन में एक गाँव जाने की होती है।

उसीप्रकार जीवों में तीनकाल-तीनलोक को जानने की शक्ति है। उसमें कर्मों ने रोका अर्थात् कर्म की ओर के झुकाव से स्वयं रुका, स्वयं ने ज्ञान का उघाड़ नहीं किया अत: ज्ञानावरणी ने ज्ञान रोका – ऐसा कथन किया है। और उघाड़ इतना ही हुआ कि पाँच इन्द्रियों के विषयों को जाने – देखे; परन्तु उसमें भी व्यक्त अपेक्षा से एक को जानने की शक्ति है।

अब द्रव्य अपेक्षा से तो सबको जानने-देखने की शक्ति है; परन्तु वह अपने आत्मा का भान करने पर अन्य काल में (प्रगट) सामर्थ्यरूप होगी, परन्तु वर्तमान पर्याय में सबको जानने की प्रगट दशा नहीं है, इससे वह अपने योग्य विषयों से अधिक विषयों को देख-जान नहीं

सकता। अपने योग्य विषयों को जानने-देखने की पर्याय अपेक्षा से वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है, अत: उन्हें देख-जान सकता है; परन्तु व्यक्तता एक काल में किसी एक को ही देखने-जानने की होती है।

इसप्रकार पर्याय अपेक्षा से मनुष्य को पाँच इन्द्रियों द्वारा जानने की शक्ति है, उघाड़ है फिर भी एक साथ पाँचों के विषयों को नहीं जान सकता, एक काल में किसी एक को ही देखता-जानता है।

जब संसारी जीव अपना ज्ञान व्यापार पूर्ण नहीं कर सकता, आत्मा की प्रगट पर्याय में स्वयं के कारण से हुए ज्ञान-दर्शन के उघाड़ का कार्य भी पूर्ण नहीं कर सकता, तो फिर जीव पर का कार्य करे और पर की दया पाल सके – ऐसा मानने वाले तो मूढ़ ही हैं। अज्ञानी मानता है कि मैंने इतनों को धंधा लगाया, इतनों की मदद की; परन्तु वह तो बाह्य क्रिया है। तेरी प्रगट पर्याय भी कार्यरूप पूरी काम में नहीं आती तो पैसा काम में आवे – ऐसा तो बन ही नहीं सकता। पाँच इन्द्रियों के विषयों को जानने का लब्धरूप ज्ञान सब जगह एक साथ नहीं पहुँच सकता तो आत्मा पर के कार्य में पहुँच जाये – पर के कार्य कर दे यह तो असंभव है। ऐसी समझ करे तो पर के कर्तृत्व का अभिमान टूट जाता है और पर्यायबुद्धि छूटकर स्वभावबुद्धि होती है।

लब्ध और उपयोगरूप पर्याय की रुचि छोड़ने जैसी है। चार ज्ञान का उघाड़ होने पर भी एक ज्ञान का कार्य कर सकता है और एक ज्ञान में भी एक विषय का ही ज्ञान कर सकता है; अत: पर का और राग का अभिमान छोड़ अपूर्ण ज्ञान-दर्शन पर्याय की भी रुचि छोड़ ! और पूर्ण स्वभाव की रुचि कर; तो सम्यग्ज्ञान होकर क्रमश: केवलज्ञान प्रगट होगा।

आत्मा पर के कार्य तो कर ही नहीं सकता और वर्तमान पर्याय में ऐसा राग करूँ वह भी तेरे आधीन नहीं है; और ज्ञान-दर्शन का वर्तमान उघाड़ है वह भी एक साथ काम नहीं कर सकता। अत: राग करने का अभिमान छोड़ दे। वर्तमान चारित्रगुण की पर्याय है उसे बदलकर मैं ऐसी पर्याय लाऊँ – यह तेरे आधीन नहीं है। निमित्त की रुचि छोड़। पर्याय बदलने की रुचि छोड़ और त्रिकाली स्वभाव की रुचि कर – ऐसा कहते हैं।

आत्मा तीनलोक-तीनकाल को जानने की शक्ति वाला है। जब तक आत्मा की रुचि करके पर्याय में पूर्णता न हो तब तक आत्मा पराधीन है – ऐसा यहाँ बतलाना है। अत: पूर्ण कार्य न आवे वहाँ तक स्वाधीन दृष्टिपूर्वक अन्तर्मुख होकर अभेदता करना ही कर्त्तव्य है। पर के कार्य तो तेरे नहीं, परन्तु राग अथवा व्यक्त अंश है वह भी तेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है।

देखो ! पैसा मिलना दुर्लभ नहीं है, परन्तु मनुष्यभव मिलना और उसमें भी ऐसा सत् का श्रवण होना दुर्लभ है। और वह श्रवण करके उसकी प्रतीति करना तो महा दुर्लभ है; अन्य कुछ भी दुर्लभ नहीं है। पैसा तो पूर्व के पुण्य के उदय के प्रमाण में मिलता है, वह कोई वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है। तथा वैसे संयोग तो पूर्व में अनन्तबार मिले हैं, वे कोई दुर्लभ नहीं है। अनन्तकाल में धर्म को नहीं समझा अत: सचमुच तो वही दुर्लभ है। लोग कहते हैं कि लक्ष्मी का सदुपयोग करो परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में मति-श्रुतादि का बहुत उघाड़ होने पर भी उसका एक साथ उपयोग नहीं कर सकता तो फिर आत्मा लक्ष्मी का उपयोग कर सके – ऐसा कभी बनता ही नहीं। आत्मा किसी भी रजकण में फेरफार नहीं कर सकता, फिर भी व्यर्थ हैरान होता है। शरीर का चलना या नहीं चलना, वह आत्मा के आधीन नहीं है। परन्तु जो आत्मा का कारखाना चल रहा है उसमें क्या बन रहा है, वह तो देख ! उसका स्वभाव जानने-देखने का है। वह वर्तमान जितना उघाड़ है उतना कार्य भी नहीं कर सकता – यह पराधीनता है। अत: परद्रव्य में तो फेरफार करना है ही नहीं, परन्तु चारित्रगुण की पर्याय और ज्ञान-दर्शन की वर्तमान पर्याय को भी बदलना नहीं; मात्र स्वभाव की दृष्टि करने की है और यही पूर्णदशा प्रगट करने का उपाय है।

पूर्ण जानने-देखने की जो शक्ति है वह अल्पकाल में प्रगट होगी अर्थात् जब उस शक्ति का विश्वास करके अन्तर में वीतरागता करेगा तब प्रगट होगी।

....यहाँ फिर प्रश्न है कि – यह तो जाना; परन्तु क्षयोपशम तो होता है फिर भी बाह्य इन्द्रियों आदि को अन्यथा निमित्त मिलने पर देखना-जानना नहीं होता, थोड़ा होता है या अन्यथा होता है। अब ऐसा होने में कर्म का निमित्त तो नहीं रहा।....

जितना उघाड़ है उसमें ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम निमित्त है और जितना उघाड़ नहीं है उसमें ज्ञानावरणीय का उदय निमित्त है – ऐसा कहा; परन्तु बाहर के कारण मिलने पर उघाड़ होने पर भी जानना नहीं होता तो कर्म का निमित्त कहाँ रहा? यहाँ निमित्त कहा है वह बताया है, परन्तु निमित्त उपादान में कुछ करता है – ऐसी बात नहीं है। शिष्य का प्रश्न है कि इन्द्रियाँ बराबर न हो, बाहर में अंधकार हो तो जान नहीं सके। अत: वहाँ कर्म का निमित्त नहीं बनता, परन्तु बाहर का निमित्त है – ऐसा हमें लगता है ?

....समाधान – जैसे रोकनेवाले ने यह कहा कि पाँच ग्रामों में से एक ग्राम को एक दिन में जाओ, परन्तु इन किंकरोंको साथ लेकर जाओ। वहाँ वे किंकर अन्यथा परिणमित हों तो जाना न हो या थोड़ा जाना हो या अन्यथा जाना हो; उसी प्रकार कर्म का ऐसा ही क्षयोपशम हुआ है कि

इतने विषयों में एक विषय को एक काल में देखो या जानो; परन्तु इतने बाह्य द्रव्यों का निमित्त होने पर देखो-जानो। वहाँ वे बाह्य द्रव्य अन्यथा परिणमित हों तो देखना-जानना न हो या थोड़ा हो या अन्यथा हो। ऐसा यह कर्म के क्षयोपशम ही का विशेष है, इसलिये कर्म ही का निमित्त जानना। जैसे किसी को अंधकार के परमाणु आड़े जाने पर देखना नहीं हो; उल्लू, बिल्ली आदि को उनके आड़े आने पर भी देखना होता है – सो ऐसा यह क्षयोपशम ही का विशेष है। जैसा-जैसा क्षयोपशम होता है वैसा-वैसा ही देखना-जानना होता है।....

जैसे उस रोकने वाले ने कहा कि पाँच गाँवों में से भी एक दिन में एक ही गाँव जाओ और वह भी किंकरों को साथ लेकर जाओ। वहाँ वे किंकर अन्यथा परिणमे तो जाना नहीं होता, थोड़ा होता है अथवा अन्यथा होता है। वैसे ही आत्मा में जिस प्रकार से जिस निमित्त से जाने ऐसा क्षयोपशम होता है, वह इतने विषयों में कोई एक विषय को ही एक काल में देखे-जाने; वहाँ बाह्य द्रव्य अन्यथा परिणमें तो देखना-जानना नहीं होता, थोड़ा होता है अथवा अन्यथा होता है। इस प्रकार कर्म के क्षयोपशम की विशेषता है। अत: वहाँ कर्म का ही निमित्तपना जानना।

चश्मा नहीं लगाया हो तो जान नहीं सकता, वह चश्मे के कारण से नहीं, परन्तु क्षयोपशम ऐसा ही है। पर्याय में स्वतन्त्र कार्य हो रहा है उसे मिथ्यादृष्टि नहीं समझता – इस कारण कहता है कि आँख बंद हो तो नहीं दिखता, परन्तु ऐसा नहीं है। आँख बंद हो उस समय दिखा नहीं – ऐसा ही ज्ञान का उससमय का क्षयोपशम है। वह क्षयोपशम पर के कारण नहीं है। तथा कोई ऐसा रोग होता है कि जिससे जीभ को स्वाद की खबर नहीं पड़ती, उससमय क्षयोपशम भी ऐसा ही है। वह क्षयोपशम निमित्त के कारण नहीं है। ये सब बातें पण्डितजी ने स्पष्टरूप से की हैं, फिर भी पढ़ने वाले बिना समझे पर के कारण से जानना आदि नहीं होता – ऐसा मानते हैं, जो कि भूल है।

निमित्त नहीं हो तब नहीं जाने और इस प्रकार का निमित्त हो तो जाने – ऐसा ही आत्मा का क्षयोपशम स्वयं के कारण से होता है। अत: ज्ञान के उघाड़ में या अभाव में निमित्त कर्म है; परन्तु बाह्य पदार्थों की मुख्यता नहीं है। यहाँ कर्म का ही निमित्तपना है – ऐसा बताना है, परन्तु वह उघाड़ कर्म के कारण है – ऐसा कहने का आशय नहीं है। काला चश्मा हो तो काला दिखता है, वह चश्में के कारण नहीं; परन्तु उससमय आत्मा का अथवा ज्ञान का काला जानने का ही क्षयोपशम है, उसके कारण है। वहाँ बाह्य निमित्त की विशेषता नहीं रहती। पहले बात आई थी कि बाह्य निमित्त आवे वैसा दिखता है – इस बात का यहाँ स्पष्टीकरण किया है।

जैसे किसी को अंधकार के परमाणु आड़े आने पर देखना नहीं होता, परन्तु उल्लू और बिल्ली आदि प्राणियों को वे परमाणु आड़े आने पर भी देखना होता है। इसप्रकार यह क्षयोपशम की ही विशेषता है। अर्थात् जैसा क्षयोपशम होता है वैसा जानना होता है। अत: ऐसा समझना कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कर्म के साथ है। जितना अपना पुरुषार्थ है उतना उघाड़ है और वैसा बाह्य निमित्त है। इसप्रकार देखना-जानना होता है। ज्ञान का उघाड़ स्वयं के कारण योग्यता प्रमाण होता है, उसमें कर्म का निमित्तपना है इतना सिद्ध किया है; परन्तु पर-निमित्त के कारण उघाड़ या अभाव है – ऐसा नहीं है। कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। बत्ती बंद करने पर नहीं दिखता – इसमें इस निमित्त की विशेषता नहीं, परन्तु वहाँ क्षयोपशम ही ऐसा है। जो इस बात को नहीं समझकर भी धर्म की बातें करते हैं, उनको धर्म नहीं होता; और कितने ही ऐसी बातें भी करते हैं परन्तु उनके सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का ठिकाना नहीं तो उन्हें भी धर्म नहीं होता।

आत्मा शुद्ध है, पर का कुछ नहीं करता – ऐसा यहाँ की बात पढ़कर कहते हैं; परन्तु कुदेवादिक के निमित्त को नहीं छोड़ते, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। तथा कितने ही कहते हैं कि कर्म के कारण आत्मा में जानना-देखना नहीं होता, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। जिन्हें द्रव्यस्वभाव की खबर नहीं उन्हें पर्याय की खबर भी नहीं होती।

मोक्षमार्ग में अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान होता है – वह भी क्षयोपशम ज्ञान ही है। उसकी भी इसी प्रकार एक काल में किसी एक को ही प्रतिभासनेरूप अथवा परद्रव्य की आधीनतारूप प्रवृत्ति जानना तथा जो विशेष है सो विशेष जानना।

इसप्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण के उदय के निमित्त से ज्ञान-दर्शन के बहुत अंशों का अभाव होता है तथा उनके क्षयोपशम से थोड़े अंशों का सद्भाव होता है – ऐसा जानना।

अब मिथ्यात्व तथा कषायजन्य अवस्था की बात करते हैं।

मोहनीय कर्मोदय जन्य अवस्था

....तथा इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं।....

यह निमित्त का कथन है। अन्य द्रव्य के कारण अन्य द्रव्य की पर्याय कही जावे, वह व्यवहार है। निश्चय से तो पर्याय अपने कारण से है। परद्रव्य और स्वद्रव्य में अत्यन्त अभाव है। मोह का उदय तो जड़ है, जबकि मिथ्यात्व और कषाय है, वह आत्मा की पर्याय है। आत्मा स्वयं जब वे भाव करता है तब मोह के उदय को निमित्त कहते हैं। – इन दोनों का समकाल है। पर्याय-पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

दर्शनमोहरूप जीव की अवस्था

....वहाँ दर्शनमोह के उदय से जीव को मिथ्यात्वभाव होता है। जिससे यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्व श्रद्धान करता है। जैसा है वैसा तो नहीं मानता, और जैसा नहीं है वैसा मानता है।....

यदि कर्म के कारण मिथ्यात्व भाव होता हो तब तो आत्मा का मोक्ष कभी नहीं हो सकता। परन्तु आत्मा स्वयं जैसा है वैसा नही माने और जैसा नहीं है वैसा मानता है, वह विपरीतता है; जीव का दोष है। अत: जीव को समझाते हैं। कोई कर्म को उपदेश नहीं देता, क्योंकि कर्म के कारण से संसार अवस्था नहीं है।

....अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी अनादि निधन वस्तु आप है; और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित जिनका नवीन संयोग हुआ ऐसे शरीरादिक पुद्गल पर हैं; इनके संयोगरूप नानाप्रकार की मनुष्य तिर्यंचादिक पर्यायें होती हैं – उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण करता है, स्व-पर का भेद नहीं कर सकता, जो पर्याय प्राप्त करे उस ही को आपरूप मानता है।....

आत्मा अरूपी-अमूर्तिक है और पुद्गल से रचित यह शरीर मूर्तिक है।
आत्मा ज्ञानादि अनन्तगुणों का आधार है और शरीर ज्ञानादिगुणों से रहित है।
आत्मा अनादि-निधन वस्तु स्वयं है और शरीर संयोगी नवीन वस्तु है।

इन दोनों के सम्बन्ध से मनुष्यादि पर्यायें होती हैं। मिथ्यादृष्टि उन पर्यायों में अहंबुद्धि करता है। वहाँ शरीर मेरे से चलता है, मैं बोलता हूँ – ऐसा मानता है। यह सब ही मिथ्यात्व भाव है। प्रत्यक्ष संयोगरूप वस्तु और ज्ञानरहित मूर्तिक जो अपनी वस्तु नहीं है उसे अपनी मान रहा है – यही मूढ़ता है।

दर्शनमोहजन्य अवस्था की बात चलती है। संसार अवस्था में ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति पर्याय में कैसी हो रही है – यह बात पूर्व में आ गई है।

आत्मा को विपरीत मान्यता और कषायभाव होते हैं उसमें मोहकर्म निमित्त है। यह सामान्य बात की। उसमें विपरीत बुद्धि अर्थात् भ्रान्ति जो अनादि से जीव को हो रही है उसके कारण आत्मा और जड़ शरीर आदि का पृथक्-पृथक् स्वरूप है, उसे जैसा है वैसा नहीं मानता, परन्तु जैसा नहीं है वैसा मानता है। – ऐसी अस्ति-नास्ति से बात की है।

जीव अपनी योग्यता के कारण विपरीत मान्यता कर रहा है। वह किस प्रकार है वह कहते है –

यह आत्मा अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज है – यह 'क्षेत्र' की बात की। तथा जो जानता है वह यह आत्मा है – ऐसा प्रसिद्ध होने पर भी अनादि से उसे नहीं मानता। तथा आत्मा अनन्त गुणों का धारक है। वह जड़ के गुणों को नहीं धारता। और आत्मा की आदि नहीं व अन्त भी नहीं है। आत्मा स्वयं देह से निराली वस्तु है।

शरीर जड़ है। वह मूर्तिक है, अनन्त रजकणों का पिण्ड है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। शरीर ज्ञान रहित है। आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु स्वयं है, जबकि यह शरीर तो नवीन संयोगरूप है। शरीरादि अपने से पर हैं, वे आत्मा की वस्तु नहीं हैं।

आत्मा और शरीर के संयोगरूप मनुष्यादि देह अनन्तबार मिली है, अनादि का संयोग है। उस पर्याय में यह मूढ़ जीव अहंबुद्धि धारण कर रहा है।

अज्ञानी मान रहा है कि शरीर वह मैं हूँ। मैं सफेद, मेरी आकृति, मेरे अवयव, उनकी क्रिया मुझसे होती है – इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मान रहा है। यह मान्यता कर्म ने कराई है – ऐसा नहीं, परन्तु स्वयं ही अहंबुद्धि कर रहा है। मैं चिदानन्द हूँ – ऐसा विश्वास अज्ञानी को नहीं आता। जब आत्मा में अहंबुद्धि नहीं और आत्मा ख्याल में नहीं आया तब अपना अस्तित्व पर में मानकर अहंबुद्धि कर रहा है। आत्मा का जो स्वरूप है वह ख्याल में नहीं आया इसलिये वह कहीं अपनी सत्ता माने बिना नहीं रहता। यदि जीव की पर्याय में इस प्रकार की भ्रान्ति न हो तो वर्तमान में शान्ति होनी चाहिये। परन्तु वर्तमान में शान्ति नहीं है इससे निश्चित होता है कि जीव अनादि से पर में अहंबुद्धि कर रहा है।

आत्मा का प्रसिद्ध स्वरूप ज्ञानानन्द है और शरीरादि पर हैं। अज्ञानी मूढ़ जीव इसका विवेक नहीं कर सकता। यह संसार अवस्था का वर्णन है। संसार त्रिकाली वस्तु स्वरूप में नहीं है, जड़ में भी संसार नहीं है; परन्तु आत्मा की वर्तमान पर्याय में भ्रम के कारण संसार है। इस कारण जैसा है वैसा नहीं मानता। स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा शरीरादि से भिन्न है, उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता। परवस्तु तो संयोगरूप से आई हुई है और आत्मा त्रिकाली है – ऐसा भेद मूढ़ जीव नहीं करता।

तथा यह शरीर जहाँ-जहाँ प्राप्त किया वहाँ अज्ञानी अपनापन मानता है। अब में थोड़ा जीने वाला हूँ – ऐसा कहता है, परन्तु आत्मा तो अनादि-अनन्त है, उसका विवेक नहीं है। मैं अब थोड़े काल रहने वाला हूँ – ऐसा मानता है; परन्तु आत्मा तो त्रिकाली वस्तु है, उसका स्वभाव तो जानना-देखना है और रागादिक भाव होते हैं वे कर्म के निमित्त से होने वाले अपने नैमित्तिक भाव हैं; परन्तु आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। तथा वर्णादिक हैं वे आत्मा के गुण नहीं है, शरीरादि जड़-पुद्गल के गुण हैं। अज्ञानी इन तीनों का विवेक नहीं करता।

....तथा उस पर्याय में ज्ञानादिक हैं वे तो अपने गुण हैं, और रागादिक हैं वे अपने को कर्मनिमित्त से औपाधिकभाव हुए हैं, तथा वर्णादिक हैं वे शरीरादिक पुद्गल के गुण हैं, और शरीरादिक में वर्णादिकों का तथा परमाणुओं का नानाप्रकार पलटना होता है वह पुद्गल की अवस्था है; सो इन सब को अपना स्वरूप जानता है, स्वभाव-परभाव का विवेक नहीं हो सकता।....

शरीर की युवा, वृद्ध, रोग, निरोग आदि अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे आत्मा के कारण नहीं होती। शरीर जीर्ण होता है वह शरीर की अवस्था है, फिर भी शरीर के मोटा-पतला होने पर मैं मोटा-पतला हुआ – ऐसा अज्ञानी मानता है। जैसे मोटा-पतला वस्त्र पहिने तो शरीर मोटा-पतला हुआ – ऐसा नहीं मानता; परन्तु शरीर मोटा-पतला होने पर भ्रम से अपने को वैसा मानता है। शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था मानता है। ज्ञान, राग और शरीर – इन तीनों को एकरूप मानता है, परन्तु उनमें भेद नहीं करता।

'परमात्मप्रकाश' में आता है कि अनादि से शरीर का सम्बन्ध है, वह सब जैसा है उसे सम्यग्ज्ञान से भिन्न करता है। वह तो भिन्न करने जैसा है। अज्ञानी मूढ़ जीव उसे भिन्न नहीं करता – स्व-पर का विवेक नहीं करता।

अब अपने से प्रत्यक्ष भिन्न वस्तु है उसमें अपनापन मानता है वह कहते है।

....तथा मनुष्यादि पर्यायों में कुटुम्ब-धनादिक का सम्बन्ध होता है वे प्रत्यक्ष अपने से भिन्न हैं तथा वे अपने आधीन नहीं परिणमित होते तथापि उनमें ममकार करता है कि ये मेरे हैं। वे किसी प्रकार भी अपने होते नहीं, यह ही अपनी मान्यता से ही अपने मानता हैं तथा मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् देवादिक का या तत्त्वों का अन्यथा स्वरूप जो कल्पित किया उसकी तो प्रतीति करता है परन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसी प्रतीति नहीं करता।....

तथा मनुष्यादि पर्यायों में अपने से प्रत्यक्ष भिन्न धन-कुटुम्बादि का सम्बन्ध होता है और वे अपने आधीन होकर परिणमित नहीं होते, तथापि यह जीव उसमें ममकार करता है कि 'ये सब मेरे हैं', परन्तु वे किसी भी प्रकार से अपने नहीं होते। अज्ञानी ही अपनी विपरीत मान्यता से उन्हें अपने मानता है। स्त्री, परिवार, मित्र, समधी, भागीदार – इन सबका सम्बन्ध नया होता है। ये सब अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं। मकान नया कराया वह पहले नहीं था ऐसा ज्ञान होता है, फिर भी उसे अपना मानता है। पुत्रादिक अपना कहा मानते नहीं, पैसा अपनी इच्छा प्रमाण रहता नहीं, फिर भी यह उनकी भिन्नता का विवेक नहीं करता।

कुटुम्ब, भाई, स्त्री अपनी इच्छा प्रमाण मानते नहीं हैं और कदाचित् मानते भी हैं तो

स्वयं का ही मानते है, उनके राग को पोषते है, परन्तु इसका कहा मानते नहीं हैं, फिर भी उन्हें अपने मानता है।

लड़का प्रत्यक्ष विरुद्ध चलता हो तथापि ममता से कहता है कि वह कैसे भी बोले पर है तो मेरा ही पुत्र न ! इस प्रकार ममकार करता है। मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरा दामाद – ऐसा कहकर ममकार करता है। ये सब आत्मा से पर हैं, आत्मा के आधीन परिणमित नहीं होते और आत्मा से प्रत्यक्ष भिन्न हैं; फिर भी ममकार नहीं छोड़ता। विपरीत मान्यता के कारण सबको अपना मानता है।

तथा मनुष्यादि पर्यायों में किसी समय देवादिक का तथा तत्त्वादिक का जो अन्यथा स्वरूप कल्पित किया हो उसकी तो प्रतीति करता है, परन्तु जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसी प्रतीति नहीं करता। मिथ्यादृष्टि कल्पित देव को मानता है, सच्चे देव को नहीं मानता। देव तो सर्वज्ञ हैं, उन्हें तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान होता है और वे दिव्यशक्ति (अनंतवीर्य) से युक्त हैं, वे ही सच्चे देव हैं, उन्हें तो कल्पित देव मानता है वह देव को नहीं मानता। तथा निर्ग्रन्थ मुनि ही सच्चे गुरु हैं उन्हें तो नहीं माने और कल्पित गुरु को माने, वस्त्र सहित को मुनि माने, वह सच्चे गुरु को नहीं मानता। तथा कल्पित शास्त्रों को सत्शास्त्र मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जो कुदेवादिक को मानता है वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है और उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो पहले से ही है।

जो सर्वज्ञ द्वारा कथित नवतत्त्वों को नहीं मानता, पुण्य के परिणाम हैं वे धर्म नहीं हैं फिर भी उन्हें धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सत्य का स्वीकार तो जहाँ हो वहाँ करना चाहिये। अमुक ठिकाने ही सत्य का स्वीकार हो सकता है – ऐसा नहीं है। अत: ज्ञानी सच्चे देवादिक को ही मानता है, कुदेवादिक को नहीं मानता। संवर तो आत्मा के आधार से होता है उसके बदले शरीर की क्रिया से संवर होता है – ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जो ऐसे मिथ्यादृष्टि को माने-मनावे वह भी गृहीत मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो विपरीत मान्यता कैसी होती है उसका वर्णन चल रहा है। पण्डितजी ने क्रमसर बात ली है। यद्यपि पण्डितजी गृहस्थ थे तथापि इस ग्रन्थ रचना के समय उनका उपयोग इतना तीक्ष्ण था जिससे क्रमसर (श्रंखलाबद्ध) विषय प्रतिपादित हो गया है। इसमें मिथ्यादृष्टि की मान्यताओं का बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

....इसप्रकार दर्शनमोह के उदय से जीव को अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव होता है। जहाँ तीव्र उदय होता है वहाँ सत्यश्रद्धान से बहुत विपरीत श्रद्धान होता है। जब मंद उदय होता है तब सत्यश्रद्धान से थोड़ा विपरीत श्रद्धान होता है।....

देव-शास्त्र-गुरु का तथा जीवादि सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप है वैसी प्रतीति नहीं करता।

इसप्रकार दर्शनमोह के उदय से जीव के अनेक प्रकार से अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यात्व भाव होता है। उसमें जब स्वयं बहुत विपरीतरूप श्रद्धा करता है तब तीव्र मिथ्यात्व का उदय कहलाता है और थोड़ा विपरीत श्रद्धान करे तब मंद मोह का उदय कहलाता है। मोह के तीव्र उदय से तीव्र और मंद उदय से मंद मिथ्यात्व होता है – यह निमित्त का कथन है। मिथ्यात्व मंद होता है तब कुदेवादिक की श्रद्धा छूट जाती है और सच्चे देवादिक की श्रद्धा होती है; परन्तु इससे धर्म होता है – ऐसी मान्यता रह जाती है। बाह्य लक्षण से देवादिक को मानता है, परन्तु अन्तर के लक्षण से निर्णय नहीं करता। तीव्र मिथ्यात्व वाला देवादिक के बाह्य लक्षणों को भी यथार्थ नहीं जानता, उसे कुदेवादिक की श्रद्धा है, वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। और जब बाहर के लक्षण से परीक्षा करके सच्चे देवादिक को माने तब गृहीत मिथ्यात्व जाता है और अन्तर की परीक्षा करके माने तब अगृहीत मिथ्यात्व जाता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि परीक्षा पूर्वक यथार्थ स्वरूप को नहीं मानता।

यहाँ संसार अवस्था के निरूपण में सामान्यपने दर्शनमोह के उदय से आत्मा में अनादि से मिथ्यात्व दशा होती है – यह बात करके विशेष बात करते हुए मनुष्य, देवादिक की पर्याय प्राप्त करके मिथ्यात्वदशा कर रहा है – यह बात की। स्त्री, कुटुम्ब आदि में अपनापना मानने की बात की और फिर कहा कि इस प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व तो था ही, परन्तु मनुष्यादि पर्याय में आकर कुदेवादिक की श्रद्धा करके गृहीत मिथ्यात्व करता है; वह तीव्र मिथ्यात्व है। द्रव्यलिंगी मुनि को मंद मिथ्यात्व के परिणाम तो अनन्तबार हुए हैं और किसी समय जीव तीव्र मिथ्यात्व करता है। इसप्रकार अनादि संसारदशा में मिथ्यात्व अवस्था हो रही है।

अब चारित्रमोह के उदय से आत्मा में कषायभाव होते हैं वह कहते हैं।

चारित्रमोहरूप जीव की अवस्था

....जब चारित्रमोह के उदय से इस जीव को कषायभाव होता है तब यह देखते-जानते हुए भी परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर क्रोधादिक करता है।

चारित्रमोह के उदय से इस जीव को कषायभाव होते हैं। तब यह देखते-जानते हुए भी अर्थात् अपना स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा होने पर भी परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर क्रोधादि करता है। इसमें अब क्रोध की बात करते हैं।

....वहाँ क्रोध का उदय होने पर पदार्थों में अनिष्टपना मानकर उनका बुरा चाहता है। कोई मन्दिरादि अचेतन पदार्थ बुरे लगें तब तोड़ने-फोड़ने इत्यादि रूप से उनका बुरा चाहता है तथा शत्रु

आदि सचेतन पदार्थ बुरे लगें तब उन्हें वध-बन्धनादि से या मारने से दु:ख उत्पन्न करके उनका बुरा चाहता है। तथा आप स्वयं अथवा अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थ किसी प्रकार परिणमित हुए, अपने को वह परिणमन बुरा लगा तब अन्यथा परिणमित कराके उस परिणमन का बुरा चाहता है।

इस प्रकार क्रोध से बुरा चाहने की इच्छा तो हो, बुरा होना भवितव्य आधीन है।....

वहाँ क्रोध का उदय होने पर पदार्थों में अनिष्टपना मानकर उनका बुरा चाहता है। कोई मकानादि अचेतन पदार्थ बुरे लगें तो उनको तोड़ने-फोड़ने रूप से उनका बुरा चाहता है। तथा कोई शत्रु आदि सचेतन पदार्थ बुरे लगें तब उन्हें वध-बंधनादि अथवा प्रहारादि द्वारा दु:ख उपजाकर उनका बुरा करना चाहता है। परन्तु यह इसके आधीन नहीं हैं।

पुरानी स्त्री अच्छी थी परन्तु जब से यह नई स्त्री आयी है तब से दु:ख-ही-दु:ख हैं- ऐसा मानकर उस पर तीव्र द्वेष करता है। यह मकान खराब है, इसमें सुखी नहीं हुए अत: इसे बेच डालो तो सुखी हो जायेंगे – ऐसे चिन्तन से उसे तोड़ने-फोड़ने लगता है। परन्तु ये सब इसके आधीन नहीं हैं। किसी शत्रु को मारकर अथवा दु:ख देकर भी उसका बुरा कैसे हो – यह चाहता है। परन्तु ऐसा होना इसके आधीन नहीं हैं।

देखो ! अब यहाँ जरा सूक्ष्म बात करते हैं। आत्मा स्वयं तथा पर कोई किसी प्रकार परिणमते हों और इसको वह ठीक नहीं लगे तो उन्हें अन्य प्रकार परिणमाना चाहता है। वह पर्याय व्यवस्थित क्रमबद्ध होती है उसका ज्ञाता-दृष्टा रहना चाहिये – परन्तु ऐसा न रहकर अपनी तथा पर की पर्याय को बदलना चाहता है और वह पर्याय बुरी लगती है इस कारण क्रोध में वर्त्त रहा है।

आत्मा स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है वह अपनी पर्याय का भी जानने वाला है – ऐसा न मानकर अपनी पर्याय को भी बुरा जानकर बदलना चाहता है – ऐसे जीव की पर्यायदृष्टि है, स्वभाव पर दृष्टि नहीं है। ऐसे जीव के उस पर्याय को बुरा जानकर मिथ्यात्व सहित क्रोध हो रहा है। आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, ज्ञान का पिण्ड है, ज्ञान का कंद है; उसमें परिणति ज्ञात होती है। वह कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है, तथापि उस पर्याय को बुरा मानकर क्रोध करता है। वह आत्मा देखने-जानने वाला है उसे नहीं देखता और अकेली पर्यायदृष्टि होने से वह मिथ्यादृष्टि है।

परिणमन का बुरा चाहता है। परन्तु वह परिणमन तो क्रमबद्ध-व्यवस्थित होता है। उसे बदला नहीं जा सकता – उसकी इसे खबर नहीं है। वस्तुस्थिति नहीं बदलती, फिर भी बदलना चाहता है, वह वस्तु स्थिति को समझा ही नहीं है। श्रीमद् ने कहा है न –

क्रोध भाव हो तो मैं नाशूँ क्रोध को,
मान भाव यदि हो तो रहूँ विनीत हो।
माया जागे तो माया को क्षय करूँ,
लोभ जगे सन्तोष भाव की जीत हो।
चार कषायों में ना मन अटकाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा ॥७॥

जैसा क्रोध करता था वैसा क्रोध के प्रति खिसक जा। क्रोध से खिसकने (हटने) का अर्थ यह है कि स्वभाव सन्मुख हो जा। देखो ! क्रोध को नहीं हटाया, क्रोध को नहीं बदलना, स्वभाव सन्मुख हो गया तो क्रोध होता ही नहीं। जो आत्मा में जो परिणाम होते हैं उनका बुरा चाहकर अन्य प्रकार के परिणाम चाहता है वह मिथ्यादृष्टि है – क्योंकि आत्मा को स्वभाव तो उन्हें जानने-देखने का है – इस बात की उसे खबर नहीं है। मैं विकार की पर्याय का भी जानने वाला हूँ – ऐसा नहीं मानकर उसे बदलना चाहता है, वह मिथ्यात्वपूर्वक का क्रोध है। जो स्वभाव सन्मुख न जाकर पर्याय को बदलना चाहता है वह पर्यायदृष्टिवंत होने से मिथ्यादृष्टि है।

देखो ! पण्डितजी ने कैसी सरस बात की है। 'परिणति है' उसे क्या बदलना है ? शरीर में रोग की अवस्था है वह परिणति है, उसे क्या बदलना है ? कुटुम्ब, स्त्री, लक्ष्मी मकानादि की परिणति है और तेरी परिणति भी है – वह सब व्यवस्थित हो रही है। उस समय अज्ञानी की रुचि अपने ज्ञातास्वभाव पर नहीं है अत: वह परिणति को बदलना चाहता है, परन्तु न तो वह बदलती है और न इसका मिथ्यात्व भाव जाता है। शरीर की, परिवार की , पुस्तक की जो अवस्था जिसकाल में जो होनी है वह होती है; उसे बदलने में कोई समर्थ नहीं है फिर भी अज्ञानी उस अवस्था को बदलना चाहता है, वह मिथ्यात्व सहित क्रोध में वर्तता है।

जगत में अनन्त आत्मायें और अनन्त पुद्गल हैं। उनकी परिणति क्रमबद्ध हो रही है। वे जिस प्रकार से परिणमते हों वह अवस्था आत्मा को बुरी लगे तो वह 'आत्मा ज्ञाता है' – यह नहीं समझा और उसे बदलना चाहता है। ऐसे भाव से अन्य चेतन-अचेतन पदार्थों का बुरा करने की इच्छा तो करे; परन्तु बुरा होना या नहीं होना उनके भविष्य के आधीन है।

सामने वाले का बुरा होना तेरे आधीन नहीं है। उसका भला या बुरा होना वह उसके स्वयं के आधीन है, फिर भी मूर्ख जीव 'मेरे कारण होता है' – ऐसा मानकर व्यर्थ ही क्रोधी हो रहा है। पर का परिणमन होना वह उसकी योग्यता के कारण है, वह कोई तेरे आधीन नहीं

है। अज्ञानी मानता है कि घर की सुसभ्यता के कारण लड़के में कोई खराब आदत नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उसकी परिणति उसके आधीन है, तेरे आधीन नहीं।

अनादि से अज्ञानी जानने-देखने के स्वभाव वाले निज आत्मा की रुचि नहीं करता, परन्तु पर की परिणति बदलना चाहता है और इससे हैरान-हैरान हो रहा है। पुत्र को आज्ञा में रखना चाहे, वह पैसा खर्च करे और पढ़े नहीं तो उसके प्रति द्वेष होता है और कदाचित् वह संस्कारित हो तो भी वह तेरे आधीन या पैसे के आधीन नहीं है, परन्तु उसकी योग्यता के आधीन है। स्वयं की इच्छानुसार कार्य नहीं होता तो अरुचि करके दु:खी होता है। इसप्रकार जीव क्रोध के कारण से मिथ्याचारित्ररूप परिणमता है।

अब मान कषाय की बात करते हैं –

....तथा मान का उदय होने पर पदार्थ में अनिष्टपना मानकर उसे नीचा करना चाहता है, स्वयं ऊँचा होना चाहता है; मल, धूल आदि अचेतन पदार्थों में घृणा तथा निरादर आदि से उनकी हीनता, अपनी उच्चता चाहता है। तथा पुरुषादिक सचेतन पदार्थों को झुकाना, अपने आधीन करना इत्यादि रूप से उनकी हीनता, अपनी उच्चता चाहता है। तथा स्वयं लोक में जैसे उच्च दिखे वैसे शृंगारादि करना तथा धन खर्च करना इत्यादि रूप से औरों को हीन दिखाकर स्वयं उच्च होना चाहता है। तथा अन्य कोई अपने से उच्च कार्य करे उसे किसी उपाय से नीचा दिखाता है और स्वयं नीचा कार्य करे उसे उच्च दिखाता है।

इसप्रकार मान से अपनी महंतता की इच्छा तो हो, महंतता होना भवितव्य आधीन है।....

मान का उदय होने पर अन्य पदार्थों के प्रति अनिष्टपना मानकर उन्हें नीचा करना तथा स्वयं ऊँचा होना चाहता है, परन्तु यह इसके आधीन नहीं है। जो जीव सत्ताप्रिय प्रकृत्ति वाला होता है वह अन्य को हीन बताना चाहता है। वह पर-वस्तु में अनिष्टपना मानता है और अपना मान बढ़ाना चाहता है। अन्य को नीचा करना चाहता है, परन्तु यह इसके आधीन नहीं है, उनके भवितव्य के आधीन हैं। मल-मूत्रादि अचेतन पदार्थों में घृणा तथा निरादर आदि से उनकी हीनता और अपनी उच्चता चाहता है। परन्तु कोई जड़ पदार्थ घृणा करने लायक नहीं है फिर भी उनके प्रति निरादर करता है, वह मिथ्यात्व सहित मान कषाय करता है। उस मान के कारण अन्य का अपमान करता है। मकान धूल-मिट्टी वाला हो तो हम ऐसे मकान में नहीं रहेंगे – ऐसा कहकर अपनी मोटाई-बड़ापन बताता है। परन्तु स्वयं को उच्चता मिलना और पर की हीनता होना, वह आत्मा के आधीन नहीं। इसप्रकार अचेतन की बात करके अब सचेतन पदार्थ की बात करते हैं।

अन्य पुरुषादि सचेतन पदार्थों को अपने आगे झुकाना अथवा अपने आधीन करना चाहता है। स्वयं का भाई हो और कोई विवाद पड़ा हो तो पहले वह झुकने आवे – ऐसा कहकर बड़ापना मानता है। परन्तु बड़ापन होना तेरे आधीन नहीं है। अज्ञानी पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उन्हें बदलना चाहता है। ज्ञानी पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उन्हें परिणमाना नहीं चाहता। सास बहू को झुकाना चाहती है कि मैं बड़ी और यह छोटी है। इस प्रकार बड़ापन मानकर उसे नीचा दिखाना चाहती है। परन्तु वस्तुतः तो कोई ऊँचा-नीचा है ही नहीं। बहू, सास के प्रति झुके नहीं तो सास को दुःख होता है; परन्तु उसे खबर नहीं है कि मैं सास ही नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। जानने-देखने वाला तत्त्व हूँ। बहू नहीं नमती – इस कारण दुःख होता है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। अज्ञानी मान से प्रेरित होकर अन्य को झुकाना-नमाना चाहता है – यह मिथ्यात्व सहित मान है। श्रीमद् ने कहा है –

'तन से, मन से धन से सबसे, गुरुदेव की आन स्व आत्म बसे।'

तन, मन और धन – सब पर से प्रेम हटाकर गुरु की आज्ञा अन्तर में बसे। अर्थात् यहाँ भी उपादान की पात्रता का वर्णन है। श्रीमद्जी का क्षयोपशम बहुत था। उनका हृदय दूसरा था। उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कैसे थे वे जानें। अन्य उनकी आड़ लेकर बात करे तो वह उन्हें समझा ही नहीं। उन्होंने तो स्वभाव को ही मुख्य कहा है – ऐसी उनकी आज्ञा है। (तथापि) पंचपरमेष्ठी के प्रति हर्ष-प्रमोद आये बिना नहीं रहता। वे क्या कहते हैं इस बात को जाने तभी उनकी आज्ञा मानी कही जाती है।

यहाँ तो अज्ञानी लोक में ऊँचा दिखने के लिये धन खर्चता है, विवाहादि में पैसा खर्च करता है। मान के लिये बाहर में बहुत दिखावा (प्रदर्शन) करता है और विवाह में श्रंगारादिक करता है, वैश्यादिक को नचाता है और हैरान-हैरान होता है। दूसरों की अपेक्षा स्वयं ऊँचा कैसे दिखे – ऐसी प्रवृत्ति करता है। अन्य के पास पैसा हुआ हो तो, उसे अनीति से पैसा मिला है – ऐसा कहकर उसे नीचा दिखाना चाहता है। हम तो गर्भ श्रीमंत हैं, भले ही अभी निर्धन है – ऐसा कहकर मान का सेवन करता है। इस प्रकार मान से अपनी महत्ता की इच्छा तो बहुत करता है, परन्तु महत्ता होना भवितव्य के आधीन है।

पैसा खर्च करने पर भी मान मिलना या न मिलना भवितव्य के आधीन है। एक सेठ था, वह बहुत पैसा खर्च करता परन्तु समाज में उसकी महिमा या बखान नहीं होता था। एकबार उसने जातिभोज का आयोजन किया और उसमें मिठाई बनाई। अपने मान के लिये रात्रि में उठकर उसमें अधिक घी डालने गया, वहाँ रात्रि के अंधकार में घी के बदले अरंडी को तेल

डल गया। सवेरे जाति के जीमने के समय वह देखने को निकला तो सब खराब मुँह करके बुरा बोल रहे थे। अत: मान होना आत्मा के आधीन नहीं है फिर भी अज्ञानी अन्य को नीचा करके अपनी महत्ता चाहता है – यह मिथ्यात्व सहित मान है।

इसप्रकार मान कषाय की बात करके अब माया कषाय की बात करते हैं –

....तथा माया का उदय होने पर किसी पदार्थ को इष्ट मानकर नाना प्रकार के छलों द्वारा उसकी सिद्धि करना चाहता है। रत्न सुवर्णादिक अचेतन पदार्थों की तथा स्त्री, दासी, दासादि सचेतन पदार्थों की सिद्धि के अर्थ अनेक छल करता है। ठगने के अर्थ अपनी अनेक अवस्थाएँ करता है तथा अन्य अचेतन-सचेतन पदार्थों की अवस्था बदलता है। इत्यादि रूप छल से अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहता है।

इसप्रकार माया से इष्ट सिद्धि के अर्थ छल तो करे, परन्तु इष्टसिद्धि होना भवितव्य आधीन है।....

माया कषाय का उदय होने पर किसी पदार्थ को इष्ट मानकर उसके अर्थ नाना प्रकार रूप छल-प्रपंच से उस पदार्थ की सिद्धि करना चाहता है – यह माया की सामान्य व्याख्या हुई। अब विशेष प्रकार से उसका वर्णन करते हैं।

रत्न, सुवर्णादि अचेतन पदार्थ तथा स्त्री, दासी-दास आदि सचेतन पदार्थों की सिद्धि के लिये अनेक छल-प्रपंच करता है। सस्ते भाव से सोना-चाँदी आदि मिलते हों तो कपट करता है और उसमें अपना चतुरपना मानता है। अज्ञानी मानता है कि कपट किये बिना पैसा नहीं होता, परन्तु पैसा पुण्य के बिना नहीं मिलता – इस बात की उसको खबर नहीं है। इस कारण वह अनेक प्रकार से छल-कपट करता है, परन्तु उनकी प्राप्ति होना इसके आधीन नहीं है।

स्त्री आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये अविद्यमान को विद्यमान करके कपट करता है। पुत्री की सगाई करना हो तो बड़ी के बदले छोटी को दिखाता है – इत्यादि अनेक प्रकार से माया करता है। माल दूसरा बताता है और देता दूसरा है – इसप्रकार अज्ञानी पैसे की प्राप्ति के लिये छल करता है। वह कपट करके पर की अवस्था करना चाहता है अत: मिथ्यादृष्टि है। किसी पदार्थ की पर्याय किसी के कारण से नहीं होती, फिर भी अज्ञानी जीव अन्य चेतन-अचेतन पदार्थों की अवस्था अन्य को ठगने के लिये पलटाता है।

इसप्रकार इष्ट सिद्धि के लिये नाना प्रकार के छल-कपट का सेवन करता है; परन्तु इष्ट की सिद्धि होना भवितव्य के आधीन है।

अब लोभ कषाय की बात करते हैं –

....तथा लोभ का उदय होने पर पदार्थों को इष्ट मानकर उनकी प्राप्ति चाहता है। वस्त्राभरण, धन-धान्यादि अचेतन पदार्थों की तृष्णा होती है; तथा स्त्री-पुत्रादिक चेतन पदार्थों की तृष्णा होती है। तथा अपने को या अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थों को कोई परिणमन होना इष्ट मानकर उन्हें उस परिणमनरूप परिणमित करना चाहता है।

इसप्रकार लोभ से इष्ट प्राप्ति की इच्छा तो हो, परन्तु इष्ट प्राप्ति होना भवितव्य के आधीन है।....

लोभ कषाय का उदय होने पर अन्य पदार्थों को इष्ट मानकर उनकी प्राप्ति करना चाहता है। वस्त्र-आभरण, धन, धान्यादि अचेतन पदार्थों तथा स्त्री, पुत्रादि सचेतन पदार्थों की तृष्णा करता है। लक्ष्मी आदि के लिये लोभ करता है। परन्तु इन वस्तुओं का मिलना भवितव्य के आधीन है। फिर भी अज्ञानी मानता है कि मैं लोभ करता हूँ तो ये वस्तुयें मिलती हैं – यह मिथ्यात्व सहित लोभ कषाय है। अब थोड़ी सूक्ष्म बात करते हैं –

अपना अथवा अन्य सचेतन-अचेतन पदार्थों का कोई परिणमन होना इष्ट मानकर उन्हें उसप्रकार के परिणमनरूप परिणमाना चाहता है। मेरा परिणमन शुभ हो, अशुभ न हो तो ठीक है – ऐसा मानकर अपने परिणमन को बदलना चाहता है। परन्तु जड़ और चेतन समस्त पदार्थों की तथा अपनी पर्यायें होती है, वे क्रमबद्ध होती है और मैं उनका जानने-देखने वाला हूँ – ऐसा नहीं मानता, इस कारण वह मिथ्यादृष्टि लोभ कषाय वाला है।

धर्म तो अन्तर्दृष्टि से होता है, पर्यायदृष्टि से नहीं होता। पर्यायदृष्टि तो मिथ्यादृष्टि है। मेरी पर्याय धर्मरूप हो (ऐसी भावना अवश्य होती है) परन्तु धर्मरूप पर्याय पर्याय में से नहीं होती। धर्म की पर्याय तो त्रिकाल ज्ञानस्वभावी आत्मा की रुचि करने से होती है। जिसको, पर्याय ऐसी हो तो ठीक – ऐसा ज़ोर वर्तता है उसको स्वभाव दृष्टि का ज़ोर नहीं है। वह मूढ़ जीव पर्याय की भावना करता है, उसे यहाँ मिथ्यात्व युक्त लोभ कहते हैं। त्यागी होकर भी ऐसे शिष्य हों तो ठीक – ऐसा मानता है वह सब मिथ्या अभिप्राय है। अत: यह बात मान्यता सच्ची करने की है। कोई पर-पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं है और पर्याय में जो क्रोधादि भाव होते हैं वे मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो ज्ञाता हूँ – ऐसी दृष्टि करना ही धर्म है। अज्ञानी पर में इष्ट-अनिष्टपना मानकर पर को परिणमाना चाहता है और अपनी पर्याय में फेरफार करना चाहता है, वह पर्यायदृष्टि है। उसे आत्मा जानने-देखने वाला है, इसकी खबर नहीं है। द्रव्य पर दृष्टि रखना

वह धर्म का कर्त्तव्य है। रागादिरूप विकारी पर्याय का ज्ञान होता है परन्तु उसका आश्रय करने योग्य नहीं है।

अज्ञानी धर्म के लिये जल समाधि लेता है और मानता है कि जल समाधि करने से मोक्ष हुए बिना नहीं रहता। तथा मानता है कि एकबार मोक्ष के लिये रुदन करे तो मोक्ष मिलता है। तथा दिन में यदि पाप किये हों और रात्रि में आँसू बहावे तो पाप का नाश होता है। पति की प्राप्ति के लिये स्त्रियाँ सती होती हैं – ये सब अज्ञानता है। इसप्रकार के सभी अभिप्राय वाले पर को इष्ट मानकर बदलना चाहते हैं; परन्तु उनका परिणमन अपने आधीन नहीं है। तथा अपनी जो पर्याय हो रही है अज्ञानी उसमें फेरफार चाहता है; परन्तु वह पर्याय तो क्रमबद्ध होती है उसे बदला नहीं जा सकता – यह बात समझने योग्य है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है उसे भूलकर पर में और पर्याय में अहंबुद्धि करके संसार अवस्था में अज्ञानी अनादि से क्रोधादि भाव कर रहा है। वह आत्मा को भूलकर अपनी और पर की परिणति को बदलना चाहता है – यही मिथ्याचारित्ररूप लोभ है। इसप्रकार अज्ञानी लोभ तो करता है; परन्तु पर की प्राप्ति होना तो भवितव्य के आधीन है।

इसप्रकार आत्मा क्रोधादि कषाय के उदय से परिणमित हो जाता है। जब आत्मा स्वयं क्रोधादिरूप परिणमता है उसमें कर्म निमित्त है। पर का बुरा होना या नहीं होना, वह तो भवितव्य के आधीन है। मान मिलना, भवितव्य के आधीन है। इष्ट की सिद्धि होना भी भवितव्य के आधीन है। इसप्रकार चारों कषायों की बात हुई।

ये चारों कषायें चार-चार प्रकार की होती हैं। १. अनन्तानुबंधी २. अप्रत्याख्यानावरण ३. प्रत्याख्यानावरण और ४. संज्वलन।

....वहाँ (जिनका उदय होने पर आत्मा को सम्यक्त्व न हो, स्वरूपाचरणचारित्र न हो सके, वे अनन्तानुबंधी कषाय हैं।) जिनका उदय होने पर देशचारित्र नहीं होता, इसलिए किंचित् त्याग भी नहीं हो सकता, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। जिनका उदय होने पर सकलचारित्र नहीं होता, इसलिए सर्व का त्याग नहीं हो सकता, वे प्रत्याख्यानावरण कषाय हैं। तथा जिनका उदय होने पर सकलचारित्र में दोष उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता, वे संज्वलन कषाय हैं।....

(१) ***'जिस कषाय के उदय से आत्मा को सम्यक्त्व और स्वरूपाचरणचारित्र नहीं हो सकता, वह अनन्तानुबंधी कषाय है।'*** आत्मा कषायरूप परिणमित होता है उसमें कर्म निमित्तमात्र

है, कर्म के कारण कषाय नहीं होती। ज्ञाता स्वभाव की अरुचि और पुण्य-पाप की रुचि, सम्यक्त्व को रोकती है। आत्मा की प्रतीति न हो उसके साथ अनन्तानुबंधी कषाय होती है और उससे स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता। जब आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है तब स्वरूपाचरण चारित्र होता है; उसके द्वारा आंशिक शान्ति होती है। वैसी शान्ति जिसे प्रगट न हो उसे अनन्तानुबंधी कषाय है।

(२) *'जिस कषाय के उदय से आत्मा को देश चारित्र प्राप्त न हो तथा जिससे किंचित् भी त्याग न हो सके, वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।'* पाँचवें गुणस्थान में आत्मा की शान्ति-अकषायभाव बढ़ता है। यदि आत्मा में आंशिक स्थिरता नहीं दिखती हो तो उसे अप्रत्याख्यानावरण का निमित्त विद्यमान है।

(३) *'जिस कषाय के निमित्त से सकल चारित्र न हो, जिसके कारण सर्व त्याग नहीं बन सके वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है।'* आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष शान्ति प्रगट होकर छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान नहीं प्रगटे, उसमें प्रत्याख्यानावरण निमित्त है। नग्न दिगम्बर मुनिपना प्रगट नहीं होने में यह तीसरी कषाय निमित्त है।

आत्मा के भान सहित अन्तर लीनतापूर्वक मुनि दशा होती है, जिसे वह नहीं उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय निमित्त है।

(४) *'जिस कषाय के निमित्त से सकलचारित्र में दोष उत्पन्न होते रहें जिस कारण यथाख्यातचारित्र नहीं हो सके, वह संज्वलन कषाय है।'* पूर्ण चारित्र दशा प्रगट न होने में संज्वलन कषाय का निमित्त है। आत्मा का गुण थोड़ा जले उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

चारों कषायों में पहली – अनन्तानुबंधी कषाय तीव्र है और अन्य उत्तरोत्तर मंद, मंदतर, मंदतम है। चारों कषायों में तारतम्यता है। अनन्त संसार का कारण अनन्तानुबंधी कषाय है। आत्मा में देशचारित्र प्रगट न होने देने में जो निमित्त है, वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। सकल चारित्र प्रगट न होने में निमित्त प्रत्याख्यानावरण कषाय है। और यथाख्यात चारित्र प्रगट न होने में निमित्त संज्वलन कषाय है। इसप्रकार यह चारों ही कषायें आत्मा के गुणों के घात करने में निमित्त हैं।

....अनादि संसार अवस्था में इन चारों ही का निरन्तर उदय पाया जाता है। परम कृष्णलेश्यारूप तीव्र कषाय हो वहाँ भी और शुक्ललेश्यारूप मंदकषाय हो वहाँ भी निरंतर चारों ही का उदय रहता है। क्योंकि तीव्र-मंद की अपेक्षा अनंतानुबंधी आदि भेद नहीं हैं, सम्यक्त्वादिका

घात करने की अपेक्षा यह भेद हैं। इन्हीं प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग उदय होने पर तीव्र क्रोधादिक होते हैं, मंद अनुभाग उदय होने पर मंद होते हैं।

तथा मोक्षमार्ग होने पर इन चारों में से तीन, दो, एक का उदय होता है; फिर चारों का अभाव हो जाता है।

तथा क्रोधादिक चारों कषायों में से एक काल में एक ही का उदय होता है। इन कषायों के परस्पर कारणकार्यपना है। क्रोध से मानादिक हो जाते हैं, मान से क्रोधादिक हो जाते हैं; इसलिये किसी काल में भिन्नता भासित होती है, किसी काल में भासित नहीं होती।

इसप्रकार कषायरूप परिणमन जानना।....

अब अनादि संसार अवस्था में इन चारों कषायों का निरंतर उदय होता है। अनन्तकाल तो आत्मा निगोद में ही रहा है। जैसे चने भूनते है तब कोई चना बाहर निकल पड़ता है, वैसे ही कोई जीव निगोद में से निकलकर मनुष्य आदि होता है। वहाँ परम कृष्णलेश्यारूप तीव्र कषाय हो तब भी और शुक्ल लेश्यारूप मंद कषाय हों, तब भी निरंतर इन चारों कषायों का उदय होता है। नरक में जाने योग्य निंदनीय भाव हो फिर भी उस समय भी संज्वलन कषाय का उदय होता है और शुक्ल लेश्या वाले को बहुत मंद कषाय होती है, फिर भी वहाँ अनन्तानुबंधी का उदय होता है। कुदेवादिक की श्रद्धा का परित्याग किया हो, शुक्ल लेश्या हो और नौवें ग्रेवेयक तक जावे – ऐसा भाव जीव ने अनन्तबार किया है; परन्तु उस समय भी अनन्तानुबंधी की तीव्रता होती है – ऐसा कहना चाहते हैं। आत्मा का भान नहीं होने के कारण शुभाशुभ भावों के समय इन चारों कषायों का उदय निरंतर होता है।

आत्मा चार कषायोंरूप परिणमता है उसकी बात यहाँ चलती है। कष माने संसार और आय माने लाभ। जिस भाव से संसार में परिभ्रमण का लाभ हो उस भाव को कषाय कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप चिदानन्द, वीतरागी है। कषाय आत्मा का स्वरूप नहीं है। कषाय तो आत्मा की शान्ति को लूटने वाली है। यह चार कषायें तो आत्मा के गुणों का घात करती है। मिथ्यादृष्टि को इन चारों कषायों का निरंतर उदय होता है। अनन्तानुबंधी कषाय का नाश होने पर वे पहले की तरह तीव्र नहीं होती, परन्तु अनादि संसार अवस्था में तो इन चारों कषायों का उदय निरंतर होता है।

आत्मा चिदानन्द ध्रुव है। उसके अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट होती है वह भी ध्रुव है। वैसी की वैसी होती रहती है – इस अपेक्षा से उसे ध्रुव कहा है। और अध्रुव पदार्थों के अवलम्बन

से अथवा पर्याय के अवलम्बन से उत्पन्न हुई पर्याय अध्रुव है। चिदानन्द ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से मोक्ष पर्याय प्रगट होती है वह पुनः संसार पर्यायरूप नहीं होती। कषाय तो अस्थिर है जबकि आत्मा अकषायी ध्रुव है। ध्रुव के अवलम्बन से उत्पन्न होती है वह परमात्म दशा है। तथा कषाय, जो कि अध्रुव है उसके अवलम्बन से उत्पन्न हो वह संसार अवस्था है। जिसको संसार का नाश होकर परमात्म दशा हुई ऐसे परमात्मा कहते हैं कि मिथ्यात्व दशा में चारों कषायों का उदय होता है।

मिथ्यात्व जाने के बाद तीन कषायें रहती हैं वे पहले की तरह तीव्र नहीं होती। मिथ्यात्वी को कृष्ण लेश्या के परिणाम हों अथवा तो शुक्ल लेश्या के परिणाम हों तथापि उसके चारों कषायों का उदय निरंतर होता है। जैसे पानी में पड़े मनुष्य को जितनी गहराई में जाकर बुलबुले उठे उतने प्रमाण में बाहर में दिखता है। वैसे ही आत्मा में चार प्रकार की कषायें हैं, उसमें गहराई से मिथ्यात्व सहित परिणाम में जो कषाय होती है उसको अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं और सम्यग्दर्शन के पश्चात् उत्तरोत्तर जो तीन कषायें हैं उनकी मंदता हो जाती है।

यहाँ तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को कृष्ण लेश्या के समय भी संज्वलन का उदय होता है और शुक्ल लेश्या अर्थात् पंच महाव्रत, दया, दान, भक्ति आदि के शुभभाव के समय भी अज्ञानी के अनन्तानुबंधी आदि चारों कषायों का उदय होता है, क्योंकि उसको ध्रुव आत्मद्रव्य की दृष्टि नहीं है।

आत्मा ध्रुव पदार्थ है। वह अकषायरूप है जिसको उसकी रुचि नहीं हुई उसके एक भी कषाय का अभाव नहीं हुआ। अनन्तानुबंधी आदि कषायों के जो भेद हैं वे तीव्रता-मंदता की अपेक्षा नहीं हैं; परन्तु आत्मा के गुणों के घात की अपेक्षा से हैं। आगे इसी शास्त्र में यह बात आयेगी।

यहाँ मिथ्यादृष्टि के कृष्ण लेश्या के समय और शुक्ल लेश्या के समय चारों कषायों का उदय निरंतर होता है – यह बात कहते हैं। छह मनुष्यों को केरी (आम) चाहिये, वे आम के वृक्ष के समीप जाते हैं और छह ही मनुष्यों के परिणामों में अन्तर है। उनमें से एक मनुष्य आम के वृक्ष को जड़ सहित ही काटने के परिणाम करता है, वह कृष्ण लेश्या है और उत्तरोत्तर मंद परिणाम होते-होते अतिमंद परिणाम हों वह शुक्ल लेश्या है। ऐसी शुक्ल लेश्या मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के होती है; परन्तु उसके चारों में से एक भी कषाय का अभाव नहीं हुआ। जिसको आत्मा की रुचि नहीं है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कौन है, इसकी भी जिसको खबर नहीं है – ऐसा तीव्र मिथ्यादृष्टि मंदकषाय रूप परिणाम करे, परन्तु उसके अनन्तानुबंधी आदि चारों कषायों का उदय निरंतर वर्तता है।

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, उसके अवलम्बन से ही शान्ति और धर्म होता है – ऐसा जो बतावे वे ही सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं। जो इससे विपरीप कहते हैं वे गुरु सच्चे नहीं हैं, क्योंकि उन्हें अनन्तानुबंधी आदि चारों कषायों का उदय वर्तता है। भले ही उनके कषाय की मंदता हो परन्तु कषाय रहित आत्मा को नहीं जानने के कारण वे सच्चे गुरु नहीं हैं।

जिन्होंने अनन्त आनन्द की पर्याय प्रगट की है – ऐसे सिद्ध परमात्मा और केवली भगवान का आदर किसने किया ? कि जो अपनी वर्तमान अल्पज्ञ पर्याय आदर नहीं करता, परन्तु ज्ञायकस्वभाव का आदर करता है, वही सिद्ध भगवन्तों का सच्चा आदर कर सकता है। उसके अवलम्बन बिना सिद्धों का यथार्थ आदर नहीं हो सकता। हे नाथ ! आप आदरणीय और सत्कार करने योग्य परमात्मा हो – ऐसा वह किसके आधार से कहता है ? क्या शुक्ला लेश्या के परिणामों के आधार से उनका आदर करता है ? नहीं। सिद्धों का आदर करे परन्तु यदि आत्मा का आदर नहीं करे तो उसे शुक्ला लेश्या का आदर है, अर्थात् संसार का आदर है; परन्तु वस्तुतः वह सिद्धों का आदर नहीं करता।

आत्म-वस्तु ध्रुव अकषायी है और वर्तमान पर्याय कषायरूप है। उस पर्याय में शुक्ल लेश्या हो उसका तो अज्ञानी आदर करता है, परन्तु ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन नहीं करता। अतः उसके चारों कषायों का उदय वर्तता है। आत्म वस्तु निर्विकल्परूप ध्रुव चैतन्य स्वभावी है। जिसको उसका आश्रय नहीं हुआ उसके कदाचित् अनन्तानुबंधी कषाय की मंदता हो तो भी वह अनन्तकषाय है, क्योंकि अनन्त संसार में कुछ भी कम नहीं हुआ। अर्थात् उसके एक भव भी कम नहीं होता। अतः मंदकषाय के समय भी अनन्तानुबंधी का उदय है – ऐसा कहा है। कदाचित् शुभभाव हो, परन्तु वह भी कषाय है – इस कारण वह संसार का लाभ देती है। उसके वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से मंदता-तीव्रता कहलाती है, परन्तु आत्मा की रुचि नहीं और पर की रुचि है इस कारण उसके अनन्त संसार ही है। अशुभभाव हुआ, उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहना – ऐसा नहीं है और शुभभाव हुआ उसे संज्वलन कषाय कहना – ऐसा भी नहीं है। क्योंकि ये भेद तीव्रता-मंदता की अपेक्षा नहीं है; परन्तु सम्यक्त्वादि गुणों को घातने की अपेक्षा हैं।

चार प्रकार के कषाय के जो भेद बताये हैं उनका स्पष्टीकरण करते हैं –

आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, उसका आदर नहीं करना और शुभभाव का आदर करना अनन्ताबंधी कषाय है। भले ही उसे भगवान के प्रति प्रीति हो तथापि निज आत्म भगवान के प्रति प्रीति नहीं – इसकारण उसको अनन्तानुबंधी कषाय ही है। शुभभाव है इसलिये जो कषाय है वह संज्वलन

कषाय है – ऐसा नहीं है। तथा अशुभभाव करता है इसलिये अनन्तानुबंधी कषाय है – ऐसा भी नहीं है। परन्तु आत्मा की रुचि छोड़कर पर की रुचि करता है – इसमें अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है। इसके सिवाय दूसरी कोई विपरीत बात कहते हों वह सत्य नहीं है, यह एक ही बात सत्य है। यह बात बदलने वाली नहीं है। अज्ञानी भक्ति आदि के परिणाम करे तो भी उससे संसार किंचित् भी कम नहीं होता।

जो संसार के अर्थात् स्त्री, परिवार आदि के अशुभभाव नहीं करके कदाचित् दया, दानादि के शुभभाव करता है, परन्तु उन शुभभावों के आश्रय से अथवा उन भावों के करते-करते आत्मा में धर्म प्रगट होना मानता है उसको कभी आत्मा का अवलम्बन नहीं होगा। उसको आत्मा में शान्ति कभी मिलेगी नहीं और उसका एक भी भव कम नहीं होगा – इस कारण उसके शुभभाव के समय भी अनन्तानुबंधी का उदय है – ऐसा कहा है। सम्यक्त्व होने पर तीन कषायों का उदय रहता है। आंशिक स्थिरता (पंचमगुणस्थान) होने पर दो कषाय का उदय रहता है। विशेष स्थिरता (मुनि दशा) होने पर तीन कषायों का अभाव हो जाता है और यथाख्यात चारित्र होने पर चारों कषायों का अभाव हो जाता है। जब आत्मा में तीव्र क्रोधादि होते हैं तब कषाय की प्रकृतियों का तीव्र उदय कहा जाता है और मंद कषाय में मंद उदय कहा जाता है। तथा सम्यग्दर्शन प्रगट करके मोक्षमार्ग होने पर क्रम-क्रम से कषायों का अभाव होता है।

आत्मा त्रिकाल शुद्ध है और पर्याय में संसार है – ऐसा जानकर स्वभाव दृष्टि करे तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। वह मोक्षमार्ग कहाँ होता है ? शरीर में होता है ? राग में होता है ? द्रव्य में अथवा गुण में होता है ? तो कहते हैं कि आत्मा की पर्याय में मोक्षमार्ग होता है और मोक्ष भी पर्याय में ही होता है। पर में अथवा पर के कारण नहीं होता और त्रिकाली द्रव्य-गुण में भी मोक्षमार्ग नहीं होता। द्रव्य-गुण जो कि ध्रुव हैं उनमें संसार अवस्था नहीं है। यदि द्रव्य में संसार हो तब तो संसार के अभाव का प्रसंग नहीं रहता। अतः संसार और मोक्ष आत्मा की पर्याय में होते हैं।

भगवान की शरण में जाये, भगवान की गोद में बैठा उसे क्या चिन्ता ? ऐसा कहे तो उसका अर्थ ऐसा नहीं कि भगवान किसी को कुछ देते हैं, परन्तु जो स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग प्रगट करता है, वह व्यवहार से भगवान पर आरोप करता है। यहाँ तो कहते हैं कि जिसे आत्मा का भान नहीं वह जीव पुण्य करे तो भी अनंत संसार है और पाप करे तो भी अनन्त संसार है; क्योंकि उसके निरंतर अनन्तानुबंधी का उदय होता है। मोक्षमार्ग होने पर अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव होता है।

पंचमगुणस्थान में दो कषाय का अभाव होता है। छठवें में तीन कषाय का और यथाख्यात चारित्र होने पर चारों कषायों का अभाव होता है।

अब जो क्रोध, मान, माया और लोभ होते हैं उनकी मुख्यता और गौणता बतलाते हैं–

तथा इन क्रोधादि अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ – इन चार कषायों में से एक काल में किसी एक ही कषाय का उदय होता है। क्रोध हो तब मानादि नहीं होते, और मान हो तब माया आदि नहीं होते। इन कषायों में भी एक-दूसरे में परस्पर कारण-कार्यपना वर्तता है। किसी समय क्रोध से मानादि हो जाते हैं, किसी समय मान से क्रोधादि हो जाते हैं। इससे परस्पर इन कषायों में किसी समय भिन्नता भासती है तथा किसी समय भिन्नता नहीं भासती। इसप्रकार कषायरूप परिणमन होता है।

इसप्रकार संसार दशा में अनादि से मिथ्यात्व सहित कषाय का परिणमन हो रहा है। आत्मा स्वयं दोष करता है, कोई कर्म दोष नहीं कराता। इस प्रकार सोलह कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन) की बात हुई।

अब नौ नोकषाय की बात करते हैं –

यह संसारदशा है या नहीं ? पहले ऐसा ज्ञान ही नहीं करे तो उस संसारदशा से रहित आत्मा स्वयं त्रिकाल शुद्ध है और उसके आश्रय से संसार रहित हुआ जाता है – ऐसा पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। अत: संसारदशा का ज्ञान करना चाहिये।

....तथा चारित्रमोह के ही उदय से नोकषाय होती हैं; वहाँ हास्य के उदय से कहीं इष्टपना मानकर प्रफुल्लित होता है, हर्ष मानता है। तथा रति के उदय से किसी को इष्ट मानकर प्रीति करता है, वहाँ आसक्त होता है। तथा अरति के उदय से किसी को अनिष्ट मानकर अप्रीति करता है, वहाँ उद्वेगरूप होता है। तथा शोक के उदय से कहीं अनिष्टपना मानकर दिलगीर होता है, विषाद मानता है। तथा भय के उदय से किसी को अनिष्ट मानकर उससे डरता है, उसका संयोग नहीं चाहता। तथा जुगुप्सा के उदय से किसी पदार्थ को अनिष्ट मानकर उससे घृणा करता है, उसका वियोग चाहता है।

इसप्रकार ये हास्यादिक छह जानने।....

चारित्रमोह के निमित्त से आत्मा में नोकषाय की परिणति होती है। उनमें

(१) 'हास्य' के उदय से कहीं इष्टपना मानकर हर्ष मानता है – प्रफुल्लित होता है।

(२) 'रति' के उदय से किसी को इष्ट मानकर उससे प्रीति करता है, वहाँ आसक्त होता है।

(३) 'अरति' के उदय से किसी को अनिष्ट मानकर अप्रीति करता है, उससे उद्वेग पाता है। प्रीति-अप्रीति के दोनों भाव दु:खरूप ही हैं। अन्य के पास बहुत धन देखकर अप्रीति करके उद्वेग पाता है।

(४) 'शोक' के उदय से किसी में अनिष्टपना मानकर खेद-खिन्न होता है। पुत्र का बुरा हुआ – इत्यादि मानकर शोक करता है।

(५) 'भय' के उदय से किसी को अनिष्ट मानकर उससे डरता है और उसका संयोग नहीं चाहता।

(६) 'जुगुप्सा' के उदय से किसी पदार्थ में अनिष्टपना मानकर उससे घृणा-तिरस्कार करता है और उसका वियोग चाहता है। आत्मा ग्लानि के भाव करता है उसमें जुगुप्सा कषाय का निमित्त है, इससे तिरस्कार भाव होता है। तथा शरीर सड़ जाये और दुर्गन्ध दे तब उसकी घृणा करता है, परन्तु भाई ! वह तो जड़ की पर्याय है। अज्ञानी उससे घृणा करके उसे दूर करना चाहता है।

....तथा वेदों के उदय से इसके काम परिणाम होते हैं। वहाँ स्त्रीवेद के उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती है और पुरुषवेद के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है, तथा नपुंसकवेद के उदय से युगपत् – दोनों से रमण करने की इच्छा होती है।....

इस प्रकार ये नौ तो नोकषाय हैं। यह क्रोधादि सरीखे बलवान नहीं हैं इसलिये इन्हें ईषत् कषाय कहते हैं। यहाँ नो शब्द ईषत्वाचक जानना। इनका उदय उन क्रोधादिकों के साथ यथासम्भव होता है।

इसप्रकार मोह के उदय से मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं, सो ये ही संसार के मूल कारण हैं। इन्हीं से वर्तमान काल में जीव दु:खी हैं, और आगामी कर्मबन्ध के भी कारण ये ही हैं। तथा इन्हीं का नाम राग-द्वेष-मोह है। वहाँ मिथ्यात्व का नाम मोह है; क्योंकि वहाँ सावधानी का अभाव है। तथा माया, लोभ कषाय एवं हास्य, रति और तीन वेदों का नाम राग है; क्योंकि वहाँ इष्टबुद्धि से अनुराग पाया जाता है। तथा क्रोध, मान कषाय और अरति, शोक, भय, जुगुप्साओं का नाम द्वेष है; क्योंकि वहाँ अनिष्टबुद्धि से द्वेष पाया जाता है। तथा सामान्यत: सभी का नाम मोह है; क्योंकि इनमें सर्वत्र असावधानी पायी जाती है।....

वेद के उदय से काम परिणाम होते है – यह सामान्य बात हुई; वहाँ –

(७) 'स्त्रीवेद' के उदय से पुरुष के साथ रमने की इच्छा होती है।
(८) 'पुरुषवेद' के उदय से स्त्री के साथ रमने की इच्छा होती है।
(९) 'नपुंसकवेद' के उदय से एक साथ दोनों के साथ रमने की इच्छा होती है।

इसप्रकार चारित्रमोह के उदय से आत्मा का परिणमन होता है। ये नौ नोकषायें हैं, ये क्रोधादि के समान बलवान नहीं हैं। इस कारण इन्हें 'नो' अर्थात् ईशत्, किंचित्, अल्प कषाय कहा गया है। यहाँ नो शब्द 'ईशत् वाचक' जानना। इन नोकषायों का उदय क्रोधादि के साथ यथासंभव होता है।

इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय से मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं। देह में, इन्द्रियों में और पर में सुख मानना ही अनादि संसार का मूल है, और सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। मिथ्यात्व संसार का मूल है, उसमें से संसार फलता है। तथा वर्तमान काल में भी जीव इसके उदय से ही दु:खी होता है और भावी संसार के कारणरूप कर्मबंधन का मूल कारण भी यही है। इसी का दूसरा नाम मोह और राग-द्वेष है। वहाँ मिथ्यात्व का नाम मोह है, कारण कि उसके उदय में आत्म-सावधानी का अभाव होता है; भ्रान्ति करता है, इस कारण उसे आत्मा के स्वभाव की सावधानी नहीं रहती – वही मोह है। पुण्य को धर्म मानना भी आत्मा की असावधानी है और विकार में सावधानी है। अनुकूल निमित्त हो तो इष्ट हो – वैसी रुचि स्वभाव की असावधानी को दर्शाती है। कोई कहता है कि काँटे से कांटा निकलता है, ऐसे ही व्यवहार से व्यवहार का अभाव होता है – ऐसा मानकर स्वरूप की असावधानी करता है। कोई मरणशय्या पर पड़ा हो और बेहोश हो जाए तो उसे कुछ भान नहीं रहता; वैसे ही अज्ञानी बेहोश है। उसको आत्मा की असावधानी है।

शरीर ठीक हो तो धर्म होता है, पुण्य से धर्म होता है – ऐसा मानने वाला त्रिदोष (मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम) वाला सन्निपात्ती है, उसे आत्मा के स्वरूप की समझ नहीं है। उसे मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र रूपी त्रिदोष लागू पड़ा है। फिर भले ही वह दुनियाँ में चतुर गिना जाता हो अथवा पण्डिताई करता हो; परन्तु आत्मा की असावधानी होने से वह बेहोश है। जैसे कोई पत्नी को माता कहे और माता को पत्नी कहे तो उसे असाध्य (मदहोश) कहा जाता है। कुछ का कुछ बोल जाये तो कहा जाता है कि इसको होश नहीं है। वैसे ही आत्मा तो साध्य वाला (ज्ञान वाला) होने पर भी भ्रान्ति के कारण मदहोश हो गया है और कुछ का कुछ बकता है। पुण्य से धर्म होता है, व्यवहार करते-करते कल्याण हो जायेगा – ऐसा मानता है; अत: वह मदहोश है।

ज्ञान और आनन्द तो तेरा स्वभाव है। उसे नहीं जानकर तू पर से ज्ञान और आनन्द मानता है, अत: तू असाध्य रोग से घिर गया है। यह मोह की व्याख्या है। मोह का अर्थ 'निष्फल' है। मोह वाले को आत्मा का फल नहीं मिलता है। मैं स्वयं चैतन्य ज्ञानानन्द हूँ – उसकी तो प्रतीति नहीं करता और पर से कल्याण होता है – ऐसा मानता है, वह स्वरूप की असावधानी वाला है। अनाज मिले, वस्त्र मिले, बाहर में अनुकूलता प्राप्त हो, तब अपन सुखी होवें – ऐसा मानने वाले असाध्य रोगी हैं इससे वे दु:खी हैं। इसप्रकार मोह की बात करके अब राग-द्वेष की बात करते हैं।

माया और लोभ – ये दो कषायें और हास्य, रति और तीन वेद के परिणाम राग हैं, कारण कि इनके उदय से इष्टबुद्धि उत्पन्न होकर अनुराग प्रवर्तता है।

क्रोध और मान ये दो कषायें और अरति, शोक, भय और जगुप्सा – इन सबका नाम द्वेष है, कारण कि इनके उदय से आत्मा में अनिष्टबुद्धि उत्पन्न होकर द्वेष होता है इस प्रकार मोह-राग-द्वेष की बात की।

सामान्य रूप से मोह-राग-द्वेष – इन तीनों का नाम मोह है, कारण कि इन सबके निमित्त में सर्वत्र असावधानता ही होती है। जैसे दर्शनमोह के निमित्त से असावधानी है वैसे ही चारित्रमोह के निमित्त से जितने राग-द्वेषादि होते हैं वह भी आत्मा की असावधानी ही है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है, उसकी श्रद्धा तो हो, परन्तु लीनता न करे तो उतनी असावधानी है। क्रोधादि होते हैं वह भी असावधानी है। 'समय वर्ते सावधान' – ऐसा कहते हैं। ऐसे ही अभी समझने का काल आया है तो अब सावधान हो। यदि अभी भी समझेगा नहीं तो यह प्राप्त मनुष्यभव यों ही चला जायेगा और पुन: मनुष्य पर्याय की प्राप्ति दुर्लभ हो जायेगी। अत: कहते हैं कि अनादि से अज्ञानी जीव को मिथ्यात्व और कषाय के कारण आत्मा की असावधानी है।

जैसे थोड़ा भी विकार है उसे आत्मा के लिये दु:खदायक न मानकर सुखदायक माने तो उसे क्षय रोग हुआ है – ऐसा समझना। निन्यानवें डिग्री का बुखार रहता हो और वह थोड़े माह तक रहे और उसको भला माने तो वह क्षयरोग का लक्षण है। वैसे ही शुभभाव है ठीक है – ऐसी जिसकी मान्यता है उसे आत्मा का क्षयरोग हो गया है। यह रोग अनादि से है – ऐसा यहाँ बताते हैं। यह रोग ही वस्तुत: संसार है, संसार पर में नहीं परन्तु अपनी पर्याय में संसार है और वह दु:खरूप है। रोग हुआ है ऐसा जाने तो उसे टालने का प्रयत्न करे। अत: प्रथम यह मान कि मुझे संसाररूपी रोग हुआ है और विकार दु:खदायक है तथा स्वभाव सुखरूप है – ऐसा प्रथम सावधान तो हो।

इसप्रकार दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय से होने वाली अवस्था की बात की। अब अन्तराय कर्म की बात करते हैं।

अन्तरायकर्मोदयजन्य अवस्था

....तथा अंतराय के उदय से जीव चाहे सो नहीं होता। दान देना चाहे सो नहीं दे सकता, वस्तु की प्राप्ति चाहे सो नहीं होती, भोग करना चाहे सो नहीं होता, उपभोग करना चाहे सो नहीं होता, अपनी ज्ञानादि शक्ति को प्रगट करना चाहे सो प्रगट नहीं हो सकती। इस प्रकार अंतराय के उदय से जो चाहता है सो नहीं होता, तथा उसी के क्षयोपशम से किंचित्मात्र चाहा हुआ भी होता है। चाह तो बहुत है, परन्तु किंचित्मात्र दान दे सकता है, लाभ होता है, ज्ञानादिक शक्ति प्रगट होती है; वहाँ भी अनेक बाह्य कारण चाहिये।

इस प्रकार घातिकर्मों के उदय से जीव की अवस्था होती है।....

अन्तराय कर्म के उदय से जीव इच्छा करता है वह नहीं होता। आत्मा स्वयं अन्तराय के उदय में जुड़ता है, अत: दान देने की इच्छा नहीं होती। दान देना चाहता है परन्तु दे नहीं सकता। आत्मा तृष्णा घटाने का भाव नहीं करता उसमें अन्तराय कर्म का उदय निमित्त है। वहाँ दोष तो स्वयं करता है, अन्तराय कर्म दोष नहीं कराता। यह दानान्तराय कर्म की बात हुई। वस्तु की प्राप्ति चाहता है परन्तु नहीं होती। धनादिक की इच्छा करे, परन्तु पुण्य के बिना नहीं मिलते, और पुण्य का अभाव होने पर पास का पैसा भी चला जाता है, इसमें लाभान्तराय कर्म निमित्त है। भोग भोगना चाहे परन्तु भोग नहीं सकता। स्वयं भोगने का भाव करता है, परन्तु वस्तु भोग नहीं सकता। इसमें आत्मा का पुरुषार्थ काम नहीं आता, पूर्व प्रारब्ध ही ऐसा बांधा हो तो वस्तु भोग नहीं सकता, इसमें भोगान्तराय कर्म निमित्त है। उपभोग लेना चाहे परन्तु ले नहीं सकता। बारम्बार जिस वस्तु को भोगा जाए – उसे उपभोग कहते हैं। यहाँ आत्मा परवस्तु को भोग सकता है – ऐसा नहीं बतलाना है, परन्तु आत्मा में, अन्तराय कर्म का जितना उदय होता है उतने प्रमाण में भोग की इच्छा होने पर भी तदनुसार क्रिया नहीं होती है।

अपनी ज्ञानादि शक्ति को प्रगट करना चाहे, परन्तु वह प्रगट नहीं होती। ज्ञान प्रगट करने की इच्छा से ज्ञान प्रगट नहीं होता, क्योंकि इच्छा तो राग है और राग से ज्ञान प्रगट नहीं होता। ज्ञान प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं करता इसलिए ज्ञान प्रगट नहीं होता। इसप्रकार अन्तराय कर्म के उदय से स्वयं जो चाहता है वह नहीं होता। परन्तु इच्छा करते हुए भी उसके क्षयोपशम से किंचित् मात्र प्राप्त होता है। अर्थात् इच्छा तो बहुत है परन्तु उस इच्छा का किंचित्मात्र मिलता है। बहुत दान देना चाहे, परन्तु थोड़ा ही दे सकता है। बहुत लाभ चाहने पर भी थोड़ा ही लाभ

होता है। ज्ञानादिक शक्ति प्रगट होती है वहाँ भी बहुत बाह्य कारणों की आवश्यकता पड़ती है; बाह्य कारण विघ्न में निमित्त होते हैं और अन्तराय कर्म के उदय से आत्मा की शक्तिहीन होने की ऐसी ही योग्यता होती है – ऐसा कहने का आशय है। इसप्रकार घाति कर्मों के निमित्त से आत्मा की अनेक अवस्थायें होती हैं।

केवली भगवान के पाँच लब्धियाँ क्षायिकभावरूप है। संसारी के पाँच लब्धियाँ क्षयोपशम भावरूप है, वहाँ जितना उघाड़ हो उतना कार्य होता है। अब अघाति कर्मों के निमित्त से आत्मा में कैसी अवस्थायें होती हैं वह कहते हैं –

वेदनीयकर्मोदयजन्य अवस्था

....तथा अघातिकर्मों में वेदनीय के उदय से शरीर में बाह्य सुख-दु:ख के कारण उत्पन्न होते हैं। शरीर में आरोग्यपना, शक्तिवानपना इत्यादि तथा क्षुधा, तृषा, रोग, खेद, पीड़ा इत्यादि सुख-दु:ख के कारण होते हैं। बाह्य में सुहावने ऋतु-पवनादिक, इष्ट स्त्री-पुत्रादिक तथा मित्र-धनादिक; असुहावने ऋतु-पवनादिक, अनिष्ट स्त्री-पुत्रादिक तथा शत्रु, दारिद्रय, वध-बन्धनादिक सुख-दु:ख को कारण होते हैं।....

वेदनीय कर्म के उदय से शरीरादिक में अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आते हैं। यह अघाति कर्म है अत: इसके निमित्त से बाह्य में अनेक प्रकार के सुख-दु:ख के निमित्त मिलते हैं। शरीर में जो रजकण आने योग्य हों वे आते हैं उसमें वेदनीय कर्म निमित्त है। शरीर में रोग होना अथवा निरोगता होना – इसमें वेदनीय कर्म निमित्त है। अच्छा भोजन लूँ तो शरीर निरोग रहे – ऐसा है ही नहीं। शरीर में क्षुधा-तृषा लगती है। रोगपना एवं पीड़ापना इत्यादि होने के अनेक कारण मिलते हैं उनमें वेदनीय कर्म निमित्त है और जीव वहाँ मोह के उदय से सुख-दु:ख की कल्पना करता है। वर्तमान के कुछ विद्वान कहते हैं कि समाज की व्यवस्था सही नहीं हैं – इस कारण यह सब हो रहा है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि धनादिक की प्राप्ति में वेदनीय कर्म निमित्त है। इस प्रकार यह सामान्य बात हुई। अब साता-असातारूप भेदों के निमित्त से कैसे संयोग मिलते है – यह कहते है –

शरीर से बाहर भी मनवांछित ऋतु, पवनदिक व योग्य स्त्री-पुत्रादिक, लक्ष्मी-मित्रादिक, अच्छा मकानादिक मिलना – इन सबमें सातावेदनीय का निमित्त है। यद्यपि जड़ की क्रिया तो जड़ के कारण ही होती है तथापि उसमें निमित्त वेदनीय का है।

तथा मन के प्रतिकूल ऋतु, बहुत ठण्डी हवा, धूप आदि में असातावेदनीय निमित्त है।

अनिष्ट स्त्री, पुत्रादिक व दरिद्रपना इत्यादि पूर्व के असातावेदनीय के निमित्त से मिलते हैं। कोई मारे, टुकड़े करे, डोरी से बाँधे – इन कार्यों में असाता वेदनीय निमित्त है। यह संयोग आत्मा के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। आत्मा ज्ञान करे अथवा अभिमान करे – इसके सिवाय वह पर में कुछ नहीं कर सकता।

....यह जो बाह्य कारण कहे हैं उनमें कितने कारण तो ऐसे हैं जिनके निमित्त से शरीर की अवस्था सुख-दुःख को कारण होती है, और वे ही सुख-दुःख को कारण होते हैं तथा कितने कारण ऐसे हैं जो स्वयं ही सुख-दुःख को कारण होते हैं। ऐसे कारणों का मिलना वेदनीय के उदय से होता है। वहाँ सातावेदनीय से सुख के कारण मिलते हैं और असातावेदनीय से दुःख के कारण मिलते हैं।

यहाँ ऐसा जानना कि वे कारण ही सुख-दुःख को उत्पन्न नहीं करते, आत्मा मोहकर्म के उदय से स्वयं सुख-दुःख मानता है। वहाँ वेदनीयकर्म के उदय का और मोहकर्म के उदय का ऐसा ही सम्बन्ध है। जब सातावेदनीय का उत्पन्न किया बाह्य कारण मिलता है तब तो सुख मानने रूप मोहकर्म का उदय होता है, और जब असातावेदनीय का उत्पन्न किया बाह्य कारण मिलता है तब दुःख मानने रूप मोहकर्म का उदय होता है।....

कितने ही ऐसे कारण मिलते हैं कि जिनके निमित्त से शरीर में सुख-दुःख हो और कोई बाह्य कारण सीधे ही सुख-दुःख में निमित्त होते हैं। इसप्रकार के कारणों का मिलना वेदनीय कर्म के उदय से होता है। वहाँ सातावेदनीय के उदय से शरीर और बाह्य में सुख के निमित्तों का संयोग होता है।

वहाँ ऐसा समझना कि ये कारण अर्थात् रोग-निरोगता, इष्ट-अनिष्ट पुत्रादिक सुख-दुःख उत्पन्न नहीं कराते; परन्तु जीव स्वयं ही मोह कर्म के निमित्त से सुख-दुःख की कल्पना करता है, तो मोह कर्म को निमित्त कहा जाता है। संयोगों का मिलना, तो वेदनीय कर्म के अनुसार होता है और मोह करने में मोह कर्म का निमित्तपना है। वेदनीय कर्म के उदय का और मोह कर्म के उदय का ऐसा ही सम्बन्ध है। जब सातावेदनीय के उदय के निमित्त से बाह्य अनुकूल कारण मिलते हैं तब उनमें सुख मानने रूप मोह कर्म का उदय होता है – ऐसा मेल है। और असातावेदनीय के निमित्त से बाह्य प्रतिकूल कारण मिलते हैं तब उनमें दुःख मानने रूप मोह कर्म का उदय होता है – ऐसा मेल है। यहाँ ऐसा समझना कि जीव स्वयं मोह करता है तो मोह कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है।

....तथा यही कारण किसी को सुख का, किसी को दुःख का कारण होता है। जैसे –

किसी को सातावेदनीय का उदय होने पर मिला हुआ जैसा वस्त्र सुख का कारण होता है, वैसा ही वस्त्र किसी को असातावेदनीय का उदय होने पर मिला सो दुःख का कारण होता है। इसलिए बाह्य वस्तु सुख-दुःख का निमित्तमात्र होती है। सुख-दुःख होता है वह मोह के निमित्त होता है। निर्मोही मुनियों को अनेक ऋद्धि आदि तथा परीषहादि कारण मिलते हैं तथापि सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होता। मोही जीव को कारण मिलने पर अथवा बिना कारण मिले भी अपने संकल्प ही से सुख-दुःख हुआ ही करता है। वहाँ भी तीव्र मोही को जिस कारण के मिलने पर तीव्र सुख-दुःख होते हैं, वही कारण मिलने पर मंद मोही को मंद सुख-दुःख होते हैं।

इसलिये सुख-दुःख का मूल बलवान कारण मोह का उदय है। अन्य वस्तुएँ हैं वे बलवान कारण नहीं हैं; परन्तु अन्य वस्तुओं के और मोही जीव के परिणामों के निमित्त-नैमित्तिक की मुख्यता पायी जाती है; उससे मोही जीव अन्य वस्तु ही को सुख-दुःख का कारण मानता है।

इसप्रकार वेदनीय से सुख-दुःख का कारण उत्पन्न होता है।....

तथा एक ही कारण किसी को सुख का तथा किसी को दुःख का कारण होता है। जैसे किसी गरीब को मोटा कपड़ा मिले तो वह प्रसन्न होता है जबकि वही कपड़ा गर्मी में किसी श्रीमंत को मिले तो वह दुःखी होता है। बाह्य संयोग तो पूर्व कर्मानुसार होते हैं, परन्तु अज्ञानी स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना किया करता है। अतः बाह्य वस्तु तो सुख-दुःख का निमित्तमात्र है, परन्तु सुख-दुःख तो मोह के निमित्त से होता है।

केवली भगवान के भी असाता का किंचित् उदय है और साता का बहुत उदय है, परन्तु उन्हें सुख-दुःख की कल्पना नहीं है। अज्ञानी जीव मोह के साथ जुड़ान करता है तो सुख-दुःख की कल्पना करता है। निर्मोही मुनि अनेक ऋद्धियों के होने पर तथा महान् आचार्यादिक पद मिलने पर भी सुख की कल्पना नहीं करते और रोग दशा व सिंह आदि द्वारा प्रहार करने पर भी दुःख की कल्पना नहीं करते। अतः बाह्य कारण सुख-दुःख में निमित्त कहलाते हैं, वास्तव में सुख-दुःख में निमित्त मोह कर्म है।

मोही जन बाह्य कारण न हो तब भी अन्तर में संकल्प से घोड़े दौड़ाया करते है। मन में विचार करते हैं कि घर में स्त्री-पुत्रादिक मेरा कहा नहीं माने तो ? लड़का बुद्धिमान होगा तो महान हो जायेगा और मैं हीन हो जाऊँगा – इत्यादि कल्पना करके सुखी-दुःखी होते हैं। वहाँ बाह्य कारण नहीं होने पर भी कल्पना करता है। मोही जीव को बाह्य कारण मिले या न मिले तब भी अपने संकल्प से सुख-दुःख हुआ करते हैं। तीव्र मोही को जिन कारणों के मिलने से वह तीव्र मोह करके सुखी-दुःखी होता है उन्हीं कारणों से मंद मोही को मंद सुख-दुःख होता

है। अत: बाह्य निमित्त कारण बलवान नहीं है, परन्तु मोह कर्म बलवान है। यहाँ निमित्त कारणों में बलवान कौन है ? – यह कहना है। वेदनीय कर्म बलवान नहीं किन्तु मोह कर्म बलवान है – यह कहा, इससे मोह कर्म मोह कराता है – ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ निमित्तों की विविध जाति बताने के लिये ऐसा कहा है। दो निमित्तों में कौन निमित्त सुख-दु:ख में बलवान है – यह बताना है।

अन्य वस्तु के और मोही जीव के परिणाम के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। मोही जीव जितने प्रमाण में मोह करे उतने प्रमाण में बाह्य वस्तु निमित्त कहलाती है। स्त्री, परिवार, शत्रु या मित्र राग-द्वेष नहीं कराते, फिर भी अज्ञानी पर को मुख्यता देता है – परन्तु यह भूल है। मोह कर्म अन्तर का (अन्तरंग) निमित्त है, उस निमित्त का ख्याल नहीं होने से लोग बाह्य संयोग को मुख्यता देते हैं।

इसप्रकार वेदनीय कर्म के निमित्त से होने वाली अवस्थाओं का वर्णन किया।

आयुकर्मोदयजन्य अवस्था

....तथा आयु कर्म के उदय से मनुष्यादि पर्यायों की स्थिति रहती है। जब तक आयु का उदय रहता है तब तक अनेक रोगादिक कारण मिलने पर भी शरीर से सम्बन्ध नहीं छूटता। तथा जब आयु का उदय न हो तब अनेक उपाय करने पर भी शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, उस ही काल आत्मा और शरीर पृथक् हो जाते हैं।

इस संसार में जन्म, जीवन, मरण का कारण आयु कर्म ही है। जब नवीन आयु का उदय होता है तब नवीन पर्याय में जन्म होता है। तब जब तक आयु का उदय रहे तब तक उस पर्यायरूप प्राणों के धारण से जीना होता है। तथा आयु का क्षय हो तब उस पर्यायरूप प्राण छूटने से मरण होता है। सहज ही ऐसा आयुकर्म का निमित्त है; दूसरा कोई उत्पन्न करनेवाला, क्षय करने वाला या रक्षा करने वाला है नहीं – ऐसा निश्चय जानना।

तथा जैसे कोई नवीन वस्त्र पहिनता है, कुछ काल तक पहिने रहता है, फिर उसको छोड़कर अन्य वस्त्र पहिनता है; इसी प्रकार जीव नवीन शरीर धारण करता है, कुछ काल तक धारण किये रहता है, फिर उसको छोड़कर अन्य शरीर धारण करता है। इसलिये शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा जन्मादिक हैं। जीव जन्मादि रहित नित्य ही है तथापि मोही जीव को अतीत-अनागत का विचार नहीं है; इसलिए प्राप्त पर्यायमात्र ही अपनी स्थिति मानकर पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर हो रहा है। इसप्रकार आयु से पर्याय की स्थिति जानना।....

इन मनुष्यादि शरीरों का रहना आयुकर्म के प्रमाण में है। देव, चींटी, कौआ, कुत्ता आदि अपनी-अपनी आयुष्य के प्रमाण में रहते हैं। कोई जीव किसी के मारने से न तो मरता है और न बचाने से जीवित रहता है। धीरे-धीरे चले, अच्छी खुराक ले, पैर खुले रखे, सात्विक भोजन ले तो उससे आयु बढ़ती है – ऐसा नहीं है; परन्तु पूर्व में जितना आयुकर्म बांधा है शरीर की स्थिति उस प्रमाण में रहती है। हरितकाय के जीव अथवा आलू के अनन्त जीव अपनी आयु प्रमाण ही शरीरों में रहते हैं। उसमें फेरफार करने के लिये इन्द्र, नरेन्द्र व जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। शिर पर हथियार गिरे, बिजली गिरे अथवा किस भी प्रकार का संयोग बने, आयु पूर्ण हुए बिना शरीर नहीं छूटता। आयु अवशेष हो तो कुँए में गिरने पर भी बच जाता है, कोई तलवार से वार करे तो तलवार भौथरी हो जाती है, जहर पीवे तो भी वमन हो जाती है – इसप्रकार जहाँ तक आयु अवशेष हो वहाँ तक कोई मार नहीं सकता।

आयु का उदय न हो, आयु पूर्ण हो गई हो तो देव मित्र हो, अथवा डॉक्टर आवे तो भी शरीर नहीं रहता। देवलोक के देवों और इन्द्रों का शरीर भी आयु पूर्ण होने पर छूट जाता है। सर्वज्ञदेव ने जितनी आयु देखी है उतनी आयु प्रमाण ही शरीर रहता है। बाहर में हवा, पानी का बदलाव करे तो आयु में कोई फेरफार नहीं होता। बाहर में कोई निमित्त न होने पर भी हार्टफेल हो जाता है, क्योंकि आयु पूर्ण होने से जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस विधि से और जिस निमित्त से शरीर छूटना है वह छूटेगा ही; उसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं हैं। आयु का उदय नहीं हो तब तो अनेक उपाय करने पर भी शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता, उसी समय आत्मा और शरीर पृथक् हो जाते हैं। इस शरीर का संयोग होना, टिका रहना और छूट जाना, वह सब आयु के कारण से है अर्थात् उसमें आयुकर्म ही निमित्त है।

प्रश्न – तो फिर आत्महत्या का क्या अर्थ है ?

समाधान – लोगों की दृष्टि में अकस्मात् लगता है, अत: आत्महत्या कहा जाता है अन्यथा तो जिस कुँऐ में जिसप्रकार जिस मनुष्य को मरना है उसी प्रकार वह मरता है; आयु पूर्ण होने पर ही मरता है, आयु पूर्ण हुए बिना आत्महत्या करने पर भी नहीं मरता।

जब नवीन आयु का उदय होता है तब एकेन्द्रियादि पर्याय में उत्पन्न होता है। वहाँ भी आयु का उदय रहे तब तक प्राण धारण करके जीता है और आयु पूर्ण होने पर प्राण छूट जाने से मरण को प्राप्त होता है। अत: शरीर की स्थिति को बदला नहीं जा सकता; इसलिये उसकी दृष्टि छोड़कर आत्मा की दृष्टि कर।

इसप्रकार आयु कर्म का सहज निमित्त है। शरीर का जन्मना, टिकना और छूटना आयु से ही है, अन्य कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है। ईश्वर उत्पन्न नहीं करता। कोई अन्य जीवन टिका नहीं रखता। कोई विनाश करने वाला नहीं है। शरीर के जन्म में, टिकने में और मरण में आयु का ही निमित्त है – ऐसा निश्चय करना।

तथा जैसे कोई नवीन वस्त्र पहिनता है, कुछ काल पहिने रहता है और पश्चात् उसे छोड़कर नवीन वस्त्र पहिनता है। वैसे ही जीव नवीन शरीर धारण करता है, कुछ काल धारण किये रहता है और फिर छोड़ देता है अर्थात् छूट जाता है। अत: शरीर से सम्बन्ध की अपेक्षा जन्मादि हैं। शरीर का सम्बन्ध होना, वह जन्म है, शरीरादि प्राणों का टिकना, वह जीवन है और उनका वियोग होना, वह मरण है। जीव स्वयं तो जन्मादि रहित नित्य ही है। शरीर का जन्मना, टिकना और मरना आत्मा को लागू नहीं पड़ता। आत्मा अविनाशी अनादि-अनन्त है। चिदानन्द भगवान नित्य विराजमान है, जो उसका भान करके उसमें स्थिर होता है उसके शरीरादि का सम्बन्ध नहीं रहता। स्वयं अविनाशी होने पर भी मोही जीव शरीर के जन्मने से मैं जन्मा और शरीर के मरने से मैं मरा – ऐसा मानता है। भूतकाल में कहाँ था अथवा भूतकाल का शरीर नष्ट होने पर भी स्वयं रहता है और भविष्य के शरीर के परमाणु कहाँ होगे – इस प्रकार भूत-भावी पर्याय का विचार नहीं होने से वर्तमान पर्याय मात्र ही अपना अस्तित्व मानकर पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहता है। शरीर में अपनापन मानकर शरीर सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहता है।

घर में लड़के-लड़की योग्य नहीं हो तो क्या करें ? अपन जाते रहेंगे तो कार्य कैसे होगा ? इस प्रकार शरीर तथा उसके सगे आदि सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहता है। परन्तु आत्मा के ज्ञान और आनन्द का कार्य क्या है उसकी रुचि नहीं करता।

आयु कर्म के निमित्त से शरीर में रहना-जन्मना, टिकना और देह का छूटना – होता है – यह कथन निमित्त की अपेक्षा से किया जाता है। वस्तुत: तो जीव की समय-समय की योग्यता ही ऐसी है; आयु कर्म तो निमित्तमात्र है।

यहाँ संसार अवस्था का वर्णन करते हुए आयु कर्म में निमित्तपने से होने वाली अवस्थाओं का वर्णन किया है।

नामकर्मोदयजन्य अवस्था

....तथा नामकर्म से यह जीव मनुष्यादि गतियों को प्राप्त होता है; उस पर्यायरूप अपनी

अवस्था होती है। वहाँ त्रस-स्थावरादि विशेष उत्पन्न होते हैं। तथा वहाँ एकेन्द्रियादि जाति को धारण करता है। इस जातिकर्म के उदय को और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम को निमित्त-नैमित्तिकपना जानना। जैसा क्षयोपशम हो वैसी जाति प्राप्त करता है।....

नामकर्म के निमित्त से मनुष्य, तिर्यन्च, देव, नरक गति मिलती है। इस पर्यायरूप अपनी अवस्था होती है। नामकर्म के कारण गंध-रस-स्पर्श-संस्थान आदि मिलते हैं। तथा कीड़ी, कौआ, मनुष्य, देव आदि त्रस और हरितकाय आदि स्थावर हैं – यह गति के भेद है। तथा वहाँ त्रस और स्थावर जाति कही है उसमें एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि जाति कही है, उसमें उसके अनुसार क्षयोपशम होता है। एकेन्द्रिय का क्षयोपशम हो तो एक इन्द्रिय का अधिकरण और पाँचों इन्द्रियों का क्षयोपशम हो तो पाँचों इन्द्रियों के अधिकरण मिलते हैं। एकेन्द्रिय का क्षयोपशम हो तब पाँचों इन्द्रियों के अधिकरण मिलें – ऐसा नहीं होता। जितनी इन्द्रियों का क्षयोपशम होता है निमित्त में उतनी ही इन्द्रियों का शरीर मिलता है। यहाँ ऐसा समझना कि क्षयोपशम के कारण शरीर की अवस्था होती है – ऐसी पराधीनता नहीं है। जैसा ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम है और वैसी बाहर में एकेन्द्रिय आदि जाति मिले उस एकेन्द्रिय जाति मिलने में नामकर्म निमित्त है – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ रजकणों अथवा शरीर के अधिकरणों को ज्ञान नहीं है कि सामने ऐसा क्षयोपशम है अत: उस अनुसार बन जाऊँ; परन्तु जातिकर्म के उदय और मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ कोई किसी के आधीन नहीं है। सहज ही जैसा क्षयोपशम होता है वैसी जाति मिलती है।

....तथा शरीरों का सम्बन्ध होता है; वहाँ शरीर के परमाणु और आत्मा के प्रदेशों का एक बंधान होता है तथा संकोच-विस्ताररूप होकर शरीर प्रमाण आत्मा रहता है। तथा नोकर्मरूप शरीर में अंगोपांगादिक के योग्य स्थान प्रमाणसहित होते हैं। इसी से स्पर्शन, रसना आदि द्रव्य-इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं हृदयस्थान में आठ पंखुरियों के फूले हुए कमल के आकार द्रव्यमन होता है। तथा उस शरीर में ही आकारादिक का विशेष होना, वर्णादिक का विशेष होना और स्थूल-सूक्ष्मत्वादिका होना इत्यादि कार्य उत्पन्न होते हैं; सो वे शरीररूप परिणमित परमाणु इस प्रकार परिणमित होते हैं।

....तथा श्वासोच्छ्वास और स्वर उत्पन्न होते हैं; वे भी पुद्गल के पिण्ड हैं और शरीर से एक बंधानरूप हैं। इनमें भी आत्मा के प्रदेश व्याप्त हैं। वहाँ श्वासोच्छ्वास तो पवन है। जैसे आहार का ग्रहण करे और निहार को निकाले तभी जीना होता है; उसी प्रकार बाह्य पवन को ग्रहण करे और अभ्यंतर पवन को निकाले तभी जीवितव्य रहता है। इसलिये श्वासोच्छ्वास जीवितव्य का कारण है। इस शरीर में जिस प्रकार हाड़-मांसादिक हैं उसी प्रकार पवन जानना। तथा जैसे

हस्तादिक से कार्य करते हैं वैसे ही पवन से कार्य करते हैं। मुँह में जो ग्रास रखा उसे पवन से निगलते हैं, मलादिक पवन से ही बाहर निकालते हैं, वैसे ही अन्य जानना। तथा नाड़ी, वायुरोग, वायगोला इत्यादि को पवनरूप शरीर के अंग जानना।

स्वर है वह शब्द है। सो जैसे वीणा की ताँत को हिलाने पर भाषारूप होने योग्य जो पुद्गलस्कंध हैं वे साक्षर या अनक्षर शब्दरूप परिणमित होते हैं; उसीप्रकार तालु, होंठ इत्यादि अंगों को हिलाने पर भाषापर्याप्ति में ग्रहण किये गये जो पुद्गलस्कंध हैं वे साक्षर या अनक्षर शब्दरूप परिणमित होते हैं।....

तथा शरीर के रजकण आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, वहाँ आत्मा संकोच-विस्तार रूप होकर शरीर प्रमाण रहता है। हाथी का शरीर मिले तो उस प्रमाण और चींटी का शरीर मिले तो उस प्रमाण आत्मा रहता है। वहाँ जीव की योग्यता नैमित्तिक है और निमित्त नामकर्म का है।

तथा नोकर्मरूप शरीर में उसके अंग और उपांग योग्य स्थान में रहते हैं। हाथ और पैर, वे अंग हैं और अंगुलियाँ उपांग है। नाक, कान आदि सब यथायोग्य स्थान में होते हैं, आड़े-तिरछे नहीं होते। मनुष्य के पाँच हाथ लम्बा कान हो – ऐसा नहीं बनता। इसप्रकार अंग-उपांग यथायोग्य स्थान में होते हैं – उसमें नामकर्म निमित्त है; उसके द्वारा स्पर्शादिक द्रव्येन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उसमें जीव की योग्यता है और नामकर्म निमित्त है। परन्तु जीव की वह योग्यता और नामकर्म जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप तो जानना-देखना है – ऐसी सच्ची दृष्टि करे तो संसार दशा से छूटकर सुखी होवे।

यहाँ आत्मा की संसार अवस्था में कर्म निमित्तमात्र है – यह बात चल रही है। यदि संसार को ही सुखरूप जाने तो उसका अभाव ही क्यों चाहेगा ? यहाँ नाम कर्मोदयजन्य अवस्था की बात चल रही है। इस नामकर्म के निमित्त से इन्द्रियों की रचना होती है। इनका रचयिता न तो ईश्वर है और न आत्मा ही है।

हृदय स्थान में खिले हुए आकार का द्रव्यमन है वह नामकर्म के निमित्त से स्वयं रचित है। आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है। हड्डियाँ मोटी-पतली होती हैं, हड्डियों के उस आकार को आत्मा पलटता नहीं हैं। रंग भेद होना, कभी सुन्दर शरीर तो कभी काला शरीर होने पर रंग परिवर्तन का कर्त्ता आत्मा या ईश्वर नहीं है। शरीरादि में रंग का परिवर्तन होना या स्पर्श में फेरफार होने की योग्यता शरीर की है और उसमें नामकर्म निमित्त है। किसी के श्वास की दुर्गन्ध आवे और भगवान के श्वास की कमल जैसी सुगन्ध आवे – यह रचना जड़ के कारण है। रस, स्पर्श,

स्थूल, सूक्ष्म आदि कार्य होते हैं, शरीर का नहीं हिलना, जीभ का स्थिर रह जाना – यह सब शरीररूप परिणमित परमाणुओं से होता है और इनमें नामकर्म निमित्त है। किसी का स्वर सुन्दर होता है, किसी की आवाज गधे के समान होती है – यह सब पुद्गल की अवस्था है। श्वासोच्छ्वास पवन है, जैसे आहार ग्रहण करे और मल विसर्जित करे तो जीवित रहा जा सकता है, जीवन में आयु निमित्त है परन्तु बाहर से आहार और निहार से निभता है, वैसे ही श्वास लेने और निकालने की क्रिया से जीता है। बाहर की वायु को ग्रहण करे और अन्दर की वायु को निकाले तो जीवितव्य रहता है। शरीर का रहना तो उसके कारण से है परन्तु उसमें आहार, निहार और श्वासोच्छ्वास निमित्त है। तथा हाथ आदि से कार्य करते हैं, अर्थात् आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता परन्तु जैसे बाहर के कार्यों में हाथ-पैर निमित्त होते हैं वैसे ही अनाज-पानी लेने में पवन निमित्त है। श्वास की क्रिया स्वतन्त्र होती है उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है।

अब वायु की बात करते हैं। नाड़ी में रक्त बहता है वह नाड़ी, वायु रोग, वायु का गोला आदि पवनरूप शरीर के अंग हैं। वह क्रिया जड़ परमाणुओं के परिणाम से होती है।

तथा शब्द है वह स्वर है। भाषावर्गणारूप पुद्गल स्कन्ध शब्दरूप परिणमते हैं, आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। गीत गाते समय कंठ आदि का कंपन होता है। अनक्षरी भाषा बोले या गीत आदि बोले उसमें आत्मा का अधिकार नहीं हैं, क्योंकि वह भाषावर्गणारूप पुद्गलों का कार्य है।

....तथा शुभ-अशुभ गमनादिक होते हैं। यहाँ ऐसा जानना कि जैसे दो पुरुषों को इकदंडी बेड़ी है। वहाँ एक पुरुष गमनादिक करना चाहे और दूसरा भी गमनादिक करे तो गमनादिक हो सकते हैं, दोनों में से एक बैठा रहे तो गमनादिक नहीं हो सकते, तथा दोनों में एक बलवान हो तो दूसरे को भी घसीट ले जाये। उसी प्रकार आत्मा के और शरीरादिकरूप पुद्गल के एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान है; वहाँ आत्मा हलन-चलनादि करना चाहे और पुद्गल उस शक्ति से रहित हुआ हलन-चलन न करे अथवा पुद्गल में तो शक्ति पायी जाती है, परन्तु आत्मा की इच्छा न हो तो हलन-चलनादि नहीं हो सकते। तथा इनमें पुद्गल बलवान होकर हलन-चलन करे तो उसके साथ बिना इच्छा के भी आत्मा हलन-चलन करता है। इस प्रकार हलन-चलनादि क्रिया होती है। तथा इसके अपशय आदि बाह्य निमित्त बनते हैं। – इस प्रकार ये कार्य उत्पन्न होते हैं, उनसे मोह के अनुसार आत्मा सुखी-दुःखी भी होता है।

ऐसे नामकर्म के उदय से स्वयमेव नानाप्रकार रचना होती है, अन्य कोई करनेवाला नहीं है। तथा तीर्थंकरादि प्रकृति यहाँ है ही नहीं।....

दो पुरुषों को एक दंडी बेड़ी हो वहाँ एक पुरुष चलना चाहे तब दूसरा भी चले तो ही गमन हो सकता है किन्तु दोनों में से एक बैठा रहे तो गमनादि नहीं हो सकते। तथा दोनों में से एक बलवान हो तो दूसरे को भी घसीटकर ले जाता है। वैसे ही आत्मा और शरीर का एकक्षेत्रावगाहरूप बंधन है वहाँ यदि आत्मा गमन करना चाहे किन्तु शरीर में लकवा हो जाये तो शरीर की गमनरूप क्रिया शरीर के कारण (योग्यता से) नहीं होती, अथवा शरीर में निरोगता हो, पक्षघात (लकवा) न हो परन्तु आत्मा की इच्छा न हो तो हलन-चलन नहीं हो सकता। अर्थात् शरीर अपने कारण से नहीं चलता वहाँ इच्छा निमित्त है। किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि शरीर आत्मा की इच्छा से चलता है – ऐसी मान्यता मिथ्या है।

शरीर गिर जाता है, केले के छिलके से फिसल जाता है, वहाँ इच्छा न होने पर भी फिसल जाता है। शरीर के परमाणुओं की ऐसी योग्यता होती है वहाँ आत्मा की भी ऐसे ही गिरने की योग्यता होती है। वहाँ आत्मा की इच्छा न होने पर भी आत्मा की वैसी योग्यता है। गिरने की क्रिया में जीव की इच्छा नहीं होने से शरीर का बलवानपना कहा है।

यहाँ नामकर्मोदयजन्य अवस्था कही है। शरीर के कारण आत्मा की अवस्था नहीं तथा आत्मा के कारण शरीर की अवस्था नहीं कही है। आत्माजन्य शरीर की अवस्था नहीं कही है। यहाँ ''नामकर्मोदयजन्य अवस्था'' – ऐसा शीर्षक दिया है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा की इच्छा बिना आत्मा की अवस्था शरीर के जैसी होती है, अत: शरीर का बलवानपना कहा है, परन्तु शरीर की जो अवस्था होती है उसमें नामकर्म निमित्त है – ऐसा कहना है। यहाँ दोनों की स्वतन्त्रता और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध – दोनों बतलाया है।

तथा इसके अपयश आदि बाह्य निमित्त बनते हैं ये सब कार्य होने पर उनमें मोह के उदय अनुसार आत्मा सुखी-दु:खी होता है। तात्पर्य यह है कि सुखी-दु:खीपने में मोह कर्म निमित्त है और नाम कर्म के उदय से अनेक प्रकार की रचना स्वयं होती है परन्तु कोई करने वाला नहीं है। तथा तीर्थङ्कर प्रकृति यहाँ है ही नहीं अज्ञानी को तीर्थङ्कर प्रकृति नहीं बन्धती, अत: उसकी चर्चा नहीं की)

गोत्रकर्मोदयजन्य अवस्था

....गोत्र कर्म से उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होना होता है; वहाँ अपनी अधिकता-हीनता प्राप्त होती है। मोह के उदय से सुखी-दु:खी भी होता है।

इसप्रकार अघातिकर्मों के निमित्त से अवस्था होती है।

इसप्रकार इस अनादि संसार में घाति-अघातिकर्मों के उदय के अनुसार आत्मा के अवस्था होती है। सो हे भव्य ! अपने अंतरंग में विचारकर देख कि ऐसे ही है कि नहीं। विचार करने पर ऐसा ही प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा है तो तू यह मान कि – ''मेरे अनादि संसार रोग पाया जाता है, उसके नाश का मुझे उपाय करना'' – इस विचार से तेरा कल्याण होगा।....

गोत्र कर्म के उदय से उच्च-नीच कुल में उपजना होता है। वहाँ नीच कुल में नीचपना और उच्च कुल में उच्चपना मिलता है, उसमें जीव मोह के कारण सुखी-दु:खी होता है। यह जीव, हम तो गर्भश्रीमंत है, ऊँचे हैं – ऐसा अभिमान करता है अथवा हम नीचे-हल्के हैं – ऐसा मानकर दु:खी होता है।

इसप्रकार अघाति कर्मों के उदय से अवस्थायें होती हैं।

इसप्रकार इस अनादि संसार में घाति-अघाति कर्मों के उदय अनुसार आत्मा की अवस्थायें होती हैं।

हे भव्य ! तेरे अन्तर में विचारपूर्वक देख कि तेरी पर्याय में यह रोग आठ कर्मों के निमित्त से बताया है – ज्ञानावरणीय से ज्ञान की हीनता बताई है, दर्शनावरणीय से दर्शन की हीनता बताई है, मोहनीय कर्म से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याआचरण बताया है, अन्तराय कर्म से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की हीनता बताई है, वेदनीय कर्म के निमित्त से साता-असाता मिलती है – ऐसा बताया है, आयु कर्म से शरीर की स्थिति बताई है, नाम कर्म से शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थायें बताई हैं और गोत्र कर्म से ऊँच-नीच गोत्र का मिलना बताया है – इस प्रकार आठों प्रकार की सभी अवस्थायें तेरे में हैं या नहीं ? वह देख ! यदि विचार करने पर तुझे ऐसा ही प्रतिभासित हो कि ज्ञान, दर्शन, वीर्य की हीनदशा है, विकारी-विपरीत दशा है और शरीरादिक का योग है, आयु पर्यन्त शरीर की स्थिति रहती है, तो तुझे निश्चय करना चाहिए कि मुझे पर्याय में अनादि से संसार रोग पाया जाता है। अत: उसके नाश का उपाय करना आवश्यक है।

यह सर्व संसार अवस्था जीव की औपाधिक योग्यता और कर्म के निमित्त से होती है। इसप्रकार पर्याय का ज्ञान करके द्रव्य पर नजर करना चाहिये। यदि पर्याय में संसार न हो तो द्रव्य पर नजर करने की आवश्यकता नहीं रहती।

संसार के अभाव का उपाय एकमात्र आत्मद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण ही है। इस विचार से तेरा कल्याण होगा।

इसप्रकार तेरी जो अवस्था होती है उसे तीर्थंङ्कर देव ने देखा है। जैसे वैद्य रोग के चिन्ह बताकर रोग का निश्चय करता है तभी दवा करता है, वैसे ही पर्याय में रोग है – ऐसा निर्णय करे तो उसके अभाव का उपाय करे। आत्मा की पर्याय के रोग का निर्णय करे तो ही ज्ञानी के पास उसकी दवा लेने जाये।

इसप्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित
मोक्षमार्गप्रकाशक के दूसरे 'संसार अवस्था का स्वरूप' अधिकार पर
दिनांक १४-१०-५२ से १२-११-५२ तक हुए
आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

आठ मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट-जघन्य स्थितिबंध और आबाधाकाल

क्र.	मूल प्रकृति	उत्कृष्ट स्थितिबंध	जघन्य स्थितिबंध	उत्कृष्ट आबाधाकाल
१	ज्ञानावरण	३० कोड़ाकोड़ीसागर	१ अन्तर्मुहूर्त	तीन हजार वर्ष
२	दर्शनावरण	३० कोड़ाकोड़ीसागर	१ अन्तर्मुहूर्त	तीन हजार वर्ष
३	वेदनीय	३० कोड़ाकोड़ीसागर	१२ मुहूर्त	तीन हजार वर्ष
४	मोहनीय	७० कोड़ाकोड़ीसागर	१ अन्तर्मुहूर्त	सात हजार वर्ष
५	आयु	३३ सागर	१ अन्तर्मुहूर्त	पूर्व कोटिवर्ष विभाग
६	नाम	२० कोड़ाकोड़ीसागर	८ मुहूर्त	दो हजार वर्ष
७	गोत्र	२० कोड़ाकोड़ीसागर	८ मुहूर्त	दो हजार वर्ष
८	अन्तराय	३० कोड़ाकोड़ीसागर	१ अन्तर्मुहूर्त	तीन हजार वर्ष

जघन्य आबाधा काल

आयुकर्म सिवाय सातों कर्मों की जघन्य अवस्था अपनी-अपनी जघन्य स्थिति से संख्यातगुनी अल्प होती है। तथा आयुकर्म की जघन्य आबाधा आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण तथा किन्हीं आचार्य के मतानुसार एक अन्तर्मुहूर्त भी होती है।

– आधार : गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा – १२७, १३९, १५६, १५७, १५८

तीसरा अधिकार
संसारदुःख तथा मोक्षसुख का निरूपण

सम्पूर्ण संसार दुःखमय है और मोक्ष सुखमय है अब ऐसा बताते हैं–

दोहा

सो निजभाव सदा सुखद, अपनौं करौ प्रकाश।
जो बहुविधि भवदुःखनि कौ, करिहै सत्ता नाश॥

अपना आत्मा का भाव ज्ञान और आनन्द है। संसार निजभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव जानना है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता सदा सुख की दाता है। इसकारण निज का प्रकाश करो। जो संसार अनेक प्रकार के दुःखरूप है उस संसार का नाश करना है। संसार सत् है, संसार अवस्था भ्रम नहीं है। संसार अवस्था रूप से सत् है, उसका निमित्त कारण कर्म है। स्वभाव के भान द्वारा संसार का नाश हो जाता है।

....अथ, इस संसार-अवस्था में नाना प्रकार के दुःख हैं उनका वर्णन करते हैं। क्योंकि यदि संसार में भी सुख हो तो संसार से मुक्त होने का उपाय किसलिये करें। इस संसार में अनेक दुःख हैं, इसलिये संसार से मुक्त होने का उपाय करते हैं।

जैसे–वैद्य रोग का निदान और उसकी अवस्था का वर्णन करके, रोगी को रोग का निश्चय कराकर, फिर उसका इलाज करने की रुचि कराता है। उसीप्रकार यहाँ संसार का निदान तथा उसकी अवस्था का वर्णन करके, संसारी को संसार-रोग का निश्चय कराके, अब उसका उपाय करने की रुचि कराते हैं।

जैसे–रोगी रोग से दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता, सच्चा उपाय नहीं जानता और दुःख सहा नहीं जाता; तब जो उसे भासित हो वही उपाय करता है इसलिये दुःख दूर नहीं होता, तब तड़प-तड़पकर परवंश हुआ उन दुःखों को सहता है। उसे वैद्य दुःख का मूल कारण बतलाये, दुःख का स्वरूप बतलाये, उन उपायों को झूठा बतलाये, तब सच्चे उपाय करने की रुचि होती है। उसीप्रकार संसारी संसार से दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता, तथा सच्चे उपाय नहीं जानता और दुःख सहा भी नहीं जाता; तब अपने को भासित हो वही उपाय करता है इसलिये दुःख दूर नहीं होता, तब तड़प-तड़पकर परवश हुआ उन दुःखों को सहता है। उसे यहाँ दुःख का मूलकारण बतलाते हैं, दुःख का स्वरूप बतलाते हैं, और उन उपायों को झूठे बतलायें तो सच्चे उपाय करने की रुचि हो। इसलिये यह वर्णन यहाँ करते हैं।....

अब संसार अवस्था में कैसा दु:ख होता है वह बताते हैं। संसार में अनेक प्रकार के दु:ख हैं, संसार में सुख नहीं हैं। मोक्षदशा – पूर्ण शुद्धदशा में सुख है। यदि संसार में भी सुख हो तो कौन संसार में से छूटने का उपाय करे ? तीर्थङ्कर और चक्रवर्ती भी संसार पर्याय से छूटना चाहते हैं। इस संसार में अनेक प्रकार के दु:ख हैं। धर्मी संसाररूपी दु:ख से छूटना चाहता है। इसकारण संसार से मुक्त होने का उपाय बतलाते हैं।

जैसे निपुण वैद्य रोग का निदान करता है और उस रोगजन्य अवस्थाओं का वर्णन करके रोगी को रोग का निश्चय कराता है, तत्पश्चात् (रोगमुक्त होने का) उपाय करने को कहता है। वैसे ही प्रथम यहाँ पर संसार अवस्था का निर्णय कराते हैं। प्रथम संसार रोग का निदान तथा उस संसार रोग से होने वाली भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करके संसारी जीव को संसार रोग का निश्चय कराते हैं और उसके अभाव की रुचि कराते हैं। यदि रोग ही न माने तो दवा करायेगा नहीं। पर्याय में भी शुद्ध ही है – ऐसा माने तो उपाय करने की आवश्यकता ही नहीं रहती; परन्तु यह बात मिथ्या है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, पर्याय में संसार है; वह रोग अवस्था है – उसका उपाय बतलायेंगे।

जैसे रोगी रोग से दु:खी हो रहा हो परन्तु उसका मूलकारण नहीं जाने, सच्चा उपाय नहीं जाने और दु:ख सहन भी नहीं हो तब अपने को ठीक लगे वैसे उपाय किया करता है, परन्तु इससे दु:ख का अभाव नहीं होता, अत: तड़फ-तड़फकर परवश हुआ उन्हीं दु:खों को सहन करता है; परन्तु उन दु:खों के मूलकारण को नहीं जानता। जिसप्रकार उसे वैद्य बतावे कि यह दर्द है, उसका मूलकारण बतावे और उसके द्वारा अब तक किये गये उपाय मिथ्या हैं – ऐसा बतावे तब ही रोगी को सच्चा उपाय करने की रुचि होती है।

इसीप्रकार यह संसारी जीव दु:खी हो रहा है और उसका मूलकारण नहीं जानता। संसार का कारण विपरीत श्रद्धा-विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण है; उसे नहीं जानता और उसके अभाव का उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, उसे भी नहीं जानता और संसार का दु:ख सहा भी नहीं जाता; तब अपने को ठीक लगे वैसे उपाय किया करता है और तड़फ-तड़फकर परवश हुआ उन्हीं दु:खों को सहन करता है।

संसारदु:ख और उसका मूलकारण

क – कर्मों की अपेक्षा से

....वहाँ सब दु:खों का मूलकारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम है। जो दर्शनमोह के उदय से हुआ अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है, उससे वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती,

अन्यथा प्रतीति होती है। तथा उस मिथ्यादर्शन ही के निमित्त से क्षयोपशमरूप ज्ञान है वह अज्ञान हो रहा है, उससे यथार्थ वस्तुस्वरूप का जानना नहीं होता, अन्यथा जानना होता है। तथा चारित्रमोह के उदय से हुआ कषायभाव उसका नाम असंयम है, उससे जैसे वस्तुस्वरूप है वैसा नहीं प्रवर्तता, अन्यथा प्रवृत्ति होती है।

इसप्रकार ये मिथ्यादर्शनादिक हैं वे ही सर्व दु:खों का मूलकारण हैं। किस प्रकार ? सो बतलाते हैं –....

अनादि संसार पर्यायरूप रोग का कारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान पूर्वक मिथ्याआचरण है। मिथ्याश्रद्धा में निमित्त दर्शनमोह है। उसके उदय से व अपनी योग्यता से वस्तुस्वरूप की विपरीत श्रद्धा होती है।

चेतन-अचेतन, पुण्य-पाप तथा मोक्षमार्ग का स्वरूप जैसा है वैसी उसकी प्रतीति नहीं होती परन्तु अन्यथा प्रतीति होती है। तथा इस मिथ्याभ्रान्ति और अतत्त्वश्रद्धा से प्रगट ज्ञान अज्ञान बन रहा है। ज्ञान की विपरीत होने की योग्यता है उसमें मिथ्याभ्रान्ति निमित्त है। वस्तु का जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा जानना नहीं होता। मैं ज्ञायक हूँ, शरीर और कर्म जड़ हैं इत्यादि नवतत्त्व जैसे हैं वैसा जानना नहीं होता। तथा आत्मा की पर्याय में होने वाली कषाय दशा में चारित्रमोहनीय कर्म निमित्त है। इस कर्म के निमित्त से असंयम भाव होता है। ये तीनों – मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और असंयमभाव – दु:ख के कारण हैं। विपरीत चारित्र के कारण परिणाम की प्रवृत्ति अन्यथा करता है – दया, दानादि के परिणाम को धर्म मानता है। शुद्ध आत्मा के भानपूर्वक आत्मा में प्रवर्ते तो धर्म हो, परन्तु अज्ञानी राग में प्रवर्त्तने को चारित्र मानता है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है उसमें नहीं प्रवर्तकर शरीर की क्रिया और राग में धर्म मानकर प्रवृत्ति करना असंयम है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम से होने वाला दु:ख और उससे निवृत्ति

....मिथ्यादर्शनादिक से जीव को स्व-पर विवेक नहीं हो सकता। स्वयं एक आत्मा और अनन्त पुद्गलपरमाणुमय शरीर; इनके संयोगरूप मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न होती है, उसी पयार्य को स्व मानता है। तथा आत्मा का ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव है उसके द्वारा किंचित् जानना-देखना होता है; और कर्मोपाधि से हुए क्रोधादिकभाव उनरूप परिणाम पाये जाते हैं; तथा शरीर का स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वभाव है वह प्रगट है और स्थूलकृषादिक होना तथा स्पर्शादिक का पलटना इत्यादि अनेक अवस्थायें होती हैं – इन सबको अपना स्वरूप जानता है।....

इसप्रकार ज्ञानस्वभाव से विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण – ये तीनों दु:ख के कारण हैं। कर्म के कारण भ्रान्ति आदि नहीं होती, परन्तु चैतन्यस्वभाव को छोड़कर विपरीत भ्रान्ति करे वह अपनी विपरीतता है और उसमें कर्म निमित्त है।

दूसरे अधिकार में ज्ञान-दर्शन की हीन अवस्था की बात की थी, परन्तु यहाँ संसार का मूल मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है इसकारण उसकी बात पहले करते हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। शरीर, पुण्य-पाप आदि पर हैं – ऐसा अज्ञानी नहीं जानता। मिथ्याभ्रान्ति के कारण स्व-पर की प्रतीति नहीं करता। मिथ्याचारित्र के कारण स्व-पर की एकता बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष परिणाम करता है और यही संसार के दु:खों का मूलकारण है – ऐसा समझे तो सच्चे सुख के उपाय की ओर अग्रसर हो।

जीव अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। यह संसार अवस्था दु:खरूप है – ऐसा विवेक एक सेकेण्ड मात्र भी नहीं आया। जीव को संसार कहाँ है इसकी भी खबर नहीं है। वह (भ्रमवश) स्त्री-पुत्रादि (संयोग) को संसार मानता है परन्तु, वह संसार नहीं है। संसार आत्मा की विकारी पर्याय में है।

मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से जीव को स्व-पर का विवेक नहीं होता। अज्ञानी को विपरीत मान्यता के कारण भगवान द्वारा कथित नवतत्त्वों का ज्ञान नहीं होता। इस देह में आत्मा एक है और देह अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। दोनों वस्तुयें भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु अज्ञानी को उनकी भिन्नता का ज्ञान नहीं होता। शरीर रूपी है, अजीव है, तथापि मिथ्यादर्शन और ज्ञान के कारण शरीर ही मैं हूँ, शरीर रोगी होने पर मैं रोगी हुआ, निरोग शरीर होने पर मैं निरोगी हुआ – इसप्रकार शरीर की अवस्थाओं को अपनी मानता है, परन्तु यह भ्रम है।

(१) आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञान-दर्शन त्रिकाल स्वभाव है, उसका किंचित् विकास होने पर थोड़ा जानना-देखना होता है।

(२) अज्ञानी जीव क्रोध, मान, दया, दानादि के परिणाम स्वयं कर्म के निमित्त से करता है और अल्प उघाड़रूप इन्द्रिय-ज्ञान को तथा विकार को अपना स्वरूप मानता है।

(३) वर्ण, रस, स्पर्श, मोटा-पतला आदि अवस्थायें शरीर में होती हैं, परन्तु यह जीव उन्हें अपनी मानता है।

पहले बोल में द्रव्य की बात की। आत्मा एक है और शरीर अनन्त पुद्गल द्रव्य है। अज्ञानी उन दोनों की भिन्नता नहीं मानता। अन्दर में आत्मा आनन्दकंद है, सिद्धसमान है उसे

नहीं पहिचानता। मिथ्यादर्शन के कारण शरीर को अपना मानता है। इसप्रकार पहले द्रव्य की बात की है। (द्रव्य सम्बन्धी भूल बताई है)

दूसरे बोल में पर्याय की बात की है कि ज्ञान-दर्शन के उघाड़रूप अंश को अपना स्वरूप मानता है और दया, दानादिरूप विकारी अवस्था को अपना मानता है।

तीसरे बोल में शरीर की अवस्था पलटने पर उसे अज्ञानी अपनी मानता है। शरीर पतला-मोटा हो, आँख फूटकर उसमें से पानी झरे, वर्ण, रस, गंध पलटे – उन सबको अपनी अवस्था मानता है। इसप्रकार ज्ञान के व्यक्त अंश को, विकार के अंश को तथा शरीर की अवस्था को अज्ञानी अपनी मानता है। इन सबको अपना स्वरूप मानता है – इसकारण उसकी मिथ्याश्रद्धा का अभाव नहीं होता। मैं आत्मा हूँ, ज्ञान, दर्शनादि स्वभाव त्रिकाल है, पर्याय में ज्ञान का उघाड़ है, दया दानादि के भाव विकृति है और शरीर पर है – ऐसा वह नहीं मानता – इसकारण संसार का अभाव नहीं होता। इसप्रकार पर्याय की बात की है। (पर्याय सम्बन्धी भूल बताई है)

....वहाँ ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति इन्द्रिय – मन के द्वारा होती है, इसलिये यह मानता है कि ये त्वचा, जीभ, नासिका, नेत्र, कान मन मेरे अंग हैं। इनके द्वारा मैं देखता-जानता हूँ; ऐसी मान्यता से इन्द्रियों में प्रीति पायी जाती है।....

आत्मा त्रिकाल है और ज्ञान-दर्शन स्वभाव त्रिकाल है। उसकी वर्तमान अवस्था में जानने-देखने का क्षयोपशम (उघाड़) प्रवर्तता है। उस जानने-देखने की प्रवृत्ति इन्द्रियाँ और मन के द्वारा होती है। (अज्ञानी) स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – जड़ इन्द्रियों और मन के द्वारा ज्ञान होता है – ऐसा मानता है। द्रव्य स्वयं है, गुण अपना है और अवस्था अपनी है; उसमें जड़ इन्द्रियाँ और मन निमित्त हैं; परन्तु अज्ञानी मानता है कि जानने-देखने की प्रवृत्ति जड़ इन्द्रियों और मन से ही होती है और ये इन्द्रियाँ मेरे अवयव हैं। जीभ द्वारा रस को जाने, नेत्र के द्वारा रूप को जाने तब ऐसा मानता है कि ये मेरे अंग हैं, परन्तु वे तो जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं हैं। ज्ञान अपने कारण से होता है उसमें वे निमित्त हैं – ऐसा नहीं मानता। इन्द्रियाँ जो कि वस्तुत: निमित्त है उन्हें अपना अंग मानकर निज स्वभाव की रुचि नहीं करता। तथा वह मानता है कि मन नहीं होगा तो विचार नहीं कर सकूँगा। जानने का स्वभाव स्वयं का है – ऐसा नहीं मानता। हरितकाय – एकेन्द्रिय को मन नहीं होता तथापि अवग्रहादि होते हैं और वह भी इन्द्रियों को अपनी मानता है।

मैं इन्द्रियों और मन के द्वारा ही देखता-जानता हूँ – इस मान्यता के कारण उनकी प्रीति

नहीं छूटती। वह मानता है कि इन्द्रियाँ ठीक हों तो ज्ञान होता है। उसे जड़ और चैतन्य भिन्न किसप्रकार है और स्वतन्त्रदशा कैसे हो रही है, इसकी खबर नहीं है – ऐसे जीव को धर्म होना संभव नहीं है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि यदि इन्द्रियाँ नहीं हों तो जानना-देखना नहीं हो सकता, परन्तु जानने की पर्याय स्वभाव में से आती है – ऐसा वह नहीं मानता। अज्ञानी मानता है कि आँख फूट जाने पर ज्ञान कैसे होगा ? कान बहरे हो जाने पर किसप्रकार सुना जा सकेगा ? भाई ! उसप्रकार के सुनने के और जानने के उघाड़ (क्षयोपशम) का अभाव हो जाता है तब ज्ञानादि और इन्द्रियों आदि की अवस्था ऐसी ही होती है।

प्रश्न – इन्द्रियों से ज्ञान होता तो प्रत्यक्ष दिखता है न ?

समाधान – आँख आदि बंद करने पर भी जीव जान सकता है कि यह काला है, यह सफेद है; अत: इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता। तथा यदि ज्ञान में मन की सहायता हो तो सभी संज्ञी प्राणियों के मन समान है तो ज्ञान भी सबको समान ही होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। एक जीव विचार ज्यादा कर सकता है और एक जीव कम विचार कर सकता है – इससे सिद्ध होता है कि जानना अपने क्षयोपशम के अनुसार होता है, मन तो निमित्तमात्र है। क्षयोपशम में दृष्टिगोचर हीनाधिकता स्वतंत्रता को दर्शाती है और उस काल में इन्द्रियाँ व मन निमित्त कहलाते हैं।

अज्ञानी जीव पर (जड़) इन्द्रियों से ज्ञान होना मानकर उनकी रुचि करता है, इसकारण उसकी पर्यायबुद्धि नहीं छूटती और वह स्वभावबुद्धि नहीं करता। ज्ञान अपनी योग्यता से होता है – ऐसा वह नहीं मानता इसकारण उसकी मूढ़ता नहीं मिटती। यहाँ तो कहते हैं कि जड़ इन्द्रियों की रुचि छोड़ और जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा जान !

....तथा मोह के आवेश से उन इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने की इच्छा होती है। और उन विषयों का ग्रहण होने पर उस इच्छा के मिटने से निराकुल होता है तब आनन्द मानता है। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है, उससे अपना लोहू निकले उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डियों का स्वाद है। उसीप्रकार यह जीव विषयों को जानता है, उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह विषय का स्वाद है। सो विषय में तो स्वाद है नहीं। स्वयं ही इच्छा की थी, उसे स्वयं ही जानकर स्वयं ही आनन्द मान लिया; परन्तु मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसा नि:केवलज्ञान का तो अनुभवन है नहीं। तथा मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूँघे, (पदार्थ का स्वाद लिया, पदार्थ का स्पर्श किया) शास्त्र जाना, मुझे यह जानना; – इसप्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभवन है उससे विषयों की ही प्रधानता भासित होती है। इसप्रकार इस जीव को मोह के निमित्त से विषयों की इच्छा पायी जाती है।....

अज्ञानी जीव मोह के आवेश से राग-द्वेषादि विकार करता है तब इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण की इच्छा होती है। आँख से बहुत देख लूँ, स्पर्शन से बहुत स्पर्श करूँ, जीभ से बहुत चखूँ – इसप्रकार इन्द्रिय विषयों के ग्रहण में लग जाता है। प्रथम देखने की इच्छा हुई, पश्चात् देखा और इच्छा गई अर्थात् आनन्द आया – ऐसा मानता है। स्पर्श का विषय लिया और वह इच्छा गई अर्थात् उसप्रकार की इच्छा नहीं रहती इसलिये आनन्द हुआ मानता है। खाने की, सूंघने की, अथवा सुनने की इच्छा थी और आकुलता थी, उस इच्छा के जाने से आनन्द मानता है। इच्छा मिटने से उसप्रकार की निराकुलता होने से आनन्द मानता है; परन्तु आनन्द मेरे ज्ञानस्वभाव में है – ऐसा नहीं मानता। और इन्द्रियों के विषय ग्रहण से सुख मानता है। जब तक ऐसी विपरीत मान्यता का अभाव नहीं करे तबतक धर्म नहीं होता।

जैसे कुत्ता हड्डी चबाते समय अपने खून का स्वाद लेकर मानता है कि स्वाद हड्डी में से आता है। वस्तुतः तो वह स्वाद स्वयं के खून का है। उसीप्रकार यह जीव विषयों को जानता है – ऐसा कहा जाता है। जड़ विषय शरीर, गंध इत्यादि को ज्ञान नहीं है, स्पर्श, रसादि में (अपना) ज्ञान प्रवर्तता है, पर में ज्ञान की एकाग्रता करके राग का स्वाद लेता है तथापि यह स्वाद विषयों में से आता है – ऐसा मानता है। वस्तुतः तो अपने में जानने-देखने की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान विषयों में नहीं जाता और जड़ की पर्याय ज्ञान में नहीं आती। अज्ञानी का ज्ञान पर में अटककर राग का स्वाद लेता है, परन्तु मानता है कि विषयों में से आनन्द आता है।

ये खाने-पीने के पदार्थ लड्डू आदि हैं, यह शरीर है – इसप्रकार ज्ञान वर्तमान दशा में वहाँ अटका है और राग किया उसका स्वाद आता है; परन्तु अज्ञानी पर में से स्वाद आया मानता है। पर में अपना राग अथवा ज्ञान प्रविष्ट नहीं हुआ है, राग अथवा ज्ञान अपनी पर्याय में है, उसका स्वाद आया है – ऐसा नहीं मानकर पर में से स्वाद आया मानता है। यह विपरीत श्रद्धा, ज्ञान, और आचरण है। पर में अटकने से राग हुआ उसका स्वाद आता है तथापि अज्ञानी मानता है कि स्वाद (सुख) विषयों का अथवा निमित्त का है – यह भ्रम है।

ज्ञान स्पर्श, रस आदि में प्रवर्तता है और स्वयं ही इच्छा की थी उसे स्वयं ही जानकर आनन्द मानता है। पर-वस्तु के कारण अथवा सुन्दर शरीर के कारण आनन्द नहीं होता। आनन्द स्वयं ने माना है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में ज्ञान अथवा इच्छा नहीं प्रवर्तती और पाँच इन्द्रियों के विषयों का, राग में तथा ज्ञान में अभाव है। जिसमें अभाव है उसमें से स्वाद आयेगा ? नहीं। वास्तव में तो स्वयं ने राग किया है और ज्ञान ने जाना है तब राग में आनन्द माना है, वस्तुतः

पर को जानने से आनन्द नहीं आता। वास्तव में आत्मा स्पर्शादि को छूता ही नहीं है, मात्र ज्ञान प्रवर्तता है और राग करता है। अब ज्ञान उस राग को जाने तब आनन्द मानता है। यह मिथ्यादर्शन शल्य है, मिथ्याज्ञान है, और राग में आनन्द माना – यह मिथ्याचारित्र है।

इस बात को सुना (समझा) न हो और माने कि हम धर्म करते हैं, यह भ्रम मात्र है। पर्याय में विद्यमान ज्ञान और राग क्षणिक है, आत्म स्वभाव उससे रहित शुद्ध है – ऐसा माने तो धर्म होता है।

पाँच इन्द्रियों के विषय वर्तमान में हैं और ज्ञान व राग की पर्याय (भी) वर्तमान में है, परन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। विषयों में मैं नहीं, राग में मैं नहीं और राग को जानने वाले ज्ञान जितना मैं नहीं। मैं तो अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ, पर से भिन्न हूँ, ऐसे नि: केवल ज्ञान का (पर में भिन्न का) अनुभव अज्ञानी नहीं करता। राग सन्मुख होकर ज्ञान ने राग को जाना, उसमें सुख माना, परन्तु ज्ञान ने अपने को अनन्तगुणों का पिण्ड नहीं जाना – यही मिथ्यादर्शन-ज्ञान है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है। उसका स्वभाव त्रिकाल है और उसने ज्ञान पर्याय को राग में रोका है तथा उसमें स्वाद (आनन्द) मान बैठा है – वह अधर्म है। तथा ज्ञान को राग में नहीं रोककर स्वसन्मुख करना धर्म है।

मैं ज्ञायक हूँ, मैं चैतन्य हूँ, दया-दानादि विकार हैं, पर की क्रिया पर के कारण है – ऐसा ज्ञान अज्ञानी को नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभावी है उसकी रुचि नहीं होने से संसारदशा उत्पन्न होती है।

मैं ज्ञान हूँ, जाननहार हूँ; राग होने पर भी मैं ज्ञान हूँ – ऐसा नहीं जानकर अज्ञानी राग को जानता है। अकेले राग के सन्मुख होकर जाननहार नहीं परन्तु मैं ज्ञानस्वभावी हूँ – इस प्रकार स्वसन्मुख होकर ज्ञान का अनुभव नहीं होने से पर में रुकता (अटकता) है।

हे आत्मा ! तेरी ज्ञान की दशा तेरे ज्ञानगुण का अंश है। उस अंश ने गुण का अनुभव नहीं करके 'यह नृत्य देखा', – ऐसा मानता है। वस्तुत: तुझे नृत्य जानने नहीं में आता, परन्तु तेरा ज्ञान जानने में आता है। पर्याय में ज्ञान जानने में आता है, तथापि मैं निमित्त को जानता हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। अज्ञानी मानता है कि मैं पर को जानता हूँ तथापि ज्ञानपर्याय सिवाय कुछ जानने में नहीं आता। *जीव अपने को जानते हुए पर को जानता है – ऐसा नहीं मानकर मैं पर को जानता हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। जीव वास्तव में अपनी स्व-पर प्रकाशक ज्ञानपर्याय को जानता है।*

कोई नृत्य करता हो और (अपना) उपयोग अन्यत्र हो तो नृत्य नहीं दिख सकता, इससे जाना जाता है कि तू अपनी ज्ञानपर्याय को जानता है, नृत्य को नहीं जानता। तथापि मानता है कि यह राग – मीठा स्वर सुना, वह तो उससमय अपनी प्रगट ज्ञान पर्याय में प्रवृत्ति हुई है तथापि पर को सुना – ऐसा मानना, वह परसन्मुख दशा अधर्म है। स्वसन्मुख होकर ज्ञान करना ही धर्म है।

अभी तो सर्वज्ञकथित धर्म क्या है, तत्त्व क्या है – यह सुनने के द्वार भी अज्ञानी ने बंद कर रखे हैं। अज्ञानी कहता है, कि मैंने प्रशंसा सुनी, परन्तु अपनी ज्ञानपर्याय को जाना – यह बात उसको नहीं बैठती। फूल सूंघा, उसमें उस तरफ की प्रवृत्ति करते हुए राग को जाना है परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं होने से कहता है कि मैंने फूल सूंघा। परन्तु वस्तुतः फूल को नहीं सूंघा, राग को नहीं सुना किन्तु अपनी ज्ञानपर्याय हो रही है वह अपने में प्रवर्तती है तथापि मानता है कि मैंने फूल सूंघा है। अज्ञानी के ज्ञान ने उस तरफ प्रवृत्ति करके ज्ञान किया है, परन्तु स्वसन्मुख प्रवृत्ति करके ज्ञान नहीं करता। मैंने पदार्थ का स्पर्श किया, स्वाद चखा – इसप्रकार पर तरफ प्रवृत्ति कर रहा है।

मन द्वारा इस पर-पदार्थ को जानना चाहिए – इसप्रकार पर में रुक गया है, परन्तु अपने को जानना चाहिये – यह बात अज्ञानी को जँचती नहीं है – इसकारण उसके मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याआचरण हो रहा है। उसे स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की बात नहीं जँचती – यही संसार और अधर्म है।

संसार की अवस्था दुःखमय है और आत्मा की मोक्षदशा सुखरूप है – ऐसी वस्तुस्थिति है और जैसा स्वभाव है वैसा न मानकर अन्यथा मानना ही दुःख का मूल है।

अनादि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के कारण से अज्ञानी यह मानता है कि मैं इन्द्रियों से ही जानता हूँ। इसकारण उसकी इन्द्रियों के प्रति प्रीति नहीं छूटती। मेरा स्वभाव अनादि-अनंत ज्ञानस्वरूप है, उसकी दृष्टि नहीं होने के कारण, मैं इन्द्रियों से जानता हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। मेरा ज्ञान मुझसे होता है – ऐसा नहीं जानकर अज्ञानी इन्द्रियों से ज्ञान होता है ऐसा मानकर इन्द्रियों से प्रीति करता है, स्वभाव की प्रीति नहीं करता। इन्द्रियाँ और मन मेरे अवयव हैं, यही मैं हूँ – ऐसा मानकर अज्ञानी जीव इन्द्रियों की रुचि नहीं छोड़ता और अतीन्द्रिय स्वभाव की रुचि नहीं करता।

जैसे कुत्ता हड्डी चबाकर अपनी डाढ़ (जबड़ा) से निकलने वाले खून का स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह स्वाद हड्डी का है। उसीप्रकार यह जीव विषयों को जाननेरूप प्रवर्तने

वाले अपने ज्ञान का स्वाद लेता है तथापि विषयों का स्वाद लेता हूँ – ऐसा मानता है। विषयों को जानने की इच्छा की थी उस इच्छा को जाना, उस इच्छा में रुककर मुझे आनन्द आता है, उसमें आनन्द है – ऐसा स्वयं मानता है। ज्ञान इच्छा में एकाग्र हुआ तथापि मानता है कि विषयों में से स्वाद आता है – इसकारण विषयों से पराङ्मुख नहीं होता।

मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। वर्तमान ज्ञानपर्याय विषयों से नहीं हुई। राग विषयों से उत्पन्न नहीं हुआ; तथापि जो जीव विषयों से राग और ज्ञान की उत्पत्ति मानता है उसको आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है, उसकी प्रतीति नहीं होती। मैं स्पर्श, रस को जानूँ – ऐसी इच्छा हुई, उस इच्छा को जानता हूँ – ऐसा वर्तमान में मानता हुआ त्रिकाली आत्मा में अन्तर्मुख दृष्टि नहीं करता – ऐसे जीव को धर्म नहीं होता। उसकी ज्ञान की पर्याय जानने में प्रवर्ती। राग किया उस राग का स्वाद आया, तथापि विषयों का स्वाद लिया ऐसा वह मानता है। आत्मा विषयों को छूता नहीं तथापि आत्मा विषयों को छूता है – ऐसा मानता है।

मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसे अन्तर्मुख ज्ञान में से पर्याय आती है और उसमें अटके तो राग होता है। स्व को जानते हुए राग को जानना चाहिये उसके बदले अकेले राग को जानते हुए राग का स्वाद लेता है और मानता है कि मैंने पर का स्वाद लिया। अज्ञानी मानता है कि मैंने नृत्य देखा, परन्तु वास्तव में उसने नृत्य नहीं देखा। नृत्य और ज्ञान के बीच अत्यन्त अभाव है। क्या ज्ञानपर्याय अपना क्षेत्र छोड़कर नृत्य को छूती है ? और क्या नृत्य अपना क्षेत्र छोड़कर ज्ञान में आता है ? नहीं। ज्ञान अपने गुण से प्रकट होता है। अज्ञानी उस ज्ञानपर्याय को नहीं देखकर मैं नृत्य देखता हूँ – ऐसा मानता है, परन्तु यह मान्यता मिथ्या है। वस्तुतः नृत्य नहीं दिखता, किन्तु अपनी स्व-पर प्रकाशक स्वभाव वाली वर्तमान ज्ञानपर्याय दिखती है। मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसी मान्यता नहीं होने के कारण जो यह कहता (मानता) है कि मैंने नृत्य देखा, उसके धर्म नहीं होता, उसे ज्ञान की स्थिति की खबर नहीं है। मैंने अपनी ज्ञानपर्याय को देखा है और वह ज्ञानपर्याय अनादि-अनन्त स्वरूप का अंश है – ऐसा नहीं मानकर मेरे ज्ञान ने स्त्री, नृत्य, हाथी, घोड़ा देखा (ऐसा मानने पर) ज्ञान ने ज्ञान को देखा – यह बात नहीं रहती। अज्ञानी को भ्रम हो जाता है।

ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक पर्याय नृत्य के पास नहीं जाती, नृत्य के सामने नहीं देखती। नृत्य के सामने देखना माने क्या ? पर तो पर में परिणमता है। अपने ज्ञान में प्रवर्त रही पर्याय अपने को जानती है – ऐसा नहीं मानकर मैं पर को देखता हूँ – यह मिथ्या मान्यता है। अज्ञानी मानता है कि मैंने स्त्री, आँख, हाथ, चेष्टा आदि को देखा, परन्तु वस्तुतः तो वह ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक पर्याय खिली है। वह पर्याय भी पर-पदार्थ हैं, इसलिए नहीं, किन्तु अनादि-

अनन्त स्वभाव है इसलिए प्रगट होती है। पर है, इसलिए नहीं, पर के कारण नहीं, पर सामने दिखा इसलिए नहीं; मेरी ज्ञानपर्याय मुझसे प्रगट होती है – ऐसा मानना चाहिये।

यह ज्ञान रूप को नहीं जानता। जड़ पदार्थ ज्ञान में नहीं आते, ज्ञान अजीव की पर्याय में नहीं जाता। अरूपी ज्ञान, रूपी पर्याय का स्पर्श नहीं करता। वह रूपी नृत्य तो पर में है, उस पर्याय सम्बन्धी, स्व पर्याय सम्बन्धी ज्ञान पर की अर्थात् नृत्य पर्याय की नास्तिपने प्रवर्तता हुआ स्व के सद्भाव और पर के अभावपने प्रवर्तता है; तथापि पर के कारण परिणमता है – ऐसा मानना वह अपनी प्राण हिंसा है। अपनी वर्तमान पर्याय स्वभाव में परिणमति हुई नृत्य को छूती नहीं, नृत्य के सामने देखती नहीं। भगवान ! तेरा ज्ञानस्वभाव तेरी सत्ता में – तेरे अस्तित्त्व में प्रवर्त रहा है, तेरा अस्तित्त्व छोड़कर बाहर गया नहीं है। तेरा ज्ञानस्वभाव नृत्य के अभावपने वर्तता हुआ अपने भावरूप से परिणमता है। यदि रूपी पर्याय यहाँ आत्मा में आवे तो आत्मा रूपी हो जाता है। आत्मा का ज्ञान अरूपी है। वह स्व के अस्तित्व में स्व की सामर्थ्य से ही जानता है। इस वस्तुस्थिति की अज्ञानी को खबर नहीं है। वह अपने में रहकर अपनी ज्ञानपर्याय होती है – ऐसा नहीं मानकर मैंने यह नृत्य देखा ऐसा मानता है – इस मिथ्या मान्यता में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह – ये पाँचों पाप आ जाते हैं। मैं अनादि-अनन्त ज्ञानवान हूँ – जो इसमें प्रवर्तती ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य को नहीं मानता और मैं पर को जानता हूँ – ऐसा मानता है वह अपने अस्तित्व को उड़ाता है। यह जीव वास्तव में नृत्य को नहीं जानता है, यदि वास्तव में नृत्य को जाने तो नृत्य ज्ञान में आ जाये और तब ज्ञान रूपी हो जावे।

मैंने (स्वर) सुना – ऐसा यह (अज्ञानी) कहता है। स्वर जड़ है, निन्दा और प्रशंसा के शब्द जड़ हैं; अतः वस्तुतः राग को (स्वर को) सुना नहीं है परन्तु उस क्षण की सामर्थ्य, स्व-पर शक्ति को जाना है। शब्द को स्पर्श किये बिना, शब्द के सन्मुख देखे बिना अपनी सामर्थ्य से सुनता है। यदि वह शब्द अथवा राग ज्ञान में आवे तब तो ज्ञान जड़ हो जावे और ज्ञान स्वर में जावे तो ज्ञान और स्वर एक हो जावे। यदि ज्ञान स्वर को जाने तो ज्ञान की हयाती (अस्तित्व) नहीं रहती। स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य अपना है, वह निश्चय से है। (ज्ञान) पर को जानता है – ऐसा कहना, व्यवहार है। अज्ञानी कहता है कि (मैंने) "यह निन्दा सुनी, मेरा यश गाया जाता है उसे मैं सुनता हूँ।" (अरे भाई !) उस समय तेरा अस्तित्व है या नहीं ? कि उनके अस्तित्व को तू सुनता है ? तू अपनी ज्ञानपर्याय को जान रहा है। अनादि अनन्त ज्ञानस्वरूप है उसकी ज्ञानपर्याय का प्रवर्तन हो रहा है – ऐसा नहीं मानकर मैं पर को जानता हूँ यह मानना अधर्म है। (मैं) शब्द को सुनता हूँ अर्थात् पर को सुनता हूँ या स्व को?

स्व को छोड़कर पर को सुनता हूँ, मुझे नृत्य और राग में मजा (आनन्द) आता है – ऐसा मानने वाले के ज्ञान और आनन्द दोनों के सम्बन्ध में भूल है।

पण्डितजी ने कैसी शैली से बात की है ! वस्तु ज्ञानस्वरूप है। (अज्ञानी) स्व की सामर्थ्य को नहीं मानता हुआ 'मैंने फूल सूंघा' – ऐसा मानता है। फूल तो जड़ है, अजीव – मूर्तिक है। उसकी पर्याय मूर्तिक है। आत्मा का ज्ञान मूर्त को सूंघता नहीं है, मूर्त तरफ जाकर जानता नहीं है; परन्तु अमूर्त तरफ रहकर अपने को जानता है। परन्तु (अज्ञानी) अपने ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य को नहीं जानता हुआ (मैं) पर को जानता हूँ – ऐसी मान्यता के कारण पर की रुचि नहीं छोड़ता।

अहो ! पूर्वाचार्यों ने जो कहा उसी के अनुसार पण्डित टोडरमलजी कहते हैं।

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, वैसे ज्ञान का अनुभव अज्ञानी को नहीं है। यहाँ कहते हैं कि वह ज्ञान गंध को नहीं जानता, ज्ञान को जानता है। सामने ही फूलों का गजरा हो परन्तु उसप्रकार का ज्ञान नहीं हो तो वह ज्ञात नहीं होता, अत: ज्ञान का ज्ञान होता है तथापि पदार्थ का ज्ञान हुआ, पुरुष का ज्ञान हुआ, फूल की सुगंध का ज्ञान हुआ – ऐसा मानना वह विपरीत मान्यता है। आत्मा सुगंध को छूता नहीं, ज्ञानपर्याय सुगंध तरफ गई नहीं, अपने ज्ञान में रही। ज्ञान को जानते हुए फूल को जानता है – ऐसा नहीं मानकर एकान्त फूल को जानता है – ऐसा मानना विपरीत श्रद्धा-ज्ञान-आचरण है।

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा नहीं मानकर (मैंने) पर-पदार्थ का स्पर्श किया ऐसा मानता है। अरूपी आत्मा स्पर्श को छूता नहीं है। यह पदार्थ सुहावना है, यह पदार्थ पसन्द है (ऐसा अज्ञानी मानता है।) अज्ञानी को अपने ज्ञान का अनुभव नहीं है और वह ज्ञान अपनी सामर्थ्य से अपने में प्रवर्तता है – ऐसा नहीं मानकर मैंने पदार्थ को छूआ – ऐसा मानता है। (भाई !) तेरा अस्तित्व, तेरी दशा ज्ञानपर्याय है। (क्या) ज्ञान स्पर्श को छूता है ? नहीं। ज्ञान है इसलिये स्पर्श को आना पड़े ? नहीं। स्पर्श के कारण ज्ञान है ? नहीं। ज्ञान स्पर्श को छूता नहीं और स्पर्श ज्ञान को छूता नहीं। स्पर्श को जाना – ऐसा कहना उपचार है।

दो बात करते हैं। विषयों में स्वाद नहीं, जीव अपने राग का स्वाद लेता है, स्पर्शादिक विषयों का स्वाद नहीं। तात्पर्य यह है कि तुझमें स्पर्शादि पदार्थों का अभाव है, तू उन्हें छूता नहीं है; परन्तु उन्हें जानता है – ऐसा कहना भी उपचार है। अपने स्वभाव से ज्ञान को जानता है। ज्ञान को जानते हुए पर को जानता है; तथापि एकान्तत: पर को जानता हूँ – ऐसा कहे वह ज्ञान में भूल करता है। इसप्रकार ज्ञान और आनन्द दोनों में भूल करता है। ज्ञान और आनन्द

मुझमें (आत्मा में) है तथापि पर-पदार्थ के कारण आनन्द मानता है वह भ्रान्ति है। इसकारण पर से नहीं छूटता। ज्ञानपर्याय पर को स्पर्शती नहीं। ज्ञान स्पर्श की पर्याय में वर्तता नहीं, स्पर्श पर्याय ज्ञान को छूती नहीं, तथापि स्पर्श को छूता हूँ इसकारण ज्ञान होता है – ऐसा मानना भ्रम है। जिसको यथार्थ ज्ञान करना हो और यथार्थ धर्म की शुरुआत करनी हो उसके लिये यह बात है। मैंने पदार्थ को स्पर्श किया ऐसा वह (अज्ञानी) मानता है, यदि ऐसा हो तो मेरापना स्पर्श में चला गया और मुझमें मेरेपने का अभाव हो गया। (ऐसा प्रसंग बनेगा)

जगत भ्रम नहीं है, जगत जगतरूप से है; परन्तु ज्ञान जगत को छूता नहीं है। सब अपने-अपने कारण से हैं। 'मैंने जगत को देखा' तू ऐसा मानता है परन्तु क्या तू जगतरूप हो गया है ? नहीं। उन वस्तुओं के कारण से ज्ञान नहीं है और न ज्ञान के कारण वे वस्तुयें हैं। वस्तुत: ज्ञान उन वस्तुओं को जानता नहीं है। अपने को जानते हुए उपचार से जगत को जानता है।

अज्ञानी को अपने अस्तित्व की खबर नहीं है, पर के अस्तित्व की खबर नहीं है और स्व-पर की भिन्नता की खबर नहीं है। इसप्रकार भेदज्ञान के बिना उसको धर्म नहीं होता। मैंने दूधपाक, श्रीखण्ड, रसगुल्ला, गुलाबजामुन को जाना – ऐसा वह कहता है। तो क्या तू पर में प्रवर्तता है ? क्या वे तुझमें प्रवर्तते हैं ? वस्तुत: तूने स्वाद को जाना नहीं, स्वयं को और पर को जानने का तेरा ज्ञानस्वभाव तेरे में है। पर को जानता है – ऐसा कहना, वह उपचार कथन है। ज्ञान ज्ञान का है। ज्ञान में अपने को जानने का स्वभाव है; तथा स्वाद को जाना – ऐसा कहना वह उपचार है। तथापि अज्ञानी उपचार को यथार्थ कर देता है (मान लेता है) यह वस्तु ज्ञात होते समय मुझे मेरी पर्याय ज्ञात होती है – ऐसा नहीं मानकर मैं पर को जानता हूँ ऐसा मानकर तूने अवास्तविकता खड़ी की है।

ज्ञान और स्वाद के बीच में बड़ा भारी अन्तर है। पदार्थ नजदीक अथवा दूर है, वह आकाश क्षेत्र की अपेक्षा से है। ज्ञान तथा पदार्थ में अत्यन्त अभाव है, दोनों सदा ही दूर हैं। तू तेरे ज्ञानस्वभाव के अस्तित्व को – प्रवृत्ति को पर में मिला देता है और पर के कारण तेरी प्रवृत्ति है ऐसा तू मानता है – यह बात सत्य नहीं है। **यदि तेरा वर्तमान ज्ञान तेरे कारण न हो तो 'पर को जाना' – यह उपचार भी संभव नहीं है।**

पर को जाना – ऐसा मानकर उसमें राग करता है। मुझे यह चीज मीठी लगती है – ऐसा राग करता है। क्या जड़ की दशा यहाँ (आत्मा में) आती है ? नहीं। क्या जड़ की दशा के कारण राग होता है ? नहीं। क्या जड़ की हालत के कारण ज्ञान होता है ? नहीं। अपने ज्ञान को नहीं जानकर पर को जानता हूँ – ऐसा मानना अधर्म है।

धर्म माने वस्तुस्वभाव। तेरा स्वभाव अनादि-अनन्त है; तेरी पर्याय तेरे अस्तित्व में है – ऐसा माने तो फिर राग अपने कारण से है, अपनी कमजोरी से होता है – इसप्रकार राग के अभाव का प्रसंग बनता है और ज्ञान अपने से है – ऐसा माने तो ज्ञानस्वभाव के सन्मुख ढलने का प्रसंग आता है; परन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञान की खबर नहीं है और कमजोरी से होने वाले राग की भी खबर नहीं है – इसकारण वह संसार में परिभ्रमण करता है।

आत्मा ने मीठे पदार्थ को नहीं जाना। स्व को जानते हुए पर को उपचार से जाना है। अनारोप बिना आरोप कहाँ से आये ? मीठे की पर्याय के अभावरूप रहता हुआ और अपने में भावरूप रहता हुआ मैं अपने को जानता हूँ – ऐसा नहीं मानकर पर को जानता हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है।

वस्तुत: जीव पर-पदार्थ का स्वाद नहीं ले सकता। उससमय की ज्ञानपर्याय की उस काल की वैसी ही योग्यता है – ऐसा नहीं मानकर मैं पर को जानता हूँ – ऐसा मानना मिथ्याभ्रान्ति और अज्ञान है। इसकारण (अज्ञानी जीव) अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

तथा मुझे यह जानना चाहिए – इसप्रकार अब मन की बात करते हैं। यह पुस्तक जानना चाहिये, बहुत इतिहास जानूं तो बुद्धि खिलेगी, अलग-अलग देशों में जाने से बुद्धि खिलेगी – ऐसा मानकर मूढ़ पर के कारण बुद्धि (ज्ञान) का विकास होना मानता है और अपने को ज्ञान से खाली मानता है।

आत्मा ज्ञान का भण्डार है। वह अपने कारण से प्रवर्तता है, तथापि मानता है कि मुझे यह जानना चाहिये। इतिहास, खनिज पदार्थों के शास्त्र, विज्ञान आदि में इतना पारंगत तो होना चाहिये। यह मान्यता विपरीत है। वर्तमान ज्ञानपर्याय मेरे ज्ञानस्वभावी आत्मा की है – यह बात नहीं रहती, इसलिये अज्ञानी का झुकाव पर में जाता है।

इसप्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान किया है परन्तु ज्ञेय मिश्रित हुए नहीं है – ऐसे ज्ञेयमिश्रित ज्ञान से विषयों की ही प्रधानता भासित होती है। मेरी ज्ञानपर्याय मुझसे ही प्रवर्तती है – ऐसा भासित नहीं होता परन्तु विषयों से (ज्ञानपर्याय) प्रवर्ती है – ऐसा भासित होता है। इसको जाना, फूल सूँघा – इसप्रकार पर को प्रधानता देता है। कल्पना में ज्ञेय और ज्ञान को मिश्रित करता है। पाँच इन्द्रियाँ तथा मन के विषयों को अपने में एकमेक करता है। यह वस्तु हो तो जानने में आवे, इसकारण उस वस्तु को मिलाना चाहता है। पर को मिलाना चाहता है, पर को जानना चाहता है, किन्तु स्वयं को जानना नहीं चाहता, स्वयं को भिन्न नहीं मानता। ज्ञेयमिश्रित ज्ञान से उन वस्तुओं की मुख्यता भासित होती है किन्तु मैं जानने-देखने वाला हूँ – ऐसा भासित

नहीं होता और भगवान आत्मा पूरा रह जाता है। कोई कहे कि "मैं" बाग में नहीं था और बाग को देखा, तो वह खोटा है, वैसे ही नृत्य को जानने में, सुगन्ध को जानने में, "मैं" नहीं था और मैंने नृत्य देखा तो उसका ऐसा कहना खोटा है। **अपने अस्तित्व के बिना 'यह वस्तु है' ऐसा देखा किसने ?** तथा अज्ञानी को विषयों का स्वाद नहीं आने पर भी वह राग के स्वाद को पर का स्वाद मान कर बैठा है।

ज्ञान पर्याय अपनी है और कमजोरी का राग भी अपना है तथापि ज्ञान पर का है और विषयों का स्वाद आता है – ऐसा (अज्ञानी) मानता है, किन्तु यदि ऐसा माने कि राग का स्वाद आता है और ज्ञान मेरा है तो विषयों की तरफ से हटकर स्व-सम्मुख होने का प्रसंग आवे और राग घटकर अन्तर स्थिरता का प्रसंग आवे। वस्तुत: आत्मा ने विषयों का ग्रहण नहीं किया, आत्मा विषयों का स्वाद नहीं लेता, आत्मा ने सचमुच विषयों को जाना भी नहीं है, किन्तु आत्मा को ही जाना है और राग का स्वाद लिया है – ऐसा निश्चित करे तो स्वसन्मुख होवे।

इस जीव को विषयों की इच्छा इसलिए होती है कि विषयों का स्वाद आता है – ऐसा मानता है; तथा उन्हें जानता हूँ – ऐसा वह मानता है, इसकारण स्व को जानने और स्व का स्वाद लेने की तरफ नहीं फिरता। उसे विषयों की ही प्रधानता भासित होती है। इसप्रकार मोह के निमित्त से इस जीव को विषयों की इच्छा होती है।

....वहाँ इच्छा तो त्रिकालवर्ती सर्वविषयों को ग्रहण करने की है। मैं सर्व का स्पर्श करूँ, सर्व का स्वाद लूँ, सर्वको सूँघूँ, सर्वको देखूँ, सर्वको सुनूँ, सर्वको जानूँ; इच्छा तो इतनी है। परन्तु शक्ति इतनी ही है कि इन्द्रियों के सम्मुख आनेवाले वर्त्तमान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द; उनमें से किसी को किंचित् मात्र ग्रहण करे तथा स्मरणादिक से मन द्वारा किंचित् जाने, सो भी बाह्य अनेक कारण मिलने पर सिद्ध हो। इसलिए इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। ऐसी इच्छा तो केवलज्ञान होने पर सम्पूर्ण हो।

क्षयोपशमरूप इन्द्रियों से तो इच्छा पूर्ण होती नहीं है, इसलिये मोह के निमित्त से इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है; उससे आकुलित होकर दु:खी हो रहा है। ऐसा दु:खी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के अर्थ अपने मरण को भी नहीं गिनता है। जैसे हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छको बंसी में लगा हुआ मांस का स्वाद लेने को, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सूँघने की, पतंगे को दीपक का वर्ण देखने की, और हरिण को राग सुनने की इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो तथापि मरण को नहीं गिनते। विषयों का ग्रहण करने पर उसके मरण होता था, विषयसेवन नहीं करने पर इन्द्रियों

की पीड़ा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ितरूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दु:खी पर्वत से गिर पड़े वैसे ही विषयों में छलाँग लगाते हैं। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के अर्थ खोते हैं। तथा विषयों के अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं वहाँ भी जाते हैं। नरकादिके कारण जो हिंसादिक कार्य उन्हें करते हैं तथा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं।....

ज्ञानस्वभाव अनादि-अनन्त है। पर को स्पर्श किये बिना और पर के अस्तित्व से निरपेक्ष अपनी सामर्थ्य से स्व को जानते हुए तीनकाल के पदार्थों को जानने की सामर्थ्य ज्ञान में है। मैं मेरे में रहकर मुझे जानते हुए उन पदार्थों को जानता हूँ – ऐसी प्रतीति का अज्ञानी को अभाव है। वह ऐसा मानता है कि 'एक पदार्थ का स्वाद मुझको आता है', इससे वह तीन काल के पदार्थों को छोड़ना नहीं चाहता (उनका स्वाद लेना चाहता है)। और 'पर-पदार्थ को जानता हूँ' – ऐसा मानने वाले के एकान्त पर-पदार्थों को जानने की बुद्धि (अभिलाषा) रहती है।

वस्तुत: विषयों में स्वाद नहीं और विषयों के कारण ज्ञान नहीं होने पर भी अज्ञान के कारण तीन काल के पदार्थों की तरफ की इच्छा हुई और अपनी पर्याय पर को जानने में रुक गई। मिथ्यादृष्टि 'मैंने नृत्य देखा' इसप्रकार वर्तमान ज्ञान पर में रुका होने से समस्त पर (पदार्थों) को स्पर्श कर लूँ, सर्व का स्वाद लूँ – ऐसा उसकी मान्यता में रहता है। सर्व को सूँघूँ, सर्व को सुनूं और सर्व को जानूं – ऐसी उसकी तीव्र इच्छा है। एक पदार्थ का थोड़ा स्वाद आया – ऐसा माना; अत: सभी पदार्थों का स्वाद लेना चाहता है। सबको देखूँ और सबको सुनूँ – ऐसी इच्छा करता है। स्वयं ज्ञानस्वभावी आत्मा है उसकी प्रतीति नहीं है। 'सबको जानूँ' – ऐसी मान्यता में चैतन्य स्वयं रह गया। समस्त पदार्थों को जानूँ – ऐसी इच्छा वर्तती है, इतनी सारी इच्छा है। अज्ञानी को व्यग्रता इतनी है कि सबका स्वाद ले लूँ, परन्तु शक्ति अल्प है। इन्द्रियों के सन्मुख हुए वर्तमान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व शब्द में से किसी का किंचित् जानना होता है अथवा स्मरणादिक द्वारा मन से किंचित् जानना होता है वह भी अनेक कारण मिलने पर सिद्ध होता है – ऐसी पराधीनता है, अत: उसकी इच्छा किसी काल में पूर्ण नहीं होती।

इस सब का सार यह है कि तेरा पर का जानने का रास्ता एवम् पर में स्वाद मानकर राग का स्वाद लेने का रास्ता शान्ति का नहीं है, इससे तू दु:खी हो रहा है। विषयों का स्वाद नहीं और विषयों का ज्ञान नहीं, किन्तु राग का स्वाद है और ज्ञान का ज्ञान है। विषय पर हैं और राग क्षणिक है, वह स्वभाव में नहीं; और ज्ञानपर्याय ज्ञानस्वभाववान की है – इसप्रकार

रागरहित नित्य ज्ञानस्वभावी की दृष्टि हो। ऐसा समझे तो निमित्त बुद्धि और राग बुद्धि छूटकर स्वभाव बुद्धि हो, धर्म हो। अत: यह समझाने के लिये बात की है।

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है। जिसको ऐसे ज्ञानस्वरूप की अन्तर प्रतीति और भान नहीं है वह वर्तमान उघाड़ में "मैं पर-वस्तु को जानता हूँ तथा पर-वस्तु का स्वाद लेता हूँ" – ऐसा मानता है। ***वस्तुत: तो प्रत्येक जीव–निगोद का जीव भी अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है – भले ही उघाड़ अल्प हो तथापि (ज्ञान) पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है;*** किन्तु यह मानता है कि विषयों को ही तथा राग को ही जानता हूँ। वस्तुत: तो अपने को ही जानता है। जिसको जितना उघाड़ होता है वह स्व-पर प्रकाशक है – ऐसा नहीं मानकर मैं पर को ही जानता हूँ – ऐसा मानता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञान ज्ञान को ही जानता है तो जगत की अन्य वस्तुओं की आवश्यकता क्या है ?

समाधान – ज्ञान के कारण जगत की वस्तुयें नहीं हैं और जगत की वस्तुओं के कारण ज्ञान नहीं है। ज्ञान पर को जानता है – ऐसा कहना असद्भूत उपचार है। वस्तुत: ज्ञान पर को जाने तो लोकालोक और ज्ञान एकमेक हो जायें, दोनों भिन्न-भिन्न नहीं रहे।

ज्ञान में अन्य वस्तुयें निमित्त नहीं हैं – ऐसा कहे तो अपना स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य नहीं रहता। निमित्त के कारण नहीं किन्तु अपने कारण से ही ज्ञान स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य वाला है। वर्तमान उघाड़ अंश दिखता है वह सम्पूर्ण वस्तु का अंश है – ऐसा नहीं मानकर वह अंश निमित्त को ही अथवा राग को ही जानता है और पर का स्वाद लेता है – ऐसा जो मानता है वह निमित्तबुद्धि और पर्यायबुद्धि वाला मिथ्यादृष्टि जीव है।

आत्मा का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, उसमें ज्ञान अपने को प्रकाशता है और अन्य गुणों को प्रकाशता है अत: ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है – ऐसा भी नहीं है। आत्मा में अन्य गुण है इसलिये ज्ञान के पर प्रकाशकपना है – ऐसा नहीं है और पर प्रकाशकपना है इसलिये आत्मा में अन्य गुण हैं – ऐसा भी नहीं है। (दोनों अपने-अपने कारण से हैं, एक दूसरे के कारण नहीं।)

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, अनादि-अनन्त है। उसकी वर्तमान पर्याय की रुचि स्व में हो तो पर को नहीं जानकर स्व को जानता हूँ – ऐसा माने तथा पर का स्वाद नहीं मानकर राग का स्वाद आता है – ऐसा माने, तो राग की अधिकता टूट जाती है और अंशी ज्ञानस्वभाव के साथ संधि होने से राग की गौणता हो जाती है और अनाकुल स्वभाव की अधिकता हो

जाती है। – ऐसा होने पर मैं पर को जानता हूँ – यह बात नहीं रहती और पर का स्वाद लेता हूँ – यह बात भी नहीं रहती।

यदि कोई यह कहे कि लोकालोक है इसलिये ज्ञानपर्याय जानती है तो अपना स्व-पर प्रकाशक स्वभाव ही सिद्ध नहीं होता और यदि यह माने कि जगत में निमित्त ही नहीं है तो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का सामर्थ्य अपना है – यह बात नहीं रहती अर्थात् स्वयं आत्मा ही नहीं रहता।

पहले नक्की कराते हैं कि यह भूल हो रही है। पर-वस्तु हो तो मुझमें पर-प्रकाशक सामर्थ्य है – ऐसा अज्ञानी मानता है। क्या लोकालोक है इसकारण पर-प्रकाशक सामर्थ्य है ? नहीं ऐसा नहीं है।

जब ज्ञान ज्ञान को ही जानता है तो लोकालोक नहीं रहता – ऐसा कोई कहे तो उसका समाधान – आत्मा का स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य निश्चय है, वह निश्चय ऐसा कहता है कि जगत में अन्य अनन्त वस्तुयें हैं, यह नहीं माना जाये तो अपनी पर्याय का स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य निश्चय है, वह नहीं रहता और ऐसा होने से ज्ञानगुण और आत्मद्रव्य भी नहीं रहता।

जैसे दर्पण में आम, नारियल, जामुन आदि जानने में आते हैं, वह दर्पण की पर्याय है। वहाँ दर्पण में वे आम आदि आ नहीं गये हैं तथापि दर्पण के सामने आम है ही नहीं – ऐसा कहे तो दर्पण की स्व-पर-स्वच्छत्व (प्रकाशक) शक्ति नहीं रहती। आम को बताने की दर्पण की सामर्थ्य निश्चय है। वह मानने में नहीं आवे तो सामने वाली वस्तु उसके स्वयं के कारण नहीं रहती और उसके नहीं मानने पर दर्पण का स्वच्छ स्व-पर प्रकाशक स्वभाव नहीं रहता।

उपादान-निमित्त – दोनों वस्तुयें हैं, परन्तु उपादान में कार्य होता है इसलिये निमित्त को आना पड़ता है – ऐसा नहीं है। और निमित्त है इसलिये उपादान में कार्य होता है – ऐसा भी नहीं है। दोनों ही अपने-अपने कारण स्वतन्त्र है – यही सिद्धान्त यहाँ भी खड़ा है।

दर्पण दर्पण को ही बताता है और अन्य वस्तुयें स्वयं अपने ही कारण है – ऐसा दर्पण बतलाता है। वैसे ही चैतन्यबिम्ब आत्मा की पर्याय, जो पर्याय हो उसका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव निश्चय से है, वह पर को जानती है – ऐसा कहना, वह असद्भूत उपचार है। किन्तु पर प्रकाशक स्वभाव व्यवहार से है – ऐसा कहे तो पर प्रकाशक स्वभाव नहीं रहता और स्वभाव पूरा स्व-पर प्रकाशक साबित नहीं होता। अत: पर प्रकाशक स्वभाव आत्मा का निश्चय है।

ज्ञानपर्याय स्व को जाने और स्व की सामर्थ्य से पर को न जाने तो स्व-पर प्रकाशक

सामर्थ्य उड़ जाती है और स्व-पर प्रकाशक ज्ञान के कारण लोकालोक है – ऐसा माने तो निमित्त निरपेक्ष साबित नहीं होता।

ज्ञानगुण है इसलिये अनन्तगुण हैं – ऐसा नहीं, अनन्तगुण हैं इसलिये ज्ञानगुण है – ऐसा भी नहीं। ज्ञानगुण का अपना स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, वे अन्य अनन्त गुण हैं इस कारण ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है – ऐसा नहीं है।

यह जगत नहीं और मैं हूँ – ऐसा कहे तो अपना स्वभाव नहीं रहता और स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है – इसकारण जगत है – ऐसा कहे तो जगत निरपेक्ष वस्तु नहीं रहती। तथा आत्मा लोकालोक के सामने देखता नहीं। किसी भी पदार्थ के सामने देखने की व्याख्या क्या ? शिर ऊँचा होना वह सामने देखना है ? शिर तो जड़ है उसे आत्मा ऊँचा नहीं कर सकता। और आत्मा की व्यंजन पर्याय फिरे (बदले) इसलिये ज्ञान की अर्थ पर्याय फिरती है ? नहीं। असंख्यात प्रदेशी आत्मा अपनी व्यंजन पर्याय के क्रम को नहीं बदलता। उसका कार्य इसप्रकार होता है इसलिये उसे बदलकर अन्य प्रकार करूँ – ऐसा भविष्य का कर्त्तापना नहीं हो सकता। प्रत्येक पर्याय का वर्तमान का कर्त्तापना होता है। होने के पश्चात् ऐसा करूँ तो ऐसा हो जावे – यह बात नहीं रहती। व्यंजन पर्याय बदली इसलिये ज्ञान हुआ – यह बात है ही नहीं।

आँख द्वारा जाना – ऐसा कहो तो वह भी खोटी बात है। आँख और आत्मा के बीच अत्यन्त अभाव है। तथा कोई कहे कि आँख के छिद्र द्वारा आत्मा देखता है तो यह बात भी खोटी है। अज्ञानी को भ्रम है कि (आत्मा) शरीर के किसी छिद्र द्वारा देखता है, परन्तु शरीर में कहीं छिद्र नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक जीव अपनी क्षयोपशम पर्याय से – उघाड़ से जानता है, पर से नहीं, इन्द्रियों से नहीं, राग है इसलिये नहीं और अपने में अन्य अनन्त गुण हैं इसलिये भी नहीं; परन्तु अपनी स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य से देखता-जानता है।

वस्तु स्वभाव धर्म है। आत्मा का स्वभाव मुख्यपने ज्ञान है, उसका यथार्थ भान होना वह धर्म है। उस ज्ञान में स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का इंकार करे तो उसके स्वभाव का नकार होता है और अन्य पदार्थों का नकार करे तो अपनी सामर्थ्य का नकार होता है। अन्य वस्तुओं के कारण वह स्वभाव नहीं हैं बल्कि स्वयं के ही कारण है।

अज्ञानी कहता है कि मैंने आड़ा देखा या ऊँचा देखा इसलिये यह पदार्थ देखा, परन्तु ऐसा है ही नहीं। पर्याय में स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है, वह पूर्व के कारण नहीं तथा भविष्य के कारण नहीं, अन्य गुणों के कारण नहीं, पर-पदार्थों के कारण नहीं, परन्तु अपनी ही सामर्थ्य के कारण से है। इसप्रकार स्व-पर प्रकाशक स्वतंत्र पर्याय का स्वीकार करे तो स्वभाववान आत्मा का स्वीकार होता है।

स्व-पर प्रकाशक स्वभाव निरपेक्ष है और लोकालोक निरपेक्ष है। दोनों ही अपने-अपने कारण से निरपेक्ष है – ऐसा साबित करने के पश्चात् सापेक्षपना लागू पड़ता है, उसके बिना लागू नहीं पड़ता।

एकसमय का राग त्रिकाली स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुआ है। मिथ्यामान्यता और राग का स्वभाव में प्रवेश नहीं है; और वे पर्याय में भी बिल्कुल नहीं हैं – ऐसा कहे तो यह बात भी मिथ्या है। प्रत्येक आत्मा चैतन्यरत्न है, उसकी एक पर्याय की होंश में संसार है। ज्ञान की पर्याय स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्यवाली है। उसमें पर-पदार्थ का अपने में अभाव का ज्ञान और स्व-पदार्थ का अपने में सद्भाव का ज्ञान है। पर के अभावरूप नास्तिपने परिणमन अपने कारण से है और स्व की अस्तिरूप परिणमन भी अपने कारण से है।

आत्मा अनन्त पर-पदार्थों से नास्तिरूप है ऐसे अनन्त पदार्थों के नास्तिपने का भाव वह अपना भाव है, पर का नहीं, पर के कारण नहीं – ऐसा समझे तो स्वसन्मुख होकर धर्म प्रगट हो।

आत्मा सूक्ष्म है, उसके गुण-पर्याय सूक्ष्म है, उसकी धर्म-अधर्म दशा सूक्ष्म है – वह किसप्रकार है यह सुनने को मिला नहीं और किसी दिन सुनने को मिला भी हो तो विचार किया नहीं। इसलिये यथार्थ विचार करना चाहिए।

प्रश्न – स्व-पर प्रकाशक स्वभाव में दोपना आया या एकपना ?

समाधान – शक्ति एक है, एक पर्याय में अखण्डपना है, दोपना नहीं। स्व-पर प्रकाशक की सामर्थ्य का एकपना है। भेद करके दोपना कहा जाता है।

अज्ञानी मानता है कि मैं पर-पदार्थ को करता या जानता हूँ। यहाँ कहते हें कि पर के करनेरूप तेरी ताकत नहीं है किन्तु पर-पदार्थ उसके कारण से आते और जाते हैं, उन्हें जानना वह असद्भूत उपचार है। पर में तन्मय हुए बिना आत्मा स्व सामर्थ्य से पर को जानता है। तथापि आत्मा पर को करता है – ऐसा मानना तो स्थूल अज्ञान है।

आत्मा का त्रिकाल को जानने का स्वभाव है – ऐसी खबर नहीं, इससे अज्ञानी गुलाट खा गया है और 'मैं सबको स्पर्श करूँ, मैं सबका स्वाद लूँ, में सर्व को सूँघूँ, सबको देखूँ और सबको सुनूँ तथा सबको जानूँ – इसप्रकार पर को जानने की और भोगने की इच्छा तो अनन्त है परन्तु वर्तमान शक्ति तो अत्यन्त अल्प है और वह भी बाह्य कारण मिलने पर प्रगट होती है, इससे इसकी इच्छा किसी काल में पूर्ण नहीं होती, कारण कि इच्छा तो केवलज्ञान होने

पर ही पूर्ण होती है, अर्थात् केवलज्ञान होने पर इच्छा का अभाव हो जाता है। सबको देखूँ और सुनूँ – ऐसी इच्छा थी, यह कभी संभव नहीं है। वास्तव में केवलज्ञान में समस्त पदार्थों को जान लेने में ही समस्त पदार्थों को सूँघना और आस्वादना, भोगना आदि आ जाता है। (तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान होने पर ही सर्व पदार्थ ज्ञानगोचर हो सकते हैं।) किन्तु क्षयोपशम ज्ञान तो अल्प है अत: अधिक जानने की सामर्थ्य प्रगट नहीं होती, वह तो केवलज्ञान प्रगट होने पर ही होती है। केवलज्ञान सम्यग्दर्शन होने पर प्रगट होता है और सम्यग्दर्शन आत्मा की प्रतीति करने से प्रगट होता है।

यहाँ कहते हैं कि यह इन्द्रियों के द्वारा किंचित् जानता है। अत: सबका एकसाथ जानना कब हो ? और क्षयोपशम के द्वारा कभी सब जानना होता नहीं किन्तु केवलज्ञान द्वारा होता है – इसप्रकार अस्ति-नास्ति से बात करते हैं।

वस्तुत: जीव ने इस जगत को जाना नहीं है। यदि जीव जगत को वास्तव में जाने तो जगत और जीव एक हो जाये। तेरा ज्ञान यदि वास्तव में मानस्थम्भ को जाने तो तेरा ज्ञान उसमें चला जाए, तो तू और मानस्थम्भ एक हो जाए। अत: वस्तुत: (जीव) अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है, मानस्थम्भ आदि पर-वस्तुओं को वस्तुत: ज्ञान जानता नहीं है।

यह जीव आकुल-व्याकुल बनकर दु:खी हो रहा है। एक विषय के उपभोग में मरण आवे तो भी विषय को नहीं छोड़ता। इसे टी.वी. (क्षय रोग) हुआ हो और वैद्य ब्रह्मचर्य पालन करने को कहे तो भी स्वयं को ख्याल में होने पर भी एक विषय के ग्रहण के लिये मरण के साथ खेल खेलता है। विषय का अर्थी व्यग्रता करके चैतन्य को भूल जाता है। जैसे हाथी कपट की हथिनी का स्पर्श करने लिये गड्ढे में पड़ता है, अन्य हथिनी कपट से ले जाये और स्पर्श का प्रेरा, आवेश का मारा चैतन्य को भूल जाता है। परन्तु भाई ! इन्द्रियों के विषयों से सन्तोष नहीं होगा। अत: स्वभाव को पहिचान ! ज्ञानी के राग की मर्यादा हो गई है। स्वभाव में एकाग्र होना ही सुख है, (ऐसा भान एवं आंशिक परिणमन होने पर भी) जरा राग आता है किन्तु वह मर्यादित है। ज्ञानी को अपने स्वभाव को चूककर राग नहीं होता। अज्ञानी तो विषयों में तल्लीन एकाकार है।

मछली को काँटे में लगाये गये माँस को चखने की इच्छा बहुत होती है, माँस भक्षण करने जाने पर लोहे के काँटे से कंठ भिद जाता है। लोलुपता में आत्मा को चूक जाती है। तत्काल मरण भासित होने पर भी लोलुपता नहीं छोड़ती। ज्ञानी को अमर्यादित स्वभाव के समक्ष राग की मर्यादा हो गई है। अज्ञानी को राग अमर्यादित है।

भ्रमर को कमल सूँघने की बहुत इच्छा होती है, वह कमल में से निकलता नहीं है, मरण की भी परवाह नहीं करता, इतना सुगन्ध में तल्लीन होता है। रात्रि समय कमल बंद हो जाने पर भ्रमर उसी में बंद होकर मरण को प्राप्त होता है।

पतंगा प्रकाश (दीपक की लो आदि) में झपट्टे मारता है। उसको रूप देखने की बहुत इच्छा होती है इसकारण दीपक में गिरकर मर जाता है।

हिरण को राग सुनने की बहुत इच्छा होती है। सितार बजती हो तो उसे सुनने में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि शिकारी पीछे से आकर उसे मार देता है।

अहो ! एक-एक विषय के पीछे तल्लीन हुए जीव मरण पाते हैं तो जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में तत्पर हों उनकी तो बात ही क्या ?

इन सभी दृष्टान्तों से निश्चित होता है कि जीवों को मरण की पीड़ा की अपेक्षा भी विषयों की पीड़ा असह्य – बहुत असाध्य लगती है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना ही सुखदायक है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। मेरा आनन्द मेरे में है – ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। शरीर, मन, वाणी, विषय पर है, मेरा स्वभाव पर से अभाव स्वरूप है और ज्ञान-आनन्दस्वरूप है – ऐसा नहीं मानता। इसकारण विषयों में झपट्टे मारता है। पाँच इन्द्रियों की तरफ झुकाव करता है। प्रतिक्षण शरीर की, इन्द्रियों की तथा पर-पदार्थों की जो अवस्था होती है उसे पर में तन्मय हुए बिना जानता हूँ ऐसी (अज्ञानी को) खबर नहीं है। इसकारण वह मैं जानने-देखने वाला हूँ – ऐसा नहीं मानकर पर की सहायता लूँ, पर में से सुख लूँ – ऐसा मानता है और अपनी स्वभाव की रुचि का अभाव बताता है। मेरा ज्ञान और आनन्द मेरे में है, इसप्रकार स्वभाव में नहीं झुककर पर में झुक जाता है। आत्मा पाँच इन्द्रियों के विषयों से रहित निर्विषयी है – ऐसा नहीं मानकर निज चैतन्य के स्व ध्येय को चूककर पर-विषयों में झुक रहा है।

मुझे पर मदद करता है, कुछ शरीर की क्रिया करूँ – ऐसी अज्ञानदृष्टि अनादि से है; जिससे अज्ञानी को पर की तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों की ऐसी रुचि है कि स्व को चूककर पर-विषयों में गिरता है। अतः मरण की अपेक्षा भी विषय की पीड़ा अधिक ज्ञात होती है; परन्तु मेरा स्वरूप विषयों से रहित, सम्पूर्ण जगत से शून्य है – ऐसा नहीं मानता। जगत की किसी वस्तु की अवस्था करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। मेरे में शरीर, मन, वाणी, जगत नहीं हैं तो वे मेरा कुछ नहीं कर सकते और मैं जगंत में नहीं तो मैं जगत का कुछ नहीं कर सकता

– ऐसी दृष्टि अज्ञानी नहीं करता और पर में झुक रहा है। उसे पर तरफ के झुकाव में इतनी प्रीति है कि देह छूटने का प्रसंग आवे तो भी उसकी दरकार नहीं करता, विषयों की प्रीति नहीं छोड़ता। शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श और मन तरफ का विचार करके पुण्य-पाप के विचार में रुककर स्वभाव का विचार नहीं करता।

जैसे कोई दु:खी मनुष्य पहाड़ पर से गिर पड़े; वैसे ही अज्ञानी विषयों में छलांग लगाता है। मैं ज्ञाता हूँ, अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसी रुचि नहीं करता और मेरे से ये विषय नहीं छोड़े जाते – ऐसा मानता है। वह स्वसामर्थ्य की प्रतीति नहीं करके पर में झुक जाता है। पर-विषय हितरूप नहीं किन्तु स्व आत्मा हितरूप है – ऐसा विचार नहीं करता।

अनेक प्रकार के कष्ट उठाकर धन उत्पन्न करके विषयों के अर्थ उसे गँवाता है। वहाँ धन तो पूर्व पुण्य के कारण मिलता है। परन्तु पूर्व पुण्य के कारण धन की प्राप्ति होना हो तो होती है – ऐसा नहीं मानता और उन पैसों को खाने-पीने में, मकान में, नृत्य-गान इत्यादि विषयों में गँवाता है। एक पुत्र के लिये, पुत्र की बहू के लिये, इज्जत के लिये कष्ट से संग्रह किये धन को गँवाता है। विषयों के लिये, प्रतिष्ठा के लिये, वाहवाही सुनने के लिये लक्ष्मी दे देता है।

बहुत विषयों की प्राप्ति होती हो, रूप देखने मिलता हो, पैसे मिलते हों, वहाँ मरण होता हो तो भी जाता है। चैतन्य की खबर नहीं इसलिये पैसों के लिये मरण की भी दरकार नहीं करता। ऊपर से बम पड़े, समुद्र में मरण हो – ऐसी जोखिम हो फिर भी पैसों के लिये परदेश जाता है। नरक और तिर्यन्च गति में जाने के कारणभूत हिंसा, झूठ, चोरी आदि करता है। बड़े कारखाने लगाता है, जिनमें मछलियाँ, मेंढ़क आदि मरते हों; तथापि ऐसे कार्य पैसों के लिये चलाता है।

....वे करें क्या ? इन्द्रियों को पीड़ा सही नहीं जाती, इसलिये अन्य विचार कुछ आता नहीं। इसी पीड़ा से पीड़ित हुए इन्द्रादिक हैं; वे भी विषयों में अति आसक्त हो रहे हैं। जैसे खाज-रोग से पीड़ित हुआ पुरुष आसक्त होकर खुजाता है, पीड़ा न हो तो किसलिये खुजाये; उसीप्रकार इन्द्रिय रोग से पीड़ित हुए इन्द्रादिक आसक्त होकर विषय सेवन करते हैं। पीड़ा न हो तो किसलिये विषय सेवन करें ?

इसप्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियजनित ज्ञान है, वह मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से इच्छा सहित होकर दु:ख का कारण हुआ है।....

अपनी सत्ता अन्तर में है उसकी खबर नहीं है, इससे अपना चाहा करने के लिये क्रोध,

मान, माया, लोभ कषायें करता है। बिचारा क्या करे ? लोक में इज्जत रहे इसलिये कषाय करता है। पिता के मरने के पश्चात् इतना करना पड़ेगा, पुत्री को दस हजार का दहेज देना पड़ेगा, नहीं करेंगे तो इज्जत नहीं रहेगी – ऐसा मानकर मान के लिये खर्च करता है। यह सब इन्द्रियों की पीड़ा है। बेचारा-भिखारी-रंक वृत्तिवाला – चैतन्य में शान्ति है उसे नहीं शोधने वाला बाहर में से शान्ति मिलेगी – ऐसा मानने वाला बेचारा है। आत्मा त्रिकाल सत् चिदानन्द स्वरूप है, देह और विषयों से भिन्न है, विकार क्षणिक है – ऐसी खबर नहीं है इसकारण पुत्र-पुत्रियों के विवाह में इतना रुपया खर्च करना पड़ेगा – ऐसा मान से प्रेरित हो मर जाता है, परन्तु मान का त्याग नहीं करता। अपनी जाति चैतन्य की जाति है उसका भरोसा नहीं करता।

इन्द्र आदि भी राग के कारण विषयों में आसक्त हैं। कितने ही देव और इन्द्र सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें आत्मा का भान है फिर भी आसक्ति होती है। परन्तु मिथ्यादृष्टि देवों को वस्तु का भान नहीं हैं, इससे वे विषयों में अति आसक्त बन रहे हैं। कोई कहे कि इन विषयों को छोड़ देंगे, परन्तु भाई ! ऐसे विषय बहुत बार छूटे और अनन्तबार तू द्रव्यलिंगी मुनि हुआ, परन्तु विषयों से रहित शुद्ध आत्मा के भान बिना विषय छूटे नहीं कहलाते।

जैसे खाज रोग से पीड़ित पुरुष आसक्त हुआ खुजाता है, उससे खून निकलने पर भी खुजाल में मिठास लगने से पीड़ा को नहीं गिनता है; वैसे ही चैतन्य की रुचि विहीन और इन्द्रियों से पीड़ित हुए ऐसे देव आदि राग में छलांग लगाते हैं। अरागी स्वभाव की रुचि हो तो राग की मर्यादा हो जाती है।

ज्ञानी जीव विषयों में सुख नहीं मानते और राग में आनन्द नहीं मानते परन्तु अज्ञानी विषयों में और राग में सुख मानते हैं – इसकारण ऐसे जीवों को पीड़ा बहुत है।

प्रश्न – निमित्त कुछ नहीं करता तो शास्त्रों में यह क्यों लिखा है कि राजकुमारों ने गाली दी, जिससे द्वीपायन मुनि ने क्रोध किया और द्वारिका भस्म हो गई ?

समाधान – निमित्त-नैमित्तिक में काल भेद नहीं हें। मुनि को क्रोध हुआ तो राजकुमारों की गाली को निमित्त कहा है। 'निमित्त नहीं होता तो' – यह प्रश्न ही अस्थान पर है। निमित्त के कारण क्रोध है ही नहीं। यदि राजकुमारों ने गाली दी इसलिये क्रोध हुआ तो फिर चारित्रगुण का विशेष चारित्रगुण के सामान्य से नहीं हुआ और पर से हुआ ? निमित्त से क्रोध नहीं हुआ और क्रोध से द्वारिका नहीं जली। द्वारिका जली तो क्रोध को निमित्त कहा जाता है। क्रोध को चारित्रगुण का विशेष नहीं मानकर निमित्त का विशेष (कार्य) मानना भ्रम है। आत्मा त्रिकाल है और उसका चारित्रगुण त्रिकाल सामान्य है तथा क्रोध उसका विशेष है – ऐसा नहीं मानकर

क्रोध को पर का विशेष मानना भ्रम है। लकड़ी में क्रोध नहीं होता क्योंकि उसमें शान्त स्वभाव नहीं है। आत्मा में शान्त स्वभाव (सामान्य) है तो विशेष-विपरीत दशा क्रोध है। तथा निमित्त का विशेष निमित्त के सामान्य के कारण है।

यह लकड़ी है और इसकी वर्तमान दशा भी है। वस्तु और गुण सामान्य हैं वे त्रिकाल हैं, उनकी अवस्था क्षणिक है वह सामान्य का विशेष है। यह लकड़ी क्षेत्रांतर होती है वह आत्मा से नहीं, हाथ से नहीं, यह पर्याय सामान्य का विशेष है। यह विशेष हाथ का नहीं, आत्मा का नहीं। यदि किसी का विशेष किसी के कारण हो तो वस्तु बिना विशेष के हो जाये।

क्रोध होता है वह अवस्था है – विशेष प्रकार है, वह अंश-विशेष आत्मा का है, अन्य का नहीं। आत्मा के भान वाले को भी अस्थिरता के कारण विकार होता है, वह पर के कारण नहीं बल्कि चारित्रगुण का विशेष है। कर्म का उदय कर्म का विशेष है। प्रत्येक वर्तमान अपने से स्वतन्त्र है – ऐसा जो नहीं मानता वह अपने आत्मा को नहीं मानता, वह नास्तिक है।

जो-जो परिणमन होता है वह वर्तमान में होता है और वह स्वयं से होता है, निमित्त से नहीं होता। जो नहीं हो वह नया नहीं होता ओर जो हो उसका सर्वथा नाश नहीं होता। स्वयं कायम रहकर अवस्था में बदलता है। वह अवस्था द्रव्य-गुण का विशेष है।

दूसरे ने गाली दी इसलिये क्रोध हुआ – ऐसा माने तो सबको क्रोध होना चाहिये, परन्तु सबको क्रोध नहीं होता। चारित्रगुण की विशेषदशा – मलिनदशा अपने से है, पर के कारण से नहीं। आत्मा में उपशमरस पड़ा है उसकी विपरीत दशा अपने से होती है, पर से नहीं होती।

प्रश्न – धर्मी क्रोध क्यों करता है ?

समाधान – यद्यपि धर्मी को आत्मा का भान है परन्तु अभी साधकदशा में चारित्र गुण में विपरीतता (अस्थिरतारूप दोष) है, यह भूल है – ऐसा समझता है। विपरीतता पर के कारण माने वह तो मूढ़ है ही परन्तु विपरीतता जितना अपने को माने तो वह भी अज्ञानी है।

यहाँ कोई पूछता है कि – जीव को क्रमबद्ध में क्रोध होना था तो हुआ ?

समाधान – क्रोध होना था तो हुआ – यह निर्णय करने वाला कौन है ? क्रोध क्षणिक है और आत्मा शान्तस्वभावी है, उसके सन्मुख दृष्टि करने वाला 'यह क्रोध होना था तो हुआ' कह सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि वर्तमान पर्याय पर नहीं है। ज्ञायक स्वभाव त्रिकाली है। उसके निर्णय बिना 'यह क्रोध होना था तो हुआ' – यह निर्णय नहीं किया जा सकता।

कोई कहे कि केवली भगवान से पूछने पर मुझे यह जवाब मिला कि मेरे चार भव बाकी

हैं; तो उससे पूछते हैं कि तुझे केवलज्ञान की प्रतीति है ? जिसको केवलज्ञान की प्रतीति है उसको स्वभाव की रुचि हुई है। वर्तमान में तेरी अल्पज्ञ पर्याय है, उस अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञ का निर्णय किसप्रकार होगा ? जिसे कर्म, निमित्त और राग की रुचि छूटकर अल्पज्ञ पर्याय की रुचि छूटी, स्वभाव की रुचि हुई उसे, ''मैं केवलज्ञान शक्ति का भण्डार हूँ'' – ऐसी प्रतीति हुई है। वह पूछता है कि हे प्रभु ! मेरे कितने भव बाकी हैं ? उसको दिव्यध्वनि में जवाब आता है कि इतने भव बाकी हैं। ऐसा प्रश्न पूछने वाले की दृष्टि पर्याय पर नहीं है।

जितने भव बाकी हैं वे पर्याय में हैं, स्वभाव में भव नहीं। भव विकारी पर्याय है, वह कितने काल रहेगी ? – ऐसा पूछने वाले की दृष्टि पर्याय पर से खिसक गई और अमर्यादित स्वभाव पर जम गई है। भव कितने हैं – ऐसा पूछने वाले को भान है कि मेरी विकारी पर्याय का नाश होगा, मेरी मोक्षदशा उत्पन्न होगी और मैं कायम रहूँगा – ऐसे भान वाले को ऐसा प्रश्न यथार्थ उठता है। केवली भगवान की प्रतीति आने पर भवरहित स्वभाव की प्रतीति आती है – ऐसी प्रतीति वाले के अनन्त भव तो हैं ही नहीं परन्तु कुछ भव बाकी है उनकी खबर नहीं हो तो पूछता है। जिसके अभी अनन्तभव हैं उसको यह प्रश्न यथार्थ नहीं उठता।

प्रश्न – सर्वज्ञ का निर्णय और स्वभावदृष्टि होने के पश्चात् भी क्या किसी को बहुत भवों में रखड़ना पड़ता है ? क्या वह नरक-निगोद में भी जाता है ?

समाधान – भव का प्रश्न उठा और उसे केवली भगवान को पूछने का विचार हुआ, उस केवलज्ञानी के निर्णय करने वाले की स्वभाव के ऊपर दृष्टि है। स्वभाव में भव नहीं हैं, भव ऊपर दृष्टि नहीं है – इसप्रकार केवलज्ञानी की प्रतीति करके प्रश्न उठने वाले के अल्प ही भव हैं। यदि वह आत्मा की प्रतीति को छोड़ देता है तो उसे केवलज्ञानी की प्रतीति उड़ जाती है अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है और यदि तीव्र विरोध करे तो निगोद में जाता है। जहाँतक केवलज्ञानी की प्रतीति है वहाँतक मिथ्यात्व नहीं और मिथ्यात्व के बिना कोई निगोद में नहीं जाता। जिसे आत्मा का भान नहीं वही मिथ्यात्व और अज्ञान में छलांग लगाता है। केवलज्ञानी की प्रतीति वाले को मिथ्यात्व का फल नहीं होता और मिथ्यात्व के बिना निगोद में नहीं जाता।

केवली की बातें करना और अल्पज्ञता का पक्ष रहना ऐसा नहीं बनता। केवलज्ञानी की यथार्थ प्रतीति करने वाले को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति है, अपना स्वभाव भव रहित है – ऐसी निशंकता वर्तती है। वह अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त होता है।

आत्मा में संसारमार्ग है वह दुःखरूप है – ऐसा ज्ञान हो तो उसको तोड़कर अन्तर स्वभाव

के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट होकर मोक्ष होता है। यहाँ संसारमार्ग बताते है कि इसप्रकार तू दु:खी है – ऐसा ख्याल आवे तो उसे छोड़कर मोक्षमार्ग में आवे।

शरीर, मन, वाणी अथवा परपदार्थों में संसार नहीं, आत्मा की पर्याय में संसार है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है उसका स्वभाव आदि और अन्त रहित है। उसकी मूल शक्ति ज्ञान और आनन्द है। अनादिकाल से जो ज्ञान-दर्शन का उघाड़ है उसके द्वारा विषयों को जानकर विषयों की तरफ झुकाव करके राग में ठीक और द्वेष में अठीक ऐसा भाव करता है। ज्ञान के उघाड़ को विकार में और पर में आनन्द मानकर रोकता है, परन्तु मेरा स्वभाव ज्ञान और आनन्दमय है उसकी खबर नहीं है – इसकारण विषयों में और राग में आनन्द मानता है। इन्द्रिय रोग से पीड़ित हुए इन्द्रादिक देव असक्त बनकर विषय सेवन करते हैं। यदि पीड़ा नहीं हो तो वे विषय सेवन किसलिये करें ?

अज्ञानी देवों के भी अपने आत्मा की प्रतीति नहीं है, वे स्पर्श को स्पर्शकर, रस को चखकर, गंध को सूँघकर, रूप को देखकर और शब्द को सुनकर – ऐसे पाँचों विषयों में झुकते हैं। परन्तु भाई ! वह तेरी चीज नहीं। तेरी चीज अन्दर में है, उसकी खबर बिना तीव्र अशुभभाव करे तो पाप होता है, और शुभभाव करे तो पुण्य होता है। इन्द्रादि देवों के हजारों देवियाँ होती हैं, उनमें वे आसक्ति से झुकते हैं।

इसप्रकार ज्ञान-दर्शन का उघाड़ है उसमें ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त है। इससे वह ज्ञान पाँच इन्द्रियों के निमित्त से विषयों की तरफ लक्ष्य करता है और विपरीत मान्यता के कारण इच्छा में सुख मानता है, वह दु:ख का कारण है। वे वस्तुयें, इन्द्रियाँ या ज्ञान का उघाड़ दु:ख का कारण नहीं, परन्तु इच्छा दु:ख का कारण है। अज्ञानी दु:ख को सुख मानता है। अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों में से सुख लेने की इच्छा कर रहा है।

....अब, इस दु:ख के दूर होने का उपाय यह जीव क्या करता है सो कहते हैं। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होने पर मेरी इच्छा पूर्ण होगी ऐसा जानकर प्रथम तो नानाप्रकार के भोजनादिकों से इन्द्रियों को प्रबल करता है और ऐसा ही जानता है कि इन्द्रियों के प्रबल रहने से मेरे विषय-ग्रहण की शक्ति विशेष होती है। तथा वहाँ अनेक बाह्य कारण चाहिए उनका निमित्त मिलाता है।

तथा इन्द्रियाँ हैं वे विषय सन्मुख होने पर उनको ग्रहण करती हैं, इसलिए अनेक बाह्य उपायों द्वारा विषयों का तथा इन्द्रियों का संयोग मिलाता है। नाना प्रकार के वस्त्रादिक का, भोजनादिकका, पुष्पादिक का, मन्दिर-आभूषणादिक का तथा गान-वादित्रादिक का संयोग मिलाने के अर्थ बहुत ही खेद खिन्न होता है।

तथा इन इन्द्रियों के सन्मुख विषय रहता है तब तक उस विषय का किंचित् स्पष्ट जानपना रहता है, पश्चात् मन द्वारा स्मरणमात्र रह जाता है। काल व्यतीत होने पर स्मरण भी मंद होता जाता है, इसलिए उन विषयों को अपने आधीन रखने का उपाय करता है और शीघ्र-शीघ्र उनका ग्रहण किया करता है। तथा इन्द्रियों के तो एक काल में एक विषय का ही ग्रहण होता है, किन्तु यह बहुत ग्रहण करना चाहता है इसलिये आकुलित होकर शीघ्र-शीघ्र एक विषय को छोड़कर अन्य को ग्रहण करता है, तथा उसे छोड़कर अन्य को ग्रहण करता है – ऐसे झपट्टे मारता है।

इसप्रकार जो उपाय इसे भासित होते हैं सो करता है, परन्तु वे झूठे हैं। क्योंकि प्रथम तो इन सबका ऐसा ही होना अपने आधीन नहीं है, महान कठिन है; तथा कदाचित् उदय अनुसार ऐसी ही विधि मिल जाये तो इन्द्रियों को प्रबल करने से कहीं विषय-ग्रहण की शक्ति बढ़ती नहीं है; वह शक्ति तो ज्ञान-दर्शन बढ़ाने पर बढ़ती है सो यह कर्म के क्षयोपशम के आधीन है। किसी का शरीर पुष्ट है उसके ऐसी शक्ति कम देखी जाती है, किसी का शरीर दुर्बल है उसके अधिक देखी जाती है। इसलिए भोजनादि द्वारा इन्द्रियाँ पुष्ट करने से कुछ सिद्धि है नहीं। कषायादि घटने से कर्म का क्षयोपशम होने पर ज्ञान-दर्शन बढ़े तब विषयग्रहण की शक्ति बढ़ती है।

तथा विषयों को जो संयोग मिलाता है वह बहुत काल तक नहीं रहता अथवा सर्व विषयों का संयोग मिलता ही नहीं है, इसलिये यह आकुलता बनी ही रहती है। तथा उन विषयों को अपने अधीन रखकर शीघ्र-शीघ्र ग्रहण करता है, किन्तु वे आधीन रहते नहीं हैं। वे भिन्न द्रव्य तो अपने आधीन परिणमित होते हैं या कर्मोदय के आधीन हैं। ऐसे कर्म का बन्ध यथायोग्य शुभभाव होने पर होता है और पश्चात् उदय आता है वह प्रत्यख देखते हैं। अनेक उपाय करने पर भी कर्म के निमित्त बिना सामग्री नहीं मिलती।

तथा एक विषय को छोड़कर अन्य का ग्रहण करता है ऐसे झपट्टे मारता है उससे क्या सिद्धि होती है ? जैसे मण की भूखवाले को कण मिले तो क्या भूख मिटती है ? उसीप्रकार जिसे सर्व के ग्रहण की इच्छा है उसे एक विषय का ग्रहण होने पर क्या इच्छा मिटती है ? इच्छा मिटे बिना सुख नहीं होता, इसलिए यह उपाय झूठा है।....

अज्ञानी अनादिकाल से अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को भूलकर इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने से अपनी इच्छा पूर्ण होगी – ऐसा मानता है; परन्तु स्वभाव की रुचि करने से इच्छा का नाश होगा – यह नहीं मानता। ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि करे तो ज्ञान की उग्रता का प्रयत्न करे, परन्तु उसकी खबर नहीं होने से इन्द्रियों को पुष्ट करना चाहता है। इन्द्रियाँ कमजोर पड़े तो सालमपाक इत्यादिक खाकर इन्द्रियों को पुष्ट करूँ तो इच्छा पूरी हो। इसप्रकार पदार्थों को

भोगने के लिये इन्द्रियों की पुष्टि करना चाहता है। शरीर को तेल मालिश करके, आँखों में सुरमा डालकर पुष्ट करना चाहता है। जो इच्छा हुई है उसे इन्द्रियों द्वारा पूरी करना चाहता है। इसप्रकार वैसा भाव तो करता है परन्तु शरीर का ठीक होना या नहीं होना वह इसके आधीन नहीं है।

तथा ऐसा जानता है कि यदि इन्द्रियाँ प्रबल होंगी तो विषय ग्रहण करने की शक्ति बढ़ेगी, परन्तु यह बात खोटी है। राग घटाने पर ज्ञान बढ़ने से अधिक विषयों को जाना जा सकता है। ज्ञान आत्मा को पुष्ट करने से बढ़ता है – ऐसा नहीं मानकर इन्द्रियाँ पुष्ट हों तो विषयों का ग्रहण अधिक हो – ऐसा मानता है। उसमें अनेक बाह्य कारणों की आवश्यकता होने से उनका निमित्त मिलाता है।

ज्ञान त्रिकाल है और उसकी पर्याय में मात्र पर को ही जानने की ताकत है – ऐसा नहीं, बल्कि प्रत्येक समय स्व-पर को जानने की ताकत है। कोई कहे कि वर्तमान में तो हमारे विषयों को ही जानने की ताकत है, तो आत्मा को किस प्रकार जान सकते है ? – तो यह बात भी खोटी है। प्रत्येक समय में स्व-पर को जानने की ताकत है – ऐसा जिसको भान नहीं है वह मान्यता की भूल के कारण ज्ञान को पर में ही रोक रखता है – यह भ्रम है।

वर्तमान ज्ञान की योग्यता ही ऐसी है कि वह स्व को नहीं जानकर निमित्त को जानने का काम करता है, इसलिये ज्ञान यथार्थ काम करता है – ऐसी कोई दलील करे तो वह बात भी खोटी है। भाई ! वह ज्ञानपर्याय स्वयं अपने को जानती है और अपने को जानती हुई इन्द्रियाँ और निमित्त को जान लेती है। ज्ञान की स्व-पर को जानने की ताकत है – ऐसा नहीं मानकर इन्द्रियजनित ज्ञान पर को विषय करके मिथ्यादर्शन के कारण इच्छासहित बनकर दुःख का कारण बनता है।

आत्म वस्तु त्रिकाल है, उसका ज्ञानस्वभाव भी त्रिकाल है। उसकी वर्तमान पर्याय नई-नई प्रगट होती है, उसकी योग्यतानुसार जो ज्ञान अवस्था हुई उसमें द्रव्य, गुण, पर्याय को स्वयं यथावत् ज्ञान सकता है। भले ही अल्पज्ञ अवस्था हो तथापि स्वद्रव्य को, गुण को तथा अपनी अल्पज्ञ पर्याय को, राग को, निमित्त को तथा इन्द्रियों को जानने की ताकत वाला है; परन्तु मिथ्यादर्शन के कारण स्वद्रव्य, गुण, पर्याय को जानने के बदले ज्ञान को पर का ही जानने वाला मान बैठता है।

पर्याय में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की ताकत होने पर भी मिथ्यादर्शन के कारण ज्ञान को पर में और राग में रोकता है और इन्द्रियों को पुष्ट करना चाहता है, परन्तु अपने में एकाग्र होकर

स्व को विशेष जानते हुए पर को विशेष प्रकार से जान सकता है – ऐसा वह नहीं मानता – इसलिये बाह्य में रुक गया है।

अब सच्ची समझ करके विपरीतता को टाले तो वह पर्याय मेरी है, स्व और पर को जानने की ताकत वाली है – ऐसा ज्ञान हो और स्व में विशेष लीन होने पर स्व को जानने का उघाड़ विशेष होकर पर-पदार्थों को जानने का उघाड़ भी विशेष बढ़े, राग घटे, आसक्ति घटे और बाह्य विषयों को मिलाने की इच्छा भी घट जाये और शान्ति को प्राप्त करे।

यहाँ यह कहना है कि ज्ञान का कम उघाड़ दु:ख का कारण नहीं है, परन्तु ज्ञान पर में और राग में रुक गया और उस ज्ञान को पर को जानने वाला जितना मानना ही दु:ख का कारण है। स्वज्ञेय को पकड़ने पर स्व-पर दोनों को जानने का उघाड़ बढ़ जाता है। स्वभाव को पुष्ट करे तो उससे पर को जानने का उघाड़ सहज बढ़ जाता है – ऐसा नहीं करके पर में रुककर बाह्य उपाय करता है, वे मिथ्या हैं।

अपनी ज्ञानपर्याय को अपने में रोकने से स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव खिलता है और विशेष लीनता होने पर राग घट जाता है और क्रम-क्रम से वीतरागदशा पाकर सर्वज्ञदशा प्राप्त करता है, वही अपना वास्तविक वास्तु (गृहप्रवेश) है।

अनेक बाह्य उपायों द्वारा विषयों का और इन्द्रियों का संयोग मिलाता है अर्थात् वे पदार्थ मेरे पास आवे या मेरी इन्द्रियाँ पदार्थों के सन्मुख जावे – ऐसा भाव करता है। अपने ज्ञान में सबको जानने की ताकत है – ऐसा नहीं मानकर स्वयं संयोग की तरफ दौड़ता है और संयोग मिलने पर मानता है कि मैं सुखी हुआ; परन्तु भाई ! यह सब इच्छा दु:ख है।

अपना ज्ञान-आनन्द अन्तर में है उसकी प्रतीति नहीं, इसकारण अनेक प्रकार के वस्त्र, भोजनादिक को मिलाना चाहता है और खेदखिन्न होता है। रागी जीव के राग हो, परन्तु मेरा ज्ञानस्वभाव राग रहित है, उसकी उसे खबर नहीं है। पर को मिलाने की इच्छा कभी पूर्ण नही होती इससे दु:खी हो रहा है। चौबीसों घंटों में से अधिक घंटे तो पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा में ही वर्तते हैं। एक के बाद एक पर के काम करना चाहकर खेदखिन्न होता है।

जबतक वे विषय इन्द्रियों के सन्मुख रहें तबतक उनका किंचित् जानपना रहता है और फिर मन द्वारा स्मरण करता है। आत्मा के प्रेम और संतोष बिना बाह्य में प्रीति करता है। ज्ञानी को भी राग होता है परन्तु उसे स्वभाव में रुचि वर्तती है तथा वह राग में दु:ख मानता है – इसकारण राग का अभाव करने के लिये पर-पदार्थों को मिलाना – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता; परन्तु स्वभाव के भान द्वारा राग रहित होऊँ तो सुखी होऊँ – ऐसा मानता है।

अज्ञानी एक साथ सबको भोग लेना चाहता है, विषयों का शीघ्र-शीघ्र ग्रहण करना चाहता है। खाने की गृद्धता वाला जल्दी-जल्दी खाना चाहता है। तथा इन्द्रियों द्वारा एक काल में उनमें से एक ही विषय का ग्रहण होता है, परन्तु यह जीव बहुत विषयों का ग्रहण करना चाहता है। अत: उतावला होकर जल्दी-जल्दी एक विषय को छोड़कर अन्य को ग्रहण करना चाहता है। ज्ञानी को राग होता है, किन्तु ज्ञानस्वभाव की दृष्टि चूककर राग नहीं होता। अनादि से अज्ञानी जीव मिथ्यादर्शन के कारण त्रिकाली स्वभाव को चूककर पर-विषयों में झपट्टे मारता है। आत्मा देह, मन, वाणी से पार और दु:खदायक पुण्य-पाप के भावों से रहित चैतन्यज्योति है, उसकी प्रतीति नहीं करता। अपने ज्ञानस्वभाव में लीनता करे तो स्व के ज्ञान पूर्वक पर को विशेष जाने, परन्तु वैसी प्रतीति नहीं करता और स्वयं को भासित हो वे उपाय करता रहता है; परन्तु वे उपाय झूठे हैं; क्योंकि प्रथम तो उन सबका उसी प्रकार होना अपने आधीन नहीं है।

बाह्य वस्तु आत्मा के आधीन नहीं है। तू आत्मा है, तुझे जो इच्छा होती है वह राग है – पाप है। उस राग से पर-पदार्थ नहीं मिलते। अनन्त आत्मायें और अनन्त परमाणु स्वयं-सिद्ध तत्त्व हैं, उन्हें अपनी इच्छा से मिलाना चाहता हो तो वे नहीं मिलते। इच्छा से पर-पदार्थों को नहीं मिलाया जा सकता – यह बात अज्ञानी को नहीं जँचती। बाह्य वस्तुयें तो अघाति कर्म के उदयानुसार मिल जाती है तथापि यह मानता है कि मेरे अपने प्रयत्न से वे मिलती है – यह भूल है।

अन्तर में राग-द्वेष अपने से होते हैं, कर्म के कारण नहीं; परन्तु बाह्य संयोग तो कर्म अनुसार ही मिलते हैं। ज्ञान, इच्छा और बाह्य वस्तुयें कैसी है – इसका भेदज्ञान अज्ञानी को नहीं है। ज्ञान अपने स्वभाव से होता है, इच्छा अपनी पर्याय का दोष है और बाह्य वस्तुयें पूर्व कर्मानुसार मिलती है – यह जाने बिना सब व्यर्थ है। ऐसे ज्ञान के भान बिना सब कार्य राख के ऊपर लीपने समान (व्यर्थ) है।

अज्ञानी पर को मिलाना चाहता है और उसके सन्मुख होना चाहता है तथा विषयों को मेरे पास लाऊँ – ऐसी इच्छा करता है। कर्म के अनुसार पैसा, पुत्र, निरोगी शरीर मिलें; परन्तु इन्द्रियों को प्रबल करने से विषय ग्रहण की शक्ति नहीं बढ़ती तथा ज्ञान नहीं बढ़ता; बल्कि अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है – ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। अज्ञानी मानते हैं कि बादाम, पिश्ता खाने से ज्ञान बढ़ता है – वे मूढ़ हैं। वे यह नहीं मानते कि अपने ज्ञान में एकाग्र होऊँ तो शक्ति बढ़ती है। ज्ञान बादाम आदि में से नहीं निकलता। ब्राह्मी तेल घिसने से ज्ञान नहीं बढ़ता, परन्तु अज्ञानी कल्पना करता है। अपना स्वरूप देह, मन, वाणी और राग

रहित है इससे ज्ञान बढ़ता है – ऐसा नहीं मानता और विषयों में झपट्टे मारता है – इसकारण दु:खी हो रहा है।

आत्मा में ज्ञान-दर्शन का उघाड़ क्षयोपशम अनुसार वर्तता है, परन्तु मिथ्यादर्शन से इच्छा के आधीन होकर दु:खरूप हो रहा है। यदि ज्ञानस्वभाव के आधीन हो तो सुखी हो। वह इच्छा को तृप्त करने के लिये बहुत विषयों का ग्रहण करना चाहता है, परन्तु स्वरूप की रुचि और लीनता होने पर राग टूटने से सुखी हुआ जाता है – यह अज्ञानी को नहीं जँचता।

तथा इन्द्रियों के सभी विषयों को एकसाथ इकट्टा करके भोगना – इसप्रकार अज्ञानी झपट्टे मारता है, परन्तु इच्छानुसार संयोग मिलना उसके आधीन नहीं है। कदाचित् इच्छानुसार सामग्री मिले तो भी इन्द्रियों को पुष्ट करने से शक्ति नहीं बढ़ती, परन्तु ज्ञान-दर्शन का उघाड़ विशेष हो तो बहुत विषयों को जान सके और वह उघाड़ राग घटाने से बढ़ता है और उससे बहुत विषयों को जान सकता है।

ज्ञान का उघाड़ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार है और वह कषाय की मंदतापूर्वक होता है। देखो, किसी का शरीर पुष्ट हो फिर भी उसमें जानने की शक्ति कम देखने में आती है। तथा किसी का शरीर पतला हो और कषाय मंद हो तो ज्ञान की शक्ति अधिक देखने में आती है। अत: भोजन, खाने-पीने के पदार्थों से अथवा वाद्ययंत्र सुनने से इन्द्रियाँ पुष्ट नहीं होती, परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ मंद हों तो ज्ञान-दर्शन का उघाड़ बढ़ता है और तभी विषयों की ग्रहण शक्ति बढ़ती है।

तथा विषयों का संयोग भी बहुत समय तक नहीं टिकता। इतनी दुकानें, आबरू (इज्जत), व्यवस्था प्राप्त करूँ – इसप्रकार राग की आग में जीवन व्यतीत करता है, सर्व विषयों के संयोग तो मिलते ही नहीं, इसलिये आकुलता बनी रहती है।

राग तो आकुलता है, और आकुलता से आनन्द हो ? सम्पत्ति और दुकान की व्यवस्था में अशुभराग की तीव्र आकुलता से आनन्द नहीं होता। परन्तु दया, दानादि परिणाम भी आकुलता है, इनसे भी आनन्द नहीं मिलता। आत्मा का स्वरूप ही अतीन्द्रिय आनन्दरूप है।

व्यवहार रत्नत्रय राग परिणाम है, अत: दु:खरूप है। और राग से अनाकुल चैतन्य आत्मा पकड़ में नहीं आता, तो फिर अशुभ परिणामों से आनन्द आवे – ऐसा तो संभव ही नहीं है। अपूर्णदशा में शुभराग आता है वह मंद दु:ख है। मंद दु:ख को सुखरूप या आनन्दरूप मानना भ्रम है।

अज्ञानी को आकुलता रहा ही करती है। लड़का होशियार और कमाऊ हो तो आकुलता और खराब हो तो आकुलता। परिवार अपनी इच्छानुसार माने तो आकुलता और नहीं माने तो भी आकुलता – ये सब अशुभ आकुलतायें हैं, और दया-दानादि के परिणाम मंद आकुलता हैं – दोनों दुःख हैं उनसे रहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना सुख है।

विषय और सामग्री मिलाना हो और उसे ग्रहण करने की शक्ति बढ़ाना हो तो रागादि मंद करना चाहिये। इन्द्रियों को पुष्ट करना, वह इसका उपाय नहीं है।

राजा आदि को खुश रखना चाहता है। मोटी पदवी मिले, एक के बाद एक सभा का प्रमुख पद मिले, परन्तु उससे निवृत्त नहीं होता – यह सब दुःख है। राग रहित चैतन्य आत्मा की सन्मुखता नहीं करता। अन्तर स्वभाव सन्मुख होकर पर्यायबुद्धि नहीं छोड़ता, इससे दुःख दूर करने के इसके उपाय सच्चे नहीं हैं। जगत के लोग सन्मान दें तो फूल जाता है। तथा विषयों को अपने आधीन रखकर शीघ्र-शीघ्र ग्रहण करना चाहता है। कभी सभा में जाना, कभी खाना खाने जाना, कभी पार्टी में जाना। – यह सब आकुलता है। मुम्बई जाना, विदेश जाना, शीघ्र-शीघ्र यह सब करना चाहता है। विषय ग्रहण करना चाहता है, परन्तु वह अपने आधीन नहीं है। क्योंकि वे वस्तुयें – स्त्री, मकान, कुटुम्ब आदि भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं, अपने-अपने आधीन होकर परिणमित होती हैं। परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर-द्रव्य को परिणमाऊँ और उसमें से सुख ले लूँ। प्रत्येक द्रव्य – आत्मा और पुद्गल स्वतन्त्र परिणमन करते हैं, जीव की इच्छा से नहीं, तथापि उसका भला करूँ, उसका बुरा करूँ यह सब भ्रमणा है।

प्रत्येक पदार्थ अपने कारण से परिणमता है, और आता है, वह उपादान कारण है। पुत्र-पुत्री, मोटर, पैसा आदि सब अपने-अपने कारण से आते हैं, इनकी संभाल रखूँ, इनकी देखभाल करूँ तो ये ठीक रहें, ध्यान रखूँ तो पैसा आवे – यह मान्यता मूढ़ता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है। आत्मा और शरीर स्वतन्त्र है। प्रत्येक की अपनी-अपनी अवस्था अपने कारण से होती है, अन्य उसे करने में समर्थ नहीं है मकान होना, मन्दिर होना, बोर्डिंग आदि होना – वह उस-उस तत्त्व के आधीन है। तथापि पर का कर सकता हूँ – ऐसा माने वह महामूढ़ है। जीव निगोद और शकरकंद की दशा में नहीं समझता था परन्तु मनुष्य होने पर भी तत्त्व नहीं समझता वह मूढ़ है।

एक मनुष्य अपने शरीर का रोग नहीं मिटा सकता, क्योंकि शरीर जड़ है, पर (भिन्न) है; तो फिर पर-जीवों का कुछ कर सके – यह मान्यता तो मिथ्यात्व ही है।

प्रत्येक वस्तु की पर्याय होना उस-उस द्रव्य के आधीन है, अन्य किसी के आधीन नहीं।

प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न अपने-अपने आधीन परिणमता है और जीव की अपेक्षा निमित्त से कहो तो पूर्व कर्माधीन परिणमता है। वहाँ कर्म निमित्तमात्र है। पहले कहा था कि ज्ञान शक्ति कषाय मंदता से बढ़ती है और यहाँ कहते हैं कि कषाय की मंदता से पुण्यकर्म बँधते हैं तथा अनुकूल सामग्री मिलती है। जैसे पूर्व कर्म बाँधे वैसे उदय में आवे और सामग्री मिले। "यथायोग्य" कहा, अर्थात् किसी ने तीव्र कम-ज्यादा शुभभाव जिसप्रकार के किये हों उस प्रमाण शुभकर्म बँधते हैं और उनका उदय आने से उसप्रकार की सामग्री मिलती है। जगत के प्राणी पर-वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वह पूर्व कर्म के बिना मिलती नहीं है। एल-एल.बी. पढ़ा हो और पूर्व कर्म न हो तो पचास रुपया महिना मिलता है और अनपढ़ हो फिर भी पूर्वकर्म हो तो पैसे वाला होता है – यह सब कर्मानुसार है। राजाओं का राज्य जाना इत्यादि जो परिवर्तन हुआ वह पूर्व कर्म अनुसार है, किसी के होशियारी से यह नहीं हुआ है।

पुण्य का उदय होना अथवा उसके निमित्त से सामग्री मिलना, वह आकुलता नहीं है परन्तु उससे मुझे लाभ है – यह मान्यता दुःख है। पाप का उदय और प्रतिकूल सामग्री दुःख का कारण नहीं, परन्तु मैं निर्धन हूँ, मैं रोगी हूँ, मेरे पास पैसा नहीं रहा इसलिये लड़का अनपढ़ रहा, अन्य को चतुर लड़के मिले – ऐसी मान्यता (दाह) ही दुःख है।

जीव के बहुत प्रयत्न करने पर भी पुण्य-कर्म बिना सामग्री नहीं मिलती। अच्छा दामाद मिलना, श्रेष्ठ बहू मिलना, इज्जत, पैसा इत्यादि मिलना पूर्व कर्मानुसार है। यह सब जीव के प्रयत्न का कार्य नहीं है, फिर भी वह इन सबको मिलाने के लिये झपट्टे मारता है। पुत्र-पुत्रियों का विवाह अच्छे घरों में करूँ, अच्छा मकान बनवाऊँ, शरीर अच्छा रखूँ – इसप्रकार जीव व्याकुल बनकर इन सभी पर-वस्तुओं को अपने आधीन रखना चाहता है। पुत्र को क्षय (टीबी) हुआ हो तो उसे बचाना चाहता है, परन्तु इन्द्र भी किसी को जिलाने में समर्थ नहीं है; फिर लड़का मर जाये तो रोने लगता कि मेरा पैसा, चाकरी काम नहीं आई। जीव अपने सगे पुत्र को और शरीर को बचा नहीं सकता तो फिर देश तथा समाज की व्यवस्था कर दूँ – यह मान्यता तो मूढ़ता ही है। वे जगत की वस्तुयें हैं और अपने-अपने कारण आती-जाती हैं। अनेक उपाय करने पर भी कर्म के निमित्त बिना कोई सामग्री नहीं मिलती। (इसप्रकार परद्रव्य) आत्मा के आधीन नहीं होने पर भी समस्त विषयों का युगपत् ग्रहण करना चाहता है।

जीव महान् होने की इच्छा करता है। अधिकारी बनूँ और मिनिस्पल्टी में, पार्लियामेन्ट में मत प्राप्त कर प्रमुख होऊँ – ऐसी इच्छा करता है, परन्तु यह सब पुण्य के आधीन है। तथा सम्पूर्ण (विषयों) के ग्रहण की इच्छा करता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, पर्याय में ज्ञान का

उघाड़ कम है। वह ज्ञान मोह के आधीन होकर विषयों को ग्रहण करना चाहता है; परन्तु राग मंद करे तो ज्ञान बढ़े और विषय प्राप्त हो – इसकी उसे खबर नहीं। भगवान आत्मा ज्ञान का सूर्य है, उसकी खबर नहीं है। उघाड़ अल्प है और इच्छा के आधीन होकर विषय को मिलाकर उनसे सुख प्राप्त करना चाहता है और विषय शक्ति बढ़ाना चाहता है। परन्तु उसका उपाय यह है कि राग की मंदता करे तो ज्ञान का उघाड़ बढ़ता है और राग मंदता से बंधने वाले पुण्य के निमित्त से विषय सामग्री अधिक मिलती है।

राग और लोभ को घटावे तो ज्ञान की शक्ति बढ़े और तभी विषयों को जानने की शक्ति बढ़े तथा राग और लोभ घटावे तो ही पुण्य बंधने पर विशेष सामग्री मिले। इसप्रकार अज्ञानी को व्यवहार उपाय की भी खबर नहीं है तो फिर निश्चय उपाय की खबर तो हो ही कहाँ से? मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा हूँ, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करने से राग घट जाने से इच्छा टूट जाती है – यह सुख का उपाय है; उसकी खबर तो कहाँ से हो ? सामग्री मिलती है वह मेरी वस्तु नहीं, पुण्य-पाप विकार है वह मेरी वस्तु नहीं, मैं तो अनाकुल चिद्ब्रह्म स्वरूप हूँ। उसमें से सुख, आनन्द मिलता है – अज्ञानी को ऐसी प्रतीति और निश्चय उपाय की खबर तो नहीं है परन्तु व्यवहार उपाय की भी खबर नहीं है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसका उघाड़ मंद है, कम जानता है। किसी समय तो भूतकाल की बात को भूल भी जाता है। वैसा ज्ञान का उघाड़ मिथ्याश्रद्धा सहित वर्तता होने से दुःखरूप बन रहा है। एक विषय को छोड़कर अन्य विषय को ग्रहण करने के लिये यह जीव ऐसे झपट्टे मारता है; परन्तु फलतः क्या सिद्ध होता है ? जैसे मण की भूख वाले को कण मिले तो क्या उससे उसकी भूख मिटेगी ? वैसे ही जिसको सब ग्रहण की इच्छा है उसके एक विषय का ग्रहण होने पर इच्छा कैसे मिटे ? और इच्छा मिटे बिना सुख भी नहीं होता। अतः ये सब उपाय मिथ्या हैं।

....कोई पूछता है कि इस उपाय से कई जीव सुखी होते देखे जाते हैं, सर्वथा झूठ कैसे कहते हो ?....

इन उपायों से किसी जीव को सुखी होता देखते हैं, बहुत विषयों को मिलाते हैं और इन्द्रियाँ पुष्ट होती देखते हैं, तो इन उपायों का सर्वथा झूठा कैसे कहते हो ?

....समाधान – सुखी तो नहीं होते हैं, भ्रम से सुख मानते हैं। यदि सुखी हुए हों तो अन्य विषयों की इच्छा कैसे रहेगी ? जैसे – रोग मिटने पर अन्य औषधि को क्यों चाहे ? उसी प्रकार दुःख मिटने पर अन्य विषयों को क्यों चाहे ? इसलिये विषय के ग्रहण द्वारा इच्छा रुक जाये तो

हम सुख मानें। परन्तु जबतक जिस विषय का ग्रहण नहीं होता तबतक तो उसकी इच्छा रहती है और जिससमय उसका ग्रहण हुआ उसीसमय अन्य विषय-ग्रहण की इच्छा होती देखी जाती है, तो यह सुख मानना कैसे है ? जैसे कोई महा क्षुधावान रंक उसको एक अन्न का कण मिला उसका भक्षण करके चैन माने; उसीप्रकार यह महा तृष्णावान उसको एक विषय का निमित्त मिला उसका ग्रहण करके सुख मानता है, परमार्थ से सुख है नहीं।....

कदाचित् पाँच इन्द्रियाँ पुष्ट कारक हों, संयोग मिले हों और कदाचित् उन्हें जाननेरूप ज्ञान का उघाड़ भी दिखता हो तथापि वह सुख का कारण नहीं है। अज्ञानी भ्रम से सुख मानता है। किसी मनुष्य के मृत्यु समय सब सेवा करने को उपस्थित हों, पुत्र-पुत्री और समधी हाजिर हों, दवा बराबर होती हो तो क्या वह सुखी है ? अज्ञानी भ्रम से सुख मानता है। एक विषय को भोगने से सुखी हुआ हो तो अन्य इच्छा क्यों करे ? निर्धन से धनवान हो तो ठीक, धनवान होने पर पुत्र हो तो ठीक, फिर अच्छी कन्या मिले तो ठीक, खराब और रोगी कन्या मिले तो अठीक – इसप्रकार अन्य विषयों की इच्छा किया करता है। अत: विषय में सुख नहीं हैं।

जैसे रोग मिटने के बाद रोगी अन्य औषधि नहीं लेता, अथवा निरोग शरीर होने पर भी दवा नहीं लेता, वैसे ही यदि विषय का ग्रहण करने के बाद इच्छा शान्त हो तो हम भी सुख मानें; परन्तु यह जीव इच्छा तो किया ही करता है, अत: दु:खी ही है। साधु हो तो ईर्ष्या किया करता है – शिष्यों को बढ़ाना, व्याख्यान में हमारी इज्जत नहीं रही, हम दीक्षा में बड़े होने पर भी नवीन दीक्षित हमसे आगे बढ़ गया – इसप्रकार साधुपने में भी ईर्ष्या किया करता है। यदि विषय का ग्रहण करने के पश्चात् इच्छा शान्त हो तो हम सुख माने। परन्तु यहाँ तो जहाँतक इच्छित वस्तु का ग्रहण न हो वहाँतक तो उसकी इच्छा विषय में रहा करती है तथा जिससमय विषय का ग्रहण होता है तब उसीसमय अन्य विषय की इच्छा किया करता है। अत: इससे सुख मानना भ्रम है।

जैसे कोई महाक्षुधावान गरीब मनुष्य कदाचित् एक अनाज का कण मिलने पर उसके भक्षण से सुख मानता है, वैसे ही यह महातृष्णावान जीव यह मिले और वह मिले – ऐसी इच्छा करता है; चैतन्य में शान्ति है – ऐसा नहीं मानता। उस तृष्णावान को किसी एक विषय का निमित्त मिलने से उसका ग्रहण करके सुख मानता है; परन्तु वस्तुत: वह सुख नहीं है।

आत्मा ज्ञानानन्द है, उसका सन्तोष (सुख) अनन्त है, उसकी विपरीत दशा होने से पर-वस्तु की तृष्णा अनन्त हो गई है। रोग मिटे तो ऐसा करूँ, बुखार मिटे तो ठीक, फिर जरा दुकान पर जाना हो तो ठीक, पीछे दुकानों की संभाल बराबर रहे तो ठीक – इसप्रकार एक

के बाद एक तृष्णा किया करता है। तृष्णा की हद नहीं लाता। तृष्णारूपी गड्ढा भरता नहीं और दु:ख मिटता नहीं।

....कोई कहे कि जिसप्रकार कण-कण करके अपनी भूख मिटाये उसीप्रकार एक-एक विषय का ग्रहण करके अपनी इच्छा पूर्ण करे तो दोष क्या ?....

यहाँ शिष्य पुन: प्रश्न करता है कि जैसे कण-कण से अपनी भूख मिटती है, वैसे ही एक-एक पदार्थ का ग्रहण करके अपनी इच्छा पूर्ण करे तो क्या दोष है ? अल्पज्ञान में नई-नई इच्छा होती है और नये-नये विषयों का ग्रहण करता है तो फिर सब इकट्ठी दशा होकर सुखी होगा – ऐसा शिष्य प्रश्न करता है ?

....उत्तर – यदि वे कण एकत्रित हों तो ऐसा ही मान लें, परन्तु जब दूसरा कण मिलता है तब पहले कण का निर्गमन हो जाये तो कैसे भूख मिटेगी ? उसीप्रकार जानने में विषयों का ग्रहण एकत्रित होता जाये तो इच्छा पूर्ण हो जाये, परन्तु जब दूसरा विषय ग्रहण करता है तब पूर्व में जो विषय ग्रहण किया था उसका जानना नहीं रहता, तो कैसे इच्छा पूर्ण हो ? इच्छा पूर्ण हुए बिना आकुलता मिटती नहीं है और आकुलता मिटे बिना सुख कैसे कहा जाय ?

तथा एक विषय का ग्रहण भी मिथ्यादर्शनादिक के सद्भावपूर्वक करता है, इसलिये आगामी अनेक दु:खों का कारण कर्म बंधते हैं। इसलिये यह वर्त्तमान में सुख नहीं है, आगामी सुख का कारण नहीं है, इसलिये दु:ख ही है। यही प्रवचनसार में कहा है –

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

अर्थ – जो इन्द्रियों से प्राप्त किया सुख है वह पराधीन है, बाधासहित है, विनाशीक है, बन्ध का कारण है, विषम है; सो ऐसा सुख इसप्रकार दु:ख ही है।

इसप्रकार इस संसारी जीव द्वारा किये उपाय झूठे जानना।....

वे सब कण भी इकट्ठे हों तब तो ऐसा ही मानें, परन्तु दूसरा कण मिलते ही पहले कण का निर्गमन हो जाए तो भूख कैसे मिटे ? ऐसे ही ज्ञान की अवस्था नई-नई होती है और इच्छा भी नई-नई होती है। इच्छा और ज्ञान की पूर्व अवस्था का व्यय होता है, कोई अवस्था इकट्ठी नहीं होती।

आत्मा में ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी ज्ञानपर्याय नई-नई होती है और इच्छा नई-नई होती है। इच्छा पूर्ण हुए बिना दु:ख नहीं मिटता और दु:ख मिटे बिना सुख नहीं कहा जा सकता। अत: पूर्ण ज्ञानपर्याय बिना इच्छा पूर्ण नहीं होती और पूर्णज्ञान बिना पूर्णसुख प्रगट नहीं होता।

यह जीव एक विषय का ग्रहण भी मिथ्यादर्शनादिक के सद्भावपूर्वक करता है। आत्मा की वर्तमान पर्याय में विकास अल्प है, इससे एक को जानते हुए पूर्व का जानपना साथ में नहीं रहता। तथा एक को जानते समय वह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के सद्भावपूर्वक जानता है। विषय में से स्वाद आया, विषय से राग हुआ और राग से ज्ञान हुआ – ऐसा अज्ञानी मानता है।

ज्ञान पैसों को जानता है परन्तु मिथ्यादर्शन के कारण मानता है कि मेरी होशियारी से पैसा आया; परन्तु वे उनके कारण आये हैं। मैं अपने में रहकर उन्हें जानता हूँ – ऐसा नहीं समझता। कोई विषय था तो आनन्द आया – ऐसा मानता है। उनके अस्तित्वपूर्वक उन्हें जानता है, परन्तु मैं अपने को जानते हुए उन्हें जानता हूँ – ऐसा नहीं मानता और ऐसी विपरीत दृष्टि के कारण सुखी नहीं होता व भावि दुःख के कारणरूप कर्म बाँधता है। इसकारण वर्तमान में सुख नहीं है और भविष्य में भी सुख का कारण नहीं, अतः यह दुःख ही है। एक पुत्र का जन्म होने से जाना कि – मेरा बाँझपना मिटा। लक्ष्मी आने से जाना कि मुझे सुख होगा। इसप्रकार जानने में विपरीत श्रद्धा, ज्ञान और आचरण पूर्वक जानता है। इससे वर्तमान में दुःख है और भविष्य में दुःख के कारणरूप कर्म बाँधता है। अतः वर्तमान में और भविष्य में दुःखी है।

श्री 'प्रवचनसार' गाथा-७६ में कहा है कि – इन्द्रियों से प्राप्त हुआ सुख – स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा मन के विकल्प से हुआ सुख, पराधीन है, बाधायुक्त है। इन्द्रियों के विषय विनाशीक हैं। वे विषय बंध के निमित्त हैं तथा विषम हैं, इसकारण वह सुख वास्तव में दुःख ही है।

इसप्रकार संसारी जीव के सुख के लिये किये गये उपाय झूठे है। नई-नई इच्छा करके नये-नये विषय ग्रहण करना तथा इन्द्रियों को पुष्ट करना – ये सब उपाय मिथ्या हैं।

....तो सच्चा उपाय क्या है? जब इच्छा तो दूर हो जाये और सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण बना रहे तब यह दुःख मिटे। सो इच्छा तो मोह जाने पर मिटे और सबका युगपत् ग्रहण केवलज्ञान होने पर हो। इनका उपाय सम्यग्दर्शनादिक है और वही सच्चा उपाय जानना।

इसप्रकार तो मोह के निमित्त से ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षयोपशम भी दुःखदायक है उसका वर्णन किया।....

ज्ञानपर्याय हीन है इसलिये एकसाथ सारा जानपना नहीं होता और इच्छा एक के बाद एक हुआ ही करती है, वह दुःख है। पूर्णज्ञान होने पर सबका जानना होता है और आत्मा के भान द्वारा इच्छा दूर करना ही सुख का उपाय है। इच्छा का अभाव मोह का अभाव होने

पर होता है और सबका जानना केवलज्ञान होने पर होता है। इस मोह के अभाव का और केवलज्ञान की उत्पत्ति करने का – इच्छा के दूर करने का और सबको एक साथ जानने का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र है। सभी विषय इकट्ठे करना और इन्द्रियों को पुष्ट करना उपाय नहीं है।

मोह का नाश और केवलज्ञान की उत्पत्ति सच्ची श्रद्धा-ज्ञान-वीतरागता से होती है – यही सच्ची उपाय है। विषयों को जानना या विषयों का संग्रह करना अथवा इन्द्रियों को पुष्ट करना सुख का सच्चा उपाय नहीं है। आत्मा परिपूर्ण आनन्द स्वरूप है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता – यह एक ही उपाय है। लड़के को पढ़ाने से प्रसन्न होना, मकान बनाकर प्रसन्न होना, स्वयं पढ़कर प्रसन्न होना – ये सब मिथ्या उपाय हैं।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, पर्याय में उसका अल्प उघाड़ है, वह समस्त विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता और इसकारण एक के बाद एक इच्छा होकर आकुलता होती है। अतः विकार अर्थात् मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का अभाव करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना ही उपाय है। ज्ञान का क्षयोपशम भाव दुःख का कारण नहीं है, परन्तु इच्छा के कारण वह उघाड़ दुःखदायक है। इच्छा साथ में रही हुई है अतः दुःखदायक है। इसका वर्णन किया।

....यहाँ कोई कहे कि – ज्ञानावरण-दर्शनावारण के उदय से जानना नहीं हुआ, इसलिये उसे दुःख का कारण कहो; क्षयोपशम को क्यों कहते हो ?....

(ज्ञानावरण-दर्शनावरण के उदय से) जितना देखने-जानने का भाव नहीं है आप उसे दुःख का कारण कहो, परन्तु जो क्षयोपशम व्यक्त है उसे दुःख का कारण क्यों कहते हो ?

....समाधान – यदि जानना न होना दुःख का कारण हो तो पुद्गल के भी दुःख ठहरे, परन्तु दुःख का मूल कारण तो इच्छा है और इच्छा क्षयोपशम से ही होती है, इसलिये क्षयोपशम को दुःख का कारण कहा है; परमार्थ से क्षयोपशम भी दुःख का कारण नहीं है। जो मोह से विषय-ग्रहण की इच्छा है वही दुःख का कारण जानना।....

यदि जानपना नहीं होना दुःख का कारण हो तब तो लकड़ी (जड़) के ज्ञान का उघाड़ बिल्कुल नहीं है तो उसके बहुत दुःख ठहरे। अतः नहीं जानना दुःख का कारण नहीं है; परन्तु दुःख का मूलकारण तो इच्छा है और वह क्षयोपशम से ही होती है अर्थात् जहाँ ज्ञान-दर्शन का उघाड़ (क्षयोपशम) अल्प होता है उस भूमिका में इच्छा होती है। भगवान को केवलज्ञान है, वहाँ इच्छा नहीं है। यहाँ अल्पज्ञान को दुःख का कारण उपचार से कहा है, क्योंकि अल्पज्ञान

वाले को ही इच्छा रहा करती है और इच्छा तो राग के कारण है, परन्तु अपेक्षा से (उपचार से) उघाड़ को दु:ख का कारण कहा। वस्तुत: तो उघाड़ दु:ख का कारण नहीं है। दु:ख का कारण न तो ज्ञान का अभाव है और न ज्ञान का उघाड़ है, परन्तु जो मोह से विषय ग्रहण की इच्छा होती है वही दु:ख के कारणरूप जानना। तथा मोह का उदय है वह भी दु:खरूप ही है।

जहाँ जीव इच्छा करता है वहाँ आत्मा की शक्ति का हनन होता है। तथा पर-पदार्थ की इच्छा दु:ख का कारण है।

मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला दु:ख और उससे निवृत्ति

मोह का उदय है सो दु:खरूप ही है, किस प्रकार सो कहते हैं –

दर्शनमोह से दु:ख और उससे निवृत्ति

....प्रथम तो दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है; उसके द्वारा जैसा इसके श्रद्धान है वैसा तो पदार्थ होता नहीं है, जैसा पदार्थ है वैसा यह मानता नहीं है, इसलिये इसको आकुलता ही रहती है।

जैसे – पागल को किसी ने वस्त्र पहिना दिया। वह पागल उस वस्त्र को अपना अंग जानकर अपने को और वस्त्र को एक मानता है। वह वस्त्र पहिनाने वाले के आधीन होने से कभी वह फाड़ता है, कभी जोड़ता है, कभी खोंसता है, कभी नया पहिनाता है – इत्यादि चरित्र करता है। वह पागल उसे अपने अधीन मानता है, उसकी पराधीन क्रिया होती है, उससे वह महा खेदखिन्न होता है। उसीप्रकार इस जीव को कर्मोदय ने शरीर सम्बन्ध कराया। यह जीव उस शरीर को अपना अंग जानकर अपने को और शरीर को एक मानता है। वह शरीर कर्म के आधीन कभी कृष होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन उत्पन्न होता है – इत्यादि चरित्र होते हैं। यह जीव उसे अपने आधीन मानता है, उसकी पराधीन क्रिया होती है, उससे महा खेदखिन्न होता है।....

अज्ञानी जीव अनादि से दु:खी हो रहा है। अज्ञानी को जैसी श्रद्धा है वैसा पदार्थों का स्वरूप नहीं होता और जैसा पदार्थों का स्वरूप है वैसा वह नहीं मानता। विपरीत रुचि और विपरीत अभिप्राय संसार का कारण है। मिथ्यादृष्टि मानता है कि पर-पदार्थ सुख के कारण हैं। वस्तुत: पदार्थ सुख-दु:ख उत्पन्न नहीं कराते, वे तो निमित्तमात्र हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि मानता है कि ये पदार्थ आये इसलिये सुख-दु:ख होता है। ये पैसा, लड्डू सुखरूप हैं – ऐसा मानता

है। पदार्थों में सुख नहीं है और पदार्थों का वैसा स्वरूप नहीं है, वे तो ज्ञेय हैं। जैसे पदार्थ हैं वैसा अज्ञानी नहीं मानता – इसकारण उसे व्याकुलता ही बनी रहती है।

जैसे किसी ने पागल मनुष्य को वस्त्र पहिनाया, वह पागल उसे अपना अंग जानकर अपने को तथा वस्त्र एक को मानता है, परन्तु वह वस्त्र, पहिनाने वाले के आधीन है। वह पहिनाने वाला किसीसमय वस्त्र को फाड़ता है, जोड़ता है, किसीसमय ले लेता है, किसीसमय नवीन पहिनाता है – इसप्रकार का विचित्र चरित्र करता है। तब वह पागल मनुष्य उस वस्त्र की पराधीन क्रिया होने पर भी उसको अपने आधीन मानकर बहुत खेदखिन्न होता है। वह मेरा वस्त्र ले जाता है, मेरा वस्त्र फाड़ता है – (ऐसा मानता है।) वस्त्र को फाड़े, जोड़े, ले जावे या नवीन पहिनावे – ये सब क्रियायें अपने आधीन नहीं होने से खेदखिन्न होता है।

वैसे ही कर्म के कारण जीव को शरीररूप वस्त्र मिला है, परन्तु अज्ञानी शरीर को अपना मानता है। पैर सही हों तो यात्रा हो, इन्द्रियाँ अच्छी हो तो ठीक – इसप्रकार कर्मकृत शरीर को और अपने को एक मानता है। शरीर कर्म के आधीन कृष होने पर मैं कृष हुआ – ऐसा मानता है। किसीसमय शरीर स्थूल हो, निरोगी हो – ये सब क्रियायें कर्म के निमित्त से स्वतन्त्र होती है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मेरे से चलता है। पाँच गाँव या तीस गाँव चले तो मानता है कि आत्मा से शरीर चलता है। शरीर कर्म के निमित्त से मोटा-पतला होता है और आयु पूर्ण होने पर शरीर छूट जाता है और नवीन शरीर उत्पन्न होता है इत्यादिक चरित्र होता है। तथा शरीर का हलन-चलन – ये सब कर्म के आधीन हैं, फिर भी अज्ञानी मानता है कि शरीर की क्रिया मेरे कारण होती है। शरीर का चलना, गिर जाना, वह आत्मा के आधीन नहीं है। शरीर का स्वभाव उसके कारण परिणमित होता है, उसमें कर्म निमित्त हैं – ऐसा मिथ्यादृष्टि नहीं मानता। आँख में मोतियाबिन्द होना, फूला होना, मोतियाबिन्द का अभाव होना – इन सबमें कर्म का निमित्तपना है, फिर भी अज्ञानी अपने से मानता है। पदार्थ का ऐसा स्वरूप नहीं है; और पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा वह मानता नहीं है।

शरीर धूल है, उसके होठ फड़कना, हाथ चलना, आँखें फिरना – ये सब क्रियायें स्वतन्त्र होने पर भी और उसमें कर्म का निमित्त होने पर भी 'मेरे से हुई' – ऐसा अज्ञानी मानता है। शरीर के अवयव बढ़ जाना, आँख खराब हो जाना, दाँत गिर जाना, शरीर का पतला होना, पैर फिसल जाना – ये सब कर्म के निमित्त से है; परन्तु ये सब मुझसे होता है – ऐसा अज्ञानी मानता है।

पथ्य सेवन करने से आयु बढ़ती है – ये सब अज्ञानी की मान्यतायें हैं। अरे! आरोग्यशास्त्र

का ज्ञाता धनवंतरी भी मर गया। शरीर में गुठली चढ़ना इत्यादि विचित्रता पर्याय में (शरीर में) कर्म के निमित्त से होती है।

यहाँ विशेष बात यह है कि शरीर की क्रिया के साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं लिया है, परन्तु कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध लिया है। कर्म का जैसा उदय होता है उसप्रमाण शरीर की अवस्था होती है।

शरीर आत्मा का नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा निर्णय करके शरीर पर से दृष्टि हटाकर स्वभाव की प्रतीति करे तो धर्म होता है।

त्यागी कहलाने वाले नामधारियों को भी इस भेदज्ञान की खबर नहीं है। 'वे शरीर की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं और मैं ज्ञाता हूँ' – ऐसा नहीं मानकर (शरीर की क्रिया को) अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होते हैं।

अब अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में अपनापन मानता है वह बताते हैं –

....तथा जैसे – जहाँ वह पागल ठहरा था वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर उतरे, वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है। उसीप्रकार यह जीव जहाँ पर्याय धारण करता है वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है, और उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।....

जैसे कोई पागल मनुष्य बैठा था वहाँ अन्य स्थान से राजा अपने लश्कर सहित तथा हीरा, माणिक, घोड़ा, धन आदि सहित आकर उतरे, तम्बू आदि खड़े हुए, स्त्री, पुत्रादिक आये। वह पागल उन सबको अपना मानने लगा। वहाँ कोई आवे कोई जावे, कोई अनेक अवस्थारूप से परिणमित हो – ये सब पराधीन क्रिया होने पर भी पागल उन्हें अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है। समय पूर्ण होने पर राजा अपने लश्कर सहित जाने लगा; अरे ! जाने से पहिले मुझे पूछना तो था न ! परन्तु पागल वे तो नाश्ता करने बैठे थे वह पूरा होने से वे जाते हैं। उसीप्रकार जीव जहाँ बनिया, नागर, कोली का शरीर धारण करता है वहाँ अन्य स्थानों से लक्ष्मी, पुत्र, घोड़ा, मकान कहीं से आकर प्राप्त हुए। गहने, मोटरें आदि स्वयं उनके कारण आकर प्राप्त हुई, जीव की इच्छा से नहीं। पुत्र, गाय, बैल, भैंसें, पाड़ा इत्यादि स्वयं

आये, उन्हें यह पागल जीव अपने मानता है। ये पुत्र मेरे हैं, यह लक्ष्मी मेरी है – ऐसा मानता है; परन्तु वे तो उनके कारण आते हैं और जाते हैं।

अज्ञानी मानता है कि व्यवस्था करना नहीं आई इससे पैसे गये; परन्तु यह भ्रम है। वे उनके कारण आते हैं और अपनी स्थिति पूर्ण होने पर चले जाते हैं। वे आते हैं तो भी उनके कारण से और रहते हैं तो भी उनके अपने कारण से। लड़के साथ रहें या अलग हों, अच्छे पैसे मिलना, लक्ष्मी का संयोग रहना, अच्छी बहुएँ मिलना, वर्तमान पचास वर्ष तक रहना – यह सब उनके अपने कारण से है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैंने बाहुबल से पैसा इकट्ठा किया है, इज्जत बनाई है, लड़के-लड़कियों का विवाह किया है। परन्तु भाई ! शान्त हो ! जो भी संयोग आते हैं वे अपने ही कारण से आते और जाते हैं अथवा बीच में थोड़ा काल रहते हैं वे भी उनके अपने ही कारण से रहते हैं। कोई लड़का अलग होता है वह भी उसके अपने कारण से ही होता है, परन्तु अज्ञानी मिथ्याभिमान किया करता है और उन सबकी पराधीन क्रिया होती है उसे अपने आधीन मानकर व्यर्थ ही खेदखिन्न होता है।

आत्मा अपने में अनन्त शक्ति का धनी, आनन्द का धनी है; परन्तु अपने से पर में कुछ हो – ऐसी सामर्थ्य आत्मा में नहीं है। आत्मा पर का कुछ करे – ऐसी पराधीन पर-वस्तुयें नहीं हैं।

अज्ञानी जीव को उन्माद चढ़ा है, इसकारण वह पर की क्रिया को अपने आधीन मान कर खेदखिन्न होता है, परन्तु पदार्थ की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता और यही मिथ्या मान्यता संसार का मूल और दु:ख का कारण है। अत: दु:ख दूर करने का उपाय तो यथार्थ ज्ञान करना ही है।

मिथ्यात्व के कारण जीव कैसा मानता है – यह बात चल रही है। दर्शनमोह के निमित्त से स्वयं विपरीत मान्यता करता है और इसकारण इसके सर्व उपाय मिथ्या हैं।

....यहाँ कोई कहे कि किसी काल में शरीर की तथा पुत्रादिक की क्रिया इस जीव के आधीन भी तो होती दिखाई देती है, तब तो यह सुखी होता होगा ?

समाधान – शरीरादिक के भवितव्य की और जीव की इच्छा की विधि मिलने पर किसी एक प्रकार जैसे वह चाहता है वैसे कोई परिणमित होता है, इसलिये किसी काल में उसी का विचार होने पर सुखकासा आभास होता है; परन्तु सर्व ही तो सर्व प्रकार से जैसे यह चाहता है वैसे परिणमित नहीं होते, इसलिये अभिप्राय में तो अनेक आकुलता सदाकाल रहा ही करती है।

तथा किसी काल में किसी प्रकार इच्छानुसार परिणमित होते देखकर कहीं यह जीव शरीर, पुत्रादिक में अहंकार-ममकार करता है; सो इस बुद्धि से उनको उत्पन्न करने की, बढ़ाने की, तथा रक्षा करने की चिंता से निरन्तर व्याकुल रहता है। नाना प्रकार कष्ट सहकर भी उनका भला चाहता है।....

शरीर, लक्ष्मी, पुत्र, मकान तथा भवितव्य और जीव की इच्छा – तीनों का मेल होते कोई एक प्रकार से इसकी इच्छानुसार परिणमन के काल में इसके विचार अनुसार सुख का आभास होता है, परन्तु वे सब इसकी इच्छानुसार परिणमित नहीं होते – इसकारण अभिप्राय में तो निरंतर आकुलता रहा ही करती है।

पुत्र अनुकूल रहें और इच्छा प्रमाण मानें, वे उनके कारण हैं फिर भी अज्ञानी जीव ममकार करता है। किसीसमय शरीर अपनी इच्छा प्रमाण निरोग होता दिखे और पैसा मिले – ऐसा दिखे, इससे अज्ञानी मान लेता है कि वे मेरे आधीन हैं; अतः उनकी वृद्धि करूँ और उनकी रक्षा करूँ – ऐसी चिन्ता से व्याकुल रहा करता है। मैं पर को आधीन रखकर उसका रक्षण कर सकता हूँ – यह मान्यता भ्रम है।

....तथा जो विषयों की इच्छा होती है, कषाय होती है, बाह्य-सामग्री में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है, सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता, अन्यथा कल्पना करता है; सो इन सबका मूलकारण एक मिथ्यादर्शन है। उसका नाश होने पर सबका नाश हो जाता है, इसलिये सब दुःखों का मूल यह मिथ्यादर्शन है।

तथा उस मिथ्यादर्शन के नाश का उपाय भी नहीं करता। अन्यथा श्रद्धान को सत्यश्रद्धान माने तब उपाय किसलिये करे ?....

जो पदार्थों की इच्छा होती है वह तो कषायभाव है और संयोगों में यह इष्ट है व यह अनिष्ट है ऐसा मानना अन्यथा उपाय है। सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता और अन्य कल्पना करता है। सच्चा उपाय तो यह है कि राग की मंदता करे तो (पुण्य बंधने से) पैसे की प्राप्ति हो और ज्ञान बढ़े। सच्चा निर्णय करे तो राग का सर्वथा अभाव होने से वीतरागता होकर केवलज्ञान हो – यह सच्चा उपाय है। परन्तु अज्ञानी जीव अन्यथा उपाय करता है अर्थात् शान्ति का उपाय नहीं करता। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसी श्रद्धा करके लीनता करने से इच्छा टूट जाने से ज्ञान बढ़ने से शान्ति होती है – ऐसा नहीं मानता। यह जीव मिथ्या उपाय करता है उसका कारण मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान है। विपरीत श्रद्धा का नाश होने से कषाय का नाश होता है। और सच्चा ज्ञान होने से सुख होता है; परन्तु अज्ञानी अन्य कल्पनायें करता है।

....तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय कदाचित् तत्त्वनिश्चय करने का उपाय विचारे, वहाँ अभाग्य से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त बने तो अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है। वह तो जानता है कि इनसे मेरा भला होगा; परन्तु वे ऐसा उपाय करते हैं जिससे यह अचेत हो जाय। वस्तुस्वरूप का विचार करने को उद्यमी हुआ था सो विपरीत विचार में दृढ़ हो जाता है और तब विषय-कषाय की वासना बढ़ने से अधिक दुःखी होता है।

तथा कदाचित् सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र का भी निमित्त बन जाये तो वहाँ उनके निश्चय उपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता, व्यवहारश्रद्धान से अतत्त्वश्रद्धानी ही रहता है। वहाँ मंदकषाय हो तथा विषय की इच्छा घटे तो थोड़ा दुःखी होता है, परन्तु फिर जैसे का तैसा हो जाता है; इसलिये यह संसारी जो उपाय करता है वे तो झूठे ही होते हैं।....

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव किसी समय तत्त्व का निर्णय करने के लिये उपाय विचारता है वहाँ अभाग्य से कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु का निमित्त बन जाए तो उल्टे अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट होता है। तत्त्व – जीव-अजीव क्या है, सुदेवादिक कौन हैं – इसप्रकार तत्त्व का विचार करे; परन्तु वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ और अभाग्य से कुदेव मिल जायें, सर्वज्ञदेव के बदले कुदेव मिले, परम्परा वाले कुगुरु मिल जायें और खोटे शास्त्र मिल जायें तो उल्टा मिथ्यात्व पुष्ट होता है। आत्मा शरीर की क्रिया कर सकता है, पुण्य से धर्म होता है – ऐसी मान्यता तो थी ही, उसे पुष्टि मिल जाती है। हमारे देव-शास्त्र-गुरु सच्चे हैं – ऐसी मान्यता हो जाती है। सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि अनुसार रचित यथार्थ निरूपण करने वाले शास्त्र ही सत्शास्त्र हैं, इससे विरुद्ध शास्त्र मिल जाए तो अतत्त्वश्रद्धा पुष्ट हो जाती है।

जिनको दिव्यशक्ति खिली है, वे देव हैं। जिनकी आत्मा में ज्ञान-दर्शन शक्ति पूर्ण खिली हो, जिनका शरीर स्फटिक जैसा हो, जिन्हें रोगादि नहीं होते हों – ऐसे भगवान अरहन्त देव हैं। अशरीरी देव, वे सिद्ध हैं और जो परमानन्द का अनुभव करते हैं तथा जिनके अंतर में भावलिंग दशा और बाहर में निर्ग्रन्थ दशा प्रगट हुई हो, जिन्हें वैराग्य वर्तता हो, सब बातों में प्रवीण – वे गुरु हैं ऐसे देव-गुरु नहीं मिलने पर कुदेव-कुगुरु मिल जायें तो उल्टा मिथ्यात्व दृढ़ होता है।

जिनमें सच्चे देव-गुरु की बात नहीं है और खोटे देव-गुरु की बात है, वे शास्त्र खोटे हैं। ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त मिलने से अज्ञानी 'इसमें मेरा हित है' ऐसा मानकर उपाय किया करता है, इसकारण वह अचेत बन जाता है अर्थात् उसे सत्य सुनने का अवसर भी नहीं रहता। स्वयं के द्वारा माने हुए देव-शास्त्र-गुरु ही सच्चे हैं – ऐसा आग्रह रखने से

सत्य बात कान में पड़ने पर भी जो उसका नकार करे, उसे चेतने का – सम्यक् विचार करने का भी अवसर नहीं रहता। सत्य वस्तुस्थिति कान में पड़ने पर भी वह विचार नहीं करता। आत्मा क्या है, उपादान-निमित्त क्या है – यह विचारने के लिये उद्यमवंत होने पर भी विपरीत विचार में दृढ़ हो जाता है। अपने सम्प्रदाय को छोड़कर अन्यत्र जायेंगे तो अपन 'इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट' हो जायेंगे – ऐसा मानकर मिथ्यात्व को दृढ़ करता है।

अब कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और पूर्वापर विरोध रहित सच्चे शास्त्रों का निमित्त मिल जाए तो वहाँ उनके निश्चय उपदेश की श्रद्धा नहीं करता। पहले तो कुदेवादिक की मान्यता में लीन था, अब सच्चे देवादिक मिले तो भी निश्चय उपदेश की श्रद्धा नहीं करता। आत्मा का स्वभाव निमित्त और राग से रहित है, वह ज्ञानानन्द आत्मा ज्ञान से प्रगट होता है, निमित्त से प्रगट नहीं होता – यह बात उसे नहीं बैठती। आत्मा अखण्ड परिपूर्ण है, उसके गुण स्वतन्त्र हैं, उसकी पर्याय स्वतन्त्र है – ऐसा नहीं मानता; परन्तु निमित्त हो तो कार्य हो, राग हो तो धर्म हो – ऐसी विपरीत मान्यतायें चालू रखता है। जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं मिले उसके तो निश्चय-व्यवहार – एक भी सत्य नहीं है, परन्तु जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पूर्व कर्म के निमित्त से तथा वर्तमान शुभराग के निमित्त से मिल जाते हैं तो भी निश्चय श्रद्धा नहीं करता, मात्र व्यवहार श्रद्धान द्वारा अतत्त्व का श्रद्धानी रहता है।

'गुरु की कृपा से कल्याण होगा, निमित्त से उपादान में कार्य होगा, गुरु हाथ पकड़े तो कल्याण होगा, सच्चे निमित्त से ज्ञान होता ही है, पुण्य करे तो धर्म हुए बिना नहीं रहता, लोभ घटावे, चित्त शुद्धि करे तो धर्म हो' – ऐसी मात्र व्यवहार श्रद्धा से अतत्त्व श्रद्धालु रहता है। कुदेवादिक के पैर न लगे (उन्हें नमन न करे), सच्चे देव को ही नमन करे इसी से अपने को समकिती मान लेता है। हम लज्जा अथवा भय से भी कुदेवादिक के पैरों नहीं पड़ते, हम सच्चों को ही मानते हैं – ऐसा कहकर व्यवहार श्रद्धा में संतोष मानता है। ''कर्म मंद पड़े तो शुभराग हो, तीव्र हो तो अशुभराग हो'' – ऐसा जो मानता है उसकी तो व्यवहार श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। स्वभाव के अवलम्बन से ज्ञान और आनन्द प्रगट होता है उसके बदले वह तो राग के अवलम्बन से वीतरागता, ज्ञान और आनन्द प्रगटेगा – ऐसा मानता है।

भक्ति करना, पूजा करना, प्रतिमा धारण करना, नग्नमुनि हो जाना – इत्यादि प्रकार से व्यवहार में रुचि रखता है, परन्तु अन्तरंग निश्चय तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता।

जिसे आत्मा का भान हुआ हो उसे शुभभाव होता है, परन्तु वह शुभ से धर्म नहीं मानता। क्षेत्रशुद्धि होगी तो धर्म होगा – ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु क्षेत्र में बीज बोये बिना वृक्ष कहाँ

से उगेगा ? कुदेवादिक की श्रद्धा का त्याग और सच्चे देवादिक की श्रद्धा हो वह क्षेत्रशुद्धि है, परन्तु यदि उसमें आत्मा का भानरूपी बीज नहीं रोपे तो धर्म नहीं होता।

अभी आत्मा की बातें तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु उनके कुदेवादिक की श्रद्धा तो छूटी नहीं – ऐसे स्वच्छन्दियों का तो निश्चय और व्यवहार एक भी सच्चा नहीं है। ऐसे जीवों को सत्य बात सुनने का अवसर नहीं है।

यहाँ तो जिसे सच्चे निमित्त मिले हैं उसकी बात करते हैं। कषाय मंदता करे तो भी मात्र व्यवहार श्रद्धा से वह अतत्त्व श्रद्धानी ही रहता है। वहाँ यदि मंद कषाय होने से विषय की इच्छा घटे तो थोड़ा दु:खी होता है। वर्तमान परिणाम गिनकर थोड़ा दु:खी होता है – यह कहा है, अन्यथा अभिप्राय तो खोटा है। व्यवहार श्रद्धा सच्ची है अत: कहा कि ब्रह्मचर्य पाले, दया पाले – इसप्रकार इच्छा मंद करने से थोड़ा दु:खी दिखता है; परन्तु आत्मा की प्रतीति नहीं हुई इससे फिर कुदेवादिक को मानने वाला हो जायेगा। समयसार आदि शास्त्रों में निश्चय की बातें हैं – ऐसा कहकर उड़ा देता है और निश्चय का उपदेश नहीं सुनता।

जिसको सच्चे निमित्त नहीं मिले उसके तो सच्चा उपादान ही प्रगटा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि सच्चे निमित्त मिलने पर भी सच्ची श्रद्धा नहीं करता।

जो सच्ची (निश्चय की) श्रद्धा नहीं करे और (मात्र) व्यवहार श्रद्धा करे वह तो ऐसा का ऐसा बना रहेगा और तीव्र विरोध करे तो निगोद जायेगा। कुदेवादिक की श्रद्धा वाला तो मिथ्यादृष्टि ही है; परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिलने पर भी मात्र व्यवहार श्रद्धा करे तो फिर से तीव्र मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। अत: मात्र व्यवहार की श्रद्धा करना सच्चा उपाय नहीं है।

कुदेवादिक के मानने से कल्याण हो – यह उपाय तो खोटा है ही, परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने पर भी, व्यवहार से (व्यवहार उपदेश से) कल्याण होना मानना, वह भी मिथ्या है। अत: सच्चे गुरु जो निश्चय उपदेश देते हैं वही सच्चा उपाय है।

....तथा इस संसारी के एक यह उपाय है कि स्वयं को जैसा श्रद्धान है उसी प्रकार पदार्थों को परिणमित करना चाहता है। यदि वे परिणमित हों तो इसका सच्चा श्रद्धान हो जाये। परन्तु अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होतीं। उन्हें परिणमित कराना चाहे वह कोई उपाय नहीं है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है।....

इन संसारी जीव के एक यह उपाय है कि अपना जैसा श्रद्धान है वैसे अन्य पदार्थों को

परिणमाना चाहता है। अपनी इच्छानुसार नौकर, परिवारजन, लक्ष्मी, मकान आदि रहें – इसप्रकार अन्य पदार्थों को परिणमाना चाहता है। अब वहाँ अन्य पदार्थ इसके श्रद्धान अनुसार परिणमे तब तो इसका श्रद्धान सच्चा हो जाए; परन्तु वस्तु अनादि निधन है। उसका कोई प्रारम्भ या अन्त नहीं है। जो नहीं हो वह नई नहीं होती और जो है वह सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। पुत्र, स्त्री, वस्त्र, गहनें, परमाणु भिन्न-भिन्न हैं और वे अपनी-अपनी मर्यादापूर्वक परिणमते हैं। जीव उनको अपने अभिप्राय अनुसार रखना – परिणमाना चाहता है, यह मिथ्यात्व है।

सामने वाले जीव को उपदेश करके पैसा खींच लूँ, सामने वाले जीव के विचार बदल दूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। पैसा आना-जाना, वह उपदेश के आधीन नहीं है। प्रत्येक आत्मा न्यारा-न्यारा, प्रत्येक कर्म न्यारा-न्यारा अपनी-अपनी मर्यादापूर्वक परिणमता है। जड़ और चेतन अपनी मर्यादा पूर्वक परिणमते हैं। आगे-पीछे नहीं परिणमते।

आत्मा और जड़ सब तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। वे अपनी मर्यादापूर्वक अर्थात् योग्यतानुसार परिणमते हैं, आत्मा के कारण नहीं परिणमते। कोई किसी के समझाने से नहीं समझता, फिर भी अज्ञानी अपने कारण पर में फेरफार होना मानता है – इसकारण उसकी मान्यता भी मिथ्या है और उसके सारे ही उपाय भी मिथ्या हैं।

लक्ष्मी, पुत्रादिक को प्राप्त करने की चाह है। बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की मान्यता, भ्रान्ति है। आत्मा एक पदार्थ है और शरीरादि अनंत पदार्थ भिन्न हैं, यदि ऐसा भेदज्ञान करे तो शान्ति मिले; परन्तु भेदज्ञान नहीं करके इच्छा करता है, इसकारण आकुलित होता है। रोग को अनिष्ट निरोगता को इष्ट मानना भ्रान्ति है, जिसे विपरीत मान्यता कहते हैं। तथा दुःख के अभाव का उपाय यह है कि स्वभाव का भान करके राग टाले तो दुःख मिटे; उसके बदले सामग्री मिलाने का उपाय करना, खोटा उपाय है। मैं चैतन्य हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ; पर में मेरा अधिकार नहीं। यह जीव ऐसे सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता। अन्यथा कल्पना करता है।

इन सबका मूलकारण मिथ्यादर्शन है। उसका नाश होने पर ये सभी भ्रान्तियाँ नष्ट होकर दुःख दूर होता है।

अब कदाचित् धर्म में आया (धर्म करने की भावना हुई) वहाँ कुदेवादिक की श्रद्धा होती है तो अचेत जैसा हो जाता है, सत्य-असत्य का विवेक नहीं करता।

कदाचित् सच्चे देव-गुरु-शास्त्र मिलें तो भी उनके निश्चय उपदेश का ग्रहण नहीं करता, मात्र व्यवहार का ग्रहण करता है। अतः फिर से वैसा का वैसा तीव्र मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

प्रश्न – निश्चयपूर्वक व्यवहार करे तो ?

उत्तर – निश्चय ज्ञानस्वभावी आत्मा है। वर्तमान में राग होता है उसे जानना, वह व्यवहार है और स्वभाव को जानना, निश्चय है – यह निश्चय-व्यवहार की व्याख्या है। जब ज्ञानस्वभाव में स्थिर नहीं रह सके तब जो शुभभाव आते हैं उन्हें जानना व्यवहार है। (इसप्रकार निश्चय के साथ व्यवहार होता ही है)

प्रत्येक जीव ऐसी मान्यता रखता है कि शरीर तथा अन्य पदार्थों की अवस्था अपनी इच्छा के अनुसार हो। इच्छा से शरीर, वाणी और निमित्तों को लाऊँ और इच्छा से उन्हें दूर करूँ – ऐसी उन्हें श्रद्धा है; परन्तु अपनी इच्छानुसार उनका (पदार्थों का) परिणमन नहीं होता। आत्मा और परमाणु इत्यादि अनादि-निधन वस्तुयें हैं। आत्मा और परमाणु अपनी-अपनी मर्यादा का जो काल है तदनुसार परिणमते हैं। अज्ञानी उन्हें बदलना चाहता है – यह तीनकाल में संभव नहीं है। शरीर, दवा अथवा कोई भी पदार्थ आत्मा के आधीन नहीं हैं, फिर भी अज्ञानी जीव परपदार्थों को मिलाना या हटाना तथा अपनी इच्छानुसार परिणमाना चाहता है।

प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक पदार्थ की अवस्था अपने-अपने से हो रही है। एक रजकण दूसरे रजकण के आधीन नहीं है। एक आत्मा दूसरे आत्मा के आधीन नहीं है। आत्मा के कारण परमाणु नहीं पलटता, परमाणु के कारण आत्मा नहीं पलटता। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने कारण पलटता है। एक तत्त्व का प्रभाव दूसरे तत्त्व के ऊपर नहीं पड़ता। कोई किसी पर असर नहीं करता – यह वस्तु की मर्यादा है। वस्तु का वर्तमान वस्तु के आधीन होने पर भी अपने आधीन मानना भ्रम है और दुःख है। जो वर्तमान दशा है वह उस वस्तु के कारण होती है, फिर भी अज्ञानी मानता है कि अन्य कारण मिला दूँ तो उसमें फेरफार हो सकता है। जड़ और चेतन अपनी-अपनी प्रभुत्व शक्ति से भरे हुए हैं। आत्मा सीधा या उल्टा भी प्रभुत्व शक्ति से भरा है। जड़ पदार्थ जड़ेश्वर भगवान है और स्वयं की शक्तियों से भरे हैं। इन्द्र भी एक रजकण को पलटा नहीं सकता, यह अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

जीव को राग होता है, परन्तु राग के कारण पर-वस्तुयें आती हैं – ऐसा नहीं होता। भाई ! वस्तु नहीं बदलेगी तू ही अपने मिथ्या निर्णय को बदल ! पर-पदार्थ आत्मा से परिणमित नहीं होते – यह बात अज्ञानी को नहीं बैठती। भले ही व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि इसके कारण ऐसा हुआ, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ कहते हैं कि श्रद्धा तो सुधार ! सम्यक् श्रद्धा कर कि मुझसे कोई वस्तु पलटी नहीं जा सकती। मैं ज्ञानमात्र हूँ। राजा का पुत्र बीमार हो तो उसे बड़े डॉक्टर भी बचा नहीं सकते। किन्तु अज्ञानी जीव अपनी इच्छानुसार पर को

परिणमाना चाहता है – यह उपाय सच्चा नहीं है। यह तो मिथ्यादर्शन ही है। जिस क्षण में, जिस पल, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, शरीर नष्ट होना है वह होकर रहेगा, उसे इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी रखने को समर्थ नहीं हैं।

प्रथम यथार्थ बात का निर्णय तो करो। आँख की पलक झपकाने की भी आत्मा की ताकत नहीं है। जिस परमाणु की जो पर्याय जिस समय होनी हो, होती है, वह जीव के आधीन नहीं है। देह का क्षेत्रांतर होना या नहीं होना, वह देह के कारण है। परन्तु अज्ञानी जीव अपनी श्रद्धा अनुसार उसे पलटाना चाहता है, किन्तु यह मान्यता विपरीत है। पर को परिणमाने का उपाय सच्चा नहीं है।

तो सच्चा उपाय क्या है ? वह बताते हैं –

....तो सच्चा उपाय क्या है ? जैसा पदार्थों का स्वरूप है वैसा श्रद्धान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जायें। जिसप्रकार कोई मोहित होकर मुर्दे को जीवित माने या जिलाना चाहे तो आप ही दुःखी होती है। तथा उसे मुर्दा मानना और यह जिलाने से जियेगा नहीं ऐसा मानना सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। तथा उन्हें यथार्थ मानना और यह परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे ऐसा मानना सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है। सो भ्रम दूर होने से सम्यक्श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।....

जैसा जड़ और चेतन पदार्थों का स्वरूप है वैसा श्रद्धान करे तो सर्व दुःख दूर हो। मिथ्यादर्शन का नाश होने पर मिथ्याभ्रान्ति का, खोटे उपायों का, इच्छा आदि का नाश हो जाता है। विपरीत अभिप्राय टलने पर क्रम-क्रम से इच्छा का अभाव हो जाता है। आत्मा ज्ञाता स्वरूप है, वह जड़ आदि पर-पदार्थों को बदलने में समर्थ नहीं है – ऐसी श्रद्धा करे तो भ्रम का नाश हो। अनन्त पदार्थों में फेरफार के भ्रम का नाश होने से स्वयं अनन्त पदार्थों का ज्ञाता रहता है। स्वयं आनन्द और ज्ञानस्वरूप है – ऐसा अभिप्राय होने पर समस्त दुःखों का अभाव होता है। यदि पदार्थ का वर्तमान परिणमन आत्मा से हो तो वह उसका वर्तमान (पदार्थ का परिणमन) नहीं रहता इससे वह वस्तु ही नहीं रहती।

आत्मा शरीर की अवस्था में फेरफार करने वाला नहीं है, मात्र जानने वाला है। वस्तु को जाना हो तो गये बिना रहती नहीं और नहीं जाना हो तो हटाना चाहने पर भी नहीं जाती। जबतक आयुष्य हो तबतक कोई मारना चाहे तो भी नहीं मरता और आयुष्य न हो तो चाहे

जितने उपाय करे तो भी शरीर छूटे बिना नहीं रहता। आत्मा का कार्य जगत के पदार्थों के स्वरूप को जानने-देखने का है। राग हो, वह कमजोरी के कारण है, वह राग ज्ञान के कारण नहीं है। तथा ज्ञानी को पर-वस्तु को पलटने के लिये भी राग नहीं होता – इसप्रकार ज्ञानी के राग मर्यादित हो जाता है।

जो होना हो वह होता है। *आत्मा में पर-पदार्थों को बदलने की भी ताकत जरा नहीं है और ज्ञाता-दृष्टारूप रहने की ताकत जरा भी कम नहीं है – ये दो सिद्धान्त समझे तो समाधान होता है।*

प्रत्येक पदार्थ का पलटना उसका स्वभाव है। पदार्थ का स्वरूप जैसा है वैसा समझे तो दु:ख दूर हो। जैसे कोई मोही होकर मुर्दे को जीवित माने अथवा जिलाना चाहे तो स्वयं ही दु:खी होता है – दोनों उपाय खोटे हैं। सच्चा उपाय यह है कि मुर्दे को मुर्दा मानना और मुर्दे को जिलाने का अभिप्राय छोड़ना, वह दु:ख दूर होने का उपाय है। मुर्दा जीवित नहीं होगा – ऐसा अभिप्राय करना दु:ख दूर करने का उपाय है। आत्मा और शरीर की अवस्था भिन्न-भिन्न है – ऐसा मानना ही दु:ख दूर करने का उपाय है। मिथ्यादृष्टि आत्मा और शरीर को एक मानता है।

प्रश्न – रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण की मृतक देह को छह माह तक उठाया था न ?

उत्तर – वहाँ ज्ञानी को जरा राग की मचक आ जाती है, वह राग का दोष है। रामचन्द्रजी महापुरुष थे, उसी भव से मोक्ष गये थे; परन्तु चारित्र में दोष के कारण राग था। अत: छह माह तक मुर्दे को उठाकर घूमे, फिर भी उनको भान था कि आत्मा इन सबसे भिन्न है। तत्पश्चात् क्रम-क्रम से राग टूटकर वीतरागता होकर सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं।

यहाँ तो मिथ्यादृष्टि की विपरीत मान्यता की बात है। मिथ्यादृष्टि पर-पदार्थ को अन्यथा परिणमाना चाहता है, इससे दु:खी होता है। अत: सच्ची समझ करना। वस्तु वस्तु के कारण है। रोग आवे तो समझे कि रोग शरीर की अवस्था है। मेरे पलटाने के भाव से अन्य प्रकार पलट सके – ऐसा नहीं, अन्य प्रकार से परिणमित होने वाला नहीं है।

लोग मृत्यु के पीछे बोलते हैं कि भाई ! किसी की पंचमी की छट होगी ? (क्या मरना टल सकता है ?) परन्तु यथार्थ श्रद्धा नहीं करते। यहाँ कहते हैं कि भ्रमजनित दु:ख दूर करने का उपाय भ्रम दूर करना ही है। रस्सी को सर्प मानकर भयभीत होता है, यह भ्रम है, इस भ्रम को दूर करे तो भय और दु:ख दूर हो। लड़के अपना कहा नहीं मानते – ऐसा मानना भ्रम है, उस भ्रम को निकाल दे तो दु:ख दूर हो। परन्तु अज्ञानी भ्रम का भार अपने शिर पर रखता है इसलिये दु:ख दूर नहीं होता। भ्रम दूर होने पर सम्यक् श्रद्धा होती है। लड़के उनके अपने कारण

से जैसा ठीक लगे वैसे परिणमते हैं, कोई किसी की नहीं मानते – इसप्रकार प्रत्येक वस्तु को स्वतन्त्र समझे तो समाधान हो।

चारित्रमोह से दु:ख और उससे निवृत्ति

पहले भ्रम की बात की थी। अब आत्मा की पर्याय में होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ से जीव दु:खी होता है उसकी बात करते हैं।

....चारित्रमोह के उदय से क्रोधादि कषायरूप तथा हास्यादि नोकषायरूप जीव के भाव होते हैं, तब यह जीव क्लेशवान होकर दु:खी होता हुआ विह्वल होकर नानाप्रकार के कुकार्यों में प्रवर्तता है। सो ही दिखाते हैं –....

चारित्रमोहनीय कर्म है। उस कर्म के उदय से जीव के भाव क्रोध, मान, माया, लोभ के अनन्तानुबंधी आदि सोलह भेद और हास्यादि नौ नोकषायरूप होते हैं, तब यह जीव क्लेशवान बनकर दु:खी होता हुआ विषय-कषायों में प्रवर्तता है और विह्वल होकर अनेक प्रकार के कुकार्यों में प्रवर्तता है।

....जब इसके क्रोधकषाय उत्पन्न होती है तब दूसरे का बुरा करने की इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय विचारता है, मर्मच्छेदी गालीप्रदानादिरूप वचन बोलता है। अपने अंगों से तथा शस्त्र-पाषाणादिक से घात करता है। अनेक कष्ट सहनकर तथा धनादि खर्च करके व मरणादि द्वारा अपना भी बुरा करके अन्य का बुरा करने का उद्यम करता है अथवा औरों से बुरा होना जाने तो औरों से बुरा कराता है। स्वयं ही उसका बुरा होता हो तो अनुमोदन करता है। उसका बुरा होने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो तथापि उसका बुरा करता है। तथा क्रोध होने पर कोई पूज्य या इष्टजन भी बीच में आयें तो उन्हें भी बुरा कहता है, मारने लग जाता है, कुछ विचार नहीं रहता। तथा अन्य का बुरा न हो तो अपने अंतरंग में आप ही बहुत संतापवान होता है और अपने ही अंगों का घात करता है तथा विषादि से मर जाता है – ऐसी अवस्था क्रोध होने से होती है।....

जब जीव के क्रोध होता है तब अन्य का बुरा करना चाहता है। अन्य का नाम नहीं रहने दूँ – ऐसा भाव करता है। किसी की गुप्त बात प्रगट करके गाली वगैरह बोलता है। अपने अंग द्वारा अन्य जीव का घात करता है, पत्थर से या शस्त्र से घात करता है, अनेक प्रकार के कष्ट सहकर धनादि खर्च करके भी अन्य जीव का बुरा करना चाहता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता – ऐसी बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो यह बताते हैं कि क्रोध होने पर कैसे परिणाम होते हैं। अपना मरण होने पर भी अन्य का बुरा करना चाहता है। जीभ,

कान आदि काट देता है। अपने अंग का भी घात करता है। क्रोध करके स्वयं का बुरा करके दूसरे का बुरा करने का उद्यम करता है। इसप्रकार के भाव करता है। अन्य के द्वारा बुरा कराता है। दुश्मन के दुश्मन को मित्र बनाता है। मौका लगे तो मारता है या अन्य से उसका बुरा कराता है। सामने वाले का पुत्र मर जाए अथवा उसका धन चला जाए तो ठीक हुआ – ऐसा कहता है। सामने वाले का बुरा होने से अपना प्रयोजन सिद्ध न होता हो, तो भी उसका बुरा करता है। क्रोध होने पर ऐसे परिणाम होते हैं। इसलिये स्वभाव का ज्ञान करके क्रोध को टालना – यह समझाने के लिये यह बात की है।

अज्ञानी परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर क्रोधादि कषाय करता है, परन्तु वस्तु में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना भासित नहीं होता। पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है, वे तो ज्ञेय हैं और आत्मा का स्वभाव ज्ञानस्वरूप है। उसमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है – ऐसा नहीं मानकर अज्ञानी क्रोध करके दु:खी होता है। तथा क्रोध होने पर कोई पूज्य पुरुष आवे तो भी उनका अनादर करता है। प्रिय पुत्र, स्त्री, जिन पर प्रेम हो उनका भी तिरस्कार कर देता है। गुरु और शास्त्र आवें उनका भी तिरस्कार करके अनादर कर देता है। स्वयं ज्ञान और आनन्दस्वरूप है उसकी खबर नहीं है – इसकारण पर को अनिष्ट मानकर क्रोधादि करता है। इष्टजनों को, पूज्यजनों को मारने लग जाता है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और बाहर के पदार्थ ज्ञेय हैं, उनके साथ जानने का सम्बन्ध है – ऐसा नहीं मानकर उन्हें इष्ट-अनिष्ट माननेरूप मिथ्या व्यवहार करता है और इसकारण दु:खी होता है। क्रोध के आवेश में अन्य का बुरा न हो तो अपने अंगों का घात करता है, आँखें फोड़ लेता है, छाती कूटता है और अन्तत: गले में फाँसी लगाकर अथवा जहर खाकर अपघात करता है। ये सभी अवस्थायें क्रोध होने पर होती हैं। अपना ज्ञानस्वभाव है, पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं – ऐसी अज्ञानी को खबर नहीं है – इसकारण अपनी विपरीत मान्यता पूर्वक क्रोध करके दु:खी हो रहा है। उसका कुछ भी विचार नहीं करता। यह अज्ञानी के क्रोध की बात है।

....तथा जब इसके मान कषाय उत्पन्न होती है तब औरों को नीचा व अपने को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। अन्य की निंदा करता है, अपनी प्रशंसा करता है व अनेक प्रकार से औरों की महिमा मिटाता है, अपनी महिमा करता है। महाकष्ट से जो धनादिक का संग्रह किया उसे विवाहादि कार्यों में खर्च करता है तथा कर्ज लेकर भी खर्चता है। मरने के बाद हमारा यश रहेगा ऐसा विचारकर अपना मरण करके भी अपनी महिमा बढ़ाता है। यदि कोई अपना सन्मानादिक न करे तो उसे भयादिक दिखाकर दु:ख उत्पन्न करके अपना सन्मान कराता है। तथा मान होने पर कोई पूज्य – बड़े हों उनका भी सन्मान नहीं करता,

कुछ विचार नहीं रहता। यदि अन्य नीचा और स्वयं ऊँचा दिखाई न दे, तो अपने अंतरंग में आप बहुत संतापवान होता है और अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है – ऐसी अवस्था मान होने पर होती है।....

मान का उदय होने पर अन्य को नीचा और अपने को ऊँचा दर्शाने के लिये अनेक उपाय विचारता है कि अन्य का नाश कैसे हो। अपने को ऊँचा बताने के लिये अन्य की निन्दा करता है। अन्य की महिमा मिटाकर अपनी महिमा करवाने लगता है – इसप्रकार मान के कारण दु:खी हो रहा है। सामने वाले जीव की महिमा घटना उसके कर्म के आधीन है, परन्तु अज्ञानी भाव ऐसे करता है। पुत्र-पुत्रियों के विवाह में बहुत धन खर्च करके अपना मान बढ़ाना चाहता है, अपनी स्थिति ठीक न हो, तो भी पुत्र के विवाह कार्यादि प्रसंग पर पाप से संग्रह किये हुए पैसों को एकदम खर्च कर देता है। जगत में, जाति में जैसे बड़ा कहलावे वैसा करता है। स्वयं दूसरे को अपने अनुकूल करना चाहता है और प्रतिकूल को दूर करना चाहता है, परन्तु यह अपने आधीन नहीं है, कर्माधीन है। स्वयं मान के आधीन होकर विवाह में अथवा मरणभोज में कर्ज करके भी पैसा खर्च करता है। तथा मान के लिये मरण को भी चाहता है। देश की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान करना चाहता है क्योंकि वहाँ मानता है कि मरण के बाद भी मेरा यश रहेगा।

जो अपना सन्मानादि नहीं करे, उसे भय आदि दिखाकर डराता है, जेल में डलवा दूँगा – ऐसा कहता है। इसप्रकार अन्य को दु:ख उत्पन्न कराकर भी अपना सन्मान चाहता है। मैंने गाँव में बहुत से सेवा के कार्य किये हैं – ऐसा कहकर मानपत्र चाहता है। नामधारी साधु भी स्वयं के मान के लिये पहले से तैयारी कराते हैं – ऐसा मानकर मान को पोषता है।

मान का उदय होने पर कोई पूज्य हों, बड़े हों, उनके सन्मुख भी मान नहीं छोड़ता। तथा भगवान की प्रतिमा विराजमान हो वहाँ भी मान कषाय के द्वारा झगड़ा करता है। सभा में तथा बड़ों की हाजिरी में भी मान के लिये झगड़ा करता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की उपस्थिति हो तो भी इसे विवेक नहीं रहता। ऐसे भाव करने पर भी अन्य नीचा और स्वयं उच्च न दिखे तो अपने अन्तरंग में बहुत दु:खी होता है। अपने पुत्र के विवाह में अपना चाहा नहीं होने पर कषाय किया करता है। अपनी कुछ गिनती नहीं हुई – ऐसा मानकर दु:खी होता है। भाई ! बाहरी प्रतिष्ठा आदि में कुछ भी सुख नहीं है। समाधान करने में ही सुख है, परन्तु इसे यह बात सूझती नहीं है। घर में बहू की इच्छा चलती हो तो अज्ञानी सास मान के कारण दु:खी होती है। तथा कोई छाती कूटते हैं, अंग घात करते हैं और जहर खाकर मर जाते हैं। इसप्रकार

मान कषाय से उपरोक्त अवस्थायें होती है। भाई ! ये सब प्रतिकूल अवस्थायें तुझको बाधक नहीं हैं और अनुकूल अवस्थायें मददगार नहीं है।

अब माया कषाय की बात करते हैं –

....तथा जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है, नानाप्रकार कपट के वचन कहता है, शरीर की कपटरूप अवस्था करता है, बाह्यवस्तुओं को अन्यथा बतलाता है, तथा जिनमें अपना मरण जाने ऐसे भी छल करता है। कपट प्रगट होने पर स्वयं का बहुत बुरा हो, मरणादिक हो उनको भी नहीं गिनता। तथा माया होने पर किसी पूज्य व इष्ट का भी सम्बन्ध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि छल द्वारा कार्यसिद्धि न हो तो स्वयं बहुत संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है। – ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।....

माया से कपटपूर्ण वचन बोलता है। कपटरूप ही शरीर की अवस्था करता है। कोई जानता न हो ऐसी माया करता है। कपट करके अन्य वस्तु को अन्य प्रकार बनाता है। स्त्री, पुत्र, मकान आदि जैसे हों वैसे नहीं बताता। कपट में मरण होता हो तो भी कपट नहीं छोड़ता। पूज्य पुरुष से भी कपट करता है। सगे-प्रियजन चीजे लेने भेजे वहाँ भी कपट करता है। व्यापार में कुटिलता करके पैसा कमाना चाहता है। बड़ी पुत्री को बताकर सगाई की हो किन्तु माया करके छोटी अथवा काली पुत्री से विवाह कर देता है। ऐसे-ऐसे प्रपंच (माया के वश होकर) जीव करता है।

ज्ञानी को भी माया होती है परन्तु वह मर्यादित है। उसे पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर माया नहीं होती।

छल करने पर भी अज्ञानी को कार्य सिद्ध न हो तो स्वयं बहुत दु:खी होता है। अंगों का घात करता है तथा जहर भी खा लेता है। इत्यादि अवस्था करता है। ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।

अब लोभ कषाय की बात करते हैं –

....तथा जब इसके लोभ कषाय उत्पन्न हो तब इष्ट पदार्थ के लाभ की इच्छा होने से उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। उसके साधनरूप वचन बोलता है, शरीर की अनेक चेष्टा करता है, बहुत कष्ट सहता है, सेवा करता है, विदेशगमन करता है। जिसमें मरण होना जाने वह

कार्य भी करता है। जिनमें बहुत दु:ख उत्पन्न हो ऐसे प्रारम्भ करता है। तथा लोभ होने पर पूज्य व इष्ट का भी कार्य हो वहाँ भी अपना प्रयोजन साधता है, कुछ विचार नहीं रहता। तथा जिस इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई है उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करता है। यदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो या इष्ट का वियोग हो तो स्वयं संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है। – ऐसी अवस्था लोभ होने पर होती है।

इसप्रकार कषायों से पीड़ित हुआ इन अवस्थाओं में प्रवर्तता है।....

आत्मा स्वभाव से आनन्दकन्द इष्ट है और विकारी परिणाम अनिष्ट है – ऐसा नहीं मानता। पर-पदार्थ – स्त्री, पुत्रादि को मिलाने के लिये अनेक उपाय विचारता है। लोभ से प्रेरित अनुकूल वचन बोलता है। पदार्थों की प्राप्ति के लिये दीनता करता है। कितने ही भिखारी भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर को बनाते हैं, पैसे के लिये ऐसे वेष करते हैं। बहुत कष्ट सहन करता है। देश-देशांतर में जाता है। अन्य की सेवा-चाकरी करता है। लोभ से पीड़ित होकर मरण होना जाने फिर भी लोभ नहीं छोड़ता। तथा बहुत दु:ख हो ऐसे कार्यों का आरम्भ करता है। तथा लोभी के बीच में इष्टजन आवें तो भी नहीं गिनता। सगे-प्रियजनों के कार्य में भी बीच में रुपया खा जाता है, अपना स्वार्थ साधता है। लोभी को कुछ विचार ही नहीं रहता।

तथा प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा का भाव करता है और प्रिय इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो अथवा इष्ट का वियोग हो तो रोता है और दु:खी होता है; परन्तु लोभ को मिटाना नहीं चाहता। लोभ के लिये अपने शरीर का घात करता है, जहर खाकर मर भी जाता है।

लोभ दु:खरूप होने पर भी अज्ञानी उसे नहीं छोड़ता। मितव्ययता का नाम लेकर कंजूसी को पोषता है। हमको कोई ठग नहीं ले इसलिये होशियारी बताकर बाहर की चीजे ठगकर अधिक ले आता है। पर-पदार्थ की प्राप्ति होना पुण्य के आधीन है। फिर भी लोभ का मारा अज्ञानी मानता नहीं है। लोभ कषाय होने पर ऊपर कहे अनुसार दशायें होती हैं।

इसप्रकार क्रोध, मान, माया, लोभरूप विकार से पीड़ित होता जीव इन अवस्थाओं में प्रवर्तता है। आत्मा चैतन्य है। कोई वस्तु इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अपना ज्ञायक स्वभाव इष्ट है। चारों कषायें दु:ख है और उनका अभाव करना ही सुख का उपाय है। – यह बात इसे नहीं जँचती।

....तथा इन कषायों के साथ नोकषाय होती हैं। वहाँ जब हास्यकषाय होती है तब स्वयं विकसित प्रफुल्लित होता है; वह ऐसा जानना जैसे सन्निपात के रोगी का हँसना, नाना रोगों से स्वयं पीड़ित है तो भी कोई कल्पना करके हँसने लग जाता है। इसी प्रकार यह जीव अनेक पीड़ा

सहित है; तथापि कोई झूठी कल्पना करके, अपने को सुहाता कार्य मानकर हर्ष मानता है, परमार्थत: दु:खी होता है। सुखी तो कषाय-रोग मिटने पर होगा।

तथा जब रति उत्पन्न होती है तब इष्ट वस्तु में अति आसक्त होता है। जैसे बिल्ली चूहे को पकड़कर आसक्त होती है, कोई मारे तो भी नहीं छोड़ती; सो यहाँ कठिनता से प्राप्त होने के कारण तथा वियोग होने के अभिप्राय से आसक्तता होती है, इसलिये दु:ख ही है।

तथा जब अरति उत्पन्न होती है तब अनिष्ट वस्तु का संयोग पाकर महाव्याकुल होता है। अनिष्ट का संयोग हुआ वह स्वयं को सुहाता नहीं है, वह पीड़ा सही नहीं जाती, इसलिये उसका वियोग करने को तड़पता है; वह दु:ख ही है।

तथा जब शोक उत्पन्न होता है तब इष्टका वियोग और अनिष्टका संयोग होने से अति व्याकुल होकर संताप पैदा करता है, रोता है, पुकार करता है, असावधान हो जाता है, अपने अंग का घात करके मर जाता है; कुछ सिद्धि नहीं है तथापि स्वयं ही महा दु:खी होता है।

तथा जब भय उत्पन्न होता है तब किसी को इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग का कारण जानकर डरता है, अतिविह्वल होता है भागता है, छिपता है, शिथिल हो जाता है, कष्ट होने के स्थान पर पहुँच जाता है व मर जाता है; सो यह दु:ख रूप ही है।

तथा जब जुगुप्सा उत्पन्न होती है तब अनिष्ट वस्तु से घृणा करता है। उसका तो संयोग हुआ और यह घृणा करके भागना चाहता है या उसे दूर करना चाहता है और खेदखिन्न होकर महा दु:ख पाता है।

तथा तीनों वेदों से जब काम उत्पन्न होता है तब पुरुषवेद से स्त्री के साथ रमण करने की, स्त्रीवेद से पुरुष के साथ रमण करने की और नपुंसकवेद से दोनों के साथ रमण करने की इच्छा होती है। उससे अति व्याकुल होता है, आताप उत्पन्न होता है, निर्लज्ज होता है, धन खर्च करता है, अपयश को नहीं गिनता, परम्परा दु:ख हो व दण्ड आदि हो उसे नहीं गिनता। कामपीड़ा से पागल हो जाता है, मर जाता है। रसग्रन्थों में काम की दस दशाएँ कहीं हैं। वहाँ पागल होना, मरण होना लिखा है। प्रत्यक्ष ही काम से मरण तक होते देखे जाते हैं। कामांध को कुछ विचार नहीं रहता। पिता पुत्री तथा मनुष्य तिर्यंचिनी इत्यादि से रमण करने लग जाते हैं। ऐसी काम की पीड़ा है सो महादु:खरूप है।

इसप्रकार कषायों और नोकषायों से अवस्थाएँ होती हैं।....

तथा इन कषायों के साथ नौ नोकषायें होती हैं, उन्हें बताते हैं –

जब 'हास्य' नो कषाय हो तब स्वयं प्रफुल्लित होता है, वह ऐसा जानना कि जैसे वायु रोगी का हँसना होता है, वैसे ही मस्करी भाव में हँसना, वह पागलपन है। अनेक प्रकार के रोग से पीड़ित है फिर भी कल्पना से हँसता है। शरीर में रोग हो और अन्य प्रतिकूलतायें हो फिर भी झूठी कल्पना से हँसने लग जाता है। वायु (सन्निपात) रोग वाला रोग होने पर भी हँसने लग जाता है, वैसे ही अज्ञानी को कषाय से दुःख का पार न हो फिर भी कोई अनुकूलता मिले वहाँ हँसने लग जाता है। कल्पना करके हर्ष मानता है, परन्तु वह दुःखी ही है। हास्यादि कषाय-रोग मिटने पर सुखी होता है। शुद्ध आत्मा की रुचि करने पर सुखी होता है।

तथा 'रति' होने पर प्रिय वस्तु के मिलने से आसक्त होता है। बिल्ली को मार पड़ने पर भी वह चूहे को नहीं छोड़ती। अपनी प्रिय स्त्री को प्राप्त करने के लिये राज्य भी छोड़ देता है। पुत्र-पुत्रादिक खराब (प्रतिकूल) होने पर भी उनके प्रति रति के कारण उनकी ममता नहीं छोड़ता। जिसको जो प्रिय वस्तु मिले वह उसी में रति करके रुक जाता है। भागीदार व्यापार में बेईमानी करे, घर में (स्त्री-पुत्रादि) बिगाड़ करे तो भी प्रीति का मारा उन्हें सब दे देता है, पीछे (भविष्य) का भी विचार नहीं करता। इसप्रकार रति दुःखदायक है।

तथा उन चीजों का वियोग हो जाएगा तो ? भागीदार और नौकर अलग होकर दूसरी दुकान लगा लेगा तो ? – ऐसा विचार कर उनके साथ 'अरति भाव' करता है। – यह सब दुःख ही है। स्वयं को अरुचिकर वस्तुओं का संयोग पाकर महा व्याकुल होता है। स्वयं को वे संयोग नहीं रुचते हैं इससे वे जल्दी दूर हों वैसा करता है – इसप्रकार अरति के परिणाम से दुःखी हो रहा है। इसप्रकार संसार पर्याय दुःखरूप है – ऐसा समझे तो स्वभाव की प्रीति करे। इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होने पर अति व्याकुल होकर दुःखी होता है।

अच्छे पुत्र-पुत्री मर जायें, गली का कुत्ता मर जाये, इत्यादि कारण से अति व्याकुल बनकर दुःखी होता है। इसप्रकार अनेक प्रकार के इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग में अनेक प्रकार से 'शोक्र' करता है। पुत्र-पुत्रियों के लिये रुदन करता है। इकलौते पुत्र के मर जाने पर शोक में पागल हो जाता है। अरे ! मरने वाले के पीछे रोने वाला भी रहने वाला नहीं है – ऐसा वैराग्य लाकर समाधान करना चाहिये। स्वयं केवलज्ञान का कंद सम्पूर्ण आत्मा पड़ा है – ऐसा माने तो शान्ति प्राप्त हो, परन्तु अज्ञानी शोक किया करता है। तथा पुत्र दीक्षा ले ले तो उसकी माता शोक करती है। वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के अभाव में कितनी ही बार शोक से पीड़ित जीव मूर्छित हो जाते हैं। शिर फोड़ लेते हैं, पछाड़ खाते हैं। शोक करने से कोई बचे ऐसा नहीं हैं, मात्र स्वयं ही दुःखी होता है। अपना आत्मा शोक रहित है – ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करे तो सुख होता है।

जब पर्याय में 'भय' नोकषाय होती है अर्थात् स्वयं भय करता है, तब इस पर-पदार्थ के कारण डर लगा – ऐसा मानता है। स्वभाव सन्मुख दृष्टि करने से निर्भय हुआ जाता है। मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ – ऐसी दृष्टि करके अन्तरलीनता करना ही भय मिटाने का उपाय है; उसे अज्ञानी नहीं जानता और इष्ट के वियोग को तथा अनिष्ट के संयोग को भय का कारण मानता है। इसकारण उन्हें दूर करना चाहता है, परन्तु यह उपाय खोटा है। प्रतिकूल संयोगों का भय होने पर अति उन्मत्त होकर भागना चाहता है। संयोगों के कारण से भागना भय रहित होने का उपाय नहीं है। अनिष्ट के संयोग से भागकर इष्ट संयोग में जाना चाहता है; परन्तु वह आत्मा के आधीन नहीं है, कर्म के अनुसार है। भय क्षणिक है, वह पर के कारण नहीं है तथा स्वभाव में भय नहीं है – ऐसा ज्ञान करना ही भय को दूर करने का सच्चा उपाय है। अज्ञानी भय के कारण छुप जाता है, शिथिल हो जाता है। चोर मारेंगे – ऐसा विचारकर छुपना चाहे, परन्तु छुपना आदि शरीर की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है। मैं ज्ञान हूँ – ऐसी दृष्टि करने से भय मंद पड़ता है और लीनता होने पर भय का सर्वथा अभाव होता है।

तथा भय से भागे वहाँ भी दु:ख होने के ही ठिकाने प्राप्त होते हैं, क्योंकि यह सब पूर्व कर्मानुसार है। तथा भय होने पर अन्दर में फड़फड़ाहट होती है और आखिर में मर भी जाता है। इसप्रकार जबतक अन्तर स्वरूप की प्रतीति नहीं करता तब क तो भय दूर नहीं होता, इसलिये भय नोकषाय भी दु:खरूप ही है।

जब 'जुगुप्सा' के परिणाम होते हैं तब उल्टी, विष्टा आदि वस्तु की घृणा करता है। उनका संयोग होने पर उनसे भागना चाहता है। हैजा, प्लेग आदि होने पर भागना चाहता है; परन्तु तू कहाँ भागेगा ? ये सब संयोग तो कर्माधीन हैं। आत्मा चिदानन्द है उसका निर्णय करना ही उपाय है; परन्तु उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। प्लेग होने पर खुली जगह में रहने जाना, नहीं जायेंगे तो मर जायेंगे – ऐसा मान रहा है; परन्तु भागकर कहाँ जायेगा ? किसकी घृणा करेगा? ग्लानि टालने का यह उपाय नहीं है। अज्ञानी पर में विश्राम मानता है। ज्ञानानन्द स्वरूपी आत्मा ही विश्राम स्थल है – ऐसा उसको भान नहीं है। एक कषाय को छोड़कर दूसरी कषाय में लगना, वह कषाय के अभाव का उपाय नहीं है। आत्मा चिदानन्द स्वरूप है, पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है – ऐसी समझ करना ही उपाय है। यह शरीर के अनन्त परमाणु हैं, उसमें पेशाब, मल आदि होते हैं अथवा बारम्बार दश्त होवे तो शरीर दुर्गन्धित हो जायेगा तो कहाँ भागेगा ? घृणा मिटाने का उपाय पर-वस्तु को मिटाना नहीं है; परन्तु स्वरूप में घृणा अथवा कषाय नहीं है, अत: ऐसे स्वरूप की शरण ले तो घृणारूप कषाय मिट जाती है। अकषाय

स्वभावी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करना ही ग्लानि को मंद करने का और अभाव करने का उपाय है। गृहस्थों के लिये भी यही उपाय है।

अज्ञानी जीव पर-वस्तुओं को दूर करना चाहता है, परन्तु जीव के द्वारा पर-वस्तु दूर नहीं की जा सकती, इससे खेदखिन्न होकर महादु:खी होता है, इसलिये यह जुगुप्सा नोकषाय भी दु:खरूप ही है।

जब तीनों प्रकार की वेद नोकषाय उत्पन्न होती है तब विषय भोगने की इच्छा होती है। वहाँ पुरुषवेद के उदय से स्त्री के साथ रमने की, स्त्रीवेद के उदय से पुरुष के साथ रमने की तथा नपुंसकवेद के उदय से दोनों से रमने की इच्छा होती है – इससे जीव अति व्याकुल होता है, आताप उपजता है। विषय भोगूँ तो शान्ति हो – ऐसा मानता है। विषयों के निमित्त न हो तो कल्पना में भी उन्हें खड़े करके व्याकुल होता है। निर्लज्ज होकर माँ-बाप, बहिन, पुत्री को भी नहीं गिनता। हजारों रुपये खर्च करके भी विषयों को मिलाना चाहता है। उनको भोगकर विषय-वासना मिटाना चाहता है। स्वयं अच्छे परिवार का हो तो भी निम्न परिवार की कन्या से विवाह कर लेता है, निर्लज्ज होता है। निष्काम स्वभाव की शरण नहीं लेकर परम्परा दु:खी होता है। कामी को अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। लंपटी को राज्य दंडित करता है, जेल में डाल देता है, फिर भी यह वासना का परित्याग नहीं करता। इसको वासना दूर करने के उपाय की खबर नहीं है। वासना होने पर भी स्वभाव वासना रहित है – ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि करना वासना मंद करने का उपाय है और स्थिरता करना वासना कें सर्वथा अभाव का उपाय है। अज्ञानी जीवों को वस्तु स्वभाव का विचार नहीं है तथा उन्होंने सच्ची वस्तुस्थिति को सुना भी नहीं है। खून (मरण) होने पर भी विषय-वासना नहीं छोड़ता। काम पीड़ा से विह्वल हो जाता है और उसके लिये बाहर के उपाय करता है। ज्ञानी के (भी) विषय-वासना होती है, परन्तु अन्तर श्रद्धा-ज्ञान के कारण विषय-वासना शिथिल होती है और चारित्रदशा लेने पर उसका अभाव होता है। अज्ञानी जीव काम पीड़ा से पागल बनकर मर जाते हैं।

तथा रस ग्रंथों में कामजन्य दस अवस्थायें कही हैं। वहाँ पागल हो जाना और अन्तत: उसका मरण हो जाना भी लिखा है; परन्तु यह विकार-वासना से रहित शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान नहीं करता। तथा वैद्यक शास्त्रों में ज्वर के भेदों में कामज्वर को मरण का कारण कहा है। इस काम वासना से मरण पर्यन्त दु:ख देखने में आते हैं। कामांध जीव को, सुख अपने में से प्रगट होता है – यह बात नहीं बैठती। कामांध पुरुष को कोई विचार ही नहीं रहता; विषय के लिये पिता पुत्री के साथ, तथा मनुष्य तिर्यंचनी के साथ रमण करने लग जाता है – इसतरह काम की पीड़ा महा दु:खरूप है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही काम-विकार के अभाव का उपाय है। इस उपाय को सुनना भी नहीं चाहता – यह तो निश्चय की बाते हैं – ऐसा कहकर उड़ा देता है। कोई कहता है कि सात्विक भोजन करने से विषय वासना मंद होती है। यह उपाय भी यथार्थ नहीं है। अग्नि में लकड़ी डालने से अग्नि नहीं बुझती, वैसे ही बहुत विषय भोगने से विषय-वासना मंद नहीं होती। सुखस्वरूप आत्मा के आश्रय से विषय-वासना मंद हो होकर नष्ट हो जाती है।

....यहाँ ऐसा विचार आता है कि यदि इन अवस्थाओं में न प्रवर्तें तो क्रोधादिक पीड़ा उत्पन्न करते हैं और इन अवस्थाओं में प्रवर्तें तो मरणपर्यन्त कष्ट होते हैं। वहाँ मरणपर्यन्त कष्ट तो स्वीकार करते हैं परन्तु क्रोधादिक की पीड़ा सहना स्वीकार नहीं करते। इससे यह निश्चित हुआ कि मरणादिक से भी कषायों की पीड़ा अधिक है।

तथा जब इसके कषाय का उदय हो तब कषाय किये बिना रहा नहीं जाता। बाह्य कषायों के कारण मिलें तो उनके आश्रय कषाय करता है, यदि न मिलें तो स्वयं कारण बनाता है। जैसे –व्यापारादि कषायों का कारण न हो तो जुआ खेलना व क्रोधादिक के कारण अन्य अनेक खेल खेलना, दुष्ट कथा कहना-सुनना इत्यादि कारण बनाता है। तथा काम-क्रोधादि पीड़ा करें और शरीर में उन रूप कार्य करने की शक्ति न हो तो औषधि बनाता है। और अन्य अनेक उपाय करता है। तथा कोई कारण बने ही नहीं तो अपने उपयोग में कषायों के कारणभूत पदार्थों का चिंतवन करके स्वयं ही कषायोंरूप परिणमित होता है।

इसप्रकार यह जीव कषायभावों से पीड़ित हुआ महान दु:खी होता है।....

इसप्रकार कषायों तथा नोकषायों से आत्मा की अवस्था होती है। यहाँ ऐसा विचार होता है कि यदि इन अवस्थाओं में जीव नहीं प्रवर्ते तो क्रोधादि पीड़ा उत्पन्न करते हैं तथा प्रवर्ते तो मरण पर्यन्त कष्ट होता है। संसारी जीव क्रोध, मान, माया, लोभ करके ऐसे कष्ट सहन कर रहे हैं। अब मृत्यु तक कष्ट सहन करते हैं, विह्वल होते है, भागना चाहते हैं और अंतत: मरण तक का कष्ट स्वीकार करते हैं। लोभ का मारा स्वयं अशक्त होने पर भी दुकान चलाता है – ऐसा मरण का कष्ट सहन करता है। पागल होता है, निर्लज्ज होता है, अंगों का छेदन होता है, आँख फूट जाए, अपयश हो, मरण हो जाए – इत्यादि दु:खों को भोगता है, परन्तु निज स्वभाव क्रोधादि रहित अकषाय स्वरूप है, और वही सुखरूप है, उसकी दृष्टि नहीं करता।

जब इसके कषाय का उदय होता है तब इससे कषाय किये बिना नहीं रहा जाता, क्योंकि इसकी दृष्टि विपरीत है। चिदानन्द स्वभावी आत्मा की ओर दृष्टि नहीं है इसकारण कर्म के उदय की तरफ झुकाव है, अत: कषाय किये बिना नहीं चलता। स्वभाव क्रोध, मान, माया, लोभादि

के परिणामों से रहित है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करे तो अकषाय परिणामों का उत्पाद होता ही है, परन्तु अकषाय स्वभाव को प्रगट करता नहीं। बहिर्मुख दृष्टि होने से अन्तर सन्मुख नहीं होता।

अज्ञानी बाहर में झपट्टे मारता है – यह भूल है। डॉक्टर भी शरीर की दशा को सुधारने में समर्थ नहीं है, अरे ! डॉक्टर स्वयं भी मर जाते हैं; परन्तु अज्ञानी पर की शरण लेना चाहता है, स्वस्वभाव की शरण नहीं लेना चाहता। जैसे शिकारी हिरणों को जाल की दिशा तरफ ले जाना चाहता है। धर्मी उन्हें बचाने के लिये अन्य दिशा की तरफ इशारा करता है, परन्तु फिर भी वे मृग बचाने वाले धर्मी से डरते हैं और शिकारी की तरफ जाते हैं। वैसे ही अज्ञानी जीव को धर्मी इशारा करते हैं और कहते हैं कि स्वभाव की शरण ले तो विकार टलेगा; परन्तु अज्ञानी जीव कुगुरु की शरण लेकर उसमें धर्म मानकर विकार तथा पर-पदार्थों को ही प्रधानता देते हैं और संसार में परिभ्रमण करते हैं।

अज्ञानी जीव पर-पदार्थों को ही महत्व देते हैं। दवा में पैसे खर्च करते हैं तथापि शरीर की अवस्था (रोग दशा) मिटना उसके आधीन नहीं है। अज्ञानी जीव कषाय को सहन नहीं कर सकता – इसकारण उसकी नजर बाह्य पदार्थों की तरफ जाती है। बाह्य कारण मिलें तो उनके आश्रय से कषाय करता है तथा नहीं मिलें तो स्वयं नये कारण बनाता है, साधन न हो तो स्वयं विषय वासना की कल्पना बनाता है; परन्तु ये सब कषाय मिटाने के उपाय नहीं हैं।

जैसे कषायों के निमित्तभूत व्यापारादि कारण विद्यमान न हों तो जुआ, शतरंज आदि खेल खेलता है। नाटक खेलता है, सिनेमा देखने जाता है। क्रोध, मान, मायादि के परिणाम करता है। दुष्ट कथा कहना, सुनना, क्रोध, मान, माया की वार्ता सुनकर स्वयं वैसे परिणाम करना – इत्यादि कारण स्वयं बनाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारणरूप त्रिकाल स्वभाव विद्यमान है, उसे सुख का कारण नहीं बनाता; परन्तु कल्पना करके पर-पदार्थ को सुख का कारण बनाता है। अन्दर शक्तिरूप त्रिकाल कारणपरमात्मा विद्यमान है, वह सुख का कारण है, परन्तु उसे कारण नहीं बनाता और विकल्प करके नये कारण बनाता है – इसप्रकार खोटे उपाय करता है।

काम-क्रोधादि पीड़ा करें और शरीर में विषय भोगने की शक्ति न हो तो अन्य औषधि आदि लेकर अनेक उपाय करता है। लड़के को बचाने के लिये मंत्र जाप करता है, मृत्युंजय जाप जपता है। बहुत प्रकार की अभक्ष्य वस्तुयें लेता है; परन्तु उस दुःख के टालने की शक्ति स्वभाव में है – यह बात इसको नहीं जँचती। कदाचित् बाह्य कारण नहीं बन पावे तो अपने

उपयोग में कषाय के कारणभूत पदार्थों का चिन्तवन करता है। सिनेमा देखने को नहीं मिले, विकथा कहने वाला या सुनने वाला नहीं मिले तो स्वयं पदार्थों का चिन्तवन करता है। इसप्रकार यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ और तृष्णादि से महादु:खी होता है।

चारित्रमोह के उदय से होने वाला विकार भाव दु:ख का कारण है। उसे टालने के लिये अज्ञानी अन्यथा उपाय करता है, वे खोटे हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ अपने कारण से होते हैं, कर्म के कारण से नहीं होते।

कषाय पच्चीस प्रकार की होती हैं। अनन्तानुबंधी आदि क्रोधादि सोलह और नौ नो कषाय – इसप्रकार पच्चीस कषायें होती है, उन्हें मिटाने के अज्ञानी के उपाय मिथ्या हैं – यह बताते हैं –

....तथा जिस प्रयोजन के लिये कषायभाव हुआ है उस प्रयोजन की सिद्धि हो तो मेरा यह दु:ख दूर हो और मुझे सुख हो – ऐसा विचारकर उस प्रयोजन की सिद्धि होने के अर्थ अनेक उपाय करना उसे उस दु:ख के दूर होने का उपाय मानता है।

अब यहाँ कषायभावों से जो दु:ख होता है वह तो सच्चा ही है, प्रत्यक्ष स्वयं ही दु:खी होता है; परन्तु यह जो उपाय करता है वे झूठे हैं। क्यों ? सो कहते हैं –

क्रोध में तो अन्य का बुरा करना, मान में औरों को नीचा दिखाकर स्वयं ऊँचा होना, माया में छल से कार्यसिद्धि करना, लोभ में इष्ट की प्राप्ति करना, हास्य में विकसित होने का कारण बना रहना, रति में इष्ट संयोग का बना रहना, अरति में अनिष्ट का दूर होना, शोक में शोक का कारण मिटना, भय में भय का कारण मिटना, जुगुप्सा में जुगुप्सा का कारण दूर होना, पुरुषवेद में स्त्री से रमण करना, स्त्रीवेद में पुरुष से रमण करना, नपुंसकवेद में दोनों के साथ रमण करना – ऐसे प्रयोजन पाये जाते हैं।....

अज्ञानी क्रोध, मान, माया करूँ तो पर में फेरफार हो और प्रयोजन की सिद्धि हो तो ही दु:ख दूर होकर मुझे सुख हो – ऐसा विचारकर प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक उपाय करने को दु:ख टालने का उपाय मानता है। अब जो क्रोध, मान, माया, लोभादि हुए वे स्वयं ही दु:खरूप हैं; यह वासना अथवा विकार आत्मा के द्रव्य-गुण में नहीं है, जड़ में नहीं है और जड़ के कारण भी नहीं है। पर्याय में दु:ख अपने ही कारण से है। स्वयं ही कषाय करके विषय-वासना करके दु:खी हो रहा है। स्वयं प्रत्यक्ष दु:खी हो रहा है – यह बात सत्य है परन्तु अज्ञानी के उपाय मिथ्या हैं।

क्रोध होने पर अन्य का बुरा करना चाहता है। मान होने पर स्वयं उच्च होना चाहता

है। माया होने पर छल प्रपंच से अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है और लोभ होने पर धनादि का संग्रह चाहता है। हास्य होने पर प्रफुल्लित होने के कारणों को बनाये रखना चाहता है। रति होने पर इष्ट वस्तु का संयोग बनाये रखना चाहता है। अरति होने पर प्रतिकूल वस्तु को दूर करना चाहता है। शोक होने पर शोक के बाह्य कारणों को मिटाना चाहता है। भय होने पर भय के बाह्य कारणों को मिटाना चाहता है। जुगुप्सा होने पर उसके निमित्तों को दूर करने का उपाय करता है; परन्तु निमित्त मिलाये या हटाये नहीं जा सकते, क्योंकि वे पर-वस्तुयें हैं। इष्ट को मिलाऊँ, अनिष्ट को दूर करूँ – ऐसा चाहता है। अज्ञानी बाह्य उपाय करता है; परन्तु ज्ञानानन्द स्वभाव की रुचि करने से विकार मंद होता है और उसमें लीनता करने से विकार का अभाव होता है – इसके अतिरिक्त विकार के नाश का अन्य कोई उपाय नहीं है। पुरुषवेद का उदय होने पर स्त्री के साथ रमने का उपाय, स्त्रीवेद का उदय होने पर पुरुष के साथ रमने का उपाय तथा नपुंसकवेद का उदय होने पर दोनों के साथ रमने का उपाय करता है।

....यदि इनकी सिद्धि हो तो कषाय का उपशमन होने से दुःख दूर हो जाये, सुखी हो; परन्तु उनकी सिद्धि इसके किये उपायों के आधीन नहीं है, भवितव्य के आधीन है; क्योंकि अनेक उपाय करते देखते हैं, परन्तु सिद्धि नहीं होती। तथा उपाय होना भी अपने आधीन नहीं है, भवितव्य के आधीन है; क्योंकि अनेक उपाय करने का विचार करता है और एक भी उपाय नहीं होता देखते हैं।

तथा काकतालीय न्याय से भवितव्य ऐसा ही हो जैसा अपना प्रयोजन हो, वैसा ही उपाय हो, और उससे कार्य की सिद्धि भी हो जाये – तो उस कार्य सम्बन्धी किसी कषाय का उपशम हो; परन्तु वहाँ रुकाव नहीं होता। जबतक कार्य सिद्ध नहीं हुआ था तबतक तो उस कार्य सम्बन्धी कषाय थी; और जिससमय कार्य सिद्ध हुआ उसीसमय अन्य कार्य सम्बन्धी कषाय हो जाती हैं, एक समयमात्र भी निराकुल नहीं रहता। जैसे कोई क्रोध से किसी का बुरा सोचता था और उसका बुरा हो चुका, तब अन्य पर क्रोध करके उसका बुरा चाहने लगा। अथवा थोड़ी शक्ति थी तब छोटों का बुरा चाहता था, बहुत शक्ति हुई तब बड़ों का बुरा चाहने लगा। उसीप्रकार मान-माया-लोभादिक द्वारा जो कार्य सोचता था वह सिद्ध हो चुका तब अन्य में मानादिक उत्पन्न करके उसकी सिद्धि करना चाहता है। थोड़ी शक्ति थी तब छोटे कार्य की सिद्धि करना चाहता था, बहुत शक्ति हुई तब बड़े कार्य की सिद्धि करने की अभिलाषा हुई। कषायों में कार्य का प्रमाण हो तो उस कार्य की सिद्धि होने पर सुखी हो जाये; परन्तु प्रमाण है नहीं, इच्छा बढ़ती ही जाती है।....

अब यदि उक्त प्रयोजन की सिद्धि होवे तो कषाय के उपशम से दुःख दूर होकर जीव सुखी होवे; परन्तु उक्त प्रयोजन की सिद्धि इसके आधीन नहीं है। अन्य का बुरा करना, दूसरों

को नीचा दिखाना, कपट से कार्य सिद्ध करना, इष्ट वस्तु का प्राप्त होना, जीव के आधीन नहीं है – ये सब भवितव्य के आधीन है। आत्मा जड़ की पर्याय को नहीं कर सकता। जड़ की जो पर्याय जिस काल में होनी है, वह होगी। अनुकूल संयोग मिलाना एवं प्रतिकूल संयोग हटाना जीव के आधीन नहीं है; परन्तु अज्ञानी पर-पदार्थ को अपने आधीन मान रहा है – यह मिथ्यादर्शन शल्य है।

पर-पदार्थों की अवस्था उन के आधीन है। और निकट क्षेत्र में स्थित शरीर की अवस्था होना, भाषा होना, वह जड़ के आधीन है, जीव के आधीन नहीं है। जीव विकार करे अथवा ज्ञान करे, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता। जीव में राग-द्वेष, काम-क्रोधादि होते हैं, वह अपनी पर्याय का अपराध है। अज्ञानी जीव पर को दूर करना चाहता है और स्वयं प्रयत्न करके शरीरादि का कार्य करना चाहता है; परन्तु वह नहीं बन सकता। तथा ये बाह्य के अनेक उपाय करने की इच्छा हो तथापि एक भी उपाय नहीं बन सकता – यह प्रत्यक्ष दिखता है।

कदाचित् कौए का उड़ना और फल टूटकर उसके मुँह में आना – इस काकतालीन्यायवत् जैसा अपना प्रयोजन हो वैसा ही भवितव्य हो और वैसा ही उपाय बन जाए तो उससे कार्य की सिद्धि भी हो जाती है, अन्य को नीचा किया और अपने को धन की प्राप्ति हुई – ऐसा मानकर किसी कषाय का उपशम, हो वहाँ भी रुकाव नहीं होता।

मेरा स्वभाव ज्ञान और आनन्द है – ऐसी रुचि करने से कषाय रुक जाती है, परन्तु अज्ञानी को इस उपाय की रुचि नहीं है। एक कार्य सम्बन्धी कषाय कम होती है तो वह अन्य कार्य के लिए कषाय करता है – इसप्रकार कषाय किया ही करता है। जिससमय कार्य सिद्ध हुआ उसीसमय दूसरे कार्य के लिये कषाय करता है। अनाकुल शान्ति की प्रतीति बिना आकुलता नहीं मिटती। पुत्र का विवाह कर दूँ तो ठीक, फिर उसके पुत्र का जन्म हो जाए तो ठीक। दस हजार रुपये हों तो बीस हजार रुपये इकट्ठे करूँ, इत्यादि प्रकार से नई-नई कषाय करता है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा एक के बाद एक हुआ ही करती है। एक समय भी निराकुल नहीं रहता और बाहर के उपायों से आकुलता मिटाना चाहता है। एक का बुरा हुआ तो दूसरे का बुरा चाहने लगता है। तथा थोड़ी शक्ति थी तो छोटों का बुरा चाहता था और शक्ति बढ़ी तो बड़ों का बुरा चाहने लगता है; परन्तु उसे "इच्छा शांत होने पर कषाय मिटती है" – इस उपाय की खबर नहीं है।

इसप्रकार क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय में जुड़कर नये-नये कार्य शोधता है और उनकी सिद्धि करना चाहता है। शरीर के रोग का नाश होकर निरोगता होने पर अब दुकान पर

जाऊँ तो ठीक, तथा दुकान पर अधिक समय बैठूँ तो ठीक – इसप्रकार कषाय का मर्यादितपना नहीं रहता। **अमर्यादित स्वभाव के भान बिना कषाय की मर्यादा नहीं होती।** गाँव में था तब थोड़ा कार्य करके कषाय करता था। थोड़ा बहुत पैसा बढ़ा तो शहर में बड़ा कार्य करने लगा। कषाय के कार्यों में कुछ प्रमाण करे तो कषाय पतली पड़ती है और जीव सुखी होता है; परन्तु कषाय की मर्यादा नहीं है। *निजानन्द आत्मा के भान बिना कषाय की मर्यादा नहीं आती और पर के कार्य करने की मर्यादा नहीं आती*। एक के बाद एक इच्छा बढ़ाया करता है।

....श्री आत्मानुशासन में भी कहा है कि –

आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन विश्रमणूपनम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥*

अर्थ – आशारूपी गड्ढा प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। अनन्तानन्त जीव हैं उन सबके आशा पायी जाती है। तथा वह आशारूपी कूप कैसा है कि उस एक गड्ढे में समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है तो अब यहाँ कहो किसको कितना हिस्से में आये ? इसलिये तुम्हें जो यह विषयों की इच्छा है सो वृथा ही है।

इच्छा पूर्ण तो होती नहीं है, इसलिये कोई कार्य सिद्ध होने पर भी दुःख दूर नहीं होता। अथवा कोई कषाय मिटे तो उसी समय अन्य कषाय हो जाती है। जैसे – किसी को मारनेवाले बहुत हों तो कोई एक जब नहीं मारता तब अन्य मारने लग जाता है। उसीप्रकार जीव को दुःख देने वाले अनेक कषाय हैं; व जब क्रोध नहीं होता तब मानादिक हो जाते हैं, जब मान न हो तब क्रोधादिक हो जाते हैं। इसप्रकार कषाय का सद्भाव बना ही रहता है, कोई एक समय भी कषाय रहित नहीं होता। इसलिये किसी कषाय का कोई कार्य सिद्ध होने पर भी दुःख कैसे दूर हो ? और इसका अभिप्राय तो सर्व कषायों का सर्व प्रयोजन सिद्ध करने का है, वह हो तो यह सुखी हो; परन्तु वह कदापि नहीं हो सकता, इसलिये अभिप्राय में सर्वदा दुःखी ही रहता है। इसलिये कषायों के प्रयोजन को साधकर दुःख दूर करके सुखी होना चाहता है; सो यह उपाय झूठा ही है।....

जगत में अनन्तानन्त जीव हैं। उन सबमें आशारूपी महान् गड्ढा है। एक-एक जीव में आशारूपी गड्ढा है। यदि एक ही गड्ढे में सम्पूर्ण लोक मिले तो भी गड्ढा भरता नहीं है, सम्पूर्ण लोक उसके लिए एक अणु समान है और लोक तो एक ही है तो अब यहाँ कहो कि किसके हिस्से में कितना आये ? इसलिये तुम्हें जो यह विषयों की इच्छा है वह व्यर्थ ही है।

**जिसमें विश्व अणू सम लघु है, प्रति प्राणी का आशागर्त।*
किसको कितना मिल सकता फिर, विषयों की अभिलाषा व्यर्थ॥ – पद्यानुवाद : पण्डित अभयकुमार जैन

आत्मा अनन्त सन्तोष का पिण्ड है। ज्ञान, आनन्द और रमणता स्वरूप है, उसमें आशा बिल्कुल नहीं है और वह अपरिमित सुख वाला है – ऐसा अज्ञानी को भान नहीं है, अत: वह (पर में) गुलाँट खा गया है। बाहर में पैसा मिलाऊँ, शरीर की निरोगता रखूँ – इत्यादि आशा अमर्यादित हो गई है। सम्पूर्ण लोक उसमें आ जावे तो भी तृष्णारूपी गड्ढा नहीं भरता। अब लोक तो एक ही है तो किस-किस जीव के हिस्से में कितना आये ? स्वभाव में आशा नहीं है – ऐसे निजानन्द ध्रुव स्वभाव की रुचि करे तो आशा का अभाव हो – इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है। रागमात्र दु:ख स्वरूप है। उसे पर के आश्रय से मिटाना चाहता है – यह मान्यता मिथ्यात्व है। अन्तर स्वभाव में देखना ही राग के अथवा वासना के टालने का उपाय है, ज्ञान को ज्ञान में एकाग्र करना ही उपाय है।

प्रत्येक जीव के तृष्णा अनन्त है और लोक तो एक ही है; अत: एक जीव के हिस्से में कितना आये ? भाई ! इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। अत: किसी कार्य के सिद्ध होने पर भी दु:ख दूर नहीं होता। अथवा किसी कषाय के मिटते ही उसीसमय अन्य कषाय होती है। कोई नामधारी साधु हो तो यात्रा और संघ निकलवाकर मान चाहता है और शिष्य बढ़ाना चाहता है – यह सब तृष्णा है। बाहर के पदार्थ इकट्ठे करने से नहीं इकट्ठे होते, परन्तु फिर भी इज्जत बढ़ाना चाहता है। छोटा था तब बालकों के साथ खेला करता था, बड़ा हुआ तो बड़ों के साथ मौज-मस्ती करता है – इसप्रकार जीव इच्छा की अग्नि में जलते ही रहते हैं।

जैसे किसी को मारने वाले बहुत हों तो जब कोई एक नहीं मारता तो अन्य दूसरा मारने लग जाता है। वैसे ही जीव को दु:ख देने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा एवं त्रिवेद आदि बहुत हैं। क्रोध न हो तो मान होता है, मान न हो तो विषय-वासना होती है अथवा रति होती है। इसप्रकार कषायें हुआ ही करती हैं। पर्याय में होने वाली वे कषायें दु:खरूप ही हैं। जीव एकसमय भी कषाय रहित नहीं होता। इसकारण किसी कषाय का कोई कार्य सिद्ध होने पर भी दु:ख किसप्रकार दूर हो ?

इसका अभिप्राय तो सर्व कषायों के सर्व प्रयोजन को एकसाथ सिद्ध करने का है – ऐसा हो तो ही यह सुखी हो, परन्तु ऐसा कभी नहीं बन सकता; अत: अभिप्राय में सदा दु:खी होता है। नामधारी आचार्य कहीं चातुर्मास में रहें और विचारे कि समाज इतना लाख रुपया खर्च करे तो ठीक, यात्रा में भारी संख्या में मनुष्य आवें तो ठीक, इसप्रकार त्यागी होकर भी मानादि कषाय का पोषण करते हैं। अमुक त्यागी ने इतने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया तो मैं उससे अधिक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराऊँ – ऐसी इच्छा किया करते हैं और दूसरे से अधिक होने

के भाव किया करते हैं। जड़ पदार्थों की अवस्था जड़ के कारण होती है, वह जीव की इच्छा के आधीन नहीं है – ऐसा भान अज्ञानी को नहीं है।

किसी का बढ़िया मकान देखकर स्वयं भी वैसा मकान बनवाना चाहता है, परन्तु वैसा मकान बनना उसकी इच्छा के आधीन नहीं है – अत: अभिप्राय में तो दु:ख ही रहा करता है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव कषाय के प्रयोजन को साधकर दु:ख दूर करने और सुखी होने की इच्छा रखता है; परन्तु यह उपाय झूठे है।

तो सच्चा उपाय क्या है ? वह कहते हैं –

....तब सच्चा उपाय क्या है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान से यथावत् श्रद्धान और जानना हो तब इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे, तथा उन्हीं के बल से चारित्रमोह का अनुभाग हीन हो। ऐसा होने पर कषायों का अभाव हो, तब उनकी पीड़ा दूर हो; और तब प्रयोजन भी कुछ नहीं रहे, निराकुल होने से महा सुखी हो। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही यह दु:ख मेटने का सच्चा उपाय है।....

प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा वास्तविक श्रद्धान करे तो पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे। मैं चिदानन्द आत्मा हूँ। व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उठता है, वह विकार है। मैं विकार रहित शुद्ध आत्मा हूँ – ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करके पदार्थ का वास्तविक श्रद्धान और ज्ञान करे तो इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे। वे पदार्थ उनके कारण से हैं। वे पदार्थ मेरी इच्छा से नहीं आते और मेरी कषाय मिटाने में वे समर्थ नहीं हैं। पच्चीस प्रकार की कषाय के मिटाने का उपाय पर-पदार्थ में नहीं है; परन्तु मेरे स्वरूप में ही उस कषाय के मिटाने का उपाय है। इसप्रकार प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटती है और उसी के बल से चारित्रमोह का अनुभाग कम होता है – ऐसा होने से चारित्रमोह का सर्वथा अभाव होता है।

सम्यग्दृष्टि को भान है कि बाह्य पदार्थ उनके कारण से आते हैं, राग के कारण से बाह्य पदार्थ नहीं आते। उसको पदार्थों का वास्तविक भान हुआ है और पदार्थों में से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का अभाव हुआ है – इसकारण चारित्रमोह का दु:ख कम होता है और स्वरूप में स्थिरता द्वारा कषाय का अभाव होता है।

ऐसे उपाय के भान बिना सामायिक और प्रोषध नहीं होते। जहाँ पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि का विषमभाव पड़ा है वहाँ समताभावरूपी सामायिक नहीं हो सकती।

अभी तो उपदेशकों को भी पदार्थ के स्वरूप की खबर नहीं है तो फिर श्रोताओं को तो इस बात की खबर कहाँ से हो ?

पदार्थ की (स्वरूप की) सच्ची मान्यता करने से कषाय मंद होती है और स्वरूप में विशेष लीनता करने से कषाय का अभाव होता है। तब कषाय से होने वाली पीड़ा दूर होती है और कुछ प्रयोजन भी नहीं रहता।

अज्ञानी को पुण्य भला लगता है, स्वभाव भला नहीं लगता। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र किसको कहना और सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र किसको कहना, अभी तो जिसको इसका भी पता नहीं है, उसको निश्चय का पता तो होगा ही कहाँ से ? जिसे व्यवहार-विवेक की खबर न हो – ऐसा जीव निश्चय से धर्म होना कहे तो भी खोटा है।

निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर साथ में व्यवहार होता ही है; परन्तु व्यवहार करते-करते निश्चय हो – ऐसा कदापि संभव नहीं है।

अन्तरायकर्म के उदय से होने वाला दुःख और उससे निवृत्ति

....तथा जीव के मोह द्वारा दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यशक्ति का उत्साह उत्पन्न होता है; परन्तु अन्तराय के उदय से हो नहीं सकता, तब परम आकुलता होती है। सो यह दुःखरूप है ही।

इसका उपाय यह करता है कि जो विघ्न के बाह्य कारण सूझते हैं उन्हें दूर करने का उद्यम करता है परन्तु वह उपाय झूठा है। उपाय करने पर भी अन्तराय का उदय होने से विघ्न होता देखा जाता है। अन्तराय का क्षयोपशम होने पर बिना उपाय भी विघ्न नहीं होता। इसलिये विघ्नों का मूलकारण अन्तराय है।

तथा जैसे कुत्ते को पुरुष द्वारा मारी हुई लाठी लगी, वहाँ वह कुत्ता लाठी से वृथा ही द्वेष करता है; उसीप्रकार जीव को अन्तराय से निमित्तभूत किये गये बाह्य चेतन-अचेतन द्रव्यों द्वारा विघ्न हुए, यह जीव उन बाह्य द्रव्यों से वृथा द्वेष करता है। अन्य द्रव्य इसे विघ्न करना चाहें और इसके न हो; तथा अन्य द्रव्य विघ्न करना न चाहें और इसके हो जाये। इसलिये जाना जाता है कि अन्य द्रव्य का कुछ वश नहीं है। जिनका वश नहीं है उनसे किसलिये लड़े ? इसलिये यह उपाय झूठा है।....

अन्तराय जड़कर्म निमित्तमात्र है। जड़कर्म से दुःख नहीं होता। परन्तु संसार के दुःख में कौनसा कर्म निमित्त है – यह बात यहाँ बताते हैं। अज्ञानी को शरीरादि पर-पदार्थ, इच्छा और आत्मा – इन तीनों के बीच भिन्नता का पता नहीं हैं।

इस जीव को इच्छा द्वारा दान का, दया का, लाभ लेने का, भोग भोगने का, वीर्य जागृत

करने का उत्साह उत्पन्न होता है; परन्तु अन्तराय कर्म के उदय से वह नहीं बन सकता, अर्थात् स्वयं की उससमय की पर्याय में वैसी योग्यता नहीं है, इतना ही पर्याय में क्षयोपशमभाव है, इतनी कमी है उसमें कर्म निमित्तमात्र है। इसकारण वैसा नहीं बन सकता। मैं इन लड्डूओं को नहीं भोग सका, यह दान नहीं दे सका – ऐसे अज्ञानी व्याकुल हुआ करता है। पर में वीर्य (पुरुषार्थ-बल) दौड़ाना चाहता है। पर-पदार्थों तथा पर-जीवों को विघ्नरूप मानता है। पर को विघ्नकर्त्ता मानने से पर को हटाना चाहता है – यह उपाय मिथ्या हैं।

बाह्य में विघ्न होते देखने में आते हैं, उसमें अन्तराय कर्म का निमित्त है, ऐसा नहीं मानकर अज्ञानी बाह्य पदार्थों को कारण मानकर उन्हें दूर करना चाहता है। संसार पर्याय दुःखरूप है – ऐसा लगे तो उसका अभाव करके मोक्षदशा-सुखरूप दशा प्रगट करे।

जैसे मनुष्य के हाथ में रही हुई लकड़ी का कुत्ते पर प्रहार करने पर कुत्ता लकड़ी के प्रति निरर्थक द्वेष करता है। वैसे ही अन्तराय कर्म द्वारा निमित्तभूत किये ऐसे बाह्य चेतन-अचेतन द्रव्यों द्वारा विघ्न हो वहाँ यह (अज्ञानी) जीव उन बाह्य द्रव्यों पर निरर्थक द्वेष करता है। बाह्य चेतन-अचेतन के निमित्त का निमित्त अन्तरायकर्म है – ऐसा नहीं मानकर इस जीव ने मेरा बुरा किया, इस जीव ने मेरा लाभ किया – ऐसा मानता है। दया-दानादि के परिणाम एक समय की पर्याय है। एक समय की पर्यायबुद्धि वाला जीव स्वभाव की रुचि नहीं करता। उसकी रुचि निमित्त पर जाती है, परन्तु पर्यायवान पर रुचि नहीं जाती। आत्मा ज्ञायक स्वरूप ध्रुव है, उसकी प्रतीति-ज्ञान और रमणता नहीं होने से बाह्य द्रव्यों पर दृष्टि जाती है। विकारी पर्याय जितना ही मैं और ज्ञान के उघाड़ जितना ही मैं हूँ – ऐसी पर्यायबुद्धि वाला निमित्त और बाह्य संयोग पर नजर डालता है, परन्तु शक्तिवान स्वभाव है, उस पर नजर नहीं डालता – इस कारण व्यर्थ ही बाह्य पदार्थों पर द्वेष करता है।

....तब सच्चा उपाय क्या है ? मिथ्यादर्शनादिक से इच्छा द्वारा जो उत्साह उत्पन्न होता था वह सम्यग्दर्शनादि से दूर होता है और सम्यग्दर्शनादि द्वारा ही अन्तराय का अनुभाग घटे तब इच्छा तो मिट जाये और शक्ति बढ़ जाये, तब वह दुःख दूर होकर निराकुल सुख उत्पन्न होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादि ही सच्चा उपाय है।....

मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के कारण मैं इसको विघ्न करूँ, मैं इसकी सहायता करूँ – ऐसा जो उत्साह था वह सम्यग्दर्शन होने पर दूर होता है। आत्मा आनन्द का समुद्र है। उसका परिणमन तो ज्ञान और आनन्दरूप ही है – ऐसा ज्ञान करने पर इच्छा मिटती है, इस उपाय से ही दुःख जाता है। तथा आत्मा की श्रद्धा-प्रतीति और अन्तर उत्साह द्वारा अन्तराय

कर्म की विपाक देने की शक्ति घट जाती है और इच्छा भी नहीं रहती – दोनों का नाश हो जाता है और अकेला परम पवित्र आत्मा रह जाता है। स्वभाव को जानने की, देखने की, रमणता की शक्ति बढ़ने से निराकुल सुख बढ़ता है। अत: सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सच्चा उपाय है। लोग जैसा मानते हैं वैसा सम्यग्दर्शन नहीं है, उसकी बात आगे कहेंगे।

वेदनीयकर्म के उदय से होने वाला दु:ख और उससे निवृत्ति

....तथा वेदनीय के उदय से दु:ख-सुख के कारणों का संयोग होता है। वहाँ कई तो शरीर में ही अवस्थाएँ होती हैं, कई शरीर की अवस्था को निमित्तभूत बाह्य संयोग होते हैं, और कई बाह्य ही वस्तुओं के संयोग होते हैं। वहाँ असाता के उदय से शरीर में तो क्षुधा, तृषा, उच्छ्वास, पीड़ा, रोग इत्यादि होते हैं; तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था को निमित्तभूत बाह्य अति शीत, उष्ण, पवन, बंधनादिक का संयोग होता है; तथा बाह्य शत्रु, कुपुत्रादिक व कुवर्णादिक सहित स्कन्धों का संयोग होता है – सो मोह द्वारा इनमें अनिष्ट बुद्धि होती है। जब इनका उदय हो तब मोह का उदय ऐसा ही आवे जिससे परिणामों में महा व्याकुल होकर इन्हें दूर करना चाहे, और जबतक वे दूर न हों तब तक दु:खी रहता है। इनके होने से तो सभी दु:ख मानते हैं।....

वेदनीयकर्म के निमित्त से सुख-दु:ख के कारणरूप संयोग मिलते हैं, वे संयोग जीव के प्रयत्न के कारण मिलते या टलते नहीं। तथा वेदनीय कर्म सुख-दु:ख नहीं देता, मात्र संयोग देता है। जीव उनमें मोह करे तो दु:खी होता है। वहाँ (१) कई तो शरीर में ही अवस्थायें होती है। तथा (२) कई शरीर की अवस्था को निमित्तभूत बाह्य संयोग मिलते हैं तथा (३) कई बाह्य वस्तुओं का ही संयोग होता है – इसप्रकार तीन प्रकार कहे हैं – वे साता-असातावेदनीय के निमित्त से प्राप्त होते हैं। अब तीनों का विस्तार करते हैं –

असातावेदनीय कर्म के निमित्त से शरीर में भूख लगती है, प्यास लगती है; आत्मा को भूख-प्यास नहीं लगती। शरीर में ही रजकणों की उसरूप होने की योग्यता है, उसमें असाताकर्म निमित्त है। अज्ञानी शरीर में भूख लगने पर मानता है कि मुझे (आत्मा को) भूख लगी। असाता को वैद्य भी नहीं मिटा सकता। उसकी क्रमबद्ध पर्याय के कारण मिटना या होना होता है, उसमें वेदनीय कर्म निमित्त है।

तथा शरीर में श्वास की क्रिया होना, वह शरीर का अंग है, वह आत्मा की अवस्था नहीं है। असाता के उदय से शरीर में, शिर इत्यादि में पीड़ा होती है तथा आँख में से पानी झरना इत्यादि शरीर की अवस्था असाता के उदय के निमित्त से उसके अपने कारण से होती है। एक रजकण के कारण दूसरे रजकण की अवस्था नहीं होती। असाताकर्म का उदय हुआ इसकारण

प्यास और भूखरूप अवस्था हुई – ऐसा माने तो परमाणु पराधीन हो जाए। असातार्कम कार्माणवर्गणा के रजकण हैं और शरीर आहारवर्गणा के रजकण हैं। आहारवर्गणा के परमाणुओं की तद्रूप अवस्था स्वयं से होती है तब असातावेदनीय कर्म को निमित्त कहा जाता है।

इसप्रकार रोगादिक का होना अथवा पीड़ा होना – ये सब शरीर की अवस्थायें हैं।

अब दूसरी बात करते हैं – असाता के उदय से शरीर की अनिष्ट अवस्था को निमित्तभूत अति सर्दी पड़ती है। अमुक गाँव गया वहाँ ऐसी सर्दी पड़ी, जिसकारण शरीर में सर्दी हो गई – ऐसा कहते हैं। असाता को ज्ञान नहीं है कि मैं सर्दी को लाऊँ, उसीप्रकार सर्दी को भी ज्ञान नहीं है कि असाता का उदय है अत: वहाँ जाऊँ, परन्तु असाता के और सर्दी के संयोग के ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। तथा अति गर्मी पड़े तो वह उसके कारण से है, उसमें असाता निमित्त है। ज्येष्ट माह में गर्मी पड़ना अथवा लू चलना, वह असाता के निमित्त से है। वहाँ गर्म लू को ज्ञान नहीं है कि असाता का उदय है और असाता के उदय को भी ज्ञान नहीं है कि बाहर गर्म लू को लाऊँ; परन्तु सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, फिर भी अज्ञानी बाह्य संयोगों पर दृष्टि किया करता है।

अब संयोग थोड़े काल रहते हैं, उनकी बात करते हैं –

तथा बाहरी शत्रु मिलते हैं उसमें असाता निमित्त है। घर में झगड़ालू पुत्र, पुत्री, बहू, औरतें इत्यादि मिलते हैं उसमें असाता निमित्त है। अज्ञानी मानता है कि ये संयोग मुझे हानि-कारक हैं, परन्तु वे वस्तुएँ तो आत्मा की अवस्था को निमित्त भी नहीं हैं – ऐसा ज्ञान अज्ञानी को नहीं है।

यह पवन खराब है, ये पुत्र-पुत्रियाँ अनिष्ट हैं – इत्यादि अनिष्टपना जीव मोह के कारण मानता है। असाता का निमित्त, संयोगों का आना और मोह के उदय को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। असातार्कम अथवा मोहकर्म को कुछ भी ज्ञान नहीं है, परन्तु अज्ञानी मोह करता है, वह मिथ्यात्वभाव स्वयं का – अपना है। मोहकर्म जीव को मिथ्यात्वभाव नहीं कराता; परन्तु जीव स्वयं मिथ्यात्वभाव करता है तो मोहकर्म निमित्त है।

पर-वस्तु ज्ञेय है। ज्ञेय होने पर भी जो उसे अनिष्ट माने वह महाशक्तिहीन है। अज्ञानी महाव्याकुल हुआ करता है। अपने विपरीतभाव के कारण मोह करता है। तत्त्व को नहीं समझता – इसकारण भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, शत्रु, खराब पुत्र, कुवर्ण वाले पुद्गल स्कंध – इन सबको दूर करना चाहता है। वस्तुत: आत्मा इन संयोगों को मिला अथवा हटा नहीं सकता, तथापि संयोगों को दूर करने का अभिप्राय, वह मिथ्याभाव है। जबतक वे पदार्थ दूर न हों तबतक

मिथ्याभाव से दु:खी होता है। अब इन सबके होने में सभी दु:ख ही मानते हैं, असाता के प्रसंग में सभी दु:ख मानते हैं, इसमें बड़ी बात कुछ नहीं है।

अब सातावेदनीय के निमित्त से होने वाली अवस्थायें बताते हैं –

....तथा साता के उदय से शरीर में आरोग्यवानपना, बलवानपना इत्यादि होते हैं; और शरीर की इष्ट अवस्था को निमित्तभूत बाह्य खान-पानादिक तथा सुहावने पवनादिक का संयोग होता है; तथा बाह्य मित्र, सुपुत्र, स्त्री, किंकर, हाथी, घोड़ा, धन, धान्य, मकान, वस्त्रादिक का संयोग होता है – और मोह द्वारा इनमें इष्टबुद्धि होती है। जब इनका उदय हो तब मोह का उदय ऐसा ही आये कि जिससे परिणामों में सुख माने, उनकी रक्षा चाहे, जबतक रहें तबतक सुख माने। सो यह सुख मानना ऐसा है जैसे कोई अनेक रोगों से बहुत पीड़ित हो रहा था, उसके किसी उपचार से किसी एक रोग की कुछ काल के लिये कुछ उपशान्तता हुई, तब वह पूर्व अवस्था की अपेक्षा अपने को सुखी कहता है; परमार्थ से सुख है नहीं। उसप्रकार यह जीव अपने दु:खों से बहुत पीड़ित हो रहा था, उसके किसी प्रकार से किसी एक दु:ख की कुछ काल के लिये कुछ उपशान्तता हुई, तब वह पूर्व अवस्था की अपेक्षा अपने को सुखी कहता है; परमार्थ से सुख है नहीं।

तथा इसके असाता का उदय होने पर जो हो उससे तो दु:ख भासित होता है, इसलिये उसे दूर करने का उपाय करता है; और साता के उदय होने पर जो हो उससे सुख भासित होता है, इसलिये उसे रखने का उपाय करता है – परन्तु यह उपाय झूठा है।

प्रथम तो इसके उपाय के आधीन नहीं है, वेदनीय कर्म के उदय के आधीन है। असाता को मिटाने और साता को प्राप्त करने के अर्थ तो सभी का यत्न रहता है; परन्तु किसी को थोड़ा यत्न करने पर भी अथवा न करने पर भी सिद्धि हो जाये, किसी को बहुत यत्न करने पर भी सिद्धि नहीं हो; इसलिये जाना जाता है कि इसका उपाय इसके आधीन नहीं है।....

शरीर में निरोग अवस्था होना व शरीर में बल रहना, वह साता के निमित्त से है, आत्मा के कारण शरीर का बल नहीं है। नेमिनाथ भगवान ने शंख फूँका और द्वारिका में खलबलाहट हुई, वह शरीर का बल है। ब्रह्मचर्य तो आत्मा की अवस्था है, उसके कारण शरीर का बल नहीं बढ़ता। साता का उदय और शरीर की जैसी अवस्था होनी हो वह होती है। वर्तमान मैं तीव्र विषय के भावों का सेवन किया इसकारण (शरीर का बल) क्षय हुआ – ऐसा नहीं है। शरीर के बल की क्षयरूप दशा हुई, उसमें असाता कर्म का उदय निमित्त है, वह दशा आत्मा के वर्तमान परिणाम के कारण नहीं है। असाता के उदय से ब्रह्मचारी को भी रोग आये बिना नहीं रहता। अत: वास्तविक तत्त्व समझना चाहिए।

बाह्य खान-पानादि खुराक, मौसम्मी, रोटी, पानी व सर्दी में हलुवा तथा गर्मी के अनुकूल पवन आदि स्वयं के कारण से आती है, उसमें साता कर्म का उदय निमित्त है। वे पदार्थ जीव की इच्छा से नहीं आते। आत्मा न तो उनका कर्त्ता है और न उन रजकणों को बदलने वाला है। तथा कर्म के रजकण अलग हैं और इन वस्तुओं के रजकण अलग हैं। दोनों एक-दूसरे के कारण नहीं हैं। बाहर के इष्ट पदार्थ आते हैं तो उसमें साता का उदय निमित्त कहलाता है।

परदेश जावे तो वहाँ साता के निमित्त से अपरिचित मनुष्य भी मित्र बन जाते हैं। अनुकूल नौकर, चाकर, स्त्री, पुत्र मिलते हैं वहाँ वे पदार्थ तो उनके कारण मिलते है – संयोगरूप होते हैं, परन्तु उसमें साता कर्म निमित्त है। अनुकूल हाथी-घोड़ा आदि के मिलने में उन वस्तुओं के संयोग का काल है और उसमें साता कर्म निमित्त है। वे पदार्थ जीव के भाव के कारण नहीं मिलते। असाता का उदय हो तो प्रतिकूल हाथी, घोड़ा आदि मिलते हैं। जीव समताभाव रखे अथवा विषमभाव करे, अन्य कुछ उसके अधिकार की बात नहीं है। पैसा आना पैसे के कारण है, उसमें साता कर्म निमित्त है, मनुष्य का प्रयत्न उसमें काम नहीं आता। कसाई महापाप का कार्य करता है फिर भी उसे धन प्राप्त होता है, वह साता का उदय है। अनाज का मिलना, अच्छा मकान मिलना, यह सब साता के निमित्त से होता है, उसमें आत्मा का प्रयत्न कुछ भी काम नहीं आता। जब साता के उदय के समय संयोग मिलते हैं तब अज्ञानी जीव मोह के निमित्त से उनमें इष्टबुद्धि करता है, उनमें सुख मानता है; परन्तु वस्तुत: उनमें सुख नहीं है।

यह सुख की मान्यता ऐसी है कि जैसे बहुत रोगों से बहुत पीड़ित हो रहे किसी मनुष्य के किसी उपचार से किसी रोग का उपशमन दिखे। जैसे कि किसी को एक सौ छह डिग्री बुखार था, वहाँ एक सौ तीन डिग्री बुखार हो तो मानता है कि जरा ठीक है। कोई रोग कितने ही काल के लिये कम हो तो सुख मानता है; परन्तु उस बुखार के समय भी अन्य रोग तो होते हैं अत: सुख नहीं है। वैसे ही यह जीव बहुत दु:ख से पीड़ित हो रहा है, उसमें किसी समय पैसा मिले, स्त्री मिले, पुत्र होवे तब किसी समय अमुक काल सुख मानता है। (परन्तु वस्तुत: वह सुख नहीं है।)

पूर्वदशा में निर्धन हो और अभी धनवान हुआ हो तो आंशिक ठीक मानकर वहाँ सुख की कल्पना कर बैठता है, परन्तु वह वास्तविक सुख नहीं है। आत्मा उन संयोगी वस्तुओं का ज्ञाता है। आत्मा की स्व-पर प्रकाशक ज्ञान पर्याय खिलती है, उसमें वे वस्तुयें जानने लायक हैं – ज्ञात होने योग्य है। आत्मा को जानते हुए पर प्रकाशक में वे ही वस्तुयें ज्ञात हों; परन्तु यह इष्ट है और यह अनिष्ट है – ऐसा मानना भ्रान्ति है। अज्ञानी अपनी स्व-पर प्रकाशक

ज्ञानशक्ति को भूल जाता है। ये ही मकान, पैसा, ये ही पुत्र, पुत्री ज्ञात हों, तथापि इन पदार्थों के कारण से ज्ञानस्वभाव नहीं है और ज्ञान के कारण ये संयोग नहीं आये हैं। संयोग आये इसलिये पर प्रकाशक ज्ञान खिला – ऐसा भी नहीं है; परन्तु स्वयं की स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य के कारण स्व को जानते हुए पर-पदार्थ जैसे हों उन्हें वैसे ही यथार्थरूप से जाने; परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता, किन्तु अमुक काल तक साता के निमित्त से अनुकूलता मिले तो अपने को सुखी मानता है; परन्तु वस्तुतः वह सुखी नहीं है।

जीव को संसार में कर्म के निमित्त से होने वाला दुःख और उसके द्वारा किये गये उपायों का मिथ्यापना बताते हैं। अनादि से जीव के संसार अवस्था है। वेदनीयकर्म के निमित्त से शरीर की अवस्था में रोगादि होते हैं, वह जड़ की अवस्था है, वे कोई जीव में नहीं होते, फिर भी जीव उनमें दुःख मानता है। रोग, क्षुधा, तृषादि अवस्थायें शरीर में होने पर भी वे अवस्थायें मुझमें हुईं – ऐसा जीव मानता है, यह मान्यता असत्य है और जीव इस असत्य मान्यता से ही दुःखी है। साता-असाता के निमित्त से जड़ शरीर में रोगादि होते हैं। उन रोगादि की होने की योग्यता तो शरीर में थी ही, कोई कर्म के परमाणुओं के कारण शरीर में वह अवस्था नहीं हुई है, कर्म तो निमित्त है। उस कर्म के निमित्त से शरीर में रोग, क्षुधा, उष्णता, शीत आदि हों वहाँ उन्हें दुःखरूप जानकर अज्ञानी जीव उन्हें दूर करना चाहता है।

वस्तुतः शरीर की अवस्था अपने को सुख-दुःख का कारण नहीं है, फिर भी उन्हें सुख-दुःख का कारण मानना, मिथ्यात्व है। क्षुधा, रोग आदि जड़ की पर्यायें हैं। जीव की इच्छा के कारण उन जड़ की पर्यायों में फेरफार नहीं होता। ज्ञानी को होने वाली इच्छा तो मात्र अस्थिरताजन्य है; परन्तु मैं जड़ की अवस्था को बदल सकता हूँ – ऐसी बुद्धि उनकी नहीं है। अज्ञानी तो, मैं जड़ की पर्याय को बदल दूँ, मैं रोग मिटा दूँ – ऐसी बुद्धिपूर्वक उन अवस्थाओं को पलटाने की इच्छा करता है। शरीर में तृषा हुई, उसे मैं दूर कर दूँ – इसप्रकार अज्ञानी जड़ की पर्याय को बदलना चाहता है, वह मिथ्यात्व है। ज्ञानी जानता है कि शरीर में प्यास होना और पानी का आना – यह सब जड़ की क्रिया है। वह पुद्गल के परिणमन अनुसार होती है, वे अवस्थायें मेरी इच्छा के कारण नहीं होती।

तथा साता के उदय से शरीर निरोग रहे, उत्तम पुष्टिदायक आहार मिले, उसे अज्ञानी जीव सुख का कारण मानकर उसका संयोग रखना चाहता है; परन्तु सुख तो मेरे स्वभाव में है – ऐसा वह नहीं जानता और संयोग में से सुख लेना चाहता है – यह भ्रम है। बाहर में अनुकूल संयोग–पैसा, स्त्री, निरोगता आदि हो वहाँ मुझे इनसे सुख होता है – ऐसा मानकर उनका संयोग रखना चाहता है; परन्तु उसका यह उपाय झूठा है। साता-असाता के उदय से पर की – जड़

की अवस्था हो, उसमें अज्ञानी सुख-दुःख मानता है। असाता के उदय से शरीर में भूख लगने से दुःख मानता है और साता के उदय से जहाँ आहार आया वहाँ उसमें सुख मानता है। रोग होने पर दुःख मानता है और निरोगता होने पर सुख मानता है। इसप्रकार जड़ की अवस्थाओं में सुख-दुःख मानता है। तथा जिसमें दुःख मानता है उसे दूर करने की इच्छा करता है और जिसमें सुख मानता है उस संयोग को बनाये रखने की इच्छा करता है; परन्तु उन संयोगों का दूर होना या बना रहना जीव की इच्छा के आधीन नहीं है, अतः जीव के ये उपाय झूठे है।

सुख-दुःख जड़ में नहीं होता; परन्तु जीव की पर्याय में ही सुख-दुःख का वेदन होता है। साता-असाता का उदय जीव को जबरदस्ती उसके फल में नहीं जोड़ता। मुनि गजकुमार के शिर पर अग्नि जल रही थी उससमय भी उन्हें अन्तर में चैतन्य के आनन्द का वेदन था, दुःख की कल्पना नहीं थी। असाता के उदय से वैसा संयोग आया। उस संयोग को तो बदला नहीं जा सकता, परन्तु उससमय जीव स्वयं उस संयोग का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव सन्मुख होकर आनन्द में लीन हुआ, वहाँ असाता का उदय कुछ भी दुःख नहीं कराता। साता-असाता का उदय होने पर जीव को भ्रम से उसमें सुख-दुःख भासित होता है; कर्म कोई जबरदस्ती से जीव को सुख-दुःख की कल्पना नहीं कराता।

किसी भी पर-द्रव्य की ताकत नहीं है कि जीव को संसार में परिभ्रमण करावे। जीव स्वयं अपनी भूल से परिभ्रमण करे तो कर्म निमित्त होता है। जीव स्वयं ही अपनी भूल से परिभ्रमण करता है और स्वयं ही अपनी समझ से मुक्ति प्राप्त करता है। पर-द्रव्य जीव को संसार या मोक्ष नहीं कराता। साता-असाता के उदय से बाहर में जो संयोग मिलते हैं, उनमें सुख-दुःख माने अथवा उन्हें हटाना या बनाये रखना चाहे – ये सब उपाय मिथ्या हैं।

असाता के उदय से शरीर में रोगादि का संयोग होने पर उसमें दुःख मानना मिथ्या है। उन रोगादि संयोगों को दूर करने की इच्छा भी सुखी होने का मिथ्या उपाय है।

साता के उदय से पैसा मिले, शरीर में निरोगता आदि हो, उसमें सुख मानना मिथ्या है और उन संयोगों को रखने की इच्छा भी सुखी होने का मिथ्या उपाय है।

उन संयोगों का रहना या दूर होना जीव के आधीन नहीं, परन्तु साता-असाता के उदय के आधीन वे अवस्थायें होती हैं। शरीर में आहार आना या न आना, रोग होना अथवा निरोगता रहना, लक्ष्मी आना या जाना – ये सभी अवस्थायें जीव के आधीन नहीं हैं, परन्तु ये सब वेदनीयकर्म के उदय के अनुसार होती हैं। असाता को मिटाने के लिये और साता की प्राप्ति के लिये तो सभी जीव प्रयत्न करते ही हैं, फिर भी वे कार्य उनकी इच्छा के आधीन नहीं बनते।

कोई जीव तो बहुत इच्छा करे फिर भी बाहर में कार्य सिद्धि नहीं होती और किन्हीं जीवों के थोड़ी इच्छा से अथवा प्रयत्न बिना भी उन कार्यों की सिद्धि होती देखी जाती है। दवाओं में लाखों रुपये खर्च करने पर भी शरीर में निरोगता नहीं रहती और किसी को दवा बिना भी शरीर में निरोगता रहती है। यह तो वेदनीयकर्म के उदय के अनुसार होता है। आत्मा का प्रयत्न इसमें कार्यकारी नहीं है। आहार लेना अथवा क्षुधा मिटाना आत्मा के आधीन नहीं है, वह शरीर की अवस्था तो वेदनीयकर्म के निमित्त से होती है, फिर भी यह जीव जड़ की अवस्था को बदलकर अपना दु:ख मिटाना चाहता है, परन्तु दु:ख मिटाने के उसके ये उपाय मिथ्या हैं। दु:ख मिटाने का सच्चा उपाय तो सम्यग्दर्शनादिक है – यह बात आगे आयेगी।

देखो ! जो बाहर के उपायों से दु:ख मिटना अथवा धर्म होना बताते हैं, वे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र हैं और जो उन्हें भला माने, उनका अनुमोदन करे, वह भी मिथ्यादृष्टि है। जड़ से धर्म होता है, निमित्त से लाभ होता है अथवा पुण्य से धर्म होता है – ऐसा कहने वाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र हैं और उन्हें मानने वाला भी मिथ्यादृष्टि है। भगवान कहते हैं कि जिनमार्ग में मुनियों की दशा त्रिकाल नग्न दिगम्बर ही होती है, इसके अलावा जो वस्त्र, पात्र, दंडा और मुँह पट्टी आदि परिग्रह रखकर अपने को मुनिपना होना मानते हैं, वे तो कुलिंगी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। और जो जीव ऐसे जीवों को गुरुरूप से मानते है, मनवाते हैं, मानने वाले को भला जानते हैं, वे भी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का विनय-बहुमान-वंदन करते हुए भय लगता है, लज्जा आती है और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को भय से लज्जा से वंदन, आदर आदि करता है तो वह महा मिथ्यादृष्टि धर्म का दुश्मन है। अभी जिसको इतने व्यवहार का भी विवेक नहीं है उसको अध्यात्म का भान तो होता ही नहीं।

सर्वज्ञ की परम्परा से आये हुए षटखण्डागम आदि शास्त्रों से विरुद्ध अन्य विपरीत शास्त्रों को आगमरूप में मानना अथवा भावलिंगी दिगम्बर संत के अलावा अन्य वस्त्रादि सहित को मुनि मानना – यह मिथ्यामान्यता है। जिसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता है, वह जीव गृहीत मिथ्यादृष्टि है। मुनि नाम रखाकर "आत्मा शरीर के पिण्ड को तीस गाँव ले गया" – ऐसी प्ररूपणा करे तो वह मुनि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है। ऐसे मिथ्यादृष्टि के पास से सुखी होने का सच्चा उपाय मिल ही नहीं सकता।

....तथा कदाचित् उपाय भी करे और वैसा ही उदय आये तो थोड़े काल तक किंचित् किसी प्रकार की असाता का कारण मिटे और साता का कारण हो; वहाँ भी मोह के सद्भाव से उनको भोगने की इच्छा से आकुलित होता है। एक भोग्य वस्तु को भोगने की इच्छा हो, जबतक

वह नहीं मिलती तबतक तो उसकी इच्छा से आकुल होता है; और वह मिली उसीसमय अन्य को भोगने की इच्छा हो जाती है, तब उससे आकुल होता है। जैसे – किसी को स्वाद लेने की इच्छा हुई थी, उसका आस्वाद जिससमय हुआ उसीसमय अन्य वस्तु का स्वाद लेने की तथा स्पर्शनादि की इच्छा उत्पन्न होती है।

अथवा एक ही वस्तु को पहले अन्य प्रकार भोगने की इच्छा हो, जबतक वह नहीं मिले तबतक उसकी आकुलता रहे और वह भोग हुआ उसीसमय अन्य प्रकार से भोगने की इच्छा हो जाती है। जैसे स्त्री को देखना चाहता था, जिससमय अवलोकन हुआ उसी समय रमण करने की इच्छा होती है। तथा ऐसे भोग भोगते हुए भी उनके अन्य उपाय करने की आकुलता होती है तो उन्हें छोड़कर अन्य उपाय करने में लग जाता है; वहाँ अनेक प्रकार की आकुलता होती है।

देखो, एक धन का उपाय करने में व्यापारादिक करते हुए तथा उसकी रक्षा करने में सावधानी करते हुए कितनी आकुलता होती है ? तथा क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, मल, श्लेष्मादि असाता का उदय आता ही रहे; उसके निराकरण से सुख माने – सो काहेका सुख है ? यह तो रोग का प्रतिकार है। जबतक क्षुधादिक रहें तबतक उनको मिटाने की इच्छा से आकुलता होती है, वह मिटें तब कोई अन्य इच्छा उत्पन्न हो उसकी आकुलता होती है और फिर क्षुधादिक हों तब उनकी आकुलता हो आती है।

इसप्रकार इसके उपाय करते हुए कदाचित् असाता मिटकर साता हो, वहाँ भी आकुलता बनी ही रहती है, इसलिये दु:ख ही रहता है।

तथा ऐसे भी रहना तो होता नहीं है, उपाय करते-करते ही अपने को असाता का उदय ऐसा आये कि उसका कुछ उपाय बन नहीं सके और उसकी पीड़ा बहुत हो, सही न जाये, तब उसकी आकुलता से विह्वल हो जाये; वहाँ महा दु:खी होता है।....

दु:ख के अभाव का उपाय बाहर के संयोग को दूर करना नहीं है, बाहर में संयोग आना या जाना, वह जीव की इच्छा के आधीन नहीं है; परन्तु वेदनीयकर्म के उदय के अनुसार है। किसीसमय जीव की इच्छा और बाहर के संयोग का मेल बैठ जाए तो वहाँ भी वह जीव की इच्छा के कारण नहीं हुआ, परन्तु उस जाति के वेदनीयकर्म के उदय के कारण हुआ है। वहाँ अपनी इच्छानुसार साता का संयोग होने पर मोह के कारण अज्ञानी जीव उसमें सुख मानकर उसे भोगने की इच्छा से व्याकुल होता है। तथा एक वस्तु भोगने की इच्छा हो और वह न मिले तो आकुलता से दु:खी होता है। तथा वह वस्तु मिले तो फिर अन्य वस्तु को भोगने की इच्छा होती है। इसप्रकार जीव अपने ज्ञायक चिदानन्द आत्मा को चूककर बाहर के संयोग

की इच्छा से व्याकुल ही हुआ करता है। कभी स्पर्शादिक की इच्छा होती है और फिर दूसरे ही क्षण रस भोगने की इच्छा होती है, तथा फिर वह बदलकर अन्य वस्तु की इच्छा होती है। इसप्रकार उस इच्छा की आकुलता-व्याकुलता से दुःखी ही हुआ करता है। परन्तु दुःख मिटाने का सच्चा उपाय तो आत्मा में है, उसे नहीं जानता। इच्छा होती है वही दुःख है। मैं तो ज्ञान हूँ, इच्छा होती है वह मेरा अपराध है – ऐसा समझे तो इच्छा की मर्यादा हो जाये। अज्ञानी को इच्छा होने पर वह संयोगों को भोगने से दुःख मिटना मानता है। ज्ञानी को इच्छा होती है, परन्तु वह उसे अपराध जानता है और संयोगों को भोगने से दुःख मिटेगा – ऐसा नहीं मानता। मैं अन्तर में ज्ञानस्वभावी हूँ – ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके उसी की भावना-लीनता-करना ही दुःख मिटाने का उपाय है।

मेरा तत्त्व ज्ञानानन्द और इच्छा रहित है, और बाहर के संयोग मुझे सुख-दुःख के कारण नहीं हैं। मेरे स्वभाव में पर का अभाव है, इससे पर-वस्तु मुझको सुख-दुःख का कारण हो ही नहीं सकती। सच्चिदानन्द तो मेरे स्वरूप में है – ऐसा अज्ञानी नहीं जानता और पर-वस्तु में सुख की कल्पना करके उसे भोगने की इच्छा किया करता है। पर में कहीं सुख नहीं है और मेरा सुख मेरे में ही है – इसप्रकार रुचि का परिवर्तन किये बिना कभी सुख का उपाय नहीं होता। पर-वस्तु तो ज्ञाता का ज्ञेय है, उसमें सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है। मेरा ज्ञानस्वरूप ही सुखमय है। उस ज्ञानस्वरूप में रुचि बढ़कर उसी में एकाग्रता होना ही सुख का उपाय है – इस उपाय को तो जीव नहीं जानता और बाहर के संयोगों को भोगकर सुख होना मानता है। यह उपाय झूठा है और इसमें आकुलता ही है। अहो ! चैतन्य भगवान आत्मा ही ज्ञान और आनन्द से भरपूर है। उसे भूलकर अज्ञानी जीव पर में से आनन्द लेना चाहता है और चैतन्य के आनन्द की प्रतीति व रुचि भी नहीं करता।

असाता के उदय से शरीर में रोग, क्षुधा, सर्दी,गर्मी, मल इत्यादि होते हैं, जीव उन्हें दूर करके सुख पाना चाहता है, परन्तु उसमें सुख है ही नहीं। क्या शरीर की अवस्था में जीव का सुख होता है ? भूख लगी और मिठाई खाई – वहाँ अज्ञानी सुख मानता है; परन्तु यह तो जड़ शरीर की अवस्थायें हैं। उनमें जीव का सुख-दुःख नहीं है। देह से भिन्न चैतन्य तत्त्व है, उसमें ही सुख है – ऐसा पहचानकर उसकी रुचि करना ही सुख का सच्चा उपाय है। इसके अतिरिक्त संयोग में सुख-दुःख मानना (सुखी होने की) सच्ची रीति नहीं है।

संसार अवस्था में वेदनीयकर्म के उदय से शरीर में साता-असातारूप अवस्थायें होती हैं, उसमें जीव सुख-दुःख मानता है वह भ्रम है। शरीर में रोग, निरोग, क्षुधा, तृषा होना अथवा

मिटना – यह सब जड़ के कारण से है। वे अवस्थायें जीव के कारण नहीं होती, फिर भी जीव 'मैं करता हूँ' – ऐसा मानता है, वह अज्ञान है। रोग हुआ अथवा क्षुधा लगी, उसमें दु:ख मानता है और रोग व क्षुधा मिटने पर सुख मानता है; परन्तु वे सब जड़ की पर्यायें हैं उनमें सुख कैसा? जीव की अपनी पर्याय में से आकुलता मिटकर आनन्द आवे तो सुख कहलाये। जड़ की अवस्था पलटे, उसमें आत्मा का सुख कहाँ से आया ? भूख लगी और लड्डू मिले, वहाँ अज्ञानी ने सुख माना है, परन्तु यह कल्पना मात्र ही है। क्या जड़ लड्डुओं में तेरा सुख है ? जीव अनादि से अज्ञान भाव के कारण पर में सुख-दु:ख मानकर संसार परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा में दु:ख कहाँ होता है और उसका क्या स्वरूप है तथा उसके मिटाने का उपाय क्या है – इसकी अज्ञानी को खबर नहीं है।

क्षुधा होने पर खाने की इच्छा से दु:खी होता है और क्षुधा मिटने पर फिर मानादि की इच्छा से दु:खी होता है। वह इच्छा मिटने पर फिर से क्षुधादिक की व्याकुलता होती है। इस प्रकार एक के बाद एक इच्छा से आकुल-व्याकुल होकर दु:खी ही हुआ करता है। उसमें कहीं कुछ साता होने पर अपने को सुखी मानता है; परन्तु वह साता का उदय भी कोई सदा काल नहीं रहता। किसी जीव को कुछ ही काल साता रहती है, उसमें भी कभी असाता का ऐसा उदय आ जाता है कि वह मिटता ही नहीं, ऐसा रोग हो जाए कि किसी उपाय से मिटे ही नहीं।

यहाँ ऐसा समझाते है कि भाई ! शरीर में रोग, निरोग, साता, असाता आदि ये तो सब जड़ की अवस्थायें हैं। उनकी संभाल तेरे हाथ में नहीं है। तू तो शरीर रहित अरूपी ज्ञानघन चैतन्य आत्मा है, उसकी प्रतीति कर।

....सो इस संसार में साता का उदय तो किसी पुण्य के उदय से किसी के कदाचित् ही पाया जाता है; बहुत जीवों के बहुत काल असाता ही का उदय रहता है। इसलिये उपाय करता है वे झूठे हैं।

अथवा बाह्य सामग्री से सुख-दु:ख मानते हैं सो ही भ्रम है। सुख-दु:ख तो साता-असाता का उदय होने पर मोह के निमित्त से होते हैं – ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। लक्ष धन के धनी को सहस्र धन का व्यय हुआ तब वह तो दु:खी है और शत धन के धनी को सहस्र धन हुआ तब वह सुख मानता है। बाह्य सामग्री तो उसके इससे निन्यानवें गुनी है। अथवा लक्ष धन के धनी को अधिक धन की इच्छा है तो वह दु:खी है और शत धन के धनी को सन्तोष है तो वह सुखी है। तथा समान वस्तु मिलने पर कोई सुख मानता है कोई दु:ख मानता है। जैसे – किसी को मोटे वस्त्र का मिलना दु:खकारी होता है, किसी को सुखकारी होता है। तथा शरीर में क्षुधा आदि पीड़ा

व बाह्य इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग होने पर किसी को बहुत दुःख होता है, किसी को थोड़ा होता है, किसी को नहीं होता। इसलिये सामग्री के आधीन सुख-दुःख नहीं हैं, साता-असाता का उदय होने पर मोह परिणमन के निमित्त से ही सुख-दुःख मानते हैं।....

संसार में साता का उदय तो कुछ जीवों को ही और कुछ काल तक ही रहता है, बहुत जीवों के तो बहुत काल असाता का ही उदय रहता है। अतः साता में सुख मानना और असाता में दुःख मानना मिथ्या है। मैंने दूसरे को मारा अथवा मैं बहादुरी से अन्य को बचा सकता हूँ – यह मान्यता अज्ञानी का मिथ्या अभिमान है। अन्य जीवों का मरना या बचना तेरे आधीन नहीं है। इस शरीर की अवस्था भी पूर्व के प्रारब्ध के अनुसार होती है, जीव के वर्तमान प्रयत्न के कारण नहीं होती। जड़ की अवस्था में आत्मा का अधिकार नहीं है। आत्मा क्या करता है ? कि अपने में शुभ-अशुभ परिणाम करता है अथवा आत्मा का भान करके वीतराग परिणाम करता है। जड़ शरीर की अवस्था में आत्मा का कुछ भी प्रयत्न नहीं है। तथा उसीप्रकार, जड़कर्मों का संक्रमण आदि हो, वह भी जड़कर्म की वैसी योग्यता के कारण होता है, जीव के वर्तमान परिणाम उसमें निमित्त हैं। जीव तीव्र मायाभाव करे तो पूर्व में बँधा हुआ पुण्य बदलकर पाप हो जाता है।

कोई जीव ऐसा मानता है कि मैं तो प्रयत्न करके पूर्व में बँधे हुए पाप को पुण्यरूप कर दूँगा, तो उसमें तो (ऐसी मान्यता में तो) पाप भाव है और पाप भाव से पूर्व पाप का संक्रमण होकर पुण्य हो – ऐसा नहीं बनता। शुभभाव के बिना पाप का संक्रमण होकर पुण्य नहीं होता और आयुष्य में तो संक्रमण भी नहीं होता। जितनी आयु की स्थिति है उसमें एकसमय भी कम-ज्यादा नहीं होता। आयुकर्म की उदीरणा होती है उसमें भी मृत्यु का जो समय है वह नहीं बदल सकता, सर्वज्ञदेव ने पहले से ही जो समय देखा है उसमें एक समय भी बदलता नहीं है फिर भी अज्ञानी भ्रम से मानता है कि मैं शरीर का ध्यान रखकर आयु बढ़ा दूँ। यह भी भ्रम ही है कि शरीर का ध्यान नहीं रखे तो आयु कम हो जाती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जिस जीव का, जिससमय जिसप्रकार, जिस संयोग से, जिस क्षेत्र में जन्म-मरण होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उसमें किंचित् भी फेरफार करने में इन्द्र, नरेन्द्र तथा जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। लोक में कहावत है न कि "दाने-दाने पर खाने वाले का नाम" उसका अर्थ क्या ? कि जो रजकण आना है वही आता है, एक रजकण में भी फेरफार करना आत्मा के अधिकार में नहीं है। यह तो लौकिक सिद्धान्त है। इसे लोग बोलते तो हैं, परन्तु उसका मर्म नहीं समझते। किसी भी संयोग से जीव को सुख-दुःख नहीं होता। जीव ही बाह्य सामग्री से सुख-दुःख मानता है – यही महाभ्रम है।

संयोग से सुख-दुःख है ही नहीं, उसका उदाहरण देते हैं – जैसे किसी जीव के पास लाख रुपये की सम्पत्ति हो और उसमें एक हजार कम हो जायें, वहाँ यद्यपि अभी भी निन्यानवें हजार रुपये पड़े हैं तथापि वह दुःख मानता है कि अरेरे ! हजार रुपये कम हो गये !! और दूसरे के पास सौ रुपये की सम्पत्ति है उसे नौ सो रुपये और मिलने से एक हजार हो गये तो वह सुख मानता है। अब यदि संयोग से सुख-दुःख होता हो तो हजार रुपये वाले की अपेक्षा निन्यानवें हजार वाला जीव निन्यानवें गुना अधिक सुखी होना चाहिये; परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अतः संयोग से सुख-दुःख मानना मिथ्यात्व भाव है। साता में सुख और असाता दुःख – यह तो मोह की कल्पना है। जीव को सुख-दुःख मोह के अनुसार होता है। जिसके पास निन्यानवें हजार रुपये हैं फिर भी वह अधिक धन की इच्छा के कारण दुःखी ही है अर्थात् उसे इच्छा का ही दुःख है। तथा एक हजार रुपये वाला भी यदि संतोष करे तो सुखी ही है अर्थात् इच्छा के अभाव से सुख है। अतः यहाँ यह सिद्धान्त फलित हुआ कि सुख-दुःख संयोग से नहीं, किन्तु इच्छा के कारण दुःख और इच्छा के अभाव से सुख है।

समान वस्तु मिलने पर भी वहाँ कोई सुख मानता है, कोई दुःख मानता है। जैसे किसी को मोटा वस्त्र मिलना दुःखकारी होता है जबकि किसी को सुखकारी होता है। शरीर में भूख आदि पीड़ा अथवा बाह्य इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग होने पर किसी को थोड़ा दुःख होता है, किसी को बहुत दुःख होता है और किसी को कुछ भी दुःख नहीं होता। अतः सामग्री के आधीन सुख-दुःख नहीं है, परन्तु साता-असाता का उदय होने पर मोह परिणामों के निमित्त से जीव सुख-दुःख मानता है।

जो दुपट्टा सर्दी में अच्छा लगता है वही दुपट्टा गर्मी में अच्छा नहीं लगता, अतः दुपट्टा कुछ भी सुख-दुःख का कारण नहीं है। सामग्री मिलना या दूर करना जीव के आधीन नहीं है तथा उस सामग्री से सुख-दुःख नहीं है। मैं सामग्री को मिलाता हूँ और सामग्री से मुझे सुख-दुःख है – यह मान्यता जीव का अज्ञान है और इसी से जीव संसार में भ्रमण कर रहा है।

अरे जीव ! पहले यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है उसका निश्चय तो कर ! तेरा सुख ज्ञानानन्द आत्मवस्तु में है उसे भूलकर तूने पर में सुख-दुःख की कल्पना की है, वह तो भ्रम है। रोग होने के समय किसी को मोह के कारण अधिक दुःख लगता है। अन्य जीव को रोग होने पर मंद राग के कारण अल्प दुःख लगता है। तथा वीतरागी संतों को जरा भी दुःख नहीं होता। अतः संयोग से सुख-दुःख नहीं है॥

धर्मी सम्यग्दृष्टि को अन्तरंग में भान है कि मैं तो चिदानन्द आनन्दघन आत्मा हूँ, यह देह मैं नहीं, देह से मुझे सुख-दुःख नहीं होता। देखो ! इन सुकौशल मुनि के देह को सिंहनी खा जाती है वहाँ भी वे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हैं, इससे उन्हें किंचित् भी दुःख नहीं होता; अतः संयोग से दुःख नहीं है। धर्मात्मा को रोगादि होने पर किंचित् दुःख लगे परन्तु अन्दर में भान है कि इस शरीर के रोग के कारण मुझे दुःख नहीं है और शरीर का रोग मिटाना मेरे अधिकार में नहीं है। मेरा आत्मा चिदानन्दकंद है, उसमें दुःख नहीं है। जो अल्प राग शेष है उसका दुःख है। अज्ञानी तो पर से अपने को सुख-दुःख मानता है, वह मिथ्यात्व है। जगत की वस्तुओं में जिस काल में जो स्थिति बनने वाली हो वह उनके कारण बनती है; परन्तु अज्ञानी संयोग को सुख-दुःख का कारण मानकर उसमें हर्ष-शोक करता है अर्थात् उसकी दृष्टि संयोग पर है। वह संयोग की दृष्टि छोड़कर अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि नहीं करता। धर्मी जीव को भान है कि मैं तो ज्ञानानन्द-चिदानन्द स्वभावी हूँ, संयोग मुझसे भिन्न है; उन संयोगों में मेरा सुख-दुःख नहीं हैं – इसप्रकार ज्ञानी को स्वभाव दृष्टि हुई है तथापि अस्थिरता जन्य अल्प राग-द्वेष होते हैं; परन्तु वे उनका कारण संयोग को नहीं मानते।

पहले ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति समझनी चाहिये कि मुझे कहीं भी बाहर की सामग्री से सुख-दुःख नहीं है और बाहर की वस्तु की क्रिया मेरे आधीन नहीं है।

....यहाँ प्रश्न है कि – बाह्य सामग्री का तो तुम कहते हो वैसा ही है; परन्तु शरीर में तो पीड़ा होने पर दुःखी होता ही है और पीड़ा न होने पर सुखी होता है – यह तो शरीर अवस्था ही के आधीन सुख-दुःख भासित होते हैं ?....

देखो ! यहाँ शिष्य का यह प्रश्न है कि बाहर में जो दूर हैं ऐसे स्त्री, पुत्र, मकान, लक्ष्मी आदि जीव को सुख-दुःख का कारण नहीं हैं। आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता है, उसमें पूर्व प्रारब्ध से प्राप्त हुई जो बाह्य में साता-असाता की सामग्री का संयोग, उसे सुख-दुःख का कारण मानना भ्रम और अज्ञान है। स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र – ये सब पर पदार्थ हैं वे कोई आत्मा को सुख-दुःख के कारण नहीं हैं। निर्धनता दुःख का और धनवानपना सुख का कारण नहीं है – यह तो ठीक है; परन्तु इस शरीर में रोग आता है और पीड़ा होती है, वहाँ तो जीव दुःखी ही होता है और शरीर में साता हो तो सुखी होता है। पेट में सूल का दर्द होने पर जीव दुःखी होता है, अतः सुख-दुःख शरीर की अवस्था के आधीन है या नहीं ? पैसा जावे वहाँ तो समाधान कर लें और दुःख न हो, परन्तु शरीर में बड़ा रोग हो तब तो जीव दुःखी हुए बिना कैसे रहे ? अतः शरीर की अवस्था से सुख-दुःख होना विशेष भासित होता है ?

....समाधान – आत्मा का तो ज्ञान इन्द्रियाधीन है और इन्द्रियाँ शरीर का अङ्ग हैं, इसलिये इसमें जो अवस्था हो उसे जाननेरूप ज्ञान परिणमित होता है; उसके साथ ही मोहभाव हो, उससे शरीर की अवस्था द्वारा सुख-दुःख विशेष जाना जाता है। तथा पुत्र धनादिक से अधिक मोह हो तो अपने शरीर का कष्ट सहे उसका थोड़ा दुःख माने, और उनको दुःख होने पर अथवा उनका संयोग मिटने पर बहुत दुःख माने; और मुनि हैं वे शरीर को पीड़ा होने पर भी कुछ दुःख नहीं मानते; इसलिये सुख-दुःख का मानना तो मोह ही के आधीन है। मोह के और वेदनीय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये साता-असाता के उदय से सुख-दुःख का होना भासित होता है। तथा मुख्यत: कितनी ही सामग्री साता के उदय से होती है, कितनी ही असाता के उदय से होती है; इसलिये सामग्रियों से सुख-दुःख भासित होते हैं। परन्तु निर्धार करने पर मोह ही से सुख-दुःख का मानना होता है, औरों के द्वारा सुख-दुःख होने का नियम नहीं है। केवली के साता-असाता का उदय भी है और सुख-दुःख के कारण सामग्री का संयोग भी है; परन्तु मोह के अभाव से किंचित्मात्र भी सुख-दुःख नहीं होता। इसलिये सुख-दुःख को मोहजनित ही मानना। इसलिये तू सामग्री को दूर करने का या होने का उपाय करके दुःख मिटाना चाहे और सुखी होना चाहे सो यह उपाय झूठा है।....

वहाँ भी शरीर की अवस्था के कारण सुख-दुःख नहीं होता, परन्तु शरीर की अवस्था को जानते समय साथ में मोहभाव करता है उस मोहभाव के कारण जीव शरीर की अवस्था से अपने को सुखी-दुःखी मानता है। वस्तुत: रोग का दुःख नहीं परन्तु मोह का दुःख है। संसारी आत्मा का ज्ञान इन्द्रियाधीन है और इन्द्रियाँ शरीर का अंग हैं। अब उसमें जो अवस्था वेदन में आती है ज्ञान के उसे जाननेरूप परिणमने के साथ ही मोहभाव हो जाता है – इसकारण शरीर की अवस्था से सुख-दुःख विशेष जानते हैं।

ज्ञान का स्वभाव तो जानने का है। परन्तु अज्ञानी का ज्ञान ज्ञानस्वभाव को चूककर इन्द्रियों के आधीन हो रहा है। शरीर की जो अवस्था होती है, ज्ञान उसके जाननेरूप प्रवर्तता है, परन्तु उस ज्ञान के प्रवर्तने के साथ ही अज्ञानी ऐसा मोहभाव करता है कि "इस रोग से मैं दुःखी, निरोगता से मैं सुखी" – इसप्रकार मोहभाव से ही जीव शरीर में सुख-दुःख मानता है। वस्तुत: यह असत्य मान्यता ही जीव को दुःख का कारण है।

शरीर कटता है, वहाँ जीव को शरीर के कटने का दुःख नहीं है। शरीर के कटनेरूप अवस्था को भी जीव ज्ञान से जानता है; परन्तु उससमय जानने के साथ ही मोह करके अपने को दुःखी मानता है। जड़ की अवस्था को जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु जड़ की अवस्था में सुख-दुःख मानना तो मिथ्यात्व भाव ही है। अभी जड़-चेतन की भिन्नता का भी भान न

हो तो धर्म कहाँ से होगा ? धर्म का मूल तो भेदज्ञान है। जिसको जड़ से भी भेदज्ञान नहीं है उसको राग से भेदज्ञान नहीं होता। मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्य हूँ, देह मुझसे भिन्न है, उसमें मेरा सुख-दु:ख नहीं है – ऐसे भेदज्ञान बिना धर्म नहीं होता। मेरा ज्ञानस्वभाव देह से तो भिन्न है ही, राग से भी भिन्न है – ऐसे भेदज्ञान से ही धर्म होता है। जड़-चेतन अनादि से ही भिन्न होने पर भी अज्ञानी उन्हें एकमेक मानकर जड़ शरीर की अवस्था से अपने को सुखी-दु:खी मान रहा है। जड़-चेतन की परख तो कर ! कि जड़ की अवस्था जड़ से और मेरी अवस्था मुझसे है; जड़ शरीर की अवस्था में मेरा सुख-दु:ख नहीं है। अभी जो जड़-चेतन की भिन्नता को भी नहीं जानता उसे तो सच्चा ज्ञान ही नहीं है। तथा सच्चे ज्ञान के बिना दर्शनप्रतिमा या सामायिक कहाँ से हो सकती है ? जीव का स्वभाव तो देह की अवस्था को जानने का है। रोग-निरोगता आदि होना देह का धर्म है। देह का धर्म जीव के ज्ञान में ज्ञात होता है; परन्तु देह की अवस्था के कारण जीव को सुख-दु:ख नहीं होता।

देखो ! पुत्र, धनादिक के साथ अधिक मोह हो तो अपने शरीर का कष्ट भी सहन करता है और उसका भी थोड़ा दु:ख मानता है; परन्तु इन पुत्र, धनादिक को दु:ख होने अथवा इनका संयोग मिटने से बहुत दु:ख मानता है। तथा मुनिजन शरीर की पीड़ा होने पर भी उसमें कुछ दु:ख नहीं मानते – अत: सुख-दु:ख का मानना मोह के ही आधीन है।

स्वयं बीमार होवे, एक सौ पाँच डिग्री बुखार हो और पुत्र भी बीमार हो, वहाँ अपने शरीर की पीड़ा की दरकार छोड़कर भी पुत्र की संभाल करने लग जाता है, क्योंकि उसके प्रति शरीर से अधिक मोह है। इससे निश्चित होता है कि शरीर के रोग के कारण दु:ख नहीं होता, परन्तु मोह से ही दु:ख होता है। यदि अपमान होता हो तो शरीर निरोग होने पर भी उससमय स्वयं दु:खी होता है और शरीर में रोग हो उससमय भी यह सुने कि पाँच लाख रुपये की कमाई हुई है अथवा रायबहादुर का खिताब मिला है, तो वहाँ अपने को सुखी मानता है। अत: सुख-दु:ख का सम्बन्ध शरीर की रोग-निरोगता के साथ नहीं है। किसी का इकलौता पुत्र खो गया हो और दस वर्ष पश्चात् यह समाचार मिले कि तुम्हारा पुत्र पच्चीस लाख रुपये कमाकर आ रहा है, तो उससमय शरीर में कैसा भी रोग हो तो भी उससमय रोग को भूलकर कैसा हर्ष मानता है ? जहाँ मोह है वहाँ सुख मान लेता है।

किसी का इकलौता पुत्र परदेश से आने वाला था और उसका पिता उसे लेने गया, पुत्र जिस धर्मशाला में आकर ठहरा उसी धर्मशाला के बगल के कमरे में पिता ठहरा, किन्तु उसे पुत्र की खबर नहीं थी। रात्रि में पुत्र को बुखार आने से वह जोर से आवाज करता है वहाँ पिता विचारता है कि यह कौन आकर ठहरा है ? रात्रि में सोने भी नहीं देता ! ऐसा विचारकर

उसने पूछा कि कहाँ से आये हो ? जब पुत्र ने नाम बताया तो 'यह मेरा ही पुत्र है' ऐसा पहिचानकर नींद को भूल गया और जागृत होकर उसका उपचार करने लगा। देखो ! पहले जिससे अरुचि हो रही थी उसी का अब उपचार कर रहा है; क्योंकि मोह है। पुत्र को पहिचाना वहाँ ज्ञान के साथ ही स्वयं मोह करता है। पुत्र के मोह के कारण शरीर के रोग को अथवा थकान को भी नहीं गिनता – अत: निश्चित होता है कि शरीर की अवस्था से सुख-दु:ख नहीं होता। मुनिजनों के शरीर में रोग हो, सिंह शरीर को खा जाए, फिर भी उन्हें दु:ख नहीं होता; क्योंकि अन्दर में मोह नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि **'जितना मोह उतना दु:ख !'** जैसे किसी को रोग थोड़ा हो किन्तु मोह अधिक हो तो उसे बहुत दु:ख है और बहुत रोग होने पर भी यदि मोह नहीं है तो दु:ख नहीं होता।

मोहनीय के और वेदनीय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ अज्ञानी को साता-असाता के उदय से सुख-दु:ख भासित होता है। तथा साता के उदय से कितनी ही सामग्री प्राप्त होती है, उसके ऊपर लक्ष्य जाने से जीव अपने को सुखी मानता है और असाता के उदय से कितनी ही सामग्री प्राप्त होती है, उसके ऊपर लक्ष्य जाने से जीव अपने को दु:खी मानता है; परन्तु वस्तुत: तो वह सुख-दु:ख की मान्यता मोह से ही होती है। जिसको मोह नहीं है उसको संयोग में सुख-दु:ख की मान्यता नहीं होती। मोह के सिवाय अन्य के द्वारा सुख-दु:ख होने का नियम नहीं है। अर्थात् एक ही नियम है कि "जितना मोह उतना दु:ख है और मोह का अभाव ही सच्चा सुख है।" – ऐसा यथार्थ निर्णय करना चाहिए। मुनिराज को शरीर में रोगादिक होने पर भी सुख-दु:ख की मान्यता नहीं है।

केवली भगवान को पूर्ण वीतरागता हुई है। उन्हें भी तेरहवें गुणस्थान में साता-असाता का उदय होता है तथा सुख-दु:ख की सामग्री का संयोग भी है; समवशरणादिक सुख की सामग्री है और अन्दर कर्म के उदय में असाता के परमाणु अनन्तवें भाग (समुद्र में नमक की डली के जैसे) होते हैं, बाहर में रोग-क्षुधादि हों – ऐसी दु:ख सामग्री तो होती ही नहीं। केवली के असाता में ऐसी तीव्रता नहीं है कि रोग-क्षुधादि हों; परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि भगवान के साता और असाता का उदय होने पर भी वीतरागता के कारण वहाँ सुख-दु:ख की कल्पना नहीं है। अत: सुख-दु:ख की कल्पना तो मोह का ही कार्य है, सामग्री के कारण सुख-दु:ख की कल्पना नहीं होती। यदि सामग्री के कारण सुख-दु:ख की कल्पना होती हो तब तो केवली के भी होनी चाहिये। सर्वज्ञदेव केवलीभगवान को देह में रोग-क्षुधादि तो होते ही नहीं। जो सर्वज्ञदेव के आहार-पानी, रोग, दवा होना बताते हैं वस्तुत: उन्होंने सर्वज्ञदेव को पहिचाना ही नहीं है।

कोई कहे कि अपने को उस निमित्त से क्या काम है ? उपादान तो अपना ही है न ? तो उस जीव को वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है–

उपादान का नाम ले वे जो तजे निमित्त।
पावे नहिं सिद्धत्व को, रहे भ्रान्ति में स्थित॥

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं, उस निमित्त को नहीं पहिचाने, उनका विनय-बहुमान नहीं करे तो वह स्वच्छन्दी है, उसको उपादान का भान ही नहीं होता। शास्त्र में तो कहा है कि एक अक्षर का भी लोप करे तो अनन्त संसारी होता है, तो फिर जिन्होंने देव-शास्त्र-गुरु को ही विपरीत मनवाये, उनका तो कहना ही क्या ? शास्त्र कैसे भी हों, ज्ञान तो अपना है न ? ज्ञान कहाँ शास्त्र में से आता है ? – ऐसा कहकर सत्शास्त्रों का विनय छोड़कर खोटे शास्त्रों को माने, उनका विनय करे, तो वह स्वच्छन्दी-मिथ्यादृष्टि है। यहाँ केवली के असाता की सामग्री का होना कहा है वह तो कर्म में उस जाति के रजकणों का संग है; परन्तु उस असाता का संयोग ऐसा नहीं है कि क्षुधादिक हों। सुख-दुःख मोहजनित ही हैं, संयोग जनित नहीं। अतः तू सामग्री को दूर करने के अथवा रखने के उपाय करके दुःख मिटाना और सुखी होना चाहता है; परन्तु यह उपाय मिथ्या है।

....तो सच्चा उपाय क्या है ? सम्यग्दर्शनादिक से भ्रम दूर हो तब सामग्री से सुख-दुःख भासित नहीं होता, अपने परिणाम ही से भासित होता है। तथा यथार्थ विचार के अभ्यास द्वारा अपने परिणाम जैसे सामग्री के निमित्त से सुखी-दुःखी न हों वैसे साधन करे तथा सम्यग्दर्शनादि की भावना से ही मोह मंद हो जाये तब ऐसी दशा हो जाये कि अनेक कारण मिलने पर भी अपने को सुख-दुःख नहीं होता; तब एक शांतदशारूप निराकुल होकर सच्चे सुख का अनुभव करता है, और तब सर्व दुःख मिटकर सुखी होता है – यह सच्चा उपाय है।....

सम्यग्दर्शनादिक से भ्रम दूर हो तो सामग्री से सुख-दुःख भासित न होकर अपने ही परिणामों से सुख-दुःख भासित हो। मुझे संयोगों से सुख-दुःख नहीं परन्तु अपने ही परिणामों से सुख-दुःख है – ऐसा निर्णय करके अपने परिणाम को देखने लगे और परिणामी ऐसे स्वभाव की दृष्टि हो (तो सुख प्रगट हो)। सुख-दुःख किस कारण से है – यह जाने तो उसे मिटाने के लिये सच्चा उपाय करे। परन्तु यदि सामग्री से ही सुख-दुःख माने तो सामग्री को ही मिलाना अथवा हटाना चाहे – तो ये उपाय मिथ्या हैं। सुख का सच्चा उपाय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। मेरे में संयोग और सामग्री का अभाव है और एक समय का संसार भी मेरे चिदानन्द स्वभाव में नहीं है; जो पहले ऐसी श्रद्धा करता है उसके अभिप्राय में संसार छूटता है। वर्ते

अन्तरशोध'' – अर्थात् अन्तर के स्वभाव का भान करके उसमें वर्तने लगे। जो संयोग से ही सुख-दुःख मानता है वह अन्तर शोध में नहीं वर्तता और उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नही होते; इसलिये कहा है कि सम्यग्दर्शनादि होने पर भ्रम दूर हों और सामग्री से अपने को सुखी-दुःखी न माने, सुख-दुःख अपने परिणाम से ही भासित हों। तथा यथार्थ विचार के अभ्यास से अपने परिणाम जैसे इस सामग्री के निमित्त से सुखी-दुःखी न हो वैसे साधन करे। इन सम्यग्दर्शनादिक की भावना से ही मोह मंद होकर ऐसी दशा होती जाती है कि अनेक कारण मिलने पर भी स्वयं को उनमें सुख-दुःख भासित नहीं होता। एक शान्तदशारूप निराकुल बनकर सच्चे सुख को अनुभवने पर ही सर्व दुःख मिटकर सुखी हुआ जाता है। अतः यही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

सम्यग्दर्शनादि से भ्रम दूर होने पर बाहर में सुख-दुःख भासित नहीं होता। बाह्य सामग्री को मिलाना या हटाना जीव के अधिकार में नहीं है; परन्तु उसमें सुख-दुःख की मान्यता करना या न करना, वह अपने हाथ की बात है अर्थात् निमित्त से सुख-दुःख होने की बात उड़ गई। स्वयं अपने भाव बदल दे तो कैसे भी संयोगों में भी अपने को सुख-दुःख भासित नहीं होता।

बाहर की नोकर्मरूप सामग्री अथवा द्रव्यकर्म के कारण जीव को सुख-दुःख नहीं होता। स्वयं बाहर की सामग्री में सुख-दुःख की कल्पना न करे तो कोई कर्म जबरदस्ती अपने को सुख-दुःख की कल्पना नहीं कराता। जब स्वभाव के सन्मुख होने पर स्वयं ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं और मिथ्याभ्रम मिटता है, तब यह जीव कर्म के उदय से, शरीर की अवस्था से अथवा बाहर की सामग्री से अपने को सुख-दुःख होना नहीं मानता; परन्तु सुख-दुःख होना अपने परिणामों से ही मानता है। वहाँ निमित्त बुद्धि उड़ गई और अपने परिणामों को ही देखने लगा। अपने परिणाम से ही सुख-दुःख भासित होने लगे अर्थात् कर्म या नोकर्म से सुख-दुःख होने की बात नहीं रही। जब स्वयं कल्पना से पर में सुख-दुःख मानता था तब कर्म, नोकर्म को निमित्त कहा जाता था; परन्तु स्वयं ने पर से सुख-दुःख की मान्यता का अभाव किया तो कर्म-नोकर्म निमित्त भी नहीं रहा।

जिसके अन्तर में मैं ज्ञान हूँ, बाह्य सामग्री से भिन्न हूँ – ऐसा भान होने पर मिथ्यात्व मिटा, उसे अल्प राग-द्वेष के कारण सुख-दुःख होता है; परन्तु वह सुख-दुःख संयोग के कारण होता भासित नहीं होता। इसीप्रकार वह मोहकर्म के कारण भी सुख-दुःख होना नहीं मानता, अपने परिणाम से ही सुख-दुःख होना मानता है।

सुहावने स्पर्श में सुख और गोखरु का काँटा लगे उसमें दुःख – ऐसा ज्ञानी नहीं मानते;

अज्ञानी उस सामग्री के कारण अपने को सुख-दुःख मानता है। सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्या-मान्यता मिटे अर्थात् सामग्री से सुख-दुःख न भासे तथा कर्म से भी सुख-दुःख न भासे, परन्तु अपने परिणाम से ही सुख-दुःख भासे अर्थात् कर्म तथा नोकर्मरूप दोनों निमित्तों से सुख-दुःख होने की बात नहीं रही; परन्तु सुख-दुःख का होना अपने भावकर्म से ही रहा। सामग्री को मिलाना या हटाना तो आत्मा के अधिकार में है ही नहीं – ऐसा समझने से निमित्त से सुख-दुःख की कल्पना नष्ट हो जाती है और (चारित्रमोह जनित) आसक्ति मात्र सुख-दुःख की कल्पना रह जाती है। तथा यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से जैसे सामग्री के निमित्त से सुख-दुःख न हो उसप्रकार अपने परिणामों में साधन करता है।

कोई कहे कि निमित्त तो 'कारक' है वह कोई 'ज्ञापक' नहीं अर्थात् वह निमित्त तो सुख-दुःख का कारण होता ही है ? परन्तु यह बात मिथ्या है। जीव स्वयं अपने परिणाम में सुख-दुःख करे तो उस सामग्री को उसमें निमित्त कहा जाता है; परन्तु ज्ञान में यथार्थ अभ्यास से स्वयं ऐसा साधन करे कि चाहे जैसा भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोग आवे तो भी उनमें सुख-दुःख नहीं भासित हो। इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि से ऐसी भावना द्वारा ही मोह मंद होने से ऐसी दशा हो जाती है कि किसी भी संयोग में सुख-दुःख भासता ही नहीं। संयोग ऐसे के ऐसे हों तथापि ज्ञान की भावना के अभ्यास से उनमें सुख-दुःख भासित नही होता। सच्चे अर्थात् एक शान्त दशारूप अनाकुल दशा होकर सच्चे सुख को अनुभवता है – वही दुःख का अभाव होकर सुखी होने का उपाय है।

सामने मोटा फणधारी नाग फण फैलाकर बैठा हो तो वहाँ ज्ञानी को उसके कारण दुःख नहीं भासित होता, अल्प भय हो तो वह अपने अस्थिरता के परिणाम से है – ऐसा जानता है। तथा इन्द्राणी का संयोग हो, उसमें ज्ञानी सुख नहीं मानते, अल्प राग हो वह अपनी अस्थिरता के कारण से है – ऐसा जानते हैं। इसप्रकार मेरा सुख-दुःख संयोग में नहीं, मैं तो ज्ञान हूँ – ऐसी ज्ञान की भावना से सुख-दुःख के परिणाम भी टल जाते हैं और निराकुल शान्तदशा होकर सच्चे सुख का अनुभव होता है। अतः ये सम्यग्दर्शनादि ही सुख के सच्चे उपाय हैं।

आयुकर्म के निमित्त से होने वाला दुःख और उससे निवृत्ति

....तथा आयुकर्म के निमित्त से पर्याय का धारण करना सो जीवितव्य है और पर्याय का छूटना सो मरण है। यह जीव मिथ्यादर्शनादिक से पर्याय ही को अपनेरूप अनुभव करता है; इसलिए जीवितव्य रहने पर अपना अस्तित्व मानता है और मरण होने पर अपना अभाव होना

मानता है। इसी कारण से इसे सदाकाल मरण का भय रहता है, उस भय से सदा आकुलता रहती है। जिनको मरण का कारण जाने उनसे बहुत डरता है, कदाचित् उनका संयोग बने तो महाविह्वल हो जाता है। – इसप्रकार महा दु:खी रहता है।

उसका उपाय यह करता है कि मरण के कारणों को दूर रखता है अथवा स्वयं उनसे भागता है। तथा औषधादिक साधन करता है; किला, कोट आदि बनाता है – इत्यादि उपाय करता है सो ये उपाय झूठे हैं; क्योंकि आयु पूर्ण होने पर तो अनेक उपाय करे, अनेक सहायक हों तथापि मरण हो ही जाता है, एक समयमात्र भी जीवित नहीं रहता। और जब तक आयु पूर्ण न हो तब तक अनेक कारण मिलो, सर्वथा मरण नहीं होता। इसलिये उपाय करने से मरण मिटता नहीं है; तथा आयु की स्थिति पूर्ण होती ही है, इसलिए मरण भी होता ही है। इसका उपाय करना झूठा ही है।....

अब आयुकर्म के निमित्त से होने वाला दु:ख तथा अभाव के लिये अज्ञानी द्वारा किए जाने वाले उपाय मिथ्या हैं – ऐसा कहते हैं।

आयुकर्म के निमित्त से शरीर धारण करना, वह जीवितव्य है। शरीर का संयोग मिला, वह तो पुद्गल के कारण से है; परन्तु पूर्व में जितनी आयु बांधी हो उतने काल शरीर का संयोग बना रहता है, उसका नाम जीवन है तथा आयु की स्थिति पूर्ण होने पर शरीर का संयोग छूटना, उसका नाम मरण है – इसप्रकार शरीर के संयोग-वियोग का ही दूसरा नाम जीवन-मरण है। जीव तो त्रिकाल है, उसे कोई आयु की मर्यादा नहीं है; परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वरूप को नहीं पहिचानता और शरीर को ही अपने स्वरूपपने अनुभवता है। मैं तो ज्ञानघन हूँ, यह देह मैं नहीं – ऐसा अज्ञानी नहीं जानता और मैं देह ही हूँ – ऐसा मानता है। मैं काला, मैं सुन्दर, मैं पतला, मैं मोटा, मेरे सींग ऐसे, ऐसे मेरे हाथ, ऐसा मेरा मुँह – इसप्रकार शरीर की पर्याय को ही अपना स्वरूप मानता है। इसकारण शरीर के संयोग से अपना जीवन मानता है और शरीर के वियोग से अपना मरण मानता है। इससे निरंतर मृत्यु के भय से दु:खी ही रहा करता है। शरीर का अनुभव कोई आत्मा को नहीं है; परन्तु शरीर ही मैं हूँ – ऐसा मिथ्यात्व के कारण मानता है। देह के संयोग से रहने वाले जीवन को ही आत्मा का अस्तित्व मानता है और देह के वियोग से मरण हो वहाँ अपना अभाव होना मानता है; परन्तु स्वयं तो देह से विलक्षण ज्ञानस्वरूप है, देह से भिन्न अनादि-अनन्त है – ऐसा नहीं जानता – इसकारण देह दृष्टि से मरण का भय रहा ही करता है।

शरीर के वियोग का समय आवे, उससमय यह जीव ऐसा मानता है कि अरे रे ! अब

मैं मर जाऊँगा। शरीर के रहने से अपना अस्तित्व मानता है और शरीर के अभाव से अपना नाश होना मानता है। इसकारण अज्ञानी को सदा ही मरण का भय रहता है; और इससे सदा आकुलता रहती है। अत: जिन्हें मरण का कारण जानता है ऐसे सिंह, बाघ, सर्प, रोग आदि से बहुत ही डरता है; परन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं तो अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरा नाश करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। यह देह मेरी नहीं है – यदि ऐसा जाने तो मृत्यु का भय नहीं रहता। (अज्ञानी को) देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान नहीं और देह ही मैं हूँ – ऐसा माना है, इसकारण जिनको मृत्यु का कारण जानता है उनसे बहुत डरता है और कदाचित् उन कारणों का संयोग बन जाए – सिंह आवे, सर्प काटे तो वहाँ महा विह्वल होकर महादु:खी होता है।

संयोग तेरे बदलने से नहीं बदलेंगे। भाई ! तू ज्ञान दृष्टि कर ! किसी संयोग से नष्ट हो जाए वैसा तेरा आत्मा नहीं है – ऐसे आत्मा को पहिचान तो मरण का भय नहीं रहेगा। जीवन और मरण तो आयुष्य के प्रमाण ही है, उसमें तेरे प्रयत्न से कुछ भी फेरफार संभव नहीं है। परन्तु मूढ़ जीव जिन्हें मरण के कारण जाने उन्हें दूर करने के भाव से औषधि आदि अनेक उपाय करता है, बड़े-बड़े गढ़ बनाता है, रक्षा के लिये अंगरक्षक रखता है; परन्तु ये सभी उपाय खोटे हैं। ये सभी उपाय करने पर भी मृत्यु का भय तो बना ही रहता है। आयु पूर्ण होने पर अनेक उपाय करने पर भी तथा ऊपर से इन्द्र उतरे तो भी मरण तो अवश्य होता ही है, उसमें एक समयमात्र भी परिवर्तन नहीं होता।

दर्द के समय बड़े डॉक्टरों को बुलावे; परन्तु कोई भी दर्दी को आयु की स्थिति के बिना बचा नहीं सकता। लाखों रुपये खर्च करे, डॉक्टरों को खड़ा रखे तथापि आयु पूर्ण होने पर देह छूट जाती है – ऐसा निर्णय करे तो उस ओर की आकुलता घटती है।

इन्द्र के प्रत्येक दिशा में अंगरक्षक के रूप में चौरासी हजार देव होते हैं, फिर भी वे इन्द्र को बचा नहीं सकते। आयु की स्थिति पूर्ण होने पर देह का वियोग हो जाता है। जिस संयोग से, जिस पलंग पर, जिस तिथि को देह छूटना हो उससमय छूटता है, उसे इन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी रखने को समर्थ नहीं है, एक समय भी आगे-पीछे, कम-ज्यादा नहीं होता। डॉक्टर आवे और इंजेक्शन लगावे तो भी वह शरीर की स्थिति को टिकाने में समर्थ नहीं होता। ज्ञानी को भी कमजोरीवश राग हो जाता है, परन्तु वे शरीर की अवस्था को टिकाना अपने आधीन नहीं मानते। लोगों में कहावत है न कि "पांचम की छठ नहीं होती", परन्तु लोग तो बोलने के लिये बोलते हैं, वास्तविक रहस्य नहीं समझते।

बाहर की सुविधा मिल जाए तो रोगी बच जाए और नहीं मिले तो रोगी नहीं बचे – ये सभी मान्यतायें व्यर्थ हैं। अनेक उपाय और बाहर की सहायता होने पर भी मरण अवश्य होता है। आयु पूर्ण होने पर जीव देह में एकसमय मात्र भी नहीं रहता।

जब तक आयु पूर्ण न हो तब तक अनेक कारण मिलने पर भी मरण सर्वथा नहीं होता। कोई जहर दे, कुँऐ में डाल दे – इत्यादि कारण मिलने पर भी मरण नहीं होता। असातावेदनीय के कारण प्रतिकूलता आवे, परन्तु आयु की स्थिति पूर्ण न हो वहाँ तक अनेक कारण मिलने पर भी मरण नहीं होता। और आयु पूर्ण होने की स्थिति हो वहाँ नाममात्र के कारणमात्र से, हार्टफेल मात्र से मरण हो जाता है। एक रोगी को जहर देने पर भी वह नहीं मरा ओर उसका दर्द मिट गया – यह सब कर्म के आधीन है। स्वयं का दर्द मिटने का हो तो मुश्किल से मिलने वाली दवा भी सहज मिल जाती है और दर्द मिट जाता है। ज्ञानी को राग आता अवश्य है, परन्तु राग के कारण दवा आती है और दवा के कारण रोग मिट जाता है – ऐसा वे नहीं मानते। दर्द मिटने के काल में मिटेगा – ऐसा मानते है। जब तक आयु पूर्ण न हो तब तक अनेक कारण मिलने पर भी मरण नहीं होता। तथा आयु की स्थिति अवश्य पूर्ण होती है और इस कारण मरण भी अवश्य होता है; अत: ये सभी उपाय मिथ्या हैं।

अनादिकाल से अज्ञानी जीव शरीर के टिकने को अपना सद्भाव मानता है और शरीर के मरण से अपना अभाव मानता है। अर्थात् जीवन बनाये रखने और मरण से बचने के अनेक उपाय करता है; परन्तु जीवन-मरण तो आयुकर्मानुसार होता है। इस कारण इसे मरण का भय तो रहा ही करता है। मैं देह से भिन्न चैतन्य हूँ, मेरा चैतन्य तत्त्व त्रिकाल है – ऐसा भान करे तो मरण का भय मिटे।

....तो सच्चा उपाय क्या है ? सम्यग्दर्शनादिक से पर्याय में अहंबुद्धि छूट जाये, स्वयं अनादिनिधन चैतन्यद्रव्य है उसमें अहंबुद्धि आये, पर्याय को स्वांग समान जाने; तब मरण का भय नहीं रहता। तथा सम्यग्दर्शनादिक से ही सिद्धपद प्राप्त करे तब मरण का अभाव ही होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक ही सच्चे उपाय हैं।....

सम्यग्दर्शनादि से शरीर में अहंबुद्धि मिटे और अपने अनादि-अनन्त चैतन्य तत्त्व में ही अहंबुद्धि हो तो शरीर के संयोग को पर का जाने और मरण का भय नहीं रहे। अज्ञानी मानता है कि शरीर टिके तो मेरा अस्तित्व रहे; परन्तु मेरा अस्तित्व तो मेरी चैतन्य सत्ता से है, शरीर से मेरा अस्तित्व नहीं; परन्तु शरीर के अभावरूप मेरा अस्तित्व है। देह का संयोग हो, उस समय भी आत्मा में तो उसका अभाव ही है – ऐसा जाने तो शरीर में आत्मबुद्धि छूट जाए और

मरण का भय नहीं रहे। भगवानआत्मा तो अनादि-अनन्त है, अर्थात् उसका आदि नहीं, मध्य नहीं और अंत नहीं और इस शरीर का संयोग तो आदि-अंत सहित है। जैसे नये-नये कपड़े बदलने से कोई मनुष्य बदल नहीं जाता, वैसे ही देव, मनुष्य, बालक, युवा, वृद्ध, रोग-निरोग आदि अनेक शरीरों के स्वाँग बदलने पर भी आत्मा तो अनादि-अनन्त वह का वही है – यदि ऐसा जाने तो मरण का भय नहीं रहता। श्रद्धा ऐसी हो जाए कि शरीर छूटने पर भी मेरा मरण नहीं होता। शरीर तो संयोगी वस्तु है और विकार भी क्षणिक है। मैं तो अनादि-अनन्त चैतन्यद्रव्य हूँ – ऐसे आत्मा का भान करने से मरण का भय नहीं रहता और फिर सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रदशा प्रगट करके जब सिद्ध पद पाता है तब देह का संयोग भी नहीं रहता और मरण का सर्वथा अभाव हो जाता है। अत: मरण से बचने का सच्चा उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। इसके अतिरिक्त दवा, शस्त्र, गढ़, कोट आदि कोई उपाय मरण से नहीं बचा सकते। जीव सच्चे उपाय को तो जानता नहीं और बाहर के उपाय करता है वे सब झूठे हैं। चैतन्यद्रव्य त्रिकाल है। उसका मरण है ही नहीं। आयुष्य देह का है। आत्मा की आयुष्य की पर्याय नहीं है – ऐसा जाने तो मरण का भय मिटे तथा सिद्धदशा होने पर मरण रहे नहीं।

नामकर्म के उदय से होने वाला दु:ख और उससे निवृत्ति

....तथा नामकर्म के उदय से गति, जाति, शरीरादिक उत्पन्न होते हैं। उनमें से जो पुण्य के उदय से होते हैं वे तो सुख के कारण होते हैं और जो पाप के उदय से होते हैं वे दु:ख के कारण होते हैं; सो यहाँ सुख मानना भ्रम है। तथा यह दु:ख के कारण मिटाने का और सुख के कारण होने का उपाय करता है वह झूठा है; सच्चा उपाय सम्यग्दर्शनादिक हैं। जैसा निरूपण वेदनीय का कथन करते हुए किया वैसा यहाँ भी जानना। वेदनीय और नाम में सुख-दु:ख के कारणपने की समानता से निरूपण की समानता जानना।....

नामकर्म के उदय से गति, जाति और शरीरादिक उत्पन्न होते हैं। उनमें जो पुण्य के उदय से प्राप्त होते हैं, वे तो सुख के कारण होते हैं और जो पाप के उदय से प्राप्त होते हैं वे दु:ख के कारण होते हैं; परन्तु वहाँ सुख मानना भ्रम है। तथा यह जीव जो दु:ख के कारणों को मिटाने व सुख के कारणों को मिलाने के उपाय करता है, वे सब झूठे हैं। सच्चा उपाय तो मात्र सम्यग्दर्शनादि ही है। इस सम्बन्ध में वेदनीय कर्म का निरूपण करते हुए जैसा कथन किया था वैसा ही यहाँ भी जानना।

शरीर की रचना आत्मा के कारण नहीं होती, वह तो नामकर्म के निमित्त से होती है। जड़ शरीर की दशा से अपने को सुख-दु:ख मानना भ्रम है। शरीर को सुधारकर सुख भोगना

– ऐसी अज्ञानी की मान्यता मिथ्या है। तथा शरीर खराब होने से अपने को दुःख मानना भी भ्रम है। शरीर की संरचना सुडौल हो या बेडौल हो – वह तो जड़ की है, उससे आत्मा को सुख-दुःख नहीं है। मजबूत और सुन्दर शरीर होने से अज्ञानी अपने को सुखी मानता है। "पहला सुख निरोगी काया" – यह सब अज्ञानी जीवों की कल्पना है। जैसे साता-असाता का उदय जीव को सुख-दुःख का कारण नहीं है, परन्तु जीव मोह से ही उसमें सुख-दुःख की कल्पना करता है, वैसे ही नामकर्म के निमित्त से अनुकूल शरीर मिले या बेडौल शरीर हो – उसमें जीव भ्रम से सुख-दुःख मानता है। इस कारण वह सुख के लिये शरीर को समरूप रखना चाहता है; परन्तु यह उपाय मिथ्या है। शरीर की रचना आत्मा के आधीन नहीं है। नामकर्म के निमित्त से शरीर की जो अवस्था होनी हो वह उसके कारण से होती है। आत्मा की पहिचान – श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही दुःख मिटाने का उपाय है।

गोत्रकर्म के निमित्त से होने वाला दुःख और उससे निवृत्ति

....तथा गोत्रकर्म के उदय से उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होता है। वहाँ उच्च कुल में उत्पन्न होने पर अपने को ऊँचा मानता है और नीच कुल में उत्पन्न होने पर अपने को नीचा मानता है। वहाँ, कुल पलटने का उपाय तो इसको भासित नहीं होता इसलिये जैसा कुल प्राप्त किया उसी में अपनापन मानता है। परन्तु कुल की अपेक्षा ऊँचा-नीचा मानना भ्रम है। कोई उच्च कुलवाला निंद्य कार्य करे तो वह नीचा हो जाये और नीच कुल में कोई श्लाध्य कार्य करे तो वह ऊँचा हो जाये। लोभादिक से उच्च कुलवाले नीचे कुलवाले की सेवा करने लग जाते हैं।

तथा कुल कितने काल रहता है ? पर्याय छूटने पर कुल की बदली हो जाती है; इसलिये उच्च-नीच कुल से अपने को ऊँचा-नीचा मानने पर उच्च कुलवाले को नीचा होने के भय का और नीच कुलवाले को प्राप्त किये हुए नीचेपन का दुःख ही है।....

गोत्रकर्म के निमित्त से आत्मा नीच और उच्च कुल में उत्पन्न होता है। वहाँ उच्च कुल में उपजने से अपने को ऊँचा मानता है और नीच कुल में उपजने से अपने को नीचा मानता है। तथा उसे कुल पलटने का तो कुछ उपाय भासित नहीं होता, इससे जैसा कुल पाया हो वैसे ही कुल में अपनापन स्थापित करता है। परन्तु अपने को कुल अपेक्षा से उच्च-नीच मानना ही भ्रम है।

(अज्ञानी जीव) आत्मा को तो नहीं जानता और जिस कुल में शरीर जन्मा हो वैसा ही अपने को मानता है। 'हम इस कुल के हैं' – ऐसा अभिमान करता है। परन्तु ऊँच-नीच कुल तो गोत्रकर्म के अनुसार होता है, उससे आत्मा को ऊँचा-नीचा मानना भ्रम है। कुल तो

जन्म से लेकर मरण तक रहता है और आत्मा तो त्रिकाल है – ऐसा नहीं जानता। नीच कुल वाला भी उच्च कार्य करे तो लोक में प्रशंसा पाता है और दूसरे भव में उसका कुल भी पलट जाता है तथा यदि उच्च कुल वाला निंद्य कार्य करे तो वह नीच कुल प्राप्त करता है। तथा उच्च कुल में जन्मा हो तथापि लोभादिक से नीच कुल वाले की सेवादिक करने लग जाता है, अत: कुल से अपनी नीचता-उच्चता मानना भ्रम है। ऊँच-नीच कार्य करने से कुल नहीं पलटता परन्तु भव परिवर्तन होने पर कुल पलट जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि लोक व्यवहार में भी कुल का विवेक नहीं रखना चाहिए। कुल जैसा है वैसा समझना चाहिए, परन्तु कुल के आधीन सुख-दु:ख नहीं है। अपने को उच्च कुल के कारण सुखी तथा नीच कुल के कारण दु:खी मानना भ्रम है।

....इसका सच्चा उपाय यही है कि – सम्यग्दर्शनादिक द्वारा उच्च-नीच कुल में हर्ष-विषाद न माने। तथा उन्हीं से जिसकी फिर बदली नहीं होती ऐसा सबसे ऊँचा सिद्धपद प्राप्त करता है तब सब दुख मिट जाते हैं और सुखी होता है।

इसप्रकार कर्मोदय की अपेक्षा मिथ्यादर्शनादिक के निमित्त से संसार में दु:ख ही दु:ख पाया जाता है, उसका वर्णन किया।....

सुख का उपाय तो सम्यग्दर्शनादि है। कुल कोई सदा रहने वाला नहीं है। उच्च कुल वाले को नीचा होने का भय रहता है; परन्तु यदि कुल को गोत्रकर्म का कार्य जाने और उससे भिन्न आत्मा को पहिचाने तो उच्च-नीच कुल में हर्ष-शोक नहीं माने। अत: सम्यग्दर्शनादि ही दु:ख के अभाव का सच्चा उपाय है और सर्वश्रेष्ठ सिद्धपद को प्राप्त होने पर फिर कभी उसका पलटा नहीं होता और जीव परमसुखी होता है।

इसप्रकार कर्म के उदय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शनादिक के निमित्त से संसार में होने वाले दु:खों का वर्णन किया।

(ख) पर्याय की अपेक्षा से –

अब पर्याय अपेक्षा से होने वाले दु:खों का वर्णन करते हैं –

एकेन्द्रिय जीवों के दु:ख

....इस संसार में बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्याय में ही बीतता है। इसलिये अनादि ही से तो नित्य निगोद में रहना होता है; फिर वहाँ से निकलता ऐसा है जैसे भाड़ में भुंजते हुए चने का उचट जाना। इसप्रकार वहाँ से निकलकर अन्य पर्याय धारण करे तो त्रस में तो बहुत थोड़े ही काल रहता है; एकेन्द्रिय में ही बहुत काल व्यतीत करता है।

वहाँ इतरनिगोद में बहुत काल रहना होता है तथा कितने काल तक पृथ्वी, अप, तेज, वायु और प्रत्येक वनस्पति में रहना होता है। नित्यनिगोद से निकलकर बाद में त्रस में रहने का उत्कृष्ट काल तो साधिक दो हजार सागर ही है तथा एकेन्द्रिय में रहने का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन मात्र है और पुद्गल परावर्तन का काल ऐसा है जिसके अनन्तवें भाग में भी अनन्त सागर होते हैं। इसलिए इस संसारी के मुख्यत: एकेन्द्रिय पर्याय में ही काल व्यतीत होता है।....

इस संसार में जीव का बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्याय में ही जाता है। वहाँ अनादि से ही उसका नित्य निगोद में रहना होता है। जैसे भाड़ में भुंजते हुए चने में से अचानक कोई चना बाहर आ पड़े, वैसे ही वहाँ से निकलकर जीव अन्य पर्यायें धारण करता है। वहाँ त्रस पर्याय में तो बहुत ही थोड़े काल रहना होता है, जबकि बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्याय में ही व्यतीत होता है। वहाँ इतरनिगोद में तो बहुत काल रहता है तथा कितना ही काल पृथ्वी, अप, तेज, वायु और प्रत्येक वनस्पति में रहता है। नित्य निगोद में से निकलकर त्रस पर्याय में रहने का उत्कृष्ट काल कुछ अधिक दो हजार सागर मात्र ही है।

त्रस पर्याय की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागर की ही है। यदि इस काल में धर्म प्राप्त नहीं किया तो फिर निगोद – एकेन्द्रिय में जाना होता है। अनादि से निगोद में था, उसमें से निकलकर महाभाग्य से मनुष्यपर्याय प्राप्त की, फिर भी आत्मा की दरकार न करे तो वापिस अनन्तकाल के लिये निगोद में चला जायेगा। निगोद में से निकलकर मनुष्यपना पाना महादुर्लभ है। जैसे भाड़ में भुंजते हुए कोई चना बाहर आ पड़ता है, वैसे ही निगोद में से निकलकर त्रसपना पाना महादुर्लभ है। त्रसपने से वापस निगोद में जाए तो उस इतरनिगोद में उत्कृष्ट काल अढ़ाई पुद्गल परावर्तन रहता है तथा अग्नि, वायु आदि एकेन्द्रिय में असंख्यात (पुद्गल परावर्तन) काल रहना होता है। निगोद में से निकलकर त्रस में रहने का उत्कृष्ट काल साधिक दो हजार सागर मात्र ही है। एकेन्द्रिय में रहने का उत्कृष्ट समुच्चय काल उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परावर्तन है; वह काल इतना अधिक लम्बा है कि उसके अनन्तवें भाग में भी अनन्त चौबीसी होती है। अनन्तकाल निगोद में व्यतीत किया। और मनुष्य हुआ वहाँ मान-अपमान में अटक गया, परन्तु आत्मा की दरकार नहीं करता। यह बात बताकर कहते हैं कि हे जीव ! समझ ! तू अब तो चेत ! मनुष्यपना पाया है तो आत्मा की समझ कर !

....वहाँ एकेन्द्रिय के ज्ञान-दर्शन की शक्ति तो किंचित्मात्र ही रहती है। एक स्पर्शन इन्द्रिय के निमित्त से हुआ मतिज्ञान और उसके निमित्त से हुआ श्रुतज्ञान तथा स्पर्शन इन्द्रियजनित अचक्षुदर्शन – जिनके द्वारा शीत-उष्णादिक को किंचित् जानते-देखते हैं। ज्ञानावरण-दर्शनावरण के तीव्र

उदय से इससे अधिक ज्ञान-दर्शन नहीं पाये जाते और विषयों की इच्छा पायी जाती है जिससे महा दु:खी हैं। तथा दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है उससे पर्याय को ही अपनेरूप श्रद्धान करते हैं, अन्य विचार करने की शक्ति ही नहीं है।....

एकेन्द्रिय जीव के ज्ञान-दर्शन की शक्ति बहुत ही अल्प हो गई है। एकेन्द्रिय जीव तो स्पर्शन इन्द्रिय के निमित्त से होने वाले मतिज्ञान से मात्र स्पर्श को ही जानता है, तथा उसका श्रुतज्ञान भी बहुत ही अल्प है। उस जीव का ज्ञान बहुत घाता गया है। ज्ञान-दर्शन अत्यन्त हीन हो गये हैं और इच्छा तो बहुत तीव्र है – इस कारण वे महादु:खी हैं। उनको दर्शनमोह के उदय से मिथ्याश्रद्धान ही होता है, अत: वे देह को ही अपना स्वरूप मानते हैं; परन्तु अन्य विचार करने की शक्ति ही नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का विचार करने की शक्ति ही नहीं है।

....तथा चारित्रमोह के उदय से तीव्र क्रोधादिक-कषायरूप परिणमित होते हैं; क्योंकि उनके केवलीभगवान ने कृष्ण, नील, कापोत यह तीन अशुभ लेश्या ही कही हैं और वे तीव्र कषाय होने पर ही होती हैं। वहाँ कषाय तो बहुत हैं और शक्ति सर्वप्रकार से महा हीन है इसलिए बहुत दु:खी हो रहे हैं, कुछ उपाय नहीं कर सकते।....

वे जीव चारित्रमोह के उदय से तीव्र कषायरूप परिणमते हैं। एकेन्द्रिय आदि जीवों के तीव्र क्रोधादि कषाय होती है। ठंडा पानी हो उसके जीव को भी तीव्र क्रोधादि कषाय होती है। जो बाहर में दिखता है वह तो शरीर है, परन्तु अन्दर जीव है उसे तीव्र कषाय है। तथा उन एकेन्द्रिय जीवों के केवलज्ञानी भगवान ने कृष्ण, नील और कापोत – ये तीन अशुभ लेश्यायें ही कही हैं। उन जीवों के कषाय तो बहुत है परन्तु शक्ति बहुत ही अल्प है। वे ऐसे मूर्छित हैं कि बाहर में क्रोधादिक की चेष्टा दिखाई नहीं देती। जैसे मनुष्य बहुत मार पड़ने से बेहोश हो जाता है फिर भी उसे उस समय बहुत दु:ख है, बेहोश दशा में कम दु:ख हो – यह बात नहीं है। कल्पवृक्ष और चिन्तामणि में एकेन्द्रिय है वह भी महादु:खी है। नरक के दु:खों की अपेक्षा भी निगोद के जीवों का दु:ख अनन्तगुना है।

....यहाँ कोई कहे कि – ज्ञान तो किंचित्मात्र ही रहा है, फिर वे क्या कषाय करते हैं ?....

एकेन्द्रिय दशा में ज्ञान बहुत ही अल्प है अत: कषाय करना कैसे सम्भव है ?

....समाधान – ऐसा कोई नियम तो है नहीं कि जितना ज्ञान हो उतनी ही कषाय हो। ज्ञान तो जितना क्षयोपशम हो उतना होता है। जैसे किसी अंधे-बहरे पुरुष को ज्ञान थोड़ा होने पर भी

बहुत कषाय होती दिखाई देती है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय के ज्ञान थोड़ा होने पर भी बहुत कषाय का होना माना गया है।

तथा बाह्य कषाय प्रगट तब होती है, जब कषाय के अनुसार कुछ उपाय करे परन्तु वे शक्तिहीन हैं इसलिये उपाय कुछ कर नहीं सकते, इससे उनकी कषाय प्रगट नहीं होती। जैसे कोई पुरुष शक्तिहीन है उसको किसी कारण से तीव्र कषाय हो, परन्तु कुछ कर नहीं सकता, इसलिये उसकी कषाय बाह्य में प्रगट नहीं होती, वह अति दु:खी होता है; उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव शक्तिहीन हैं; उनको किसी कारण से कषाय होती है परन्तु कुछ कर नहीं सकते, इसलिये उनकी कषाय बाह्य में प्रगट नहीं होती, वे स्वयं ही दु:खी होते हैं।

तथा ऐसा जानना कि जहाँ कषाय बहुत हो और शक्ति हीन हो वहाँ बहुत दु:ख होता है और ज्यों-ज्यों कषाय कम होती जाये तथा शक्ति बढ़ती जाये त्यों-त्यों दु:ख कम होता है। परन्तु एकेन्द्रियों के कषाय बहुत और शक्ति हीन, इसलिये एकेन्द्रिय जीव महा दु:खी हैं। उनके दु:ख वे ही भोगते हैं और केवली जानते हैं। जैसे – सन्निपात के रोगी का ज्ञान कम हो जाये और बाह्य शक्ति की हीनता से अपना दु:ख प्रगट भी न कर सके, परन्तु वह महा दु:खी है। उसी प्रकार एकेन्द्रिय का ज्ञान तो थोड़ा है और बाह्य शक्तिहीनता के कारण अपना दु:ख प्रगट भी नहीं कर सकता, परन्तु महा दु:खी है।....

ऐसा कोई नियम नहीं है कि जितना ज्ञान हो उतनी ही कषाय होवे। किसी के बहुत ज्ञान होने पर भी कषाय अल्प ही होती है और किसी के ज्ञान अल्प होने पर भी तीव्र कषाय होती है। जैसे किसी अंधे और बहरे को उस प्रकार का ज्ञान थोड़ा होने पर भी कषाय तीव्र होती है, वैसे ही एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञान अतिशय अल्प होने पर भी कषायभाव बहुत ही तीव्र है; परन्तु शक्तिहीन होने से बाहर में कषाय को प्रगट करने की शक्ति नहीं है तथापि अन्दर तो कषाय बहुत है और इस कारण वे महादु:खी हैं। आत्मा के भानपूर्वक कषाय मिटने पर दु:ख का अभाव होता है – अत: सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही दु:ख मिटाने का और सुखी होने का सच्चा उपाय है।

संसार में दु:ख है और मोक्षदशा में सुख है – उसका यह वर्णन चल रहा है। उसमें से यहाँ एकेन्द्रिय जीवों के दु:ख का वर्णन चल रहा है। हरी घास एकदम हरी होती है और पवन से लहराती होती है वहाँ किसी को ऐसा लगे कि यह मुस्कराती है अत: दु:खी नहीं है; परन्तु वह जीव भी दु:खी है। उसे कषाय तो बहुत है परन्तु व्यक्त करने की शक्ति नहीं है। जैसे शक्तिहीन दुर्बल मनुष्य को अन्तरंग में कषाय तो बहुत होती है परन्तु वह बाहर में कुछ नहीं कर सकता

– मन ही मन में क्रोधादि करके दु:खी होता है। वैसे ही एकेन्द्रिय जीवों को किसी कारण से महाकषाय होती है, परन्तु शक्ति अल्प होने से वे कषाय को बाहर में व्यक्त नहीं कर सकते; परन्तु वे महादु:खी ही हैं।

एकेन्द्रिय जीव महादु:खी है – यह बात सर्वज्ञ के अलावा कोई नहीं जान सकता। जिसने मनुष्य होकर भी आत्मा की दरकार नहीं की, तत्त्व का अनादर किया; वह क्रम-क्रम से एकेन्द्रिय होता है और वहाँ महादु:खी होता है। वनस्पति हँसती है – यह बात झूठ है। उसके हँसना नहीं होता। तथा नियमित रूप से पानी और हवा मिलते हों तो भी वनस्पति आदि जीव महादु:खी हैं। शक्ति अल्प और इच्छा अधिक होने से एकेन्द्रिय जीव महादु:खी हैं। उनके दु:खों को वे ही भोगते हैं और सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं, अल्पज्ञ नहीं जान सकता। जैसे सन्निपात का रोगी जीव शक्ति घट जाने से तथा बाह्य शक्तिहीन होने से अपना दु:ख प्रगट नहीं कर सकता; परन्तु बेहोश होकर महादु:खी है, बाहर में दु:ख की चेष्टा न दिखने पर भी अन्दर में तो महादु:खी ही है। बेहोश हो वहाँ दु:ख कम नहीं है, बल्कि दु:ख बहुत बढ़ गया है। जैसे एक मनुष्य को कोई घूँसा मारता हो और वह चिल्लाये – हो हल्ला करे तब दूसरे उसे दु:खी मानते है; परन्तु जब सहन शक्ति नहीं रही और बेहोश हो गया तब चिल्लाना बंद हो गया तथापि उस समय दु:ख बहुत बढ़ गया है। वैसे ही एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञानादिक की शक्ति अत्यन्त अल्प है और कषाय बहुत तीव्र है – इसकारण वे दु:ख को प्रगट नहीं कर सकते; परन्तु अन्दर तो वे महादु:खी ही हैं।

इसप्रकार (एकेन्द्रिय जीवों में) चार घाति कर्मों के निमित्त से दु:ख होना बतलाया। अब अघाति कर्मों के निमित्त से उनके दु:ख का वर्णन करते हैं –

....तथा अघाति कर्मों में विशेषरूप से पाप-प्रकृतियों का उदय है; वहाँ असातावेदनीय का उदय होने पर उसके निमित्त से महा दु:खी होते हैं। वनस्पति है सो पवन से टूटती है, शीत-उष्णता से सूख जाती है, जल न मिलने से सूख जाती है, अग्नि से जल जाती है; उसको कोई छेदता है, भेदता है, मसलता है, खाता है, तोड़ता है – इत्यादि अवस्था होती है। उसी प्रकार यथासम्भव पृथ्वी आदि में अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओं के होने से वे महा दु:खी होते हैं।

जिसप्रकार मनुष्य के शरीर में ऐसी अवस्था होने पर दु:ख होता है उसी प्रकार उनके होता है। क्योंकि इनका जानपना स्पर्शन इन्द्रिय से होता है और उनके स्पर्शन इन्द्रिय है ही, उसके द्वारा उन्हें जानकर मोह के वश से महा व्याकुल होते हैं; परन्तु भागने की, लड़ने की, या पुकारने की शक्ति नहीं है, इसलिये अज्ञानी लोग उनके दु:ख को नहीं जानते। तथा कदाचित् किंचित् साता का उदय होता है, परन्तु वह बलवान नहीं होता।....

अघाति कर्मों में उनके मुख्यरूप से पाप-प्रकृतियों का ही उदय होता है। असातावेदनीय का उदय होने से वे उसके निमित्त से महादु:खी होते हैं। पवन से टूट जाते है। शीत-उष्णता से और जल नहीं मिलने से वनस्पति सूख जाती है। अग्नि से जल जाती है। कोई छेदता है, भेदता है, मसलता है, खाता है, तोड़ता है – इत्यादि अवस्थायें होती हैं। इन अवस्थाओं के होने से एकेन्द्रिय जीव महादु:खी है। इसीप्रकार यथासंभव पृथ्वी आदि में अवस्थायें होती हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के बादर शरीर आदि प्रकृतियाँ हैं, वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं। यद्यपि उनके मुख्यरूप से तो पाप प्रकृतियों का ही उदय होता है। अत: वे असाता से महादु:खी होते हैं। असाता का उदय तो निमित्त हैं, परन्तु उस समय तीव्र मोह से पर्याय की शक्ति का घात होने से वे महादु:खी हैं। जैसे सर्दी इत्यादि अवस्था में मनुष्य को दु:ख होता है, वैसे ही एकेन्द्रिय जीवों को भी सर्दी आदि से दु:ख होता है। उन जीवों को मात्र स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान का ही उघाड़ है, उसके द्वारा स्पर्श की अवस्थाओं को जानते हुए वे तीव्र मोहवश महादु:खी होते हैं; परन्तु उनमें लड़ने की, बोलने की, भागने की शक्ति नहीं होने से लोग उनके दु:ख को नहीं जानते, परन्तु वे महादु:खी हैं। तथा कदाचित किंचित् साता का उदय होता है, परन्तु वह बहुत अल्प है। एकेन्द्रिय जीवों के महापाप का उदय है – इसकारण वे महादु:खी हैं।

....तथा आयुकर्म से इन एकेन्द्रिय जीवों में जो अपर्याप्त हैं उनके तो पर्याय की स्थिति उच्छ्वास के अठारहवें भाग मात्र ही है, और पर्याप्तों की अंतर्मुहूर्त आदि कितने ही वर्ष पर्यंत है। वहाँ आयु थोड़ा होने से जन्म-मरण होते ही रहते हैं उससे दु:खी हैं।....

तथा आयुकर्म के उदय से इन एकेन्द्रिय जीवों में जो अपर्याप्तक जीव हैं उनकी पर्याय की स्थिति तो एक उच्छ्वास के अठारहवें भाग मात्र ही है और पर्याप्तक जीवों की स्थिति एक अन्तर्मुहुर्त आदि कितने ही वर्षों पर्यन्त है। उनके आयुष्य थोड़ा होने से जन्म-मरण करते ही रहते हैं – इस कारण वे महादु:खी हैं।

....तथा नामकर्म में तिर्यंचगति आदि पाप-प्रकृतियों का ही उदय विशेषरूप से पाया जाता है। किसी हीन पुण्यप्रकृति का उदय हो उसका बलवानपना नहीं होता, इसलिये उनसे भी मोह के वश में दु:खी होते हैं।....

नामकर्म के उदय से उनके तिर्यन्चगति आदि पाप प्रकृतियों का ही उदय विशेष रूप से पाया जाता है। यद्यपि उनके किंचित् पुण्य प्रकृति का उदय होता है परन्तु उसका बलवानपना

नहीं है, इसलिये उनसे भी मोह के वश से दु:खी होते हैं। पर्याप्तकपना, आहारकपना आदि पुण्य प्रकृति के उदय से है।

तथा गोत्रकर्म में उनके मात्र एक नीच गोत्र का ही उदय है – इस कारण उनकी कुछ महत्ता नहीं होती, इससे भी वे दु:खी ही हैं।

....इसप्रकार एकेन्द्रिय जीव महा दु:खी हैं और इस संसार में जैसे पाषाण आधार पर तो बहुत काल रहता है, निराधार आकाश में तो कदाचित् किंचित्मात्र काल रहता है; उसी प्रकार जीव एकेन्द्रिय पर्याय में बहुत काल रहता है, अन्य पर्यायों में तो कदाचित् किंचित्मात्र काल रहता है; इसलिये यह जीव संसार में महा दु:खी है।....

इसप्रकार एकेन्द्रिय जीव महादु:खी ही है। इस संसार में जैसे पत्थर को पृथ्वी आदि का आधार हो वहाँ तो वह बहुत काल तक रहता है, परन्तु निराधार आकाश में तो कदाचित् किंचित् मात्र काल रहता है, अल्प काल में ही नीचे गिर पड़ता है, वैसे ही जीव त्रसपर्याय में तो बहुत ही अल्प काल रहता है और निगोद आदि एकेन्द्रिय पर्याय में बहुत लम्बे काल तक रहता है। अत: हे जीव ! तूने निगोद से ऊँचा चढ़कर मनुष्य पर्याय को पाया है तो अपने आत्मा के स्वरूप का भान कर ले, स्वरूप का आश्रय कर ले जिससे तुझे फिर से ऐसे अवतार न हों – इसके लिये यह बात की है।

विकलत्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दु:ख

तथा जीव द्वीन्द्रिय,त्रीइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय को धारण करता है, वहाँ एकेन्द्रिय जैसा ही दु:ख होता है। विशेष इतना कि यहाँ क्रमपूर्वक एक-एक इन्द्रियजनित ज्ञान-दर्शन की व कुछ शक्ति की अधिकता हुई है, तथा बोलने-चलने की शक्ति भी प्राप्त हुई है। वहाँ भी जो अपर्याप्तक हैं तथा पर्याप्त भी हीन शक्ति के धारक छोटे जीव हैं, उनकी शक्ति तो प्रगट नहीं होती; परन्तु कितने ही पर्याप्त और बहुत शक्ति के धारक बड़े जीव हैं, उनकी शक्ति प्रगट होती है। इससे वे जीव विषयों को प्राप्त करने का तथा दु:ख दूर करने का उपाय करते हैं। क्रोधादिक से काटना, मारना, लड़ना, छल करना, अन्नादिक का संग्रह करना, भाग जाना, दु:ख से तड़फड़ाहट करना और पुकार करना इत्यादिक कार्य वे करते हैं; अत: उनका दु:ख कुछ प्रगट भी होता है। लट, कीड़ी आदि जीवों को शीत, उष्ण, छेदन, भेदन तथा भूख, प्यास आदि से परम दु:खी देखते हैं। तथा इसके सिवाय भी जो अन्य दु:ख प्रत्यक्ष दिखते हैं उनका विचार कर लेना – यहाँ ज्यादा क्या लिखना ?

इसप्रकार द्वीन्द्रिय आदि जीव भी महादु:खी जानना।

एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि के क्रम-क्रम से ज्ञान-दर्शन-वीर्य की शक्ति बढ़ती जाती है। तथा द्वीन्द्रिय आदि को बोलने-चलने की शक्ति भी प्रगट हुई है। वहाँ यद्यपि बोलने-चलने की क्रिया तो जड़ की है परन्तु अन्दर उसप्रकार की जीव की वीर्य-शक्ति का उघाड़ हुआ है – यह यहाँ बताना है। द्वीन्दिय आदि में जो अपर्याप्त हैं तथा अल्प शक्ति वाले हैं उनके ऐसी शक्ति नहीं होती। बड़ा सर्प छोटे सर्प को खा जाता है। कीड़ी को मीठे की सुगन्ध आवे तो वह वहाँ जाती है – इस जाति का उघाड़ उनके बढ़ा है। 'मक्खी का बाघ' मक्खी का शिकार करता है तब कपट से गुपचुप जाकर मक्खी को पकड़ता है। यद्यपि वह बाघ चतुरिन्द्रिय असंज्ञी है तथापि उसमें ऐसा छल-कपट आदि होता है। ऐसे अनेक प्रकार से वे जीव महा दु:खी हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दु:ख

नरकगति के दु:ख

....तथा संज्ञी पंचेन्द्रियों में नारकी जीव हैं वे तो सर्व प्रकार से बहुत दु:खी हैं। उनमें ज्ञानादि की शक्ति कुछ है, परन्तु विषयों की इच्छा बहुत है और इष्ट विषयों की सामग्री किंचित् भी नहीं मिलती, इसलिए उस शक्ति के होने से भी बहुत दु:खी हैं। उनके क्रोधादि कषाय की अति तीव्रता पायी जाती है; क्योंकि उनके कृष्णादि अशुभ लेश्या ही हैं।

वहाँ क्रोध-मान से परस्पर दु:ख देने का कार्य निरन्तर पाया जाता है। यदि परस्पर मित्रता करें तो दु:ख मिट जाये। और अन्य को दु:ख देने से उनका कुछ कार्य भी नहीं होता, परन्तु क्रोध-मान की अति तीव्रता पायी जाती है उससे परस्पर दु:ख देने की ही बुद्धि रहती है। विक्रिया द्वारा अन्य को दु:खदायक शरीर के अंग बनाते हैं तथा शस्त्रादि बनाते हैं। उनके द्वारा दूसरों को स्वयं पीड़ा देते हैं और स्वयं को कोई और पीड़ा देता है। कभी कषाय उपशान्त नहीं होती। तथा उनमें माया-लोभ की भी अति तीव्रता है, परन्तु कोई इष्ट सामग्री वहाँ दिखायी नहीं देती इसलिये उन कषायों का कार्य प्रगट नहीं कर सकते; उनसे अंतरंग में महादु:खी हैं। तथा कदाचित् किंचित् कोई प्रयोजन पाकर उनका भी कार्य होता है।

तथा हास्य-रति कषाय हैं, परन्तु बाह्य निमित्त नहीं हैं, इसलिये प्रगट होते नहीं हैं, कदाचित् किंचित् किसी कारण से होते हैं। तथा अरति-शोक-भय-जुगुप्सा के बाह्य कारण बन रहे हैं, इसलिये वे कषायें तीव्र प्रगट होती हैं। तथा वेदों में नपुंसकवेद है, सो इच्छा तो बहुत और स्त्री-पुरुषों से रमण करने का निमित्त नहीं है, इसलिये महा पीड़ित हैं।....

नारकी जीव पंचेन्द्रिय तथा संज्ञी है। संज्ञी पंचेन्द्रियों में नरक के जीव सर्वप्रकार से

महादु:खी हैं। उनमें ज्ञानादिक की शक्ति कुछ है, परन्तु विषयों की इच्छा बहुत होने से तथा इष्ट विषयों की सामग्री किंचित् भी नहीं मिलने से वे महादु:खी हैं। पाँचों इन्द्रियों का उघाड़ तो हुआ है परन्तु इष्ट सामग्री नहीं मिलती – इस कारण वे महा आकुलता से दु:खी हैं।

उनके क्रोधादिक कषायों का अति तीव्रपना होने से कृष्णादि अशुभ लेश्यायें ही होती हैं। निरंतर क्रोध-मान से एक-दूसरे को दु:ख देने की ही प्रवृत्ति होती है। यदि वे एक-दूसरे के साथ मित्रता करें तो यह दु:ख मिट जाए। तथा अन्य को दु:ख देने से उनका कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता, फिर भी क्रोध-मान की अति तीव्रता के कारण से उनमें एक-दूसरे को दु:खी करने की ही बुद्धि रहती है।

यदि वे एक-दूसरे के साथ मित्रता करें तो परस्पर छेदन-भेदन का दु:ख तो मिट जाए, परन्तु – ऐसा बनाव नहीं बनता। स्वयं विक्रिया द्वारा अन्य को दु:खदायक शरीर के अंग तथा शस्त्रादिक बनाकर उनके द्वारा अन्य को दु:खी करते हैं व अपने को कोई अन्य दु:खी करता है। उनकी कषाय किसी भी समय शांत नहीं होती।

अरे जीव ! तुझे यह मनुष्य भव मिला तो तू विचार कर कि दु:ख है और उसे मिटाने का उपाय करना आवश्यक है। वह उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, अत: वह उपाय करने योग्य है।

तथा उनके माया-लोभ की भी अति तीव्रता है, परन्तु कोई इष्ट सामग्री वहाँ दिखती नहीं, इससे उन कषायों का कार्य प्रगट नहीं कर सकते, परन्तु वे अन्तरंग में उनके द्वारा महादु:खी ही हैं। तथा कदाचित् किंचित् कोई प्रयोजन पाकर उनका भी कार्य होता है।

उनमें हास्य और रति कषाय है, परन्तु बाह्य निमित्त नहीं होने से वे प्रगट नहीं होती। कदाचित् किंचित् कोई कारणवशात् प्रगट होती हैं। अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के बाह्य कारण तो वहाँ सदा होते हैं, इससे वे कषायें तीव्ररूप से प्रगट होती हैं। उनमें तीन प्रकार के वेद में से एक नपुंसकवेद होता है। अब इच्छा तो बहुत होती है परन्तु वहाँ स्त्री, पुरुष से रमने का निमित्त नहीं होने से महादु:खी हैं। इसप्रकार नारकी जीव कषाय से महादु:खी हैं।

मनुष्य और तिर्यन्चगति में तीनों प्रकार के वेद होते हैं, परन्तु नरक में तो अकेला नपुंसकवेद ही होता है, वहाँ स्त्री-पुरुष (वेद) नहीं होते। जो जीव यहाँ शिकार करते हैं, माँस भक्षण करते हैं, पाप का भय नहीं रखते – वे नरक में नपुंसक होते हैं।

....तथा वेदनीय में असाता ही का उदय है उससे वहाँ अनेक वेदनाओं के निमित्त हैं,

शरीर में कुष्ठ, कास, श्वासादि अनेक रोग युगपत् पाये जाते हैं और क्षुधा, तृषा ऐसी है कि सर्वका भक्षण-पान करना चाहते हैं, और वहाँ की मिट्टी ही का भोजन मिलता है, वह मिट्टी भी ऐसी है कि यदि यहाँ आ जाये तो उसकी दुर्गन्ध से कई कोसों के मनुष्य मर जायें। और वहाँ शीत, उष्णता ऐसी है कि यदि लाख योजन का लोहे का गोला हो तो वह भी उनसे भस्म हो जाये। कहीं शीत है कहीं उष्णता है। तथा पृथ्वी वहाँ शस्त्रों से भी महातीक्ष्ण कंटकों सहित है। उस पृथ्वी में जो वन हैं वे शस्त्र की धार समान पत्रादि सहित हैं। नदी ऐसे जल युक्त है कि जिसका स्पर्श होने पर शरीर खण्ड-खण्ड हो जाये। पवन ऐसा प्रचण्ड है कि उससे शरीर दग्ध हो जाता है। तथा नारकी एक-दूसरे को अनेक प्रकार से पीड़ा देते हैं, घानी में पेलते हैं, खण्ड-खण्ड कर डालते हैं, हंडियों में राँधते हैं, कोड़े मारते हैं, तप्त लोहादिक का स्पर्श कराते हैं – इत्यादि वेदना उत्पन्न करते हैं। तीसरी पृथ्वी तक असुरकुमार देव जाते हैं। वे स्वयं पीड़ा देते हैं और परस्पर लड़ाते हैं। ऐसी वेदना होने पर भी शरीर छूटता नहीं है, पारे की भाँति खण्ड-खण्ड हो जाने पर भी मिल जाता है। – ऐसी महा पीड़ा है।

तथा साता का निमित्त तो कुछ है नहीं। किसी अंश में कदाचित् किसी को अपनी मान्यता से किसी अपेक्षा साता का उदय होता है तो वह बलवान नहीं होता। आयु वहाँ बहुत है। जघन्य आयु दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है। इतने काल तक वहाँ ऐसे दुःख सहने पड़ते हैं। वहाँ नामकर्म की सर्व पापप्रकृतियों का ही उदय है, एक भी पुण्यप्रकृति का उदय नहीं है; उनसे महा दुःखी हैं। तथा गोत्र में नीच गोत्र का ही उदय है उससे महन्तता नहीं होती इसलिये दुःखी ही हैं। – इसप्रकार नरकगति में महा दुःख जानना।....

नरक में वेदनीयकर्म में मुख्यरूप से तीव्र असाता का ही उदय होता है। उससे अनेक प्रकार के भूख-प्यास, छेदन-भेदन, आदि असाता के निमित्त मिला ही करते हैं। वहाँ ऐसी तीव्र भूख-प्यास लगती है कि दुनियाँ का सारा अनाज खा जाऊँ मानो समुद्र का पानी पी जाऊँ, परन्तु उन्हें पीने के लिये पानी की एक बूँद तथा अनाज का एक कण भी नहीं मिलता, इससे वे महादुःखी हैं। वहाँ महादुर्गन्धित मिट्टी खाने को मिलती है, परन्तु वह भी ऐसी होती है कि यदि यहाँ उसका एक कण भी आ जाए तो उसकी दुर्गन्ध फैलने से गाँव के गाँव तक के मनुष्य मर जायें – नरक में ऐसे दुःख जीव ने अनन्त बार भोगे हैं।

भाई ! तू आत्मा है। आत्मा अनादि का है। तूने पूर्व में ऐसे-ऐसे अनन्त अवतार किये हैं, उनमें ऐसे दुःखों को भी तूने अनन्त बार भोगा है, परन्तु तुझे उनका ज्ञान नहीं है। तू ऐसे भव कर चुका है। उनकी यह बात सर्वज्ञदेव बताते हैं। सर्वज्ञदेव बताते हैं कि जीव ने पूर्व में कैसे-कैसे दुःख भोगे हैं।

नरक में ऐसी शीत-उष्णता होती है कि – एक लाख योजन का लोहखण्ड का गोला भी उससे भस्म हो जाए। उनमें से कितने ही नरकों में अति शीतलता और कितने ही नरकों में अति उष्णता है। वहाँ की पृथ्वी शस्त्र से भी अतितीक्ष्ण कंकड़ों से भरी है। नरक की पृथ्वी के वृक्ष तीक्ष्ण धारयुक्त पत्तों से परिपूर्ण होते हैं, जिनका स्पर्श शरीर को खण्ड-खण्ड कर देता है। शरीर को दाह उत्पन्न करे ऐसे जल से युक्त नदियाँ हैं। तथा जिससे शरीर दग्ध हो जाए – ऐसी प्रचण्ड वायु है। वे नारकी परस्पर में एक-दूसरे को दु:खी करते हैं। घाणी में पेलते हैं, शरीर के खण्ड-खण्ड करते है, हांडी में रांधते है, कोड़े मारते है तथा अग्नि से तप्तायमान लौहखण्ड से स्पर्श कराते हैं – इत्यादि वेदना परस्पर उपजाते हैं। तीसरे नरक तक तो असुरकुमार जाति के देव जाकर स्वयं पीड़ा देते हैं अथवा परस्पर उन्हें लड़ाते हैं – ऐसी तीव्र वेदना होने पर भी उनका शरीर नहीं छूटता। खण्ड-खण्ड हो जाने पर भी पारे की तरह वापिस मिल जाता है। वहाँ ऐसी तीव्र पीड़ा है। तथा वहाँ सातावेदनीय का कोई निमित्त नहीं है, फिर भी किसी अंश में कदाचित् किसी को अपनी मान्यता से किसी कारण अपेक्षा से किंचित् साता का उदय है; परन्तु वह बलवान नहीं है।

देखो ! यह नरक के दु:ख का वर्णन है यह ''भयसूत्र'' नहीं है, परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति का वर्णन है। जो जीव आत्मा का भान नहीं करते और महातीव्र पाप शिकार, माँस भक्षणादि करते हैं उन्हें नरक का अवतार होता है और वे जीव वहाँ ऐसे दु:ख भोगते हैं। ऐसे दु:खों से बचने का उपाय सम्यग्दर्शनादिक ही है – अत: तू वह उपाय कर ! इसके लिये यह उपदेश है।

नरक में बहुत असाता ही है। तथा वहाँ बाहर में साता का संयोग नहीं है; परन्तु अन्दर अपनी कल्पना से कभी साता का उदय भी होता है। भगवान के पंचकल्याणक के प्रसंग में वहाँ के जीवों को कुछ साता का उदय होता है। परन्तु वह अल्पकालीन है और बलवान नहीं है।

नरक आयुष्य जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागर का होता है। इतने लम्बे काल तक वे जीव ऊपर कहे गये दु:खों को सहन करते हैं।

उनके नामकर्म में सभी पापप्रकृतियों का ही उदय होता है, एक भी पुण्यप्रकृति का उदय नहीं है – इससे वे महादु:खी हैं। पर्याप्तपना, बादरपना आदि कुछ पुण्यप्रकृतियों का उदय है अवश्य, परन्तु वह दु:ख का ही कारण बनता है – इस कारण समस्त पापप्रकृतियों का ही उदय गिना है।

उनके गोत्रकर्म में मात्र नीचगोत्र का ही उदय होता है, इससे उनकी कुछ भी महत्ता नहीं होती। अत: वे महादु:खी ही हैं। इसप्रकार नरक में महादु:ख है।

तिर्यन्चगति के दु:ख

....तथा तिर्यंचगति में बहुत लब्धि-अपर्याप्त जीव हैं। उनकी तो उच्छ्वास के अठारहवें भाग-मात्र आयु है। तथा कितने ही पर्याप्त भी छोटे जीव हैं, परन्तु उनकी शक्ति प्रगट भासित नहीं होती। उनके दु:ख एकेन्द्रियवत् जानना; ज्ञानादिक का विशेष है सो विशेष जानना। तथा बड़े पर्याप्त जीव कितने ही सम्मूर्च्छन हैं, कितने ही गर्भज हैं। उनमें ज्ञानादिक प्रगट होते हैं, परन्तु वे विषयों की इच्छा से आकुलित हैं। उनमें बहुतों को तो इष्ट विषय की प्राप्ति है नहीं; किसी को कदाचित् किंचित् होती है।....

तिर्यन्चगति में भी बहुत जीव तो लब्ध अपर्याप्तक हैं। उनका आयुष्य तो उच्छ्वास के अठारहवें भाग मात्र है। कितने ही छोटे जीव पर्याप्तक भी होते है, परन्तु उनकी शक्ति प्रगट ज्ञात नहीं होती। उनके दु:ख तो एकेन्द्रिय के जैसे ही जानना। ज्ञानादि का विशेष है सो विशेष जानना। तथा बड़े पर्याप्तक जीवों में कितने ही सम्मूर्छन है तथा कितने ही गर्भज है, उनमें ज्ञानादिक प्रगट होते हैं, परन्तु वे विषयों की इच्छा से सदा व्याकुल ही होते हैं, कारण कि बहुत जीवों को इष्ट विषय की प्राप्ति होती ही नहीं। किसी को कदाचित् किंचित् होती है।

....तथा मिथ्यात्वभाव से अतत्त्वश्रद्धानी हो ही रहे हैं और कषाय मुख्यत: तीव्र ही पायी जाती हैं। क्रोध-मान से परस्पर लड़ते हैं, भक्षण करते हैं, दु:ख देते हैं; माया-लोभ से छल करते हैं, वस्तु को चाहते हैं; हास्यादिक द्वारा उन कषायों के कार्यों में प्रवर्तते हैं। तथा किसी के कदाचित् मंदकषाय होती है, परन्तु थोड़े जीवों के होती है इसलिये मुख्यता नहीं है।....

तिर्यन्चगति के जीव मिथ्यात्वभाव से अतत्त्वश्रद्धा वाले हो रहे हैं। नरक के दु:खों में मिथ्यात्व की बात नहीं ली थी, परन्तु वहाँ भी यह समझ लेना। नरक में तथा तिर्यन्च में कितने ही जीव समकिती भी होते हैं, परन्तु वे बहुत ही अल्प हैं। उनकी बात यहाँ गौण है। ढोर आदि जीवों को बिचारों को तत्त्व की कुछ भी खबर नहीं है। जीव क्या, अजीव क्या – इसकी कुछ भी खबर नहीं है। उनके मुख्यरूप से तीव्र कषाय ही होती है। वे क्रोध, मान द्वारा परस्पर लड़ते हैं, भक्षण करते हैं, दु:ख देते हैं। माया-लोभ द्वारा वे छल-प्रपंच करते हैं, तथा इच्छित वस्तु की चोरी करते हैं। हास्यादिक द्वारा वे उस कषाय के कार्यों में प्रवर्तते हैं। कदाचित् किन्हीं जीवों को कभी मंदकषाय भी होती है, परन्तु उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है।

....तथा वेदनीय में मुख्यत: असाता का उदय है। उससे रोग, पीड़ा, क्षुधा, तृषा, छेदन,

भेदन, बहुत भार-वहन, शीत, उष्ण, अंग-भंगादि अवस्था होती है। उससे दु:खी होते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं इसलिए बहुत नहीं कहा है। किसी के कदाचित् किंचित् साता का भी उदय होता है परन्तु थोड़े ही जीवों को है, मुख्यतया नहीं है। तथा आयु अन्तर्मुहूर्त से लेकर कोटि वर्ष पर्यन्त है। वहाँ बहुत जीव अल्प आयु के धारक होते हैं, इसलिये जन्म-मरण का दु:ख पाते हैं। तथा भोगभूमियों की बड़ी आयु है और उनके साता का भी उदय है, परन्तु वे जीव थोड़े हैं। तथा मुख्यत: तो नामकर्म की तिर्यंचगति आदि पापप्रकृतियों का ही उदय है। किसी को कदाचित् किन्हीं पुण्यप्रकृतियों का भी उदय होता है, परन्तु थोड़े जीवों को थोड़ा होता है, मुख्यता नहीं है। तथा गोत्र में नीच गोत्र का ही उदय है इसलिये हीन हो रहे हैं। – इसप्रकार तिर्यंचगति में महा दु:ख जानना।....

वेदनीय में उनके मुख्यरूप से असातावेदनीय का उदय होता है, इससे उनको रोग, पीड़ा क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, बहुभारवहन, सर्दी, गर्मी और अंग भंगादि अवस्थाओं से दु:खी होता प्रत्यक्ष देखते हैं; अत: यहाँ ज्यादा नहीं कहते हैं। तथा किसी को कदाचित् किंचित् सातावेदनीय का भी उदय होता है, परन्तु वह थोड़े जीवों को होता है – इस कारण यहाँ उसकी मुख्यता नहीं है।

देखो यह दु:ख ! इनका विचार भी करे तो वैराग्य हो जाए ऐसा है। जीव ने आत्मा की पहिचान बिना ऐसे अवतार अनन्तबार किये हैं। वहाँ वस्तुत: संयोग का दु:ख नहीं, परन्तु अन्दर चैतन्य को चूककर मोह से दु:खी है। तिर्यन्च में भी असंख्य जीव – मगर, मच्छ, हाथी आदि जीव आत्मभान सहित होते हैं। अढ़ाई-द्वीप के बाहर असंख्य जीव श्रावक हैं, उनको ऐसे तीव्र दु:ख नहीं होते। यहाँ तो अज्ञानी जीव मोह ओर कषाय से दु:खी हो रहे हैं – उनकी ही बात मुख्य है।

तिर्यन्च का आयुष्य अंतर्मुहुर्त से लेकर कोटिपूर्व तक का होता है। वहाँ बहुत जीव तो अल्प आयुष्य के धारक होते हैं तथा वे बारम्बार जन्म-मरण के दु:ख पाते हैं। तथा भोगभूमि के जीवों का आयुष्य बहुत होता है और उनके सातावेदनीय का उदय भी होता है; परन्तु ऐसे जीव बहुत थोड़े हैं।

नामकर्म में उनके मुख्यरूप से तिर्यन्च गति आदि पापप्रकृतियों का ही उदय वर्तता है। किसी को कदाचित् किन्हीं पुण्यप्रकृतियों का भी उदय होता है, परन्तु वह थोड़े जीवों को व थोड़े काल ही होता है – इस कारण उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है।

गोत्रकर्म में उनके एक नीचगोत्र का ही उदय होता है – इस कारण वे हीन बन रहे हैं। इसप्रकार तिर्यन्चगति में भी महादु:ख होता है।

देखो ! यहाँ संसारदशा में जीव के दुःखों का वर्णन चल रहा है। संसार में दुःख है – ऐसा माने तो उनसे छूटने का उपाय करे। परन्तु यदि संसार में ही सुख माने तो मोक्षमार्ग का उपाय सुनने के लिये निवृत्त क्यों हो ? मेरे स्वभाव में दुःख नहीं और विकारी पर्याय ही संसार है व दुःखरूप है – ऐसा जाने तो सत्समागम करके सम्यग्दर्शनादि का उपाय करे।

इसप्रकार तिर्यन्चगति के दुःखों का वर्णन हुआ।

मनुष्यगति के दुःख

....तथा मनुष्यगति में असंख्यात जीव तो लब्धि अपर्याप्त हैं वे सम्मूर्च्छन ही हैं, उनकी आयु तो उच्छ्वास के अठारहवें भाग मात्र है। तथा कितने ही जीव गर्भ में आकर थोड़े ही काल में मरण पाते हैं, उनकी तो शक्ति प्रगट भासित नहीं होती; उनके दुःख एकेन्द्रियवत् जानना। विशेष है सो विशेष जानना।

तथा गर्भजों के कुछ काल गर्भ में रहने के बाद बाहर निकलना होता है। उनके दुःख का वर्णन कर्म अपेक्षा से पहले वर्णन किया है वैसे जानना। वह सर्व वर्णन गर्भज मनुष्यों के सम्भव है। अथवा तिर्यंचों का वर्णन किया है उस प्रकार जानना।

विशेष यह है कि – यहाँ कोई शक्ति विशेष पायी जाती है तथा राजादिकों के विशेष साता का उदय होता है तथा क्षत्रियादिकों को उच्च गोत्र का भी उदय होता है। तथा विशेष कुटुम्बादिक का निमित्त विशेष पाया जाता है – इत्यादि विशेष जानना।

अथवा गर्भ आदि अवस्थाओं के दुःख प्रत्यक्ष भासित होते हैं। जिस प्रकार विष्टा में लट उत्पन्न होती है उसीप्रकार गर्भ में शुक्र-शोणित के बिन्दु को अपने शरीररूप करके जीव उत्पन्न होता है। बाद में वहाँ क्रमशः ज्ञानादिक की तथा शरीर की वृद्धि होती है। गर्भ का दुःख बहुत है। संकुचित रूप से औंधे मुँह क्षुधा-तृषादि सहित वहाँ काल पूर्ण करता है। जब बाहर निकलता है तब बाल्यावस्था में महा दुःख होता है। कोई कहते हैं कि बाल्यावस्था में दुःख थोड़ा है; सो ऐसा नहीं है, किन्तु शक्ति थोड़ी होने से व्यक्त नहीं हो सकता। बाद में व्यापारादिक तथा विषय-इच्छा आदि दुःखों की प्रगटता होती है। इष्ट-अनिष्ट जनित आकुलता बनी ही रहती है। पश्चात् जब वृद्ध हो तब शक्तिहीन हो जाता है और तब परम दुःखी होता है। ये दुःख प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं।....

मनुष्यगति में असंख्यात जीव तो लब्धि अपर्याप्तक हैं। वे असंज्ञी नहीं हैं, संज्ञी हैं, परन्तु सम्मूर्छन हैं। उनका आयुष्य उच्छ्वास के अठारहवें भाग मात्र है।

कितने ही जीव गर्भ में आने के थोड़े ही काल बाद मरण को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी तो शक्ति प्रगट भासित नहीं होती, अर्थात् उनके दु:ख तो एकेन्द्रियवत् ही जानना। विशेष है सो विशेष समझना। तथा गर्भजों के कुछ काल गर्भ में रहने के बाद बाहर निकलना होता है उनके दु:खों का वर्णन कर्म अपेक्षा से पहले वर्णन किया वैसे जानना। वह सर्व वर्णन गर्भज मनुष्यों के संभव है। अथवा तिर्यन्चों का वर्णन किया है उसप्रकार जानना।

मनुष्यपने में कोई शक्ति विशेष होती है तथा राजादिकों के विशेष साता का उदय होता है। वे भले ही वर्तमान में पाप करते हों और नरक जाने वाले हों तथापि उनके पूर्व की साता का उदय होता है। तथा किसी के उच्च कुल होता है। धन-कुटुम्बादि विशेष होते हैं।

गर्भ अवस्था में अनेक प्रकार के दु:ख हैं वे तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। कोई माता के पेट में ही मर जाता है। कोई जन्मते समय मर जाता है। कोई एक-दो माह में मर जाता है – ये सब दु:ख तो प्रत्यक्ष दिखते हैं, परन्तु जीव दरकार नहीं करता।

जैसे विष्टा में लट उत्पन्न होती है, वैसे ही माता के पेट में शुक्र-शोणित के बिन्दु को अपने शरीर रूप धारण करके जीव उत्पन्न होता है और पश्चात् वहाँ क्रमपूर्वक शरीर की तथा ज्ञानादिक की वृद्धि होती है।

गर्भ अवस्था में बहुत दु:ख हैं। माता के पेट में संकोचरूप (सिकुड़कर) रहता है तथा उल्टे शिर रहता है। यहाँ संयोग से बात करते हैं, परन्तु संयोग का दु:ख नहीं है, किन्तु चैतन्य को चूककर देह में मूर्छित हो गया है इससे दु:खी है।

गर्भ में से बाहर निकलकर बाल्यावस्था में भी दु:खी होता है। यद्यपि बालकपने में दु:ख बहुत है परन्तु व्यक्त करने की शक्ति नहीं है। कोई ऐसा कहता है कि बालकपना तो निर्दोष है अत: उसमें कम दु:ख है; परन्तु ऐसा नहीं है। बालकपने में भी तीव्र कषाय से महादु:खी है, परन्तु शक्ति अल्प होने से वह व्यक्त नहीं हो सकता।

बड़ा होने पर (युवावस्था में) व्यापार-धंधे में और विषय-कषाय में पापभाव से महादु:खी-आकुल-व्याकुल होता है। वहाँ इष्ट-अनिष्ट जनित आकुलता हुआ करती है।

वृद्धावस्था में शक्तिहीन हो जाने से विषय-कषाय की इच्छा से महादु:खी होता है। इसप्रकार के दु:ख होते प्रत्यक्ष देखते हैं।

....हम बहुत क्या कहें ? प्रत्यक्ष जिसे भासित नहीं होते वह कहे हुए कैसे सुनेगा ? किसी के कदाचित् किंचित् साता का उदय होता है सो आकुलतामय है। और तीर्थंकरादि पद मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना होते नहीं हैं। – इसप्रकार मनुष्य पर्याय में दु:ख ही हैं।....

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि – ऐसे दु:ख तो प्रत्यक्ष देखते हैं अत: यहाँ विशेष क्या ? क्योंकि जिसे प्रत्यक्ष दिखते हुए दु:ख भी भासित नहीं होते वह किसी के कहने से कैसे मानेगा ? अरे जीव ! तू देख कि इसप्रकार के दु:खों से तू दु:खी हो रहा है या नहीं ? जिसे संसार में दु:ख भासित नहीं होता उसे हम क्या कहें ? किसी के चार-चार पुत्र होवें और अलग हो जायें और माँ-बाप को हाथ से सब्जी रांधनी पड़े, वहाँ वे यह याद कर-करके दु:खी होते हैं कि अरेरे ! चार-चार पुत्र होने पर भी हाथ से रांधना पड़ता है; परन्तु वहाँ धर्म को याद नहीं करता।

तथा मनुष्यगति में किसी समय कुछ साता का उदय होता है, परन्तु वह आकुलतामय है। तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ पद हैं वे तो मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना होते ही नहीं। सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थङ्कर आदि पदवी बँधती है, अत: उसकी यहाँ बात नहीं है। अज्ञानी जीव मनुष्यगति में भी दु:खी ही है। फिर भी जो जीव इस मनुष्य पर्याय में अपना भला करने का उपाय करे तो हो सकता है। अज्ञानी तो विषय-कषाय में जीवन व्यर्थ गँवाता है, परन्तु आत्मकल्याण का उपाय नहीं करता। इसके लिये गन्ने का दृष्टान्त दिया है।

....एक मनुष्य पर्याय में कोई अपना भला होने का उपाय करे तो हो सकता है। जैसे – काने गन्ने की जड़ व उसका ऊपरी फीका भाग तो चूसने योग्य ही नहीं है, और बीच की पोरें कानी होने से वे भी नहीं चूसी जातीं; कोई स्वाद का लोभी उन्हें बिगाड़े तो बिगाड़ो; परन्तु यदि उन्हें बो दे तो उनसे बहुत से गन्ने हों, और उनका स्वाद बहुत मीठा आये। उसी प्रकार मनुष्य-पर्याय का बालक-वृद्धपना तो सुख योग्य नहीं है, और बीच की अवस्था रोगक्लेशादि से युक्त है, वहाँ सुख हो नहीं सकता; कोई विषय सुख का लोभी उसे बिगाड़े तो बिगाड़ो; परन्तु यदि उसे धर्म साधन में लगाये तो बहुत उच्चपद को पाये, वहाँ सुख बहुत निराकुल पाया जाता है। इसलिये यहाँ अपना हित साधना, सुख होने से भ्रम से वृथा नहीं खोना।....

जैसे – काने गन्ने की जड़ व उसका ऊपरी फीका भाग तो चूसने योग्य ही नहीं है और बीच की पोरें कानी होने से वे भी नहीं चूसी जाती; फिर भी कोई स्वाद का लोभी उन्हें बिगाड़े तो बिगाड़ो; परन्तु यदि उन्हें बो दे तो उनसे बहुत से गन्ने हों और उनका स्वाद बहुत मीठा आये। वैसे ही मनुष्यपने का बाल और वृद्धपना तो सुख योग्य नहीं है और बीच की अवस्था रोग-क्लेशादि से युक्त है, वहाँ सुख हो नहीं सकता; फिर भी कोई विषय-सुख का लोभी उसे बिगाड़े तो बिगाड़ो; परन्तु यदि उसे धर्म साधन में लगाये तो बहुत उच्चपद पाये, वहाँ सुख बहुत निराकुल पाया जाता है। इसलिये यहाँ अपना हित साधना, परन्तु सुख होने के भ्रम से इस मनुष्य जन्म को वृथा मत खोना।

मनुष्यपने में सच्ची समझ करके अतीन्द्रिय आनन्द का उपाय करे तो परमसुख पाये, अत: विषयादि में सुख मानकर भ्रम से यह मनुष्यपना व्यर्थ नहीं गँवाना; परन्तु सच्ची समझ करके आत्मा के कल्याण का उपाय करना। अभी तो बाहर का भोग लें और वृद्धावस्था में धर्म करेंगे – ऐसे भ्रम से मनुष्यपना व्यर्थ नहीं गँवाना, परन्तु शक्ति हो वहाँ ही धर्म साधन कर लेना।

देवगति के दु:ख

....तथा देवपर्याय में ज्ञानादिक की शक्ति औरों से कुछ विशेष है; वे मिथ्यात्व से अतत्त्व-श्रद्धानी हो रहे हैं। तथा उनके कषाय कुछ मन्द हैं। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्कों के कषाय बहुत मन्द नहीं हैं और उनका उपयोग चंचल बहुत है तथा कुछ शक्ति भी है सो कषायों के कार्यों में प्रवर्तते हैं; कौतूहल, विषयादि कार्यों में लग रहे हैं और उस आकुलता से दु:खी ही हैं। तथा वैमानिकों के ऊपर-ऊपर विशेष मन्दकषाय है और शक्ति विशेष है, इसलिये आकुलता घटने से दु:ख भी घटता है।

यहाँ देवों के क्रोध-मान कषाय हैं, परन्तु कारण थोड़ा है, इसलिये उनके कार्य की गौणता है। किसी का बुरा करना तथा किसी को हीन करना इत्यादि कार्य निकृष्ट देवों के तो कौतूहलादि से होते हैं, परन्तु उत्कृष्ट देवों के थोड़े होते हैं, मुख्यता नहीं है; तथा माया-लोभ कषायों के कारण पाये जाते हैं इसलिये उनके कार्य ही मुख्यता है; इसलिये छल करना, विषय-सामग्री की चाह करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं। वे भी ऊँचे-ऊँचे देवों के कम हैं।

तथा हास्य, रति कषाय के कारण बहुत पाये जाते हैं, इसलिए इनके कार्यों की मुख्यता है। तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनके कारण थोड़े हैं, इसलिये इनके कार्यों की गौणता है। तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद का उदय है और रमण करने का भी निमित्त है सो काम सेवन करते हैं। ये भी कषाय ऊपर-ऊपर मन्द हैं। अहमिन्द्रों के वेदों की मन्दता के कारण कामसेवन का अभाव है।

इसप्रकार देवों के कषायभाव है और कषाय ही दु:ख है।

तथा इनके कषायें जितनी थोड़ी हैं उतना दु:ख भी थोड़ा है, इसलिये औरों की अपेक्षा इन्हें सुखी कहते हैं। परमार्थ से कषायभाव जीवित है उससे दु:खी ही हैं।....

जिन्होंने आत्मा के भान बिना कुछ मंदकषाय रूप शुभपरिणाम किये हों – ऐसे जीव मरकर हल्के देव होते हैं। वे जीव देवपने में भी मिथ्यादर्शनादि से महादु:खी ही हैं। देवगति में कषाय कुछ मंद है। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों के कषाय बहुत मंद नहीं है।

उपयोग बहुत चंचल है तथा कुछ शक्ति है इससे वे कषाय के कार्यों में ही प्रवर्तते हैं। वे कुतुहलादि तथा विषयों के कार्यों में ही लगे रहते हैं अत: वे व्याकुलता से दु:खी ही हैं। कितने ही देव तीर्थंकर भगवान के पास जाते हैं, परन्तु वहाँ कुतुहलबुद्धि से जाते हैं। तथा अतत्त्वश्रद्धान वाले जीव बहुत हैं, वे तो विषय-कषायादि में ही प्रवर्तते हैं।

वैमानिक देवों में ऊपर-ऊपर के देवों में विशेष मंदकषाय होती है। सोलह स्वर्ग हैं तथा फिर नवग्रेवेयक आदि हैं, वहाँ कषाय की मंदता है। यहाँ से विशेष मंदकषाय करके गये हैं वह कषाय की मंदता वहाँ भी है। तथा उन देवों के शक्ति भी विशेष है। आयुष्य, ऋद्धि आदि विशेष हैं। वे देव आकुलता तथा क्रोधादिक से दु:खी हैं, परन्तु वहाँ बाह्य कारण अल्प होने से उन क्रोधादिक के कार्यों की गौणता है।

किसी का बुरा करना, किसी को हीन करना इत्यादि कार्य निकृष्ट देवों में तो कुतुहलादि से होते हैं, परन्तु उत्कृष्ट देवों में थोड़े होते हैं – इस कारण वहाँ उनकी मुख्यता नहीं है। वहाँ माया, लोभ कषाय के कारण होने से उनके कार्यों की मुख्यता है। छल करना, विषय सामग्री की इच्छा करना इत्यादि कार्य वहाँ विशेष होते हैं। वे भी ऊपर-ऊपर के देवों में थोड़े होते हैं। वहाँ हास्य और रति कषाय के कारण बहुत होने से उनके कार्यों की मुख्यता होती है। अरति, शोक, भय और जुगुप्सा के कारण थोड़े होने से वहाँ उनके कार्यों की गौणता होती है। तथा वहाँ स्त्री-पुरुषवेद का उदय है और रमने के निमित्त भी हैं, इससे वे काम सेवन करते हैं। यह कषाय भी ऊपर-ऊपर के देवों में मंद होती है। अहमिन्द्र देवों में वेद कषाय की मंदता होने से काम सेवन का अभाव है। इसप्रकार देवों के कषायभाव होता है और कषाय से ही दु:ख है।

यह जीव आत्मा के भान बिना स्वर्ग में भी अनन्तबार हो आया है; परन्तु वहाँ भी आकुलता से दु:खी रहा है। वैमानिक में कितने ही जीव सम्यग्दृष्टि हैं, उनके दु:ख बहुत अल्प हैं। पाँचवें स्वर्ग में लोकान्तिक देव हैं उन्हें ब्रह्मऋषि कहते हैं। वे ब्रह्मचारी एकावतारी ही होते हैं और तीर्थङ्कर भगवान के वैराग्य (तपकल्याणक) के समय आते हैं।

नव ग्रेवेयक से ऊपर के सभी जीव समकिती ही हैं। देवगति में ऊपर-ऊपर के देवों के कषायें थोड़ी होने से दु:ख थोड़ा है – इसकारण अन्य जीवों की अपेक्षा से उन्हें सुखी कहते हैं; परन्तु उनके भी जितनी कषाय है उतना दु:ख ही है।

....तथा वेदनीय में साता का उदय बहुत है। वहाँ भवनत्रिक को थोड़ा है, वैमानिकों के ऊपर-ऊपर विशेष है। इष्ट शरीर की अवस्था, स्त्री, महल आदि सामग्री का संयोग पाया जाता

है। तथा कदाचित् किंचित् असाता का भी उदय किसी कारण से होता है। वह निकृष्ट देवों के कुछ प्रगट भी है, परन्तु उत्कृष्ट देवों के विशेष प्रगट नहीं है। तथा आयु बड़ी है। जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट इकतीस सागर है। इससे अधिक आयु का धारी मोक्षमार्ग प्राप्त किए बिना नहीं होता। सो इतने काल तक विषय-सुख में मग्न रहते हैं। तथा नामकर्म की देवगति आदि सर्व पुण्यप्रकृतियों का ही उदय है, इसलिये सुख का कारण है। और गोत्र में उच्च गोत्र का ही उदय है, इसलिये महन्त पद को प्राप्त हैं।

इसप्रकार इनको पुण्य उदय की विशेषता से इष्ट सामग्री मिली है और कषायों से इच्छा पायी जाती है, इसलिये उसके भोगने में आसक्त हो रहे हैं। परन्तु इच्छा अधिक ही रहती है इसलिये सुखी नहीं होते। उच्च देवों को उत्कृष्ट पुण्य उदय है, कषाय बहुत मंद है; तथापि उनके भी इच्छा का अभाव नहीं होता, इसलिये परमार्थ से दुःखी ही हैं।

इसप्रकार संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख पाया जाता है। – इसप्रकार पर्याय अपेक्षा से दुःख का वर्णन किया।....

तथा उनके वेदनीयकर्म में साता का उदय बहुत है। उनमें भवनत्रिक देवों में थोड़ा है तथा वैमानिक देवों में ऊपर-ऊपर के देवों के अधिक है। शरीर की इष्ट अवस्था तथा स्त्री-मकानादिक सामग्री का संयोग होता है। कदाचित् किंचित् असाता का उदय भी उनके किसी कारण से होता है। वह असाता का उदय हल्के देवों के कुछ प्रगट भी है, परन्तु उत्कृष्ट देवों के वह विशेष प्रगट नहीं है।

उनका आयुष्य बहुत है। कम से कम दस हजार वर्ष और अधिकतम इकतीस सागर है। देवों में इकतीस सागर से अधिक आयु सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गी के सिवाय अन्य को नहीं होती। नौवें ग्रेवेयक से ऊपर भावलिंगी संत मुनिराज ही जाते हैं। मिथ्यादृष्टि को स्वर्ग की तैंतीस सागर की आयु नहीं होती। तथा अज्ञानी जीव स्वर्ग में इतने लम्बा काल तक विषयों में ही मग्न रहता है।

उनके नामकर्म में देवगति आदि सभी पुण्यप्रकृतियों का ही उदय होता है। गोत्र कर्म में उनके उच्चगोत्र का ही उदय होता है, इससे वे महन्तपने को प्राप्त हैं। इसप्रकार पुण्य-उदय की विशेषता से उन्हें इष्ट सामग्री मिली है और कषाय जनित इच्छा होने से उसे भोगने में वे आसक्त बन रहे हैं – ऐसा होने पर भी इच्छा तो अधिक ही रहती है, इस कारण वे सुखी नहीं होते। ऊँचे देवों के उत्कृष्ट पुण्य का उदय है और कषाय भी बहुत मंद है, तथापि उनके भी इच्छा का अभाव नहीं होता – इस कारण वास्तव में वे भी दुःखी ही हैं।

इसप्रकार संसार में सर्वत्र केवल दु:ख ही है। आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बिना संसार की चारों गतियों में जीव सर्वत्र दु:खी ही है।

चारों गति के दु:खों का वर्णन शरीरादिक की अपेक्षा से किया। अब सर्व जीवों के दु:ख का सामान्य स्वरूप कहते हैं –

(ग) दु:ख का सामान्य स्वरूप

....दु:ख का लक्षण आकुलता है। आकुलता इच्छा होने पर होती है।....

चार प्रकार की इच्छाएँ

इस संसारी जीव के अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती है। इस कारण उन इच्छाओं की आकुलता से सभी जीव दु:खी हैं।

इच्छा के चार प्रकार हैं – अब उनका वर्णन करते हैं –

....(१) एक इच्छा तो विषय ग्रहण की है उससे यह देखना-जानना चाहता है। जैसे – वर्ण देखने की, राग सुनने की, अव्यक्त को जानने की, इत्यादि इच्छा होती है। वहाँ अन्य कोई पीड़ा नहीं है; परन्तु जब तक देखता-जानता नहीं है तब तक महा व्याकुल होता है। इस इच्छा का नाम विषय है।....

एक तो विषय ग्रहण की इच्छा है। विषयों में सुख मानकर उन्हें ग्रहण करना चाहता है। देखना-जानना चाहता है। अमुक रूप देखूँ, अमुक राग सुनूँ, सुगंध सूंघूँ। किसी की गुप्त बात आदि जानने की इच्छा होती है। राजा की रानी पर्दे में रहती है, वहाँ ऐसा लगता है कि न जाने रानी कैसी होगी ? – ऐसे विचार से रानी को देखने की इच्छा होती है। इसप्रकार अव्यक्त-गुप्त पदार्थों को जानने की इच्छा रहा करती है। जहाँ तक वे वस्तुयें देखने-जानने में न आवे वहाँ तक उन्हें देखने-जानने की इच्छा से दु:खी हुआ करता है। बाहर से विषयों को देखने-जानने की इच्छा से आकुल-व्याकुल होता है। परन्तु अन्तर में शान्तमूर्ति आत्मा को नहीं देखता। इसप्रकार विषयों की इच्छा से दु:खी होता है।

....(२) एक इच्छा कषायभावों के अनुसार कार्य करने की है जिससे वह कार्य करना चाहता है। जैसे – बुरा करने की, हीन करने की, इत्यादि इच्छा होती है। यहाँ भी अन्य कोई पीड़ा नहीं है, परन्तु जब तक वह कार्य न हो तब तक महा व्याकुल होता है। इस इच्छा का नाम कषाय है।....

दूसरी इच्छा कषायभाव के अनुसार कार्य करने की होती है। क्रोध होने पर किसी को मारने की, किसी का बुरा करने की इच्छा होती है। और वैसा न हो वहाँ तक कषायरूप इच्छा से दु:खी ही होता है। मान कषाय होने पर मान लेने की इच्छा से दु:खी होता है। मान कषाय से किसी को हीन करने की व स्वयं को अधिक बताने की इच्छा करता है और वैसा बनाव नहीं बनने पर वह जीव कषायरूप इच्छा से दु:खी ही रहता है। यहाँ अन्य कोई पीड़ा नहीं है, परन्तु कषाय होने पर तदनुसार कार्य न बने तब तक आकुलता-व्याकुलता से दु:खी होता है। सेठपना (धनवानपना) हो और वह समाप्त हो जाए तो वापिस उस सेठाई को लाने की इच्छा से दु:खी होता है। माया करता है, लोभ करता है। इसप्रकार अनेक प्रकार से कषाय करके तदनुसार कार्य करने की इच्छा करता है; परन्तु पुण्य बिना वैसा होना संभव नहीं है – इस कारण जीव इच्छा से व्याकुल बना रहता है। इच्छा मिटने पर ही दु:ख मिटता है। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मुझे क्रोधादि करना है ही नहीं; इच्छा भी मेरे स्वरूप में नहीं है – ऐसा समझे तो पर का भला-बुरा करने की मान्यता मिट जाए और इच्छा बहुत अल्प हो जाए। इस प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को समझकर इच्छा मिटावे तो दु:ख मिटे। अज्ञानी जीव या तो विषयों को जानने-देखने की इच्छा से दु:खी होता है या कषायभाव अनुसार कार्य करने की इच्छा से दु:खी होता है।

....(३) एक इच्छा पाप के उदय से जो शरीर में या बाह्य अनिष्ट कारण मिलते हैं उनको दूर करने की होती है। जैसे – रोग, पीड़ा, क्षुधा आदि का संयोग होने पर उन्हें दूर करने की इच्छा होती है सो यहाँ यही पीड़ा मानता है, जब तक वह दूर हो तब तक महा व्याकुल रहता है। इस इच्छा का नाम पाप का उदय है।....

कभी पाप के उदय से शरीर में रोग – क्षुधा आदि का संयोग होने पर उनमें दु:ख मानकर उन्हें दूर करने की इच्छा से दु:खी होता है और जब तक वे दूर न तब तक दु:खी होता है। यह इच्छा पाप के उदय के कारण हुई है – ऐसा नहीं, परन्तु पाप का उदय दूर करने की इच्छा हुई है – इसप्रकार इस इच्छा को पाप का उदय कहा है। पाप का उदय होने पर उसमें दु:ख मानकर उसे दूर करने के लिये आकुल-व्याकुल होता है।

जीव को संसार अवस्था में दु:ख है। दु:ख का कारण आकुलता है। जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा से आकुल-व्याकुल होकर दु:खी होता है।

अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानने की ओर दृष्टि नहीं होने से पर-विषयों को जानने-देखने की इच्छा से आकुल-व्याकुल होता है। वहाँ कोई प्रतिकूलतारूप पीड़ा नहीं

है; परन्तु इच्छा की आकुलता का दुःख है। अपना स्वभाव जानना-देखना है, उस स्वभाव की मुख्यता चूककर पर विषयों को जानने की व्याकुलता करके दुःखी होता है।

हे जीव ! "क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दुःख मूल" तेरा आत्मा स्वभाव से जानने-देखने वाला है। उसे जानने से सब जानने में आ जाता है। फिर भी तू उस स्वभाव को नहीं जानता और बाहर के विषयों को जानने की आकुलता करता है – वह दुःख है।

क्रोधादि कषायों से पर का बुरा चिन्तवन करता है और बुरा करने की इच्छा से आकुलित होकर दुःखी होता है। वहाँ कोई उसे मारता नहीं है, इत्यादि प्रतिकूलता की पीड़ा तो नहीं है, परन्तु स्वयं इच्छा की आकुलता से दुःखी होता है।

शत्रु, रोग, क्षुधादि होने पर उन्हें दूर करने की इच्छा से जीव दुःखी होता है। वहाँ उसे कोई पीड़ा तो नहीं है, परन्तु स्वयं क्षुधादिक से पीड़ा मानकर उन्हें दूर करने की इच्छा से दुःखी होता है।

इसप्रकार तीन प्रकार की इच्छाओं के दुःख का वर्णन करके अब इच्छा के चौथे प्रकार की इच्छा का वर्णन करते हैं –

....तथा (४) एक इच्छा बाह्य निमित्त से बनती है;सो इन तीन प्रकार की इच्छाओं के अनुसार प्रवर्तने की इच्छा होती है। इन तीन प्रकार की इच्छाओं में एक-एक प्रकार की इच्छा के अनेक प्रकार हैं। वहाँ कितने ही प्रकार की इच्छा पूर्ण होने के कारण पुण्योदय से मिलते हैं, परन्तु उनका साधन एकसाथ नहीं हो सकता; इसलिये एक को छोड़कर अन्य में लगता है, फिर भी उसे छोड़कर अन्य में लगता है। जैसे – किसी को अनेक प्रकार की सामग्री मिली है। वहाँ वह किसी को देखता है, उसे छोड़कर राग सुनता है, फिर उसे छोड़कर किसी का बुरा करने लग जाता है, उसे छोड़कर भोजन करता है, अथवा देखने में ही एक को देखकर अन्य को देखता है। – इसी प्रकार अनेक कार्यों की प्रवृत्ति में इच्छा होती है। सो इस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है।

इसे जगत सुख मानता है, परन्तु यह सुख है नहीं, दुःख ही है। क्योंकि – प्रथम तो सर्व प्रकार की इच्छा पूर्ण होने के कारण किसी के भी नहीं बनते। और किसी प्रकार इच्छा पूर्ण करने के कारण बनें तो युगपत् उनका साधन नहीं होता। सो एक का साधन जब तक न हो तब तक उसकी आकुलता रहती है; और उसका साधन होने पर उस ही समय अन्य के साधन की इच्छा होती है तब उसकी आकुलता होती है। एक समय भी निराकुल नहीं रहता, इसलिये दुःख ही है। अथवा तीन प्रकार की इच्छारूपी रोग को मिटाने का किंचित् उपाय करता है, इसलिये किंचित् दुःख कम होता है, सर्व दुःख का तो नाश नहीं होता, इसलिये दुःख ही है।

– इसप्रकार संसारी जीवों को सर्व प्रकार से दु:ख ही है।

तथा यहाँ इतना जानना कि – तीन प्रकार की इच्छा से सर्व जगत पीड़ित है और चौथी इच्छा तो पुण्य का उदय आने पर होती है, तथा पुण्य का बंध धर्मानुराग से होता है; परन्तु धर्मानुराग में जीव कम लगता है, जीव तो बहुत पाप क्रियाओं में ही प्रवर्तता है। इसलिये चौथी इच्छा किसी जीव के किसी काल में ही होती है।

यहाँ इतना जानना कि – समान इच्छावान जीवों की अपेक्षा तो चौथी इच्छावाले के किंचित् तीन प्रकार की इच्छा के घटने से सुख कहते हैं। तथा चौथी इच्छावाले की अपेक्षा महान इच्छावाला चौथी इच्छा होने पर भी दु:खी होता है। किसी के बहुत विभूति है और उसके इच्छा बहुत है तो बहुत आकुलतावान है; और जिसके थोड़ी विभूति है तथा उसके इच्छा भी थोड़ी है तो यह थोड़ा आकुलतावान है। अथवा किसी को अनिष्ट सामग्री मिली है और उसे उसको दूर करने की इच्छा थोड़ी है तो वह थोड़ा आकुलतावान है। तथा किसी को इष्ट सामग्री मिली है परन्तु उसे उसको भोगने की तथा अन्य सामग्री की इच्छा बहुत है तो वह जीव बहुत आकुलतावान है। इसलिये सुखी-दु:खी होना इच्छा के अनुसार जानना, बाह्य कारण के आधीन नहीं है।

नारकी दु:खी और देव सुखी कहे जाते हैं वह भी इच्छा की ही अपेक्षा कहते हैं क्योंकि नारकियों को तीव्र कषाय से इच्छा बहुत है और देवों के मन्दकषाय से इच्छा थोड़ी है। तथा मनुष्य, तिर्यंचों को भी सुखी-दु:खी इच्छा ही की अपेक्षा जानना। तीव्र कषाय से जिसके इच्छा बहुत है उसे दु:खी कहते हैं, मन्द कषाय से जिसके इच्छा थोड़ी है उसे सुखी कहते हैं। परमार्थ से दु:ख ही बहुत या थोड़ा है, सुख नहीं है। देवादिकों को भी सुखी मानते हैं वह भ्रम ही है। उनके चौथी इच्छा की मुख्यता है इसलिये आकुलित हैं।....

तथा एक इच्छा बाह्य निमित्त से होती है अर्थात् विषयों के मिलने पर उन्हें देखने-भोगने की आकुलतारूप इच्छा होती है। पहले इच्छा के अनुसार वस्तु मिलाने की इच्छा से आकुल-व्याकुल होता था और पुण्य के उदय से इच्छा प्रमाण पर-पदार्थ मिलने पर उन पदार्थों को देखने आदि की इच्छा से व्याकुल होता है। इस प्रकार जगत अनेक प्रकार की इच्छाओं से दु:खी हो रहा है।

तीन प्रकार की इच्छा होने पर, पुण्य के उदय से कुछेक प्रकार की इच्छा पूरी करने के साधन मिलें, वहाँ भी सबको एक साथ युगपत् भोग नहीं सकता – अत: एक को छोड़कर दूसरी और दूसरी को छोड़कर तीसरी में प्रवर्तता है। कभी किसी को देखता है कभी रूप देखना चाहता है, अच्छी रंगबिरंगी पुस्तक देखे उसे देखने की इच्छा करता है, कभी किसी का बुरा

सोचने लग जाता है, कभी भोजनादिक में लग जाता है – इसप्रकार जीव अनेक प्रकार की इच्छाओं से दुःखी हो रहा है। जीव का स्वभाव जानने-देखने का है, परन्तु इच्छा जीव का स्वभाव नहीं है।

देखने में जीव एक पदार्थ को देखे, और उसे छोड़कर अन्य पदार्थ को देखने लग जाता है – इसप्रकार देखने में भी अनेक प्रकार की इच्छा होती है। इसीप्रकार भोजन आदि में भी अनेक प्रकार की इच्छा होती है। उस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्य का उदय इच्छा कराता है। विषय की इच्छा तो वर्तमान पापभाव है, परन्तु उस इच्छा में पुण्य के उदय से मिली सामग्री को भोगने का लक्ष्य है इससे उसे पुण्य का उदय कहा है।

तीन प्रकार की इच्छा प्रमाण सामग्री मिली – तथापि उसमें भी सुख नहीं है, क्योंकि उस सामग्री के मिलने पर उसे देखने-जानने की व भोगने की इच्छा से भी जीव दुःखी ही है। इच्छानुसार सामग्री मिली, उसमें प्रवर्तना, वह कोई सुख नहीं है। लोग उसे सुख मानते हैं, परन्तु वास्तव में वह दुःख ही है।

यहाँ चार प्रकार की इच्छाओं के दुःख का वर्णन किया है, वैसे ही तत्त्वार्थसार में चार प्रकार के सुख का वर्णन किया है –

(१) पुण्य के उदय से इष्ट विषय सामग्री मिली, उसमें जीव अभिमान से सुख मानता है, इससे उस सामग्री को सुख कहते हैं। अभिमानी जीव इष्ट विषयों में अभिमान से सुख की कल्पना करता है, परन्तु वास्तव में उसमें सुख नहीं है।

(२) वेदना का अभाव होने से जीव अपने को सुख मानता है, वह भी कल्पना से माना हुआ सुख है।

(३) सामग्री में 'यह सुख है' ऐसी कल्पना करता है, परन्तु वह भी वास्तव में सुख नहीं है।

(४) वास्तविक सुख तो मोक्षदशा में है। मोक्ष में बाहर के विषयों की इच्छा रहित आत्मा का स्वाभाविक सुख है।

ये चार प्रकार के सुख कहे, उनमें पहले तीन प्रकार तो कल्पित हैं। चौथे प्रकार का सुख मुक्त जीवों के होता है, वही वास्तविक सुख है।

बाहर में पुण्य की सामग्री से अपने को सुखी मानना, वह तो अभिमानिक (मानकषायजन्य) सुख है; उसमें सुख नहीं है बल्कि इच्छा में दुःख ही है।

देखो ! बाहर में रोग-क्षुधा आदि होने पर जगत उसे पीड़ा और दु:ख मानता है, परन्तु उसमें वास्तविक दु:ख नहीं है; दु:ख तो इच्छा का है। तथा इसी प्रकार बाहर में पुण्य की सामग्री मिली, उसमें अज्ञानी जीव अभिमान से सुख मानता है, परन्तु उसमें सुख नहीं है। सुख तो इच्छा रहित मोक्षदशा में है। इसप्रकार सुख और दु:ख दोनों की बात की। अज्ञानी जीव दु:ख को भी नहीं जानता और सुख को भी नहीं जानता।

पुण्य के उदय से सामग्री मिली, वहाँ जगत सुख मानता है; परन्तु उन विषयों में प्रवर्तने की जो इच्छा है वह दु:ख ही है। कारण कि प्रथम तो किसी को भी सर्वप्रकार की इच्छा पूर्ण होने के कारण बनते ही नहीं, कदाचित् किसी प्रकार की इच्छा पूर्ण होने के कारण बन जावें तो भी उन सबका युगपत् साधन नहीं बन सकता, इससे जहाँ तक एक साधन न हो वहाँ तक उसकी व्याकुलता रहती है और उसका साधन होने पर उसी समय अन्य साधन की इच्छा होती है, तब उसकी आकुलता होती है – इसप्रकार एकसमय भी निराकुल नहीं रहता; अत: वह महादु:खी ही है।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीति बिना सुख है ही नहीं। समस्त विषयों को एक साथ भोग नहीं सकता, अत: एक के बाद एक पदार्थ के प्रति इच्छा से व्याकुल हुआ ही करता है और आकुलता से वह दु:खी ही है। इच्छा मंद होने पर कभी आकुलता कुछ घटती है उससे जीव अपने को सुखी मानता है; परन्तु उसके इच्छा का अभाव तो होता नहीं अत: सर्व दु:ख का तो नाश होता नहीं – इसकारण उसे दु:ख ही है। जो पुण्य की सामग्री वाले हैं वे भी महादु:खी ही हैं। इसप्रकार संसारी जीवों के सर्वप्रकार से दु:ख ही है। अज्ञानी जीव भ्रम से विषयों में सुख मानता है इससे उसे सुख मिल नहीं जाता। अरे भाई ! तेरा सुख तो यहाँ तेरे में होगा या पर में होगा ?

इच्छा घटने पर कुछ दु:ख घटा तो भी इच्छायें तो चालू ही रही, इससे दु:ख का नाश नहीं होता। पुण्य के उदय के कारण इच्छा होती है और वह पूरी हो जाती है – ऐसा नहीं है।

चौथे प्रकार की इच्छा पुण्य का उदय प्राप्त होने पर ही होती है – माने क्या ? वह इच्छा कोई पुण्य के उदय से होती है – ऐसा नहीं; परन्तु जिसको पुण्य के उदय से सामग्री मिली हो उसको ही उस प्रकार की सामग्री को भोगने की इच्छा होती है – ऐसा समझना। जिसको पुण्य की सामग्री ही नहीं मिली हो उसे उस प्रकार की इच्छा कहाँ से हो ? वह तो अन्य तीन प्रकार की इच्छा से दु:खी है। जिसको सामग्री नहीं मिली वह मिलाने की इच्छा से दु:खी है और जिसे मिली है वह भोगने की इच्छा से दु:खी है।

परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा ६० में कहा है कि –

पुण्णेण होइ विवहो विवहेणमओ माहण मइ-मोहो।
मइ-मोहेणय पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ॥

अर्थात् पुण्य से वैभव मिलता है। वैभव से अभिमान होता है। अभिमान से बुद्धि-भ्रम होता है और बुद्धि-भ्रम होने से पाप होता है – अत: ऐसा पुण्य हमारे मत होओ – ऐसा कहा है। उसमें भी ऐसा समझना कि पुण्य का उदय कोई अभिमान का या पाप का कारण नहीं है; परन्तु जिस जीव को स्वभाव का भान नहीं है वह पुण्य के फलरूप सामग्री को भोगने में लीन हो जाता है और उसको पुण्य-सामग्री भोगने की जो वर्तमान इच्छा है वह पाप है।

पुण्य का उदय किसी जीव के ही होता है – इस कारण चौथे प्रकार की इच्छा किसी जीव को किसी काल में ही होती है। आत्मा के भान सहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म करने वाले जीव तो बहुत थोड़े ही होतें हैं। और संसार में धर्मानुराग से पुण्य करने वाले जीव भी थोड़े ही होते हैं। अधिकांश जीव तो पाप क्रियाओं में ही प्रवर्तते हैं। विषय-कषाय के पाप भावों में ही बहुत जीव बहुत काल तक प्रवर्तते हैं। पुण्यभाव में तो थोड़े ही जीव होते हैं। बहुत जीव तो पाप के उदय में पड़े हैं अर्थात् चौथे प्रकार के पुण्य भोगने की इच्छा वाले जीव तो जगत में थोड़े हैं। उन जीवों के तीन प्रकार की इच्छा कुछ घटने से वे अपने को सुखी मानते हैं तथा अन्य भी उन्हें सुखी मानते हैं; परन्तु वे सुखी नहीं है। वे भी इच्छा से दु:खी ही हैं।

इसप्रकार चारों प्रकार की इच्छावाले जीव दु:खी ही हैं। सुखी तो सम्यग्दृष्टि हैं। जिनको आत्मा का भान नहीं वे सभी जीव दु:खी ही हैं। भले ही पुण्य के उदय से लाखों-करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति मिले, तथापि इच्छा के कारण वे जीव दु:खी ही हैं। बहुत विभूति होने पर भी यदि इच्छा बहुत है तो वे बहुत दु:खी है और कम सम्पत्ति वाला भी यदि इच्छा कम है तो थोड़ा दु:खी है। पुण्य के उदय से सम्पत्ति मिले उसे भी 'विभूति' कहा जाता है और राख को भी 'विभूति' कहा जाता है – इन दोनों में से एक में भी जीव का सुख नहीं है। वस्तुत: इच्छा ही दु:ख है और इच्छा का अभाव ही सुख है। परन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा के भान बिना इच्छा का अभाव नहीं होता। बाहर की सामग्री के अनुसार सुख-दु:ख नहीं, किन्तु इच्छा के अनुसार सुख-दुख जानना।

पुण्य सामग्री बहुत मिले इसलिये कम दु:खी – ऐसा नहीं है और पाप का उदय हो इसलिये बहुत दु:खी – ऐसा भी नहीं है। जिसको बहुत आकुलता है वह बहुत दु:खी है और थोड़ी आकुलता है वह थोड़ा दु:खी है। तथा आत्मा के भान सहित जिसने इच्छा का नाश

किया है, वह सुखी है। अत: सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सुख का उपाय है – ऐसा यहाँ बताना है। निमित्त के कारण सुख-दु:ख होते हैं – यह बात इसमें कहीं नहीं रहती। स्वयं अपनी कल्पना से सामग्री को सुख-दु:ख का कारण मानता है, परन्तु उसमें इच्छा, वह दु:ख ही है। अत: निष्कर्ष यह है कि सुखी-दु:खी होना सामग्री के अनुसार नहीं, परन्तु इच्छा के अनुसार है ऐसा जानना – यह महासिद्धान्त है। स्त्री का पति मरने पर विधवा होने से वह दु:ख मानती है; परन्तु वह वस्तुत: दु:ख नहीं है। अरे ! मैं निराधार हो गया – ऐसी कल्पना करके अज्ञानी जीव दु:ख मानता है, परन्तु वह दु:ख नहीं है। बाह्य सामग्री में से दृष्टि हटाकर आत्मा में दृष्टि कर कि अरे ! मेरा सुख बाहर की सामग्री में नहीं है, मेरा सुख तो ज्ञानानन्दस्वरूप में ही भरा है – इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप के सन्मुख होकर उसकी दृष्टि कर ! उसे देख, उसकी भावना कर, उसके आनन्द को भोग ! उसमें अन्तर्मुखता कर !

बाहर के विषयों को देखना-जानना चाहता है, उसके बदले ज्ञानानन्दस्वरूप को देख और जान।

बाहर के विषयों को भोगना चाहता है, उसके बदले ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर उसके आनन्द को भोग !

सुख ज्ञानभाव में हैं, संयोग में नहीं। संयोग की इच्छा दु:ख है, किन्तु संयोग दु:ख नहीं है। नरक में भी संयोग का दु:ख नहीं है। अनेक जीव नरक में समान स्थिति में गये होते हैं फिर भी उनमें कोई थोड़े दु:खी हैं, कोई अधिक दु:खी हैं। वहाँ संयोग तो सबके समान है, परन्तु आकुलतानुसार कम-अधिक दु:ख होता है। नरक में भी कोई जीव कषाय मंद करे तो वह थोड़ा दु:खी होता है। इसीप्रकार स्वर्ग में भी समझना।

जिसको कषाय से बहुत इच्छा है वह दु:खी ही है। वहाँ मंद कषाय माने इच्छा की कुछ मंदता होने पर उसको थोड़ा दु:ख है, परन्तु उसे लोग सुखी मानते हैं। लोग देवों तथा राजादिक को बाह्य सामग्री के कारण सुखी मानते हैं; परन्तु वास्तव में वे भी इच्छा से दु:खी ही हैं।

....इसप्रकार जो इच्छा होती है वह मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम से होती है। तथा इच्छा है सो आकुलतामय है और आकुलता है वह दु:ख है। इसप्रकार सर्व संसारी जीव नाना दु:खों से पीड़ित ही हो रहे हैं।....

इसप्रकार संसारी जीव चार प्रकार की इच्छाओं से दु:खी हो रहे हैं। जिनके पुण्योदय है वे भी इच्छा के कारण दु:खी ही हैं। आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव है, उसमें इच्छा ही नहीं

है, उस आत्मा का भान करके उसमें लीन होने पर इच्छा मिट जाती है। इच्छा होती है वह मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से होती है।

पर का भला-बुरा करने की मान्यता मिथ्यात्व है। कोई कहे कि अरहन्त भगवान भी मोक्षदशा के कामी हैं अर्थात् उनको भी मोक्ष की इच्छा है तो यह बात मिथ्या है ऐसा कहने वाले ने अरहन्त देव को पहिचाना ही नहीं है। अरहन्तदेव वीतराग होते हैं, अत: उनके इच्छा होती ही नहीं है। इच्छा तो आकुलता है। मुनियों को मिथ्या भ्रान्ति पूर्वक इच्छा तो होती ही नहीं, परन्तु उनको भी जो आहारादिक की इच्छा होती है उतनी आकुलता है, वह भी मात्र अस्थिरताजन्य इच्छा है। यहाँ तो मुख्यरूप से मिथ्यादृष्टि जीवों की बात है। वह चैतन्य को चूककर पर को देखने-जानने की इच्छा करता है। क्रोधादि कषाय से पर का बुरा करने की इच्छा करता है। पीड़ा, रोग आदि को दूर करने की इच्छा करता है तथा धनादिक मिलें, उनकी व्यवस्था की इच्छा करता है। इसप्रकार सभी जीव इच्छा द्वारा दु:खी हैं।

मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति का उपाय

....अब, जिन जीवों को दु:ख से छूटना हो वे इच्छा दूर करने का उपाय करो। तथा इच्छा दूर तब ही होती है जब मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो। इसलिये इसी कार्य का उद्यम करना योग्य है। ऐसा साधन करने पर जितनी-जितनी इच्छा मिटे उतना-उतना दु:ख दूर होता जाता है और जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो तब सर्व दु:ख मिटता है, सच्चा सुख प्रगट होता है। तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय का अभाव हो तब इच्छा के कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का तथा शक्तिहीनपने का भी अभाव होता है, अनन्त ज्ञानदर्शन-वीर्य की प्राप्ति होती है। तथा कितने ही काल पश्चात् अघातिकर्मों का भी अभाव हो तब इच्छा के बाह्य कारणों का भी अभाव होता है। क्योंकि मोह चले जाने के बाद किसी भी काल में कोई इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं थे, मोह के होने पर कारण थे, इसलिये कारण कहे हैं; उनका भी अभाव हुआ तब जीव सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

वहाँ दु:ख का तथा दु:ख के कारणों का सर्वथा अभाव होने से सदाकाल अनुपम, अखंडित, सर्वोत्कृष्ट आनन्द सहित अनन्तकाल विराजमान रहते हैं। वही बतलाते हैं....

अब जिन जीवों को दु:ख से छूटना हो उन्हें इच्छा दूर करने का उपाय करना। जो इच्छा को भली जानता है वह उसे रखना चाहता है – अत: वह अज्ञानी है। इच्छा को दूर करने का उपाय करना, परन्तु इच्छा दूर कब हो ? कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का अभाव होकर

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होने पर ही इच्छा मिटती है; अत: निरंतर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही उद्यम करना योग्य है। चौबीसों घंटे इसी कार्य का उद्यम करना योग्य है। चैतन्यमूर्ति भगवानआत्मा का भान करने पर सर्वप्रथम मिथ्यात्व की (मिथ्यात्व पूर्वक होने वाली) इच्छा मिटती है, तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जितनी इच्छा मिटती है उतना-उतना दु:ख मिटता है। मोह का सर्वथा अभाव होने पर सर्वथा इच्छा मिटती है और इच्छा मिटने से दु:ख मिटकर सुख होता है। इसप्रकार मोह के अभाव की बात की।

मोह है, वह इच्छा का मूलकारण है। उसमें ज्ञान-दर्शन का क्षयोपशम, वह अंदर का निमित्त कारण है। वस्तुत: कोई ज्ञान-दर्शन का क्षयोपशम स्वयं इच्छा का कारण नहीं है, परन्तु उस भूमिका में जीवों के इच्छा होती है – इसकारण उस क्षयोपशम को भी इच्छा के कारणों में गिना है; परन्तु उसे निमित्तरूप समझना। तथा वीर्यशक्ति भी अल्प होने से इच्छा होती है। उस ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का नाश होकर ज्ञान-दर्शन-वीर्यशक्ति की पूर्णता होती है और कितने ही काल पश्चात् चार अघाति कर्मों का भी नाश होकर, नाम, गोत्र आदि इच्छा के बाह्य कारणों का भी अभाव होता है।

यहाँ सिद्धदशा का सुख सिद्ध करना है – इस कारण उत्कृष्ट बात ली है। मोह जाने के बाद अल्पकाल (अन्तर्मुहूर्त तक) ज्ञान-दर्शन की हीनता रहती है तथापि वे कारण जीव को एक समय मात्र भी इच्छा उत्पन्न नहीं करा सकते। तथा मोह के जाने के बाद बाहर में शरीरादि बाह्य कारण भी इच्छा उपजाने में समर्थ नहीं हैं। बारहवें गुणस्थान में ज्ञान-दर्शन-वीर्य अल्प हैं, परन्तु मोह का नाश हो गया है – इसकारण वहाँ ज्ञान-दर्शन-वीर्य अल्प होने पर भी तथा बाहर में सामग्री होने पर भी, वे जीव को इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। पहले भी वे जीव को इच्छा उत्पन्न नहीं कराते थे, परन्तु मोह था इसकारण उन्हें निमित्त कहा जाता था, मोह जाने पर वे इच्छा के निमित्त भी नहीं रहे। इसप्रकार मोह से इच्छा होती है – वही दु:ख है। इसीलिये कहा है कि –

"क्या इच्छत खौवत सबै, है इच्छा दु:खमूल।
जब इच्छा का नाश तब, मिटे अनादि भूल॥"

मोह के सद्भाव में ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अल्पता तथा बाह्यसामग्रीरूप जो इच्छा के कारण थे, वे ही कारण होने पर भी मोह के अभाव में वे इच्छा के कारण नहीं बनते, क्योंकि (मोह का अभाव होने पर) जीव में इच्छा ही नहीं होती। मोह का अभाव होने के बाद ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अल्पता का भी अल्पकाल में अभाव हो जाता है और बाह्य सामग्री भी टल जाती है।

कोई कहे कि 'जीवते जीव को तो इच्छा होती है न।' – तो कहते हैं कि सिद्धभगवान भी जीवते जीव हैं, उन्हें इच्छा क्यों नहीं होती ? अत: जीव का स्वभाव इच्छा करने का नहीं है। अरहन्त भगवान देह सहित होने पर भी मोह रहित होने से उनके इच्छा नहीं है। मोही जीवों के ही इच्छा होती है। जिसको स्वभाव की भावना है उसको पर की इच्छा की भावना नहीं है। अत: नियम एक ही है कि 'जिसको मोह है उसको ही इच्छा होती है।' जहाँ मोह नहीं है वहाँ बाह्य सामग्री इच्छा का निमित्तकारण भी नहीं बनती। सिद्ध दशा में मोह नहीं है, ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अल्पता भी मिट गई है और बाह्य सामग्री भी दूर हो गई है – ऐसी सिद्धदशा प्राप्त होने पर आत्मा सादि-अनन्त सर्वोत्कृष्ट अनुपम अखण्ड आनन्द में विराजमान रहता है – अत: सिद्ध अवस्था में ही सच्चा सुख है।

....ज्ञानावरण, दर्शनावरण का क्षयोपशम होने पर तथा उदय होने पर मोह द्वारा एक-एक विषय को देखने-जानने की इच्छा से महा व्याकुल होता था; अब मोह का अभाव होने से इच्छा का भी अभाव हुआ इसलिये दु:ख का अभाव हुआ है। तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण का क्षय होने से सर्व इन्द्रियों को सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण हुआ, इसलिये दु:ख का कारण भी दूर हुआ है वही दिखाते हैं। जैसे – नेत्र द्वारा एक-एक विषय को देखना चाहता था, अब त्रिकालवर्ती त्रिलोक के सर्व वर्णों को युगपत् देखता है, कोई बिन देखा नहीं रहा जिसके देखने की इच्छा उत्पन्न हो। इसी प्रकार स्पर्शनादि द्वारा एक-एक विषय का ग्रहण करना चाहता था, अब त्रिकालवर्ती त्रिलोक के सर्व स्पर्श, रस, गन्ध तथा शब्दों का युगपत् ग्रहण करता है, कोई बिना ग्रहण किया नहीं रहा जिसका ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो।....

ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षयोपशम होने पर व उदय होने पर मोह से एक-एक विषय को देखने-जानने की इच्छा से महाव्याकुल होता था; परन्तु अब मोह के अभाव से इच्छा का भी अभाव हुआ जिससे दु:ख का भी अभाव हुआ। सबसे पहले ही मोह के अभाव की बात ली है। भगवान के मोह का अभाव होने से दु:ख का अभाव है।

तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण का क्षय होने से सर्व इन्द्रियों के सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण होने से दु:ख के कारण भी दूर हुए। केवलज्ञान-केवलदर्शन होने पर चैतन्य दरिया उछल गया। ज्ञान-दर्शन-वीर्य में हीनता नहीं रही, किन्तु वे पूर्ण हो गये; इससे दु:ख के अन्तरंग निमित्त कारण भी मिट गये। इच्छा का मूल कारण मोह है और ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अल्पता, उसमें अंतर का निमित्त है। परन्तु पूर्ण ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट होने पर जीव एकसमय में तीनकाल-तीनलोक के सर्व पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानता-देखता है – इससे जानने-देखने की आकुलता नष्ट हो गई।

जैसे पहले नेत्र द्वारा एक विषय को देखना चाहता था, परन्तु अब तीनलोक के त्रिकालवर्ती सर्व वर्ण को युगपत् देखता है, कोई दिखे बिना नहीं रहता कि जिसको देखने की इच्छा हो। इसी प्रकार स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा एक-एक विषय का ग्रहण करना चाहता था; परन्तु अब तीनलोक के त्रिकालवर्ती सर्व स्पर्श, रस, गंध शब्दादिक विषयों का ग्रहण करने लगा, कोई विषय ग्रहण किये बिना (जानने में आये बिना) रहा नहीं कि जिसे ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो। जानना-देखना वह कोई इच्छा का कारण नहीं है। तीनलोक-तीनकाल को जानने-देखने पर भी परमात्मा को मोह नहीं होता – इसकारण सिद्ध भगवान परम सुखी हैं।

....यहाँ कोई कहे कि – शरीरादिक बिना ग्रहण कैसे होगा ?....

सिद्ध भगवान के शरीर नहीं होता तो शरीर बिना पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार होता है।

....समाधान – इन्द्रियज्ञान होने पर तो द्रव्येन्द्रियों आदि के बिना ग्रहण नहीं होता था। अब ऐसा स्वभाव प्रगट हुआ कि बिना इन्द्रियों के ही ग्रहण होता है।....

उत्तर – इन्द्रियज्ञान वाले जीव को द्रव्येन्द्रियों के बिना स्पर्शादिक विषयों का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता, क्योंकि उसका ज्ञान ही वैसी अल्प शक्ति वाला है; परन्तु जहाँ आत्मा को केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाव प्रगट हुआ वहाँ वह जीव इन्द्रियों के बिना ही सब जानता है। अशरीरी सिद्ध भगवान अपनी ज्ञान सामर्थ्य से ही सब जानते हैं। जैसे पहले कुछ देखा हो और फिर मन में याद करें – ऐसा कुछ सिद्ध भगवान को नहीं है।

....यहाँ कोई कहे कि – जैसे मन द्वारा स्पर्शादिक को जानते हैं उसी प्रकार जानना होता होगा; त्वचा, जिह्वा आदि से ग्रहण होता है वैसे नहीं होता होगा; सो ऐसा नहीं है – क्योंकि मन द्वारा तो स्मरणादि होने पर अस्पष्ट जानना कुछ होता है। यहाँ तो जिस प्रकार त्वचा, जिह्वा इत्यादि से स्पर्श, रसादिक का – स्पर्श करने पर, स्वाद लेने पर, सूँघने-देखने-सुनने पर जैसा स्पष्ट जानना होता है उससे भी अनन्तगुणा स्पष्ट जानना उनके होता है।

विशेष इतना हुआ है कि – वहाँ इन्द्रियविषय का संयोग होने पर ही जानना होता था, यहाँ दूर रहकर भी वैसा ही जानना होता है – यह शक्ति की महिमा है। तथा मन द्वारा कुछ अतीत, अनागत को तथा अव्यक्त को जानना चाहता था; अब सर्व ही अनादि से अनन्तकाल पर्यन्त सर्व पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को युगपत् जानता है, कोई बिना जाने नहीं रहा जिसको जानने की इच्छा उत्पन्न हो। इसप्रकार यह दुःख और दुःखों के कारण उनका अभाव जानना।....

कोई ऐसा कहता है कि – जैसे मन द्वारा स्पर्शादिक को जानते हैं वैसा ही यहाँ जानना

होता होगा, परन्तु त्वचा,जीभ आदि द्वारा ग्रहण होता है वैसा नहीं होता होगा ? परन्तु ऐसा नहीं है, कारण कि मन द्वारा तो स्मरण आदि होने पर कुछ अस्पष्ट जानना होता है; परन्तु यहाँ तो त्वचा, जीभ आदि द्वारा स्पर्श-रसादिक को स्पर्शने में, आस्वादने में, सूँघने में, देखने में और सुनने में जैसा स्पष्ट जानना होता है उससे भी अनन्तगुना स्पष्ट जानना उनके होता है।

इन्द्रियज्ञान वाले को इन्द्रियों के निमित्त से जैसा जानना होता है वैसा ही सिद्ध को इन्द्रियों के निमित्त बिना जानना होता है – ऐसा नहीं है; परन्तु इन्द्रियज्ञान वाले की अपेक्षा भी सिद्धभगवंतों के ज्ञान में अनन्तगुनी स्पष्टता है तथा वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। इन्द्रियज्ञान तो स्थूल को ही जानता है; जबकि केवलज्ञान में तो अनन्तगुणा स्पष्ट जानना होता है; तथा उसमें पदार्थों के प्रति जुड़ान भी नहीं करना पड़ता, अनुमान या स्मरण भी नहीं करना पड़ता। तथा विशेषता यह है कि छद्मस्थ को इन्द्रियज्ञान में तो विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर ही जानना होता है, परन्तु केवलज्ञान में तो दूरवर्ती होने पर भी स्पष्ट जानना होता है। यह सब आत्मा की शक्ति की महिमा है। अहो ! तेरे ज्ञानस्वभाव की ऐसी महिमा है। जहाँ वीर्यशक्ति अल्प थी वह पूर्ण हुई वहाँ ऐसी केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप सामर्थ्य को धारण करे – ऐसी शक्ति आत्मा में प्रगट हुई है।

पहले मन द्वारा कुछ अतीत-अनागत व अव्यक्त को जानना चाहता था, परन्तु अब अनादि से अनन्त काल पर्यन्त सम्पूर्ण काल के सर्व पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को युगपत् जानता है, कोई जाने बिना नहीं रहता कि जिसे जानने की इच्छा हो। इसप्रकार उनके दु:ख और दु:ख के कारणों का अभाव हुआ है – ऐसा जानना।

जहाँ सर्व पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को एकसाथ प्रत्यक्ष जाना, वहाँ कुछ जानने की इच्छा नहीं रही – इसकारण आकुलता मिटी और दु:ख भी नहीं रहा। जो ऐसी पूर्ण ज्ञान-दर्शन शक्ति को नहीं मानता उसका सब विपरीत होता है।

....तथा मोह के उदय से मिथ्यात्व और कषायभाव होते थे उनका सर्वथा अभाव हुआ इसलिये दु:ख का अभाव हुआ; तथा इनके कारणों का अभाव हुआ, इसलिए दु:ख के कारणों का भी अभाव हुआ है। उन कारणों का अभाव यहाँ दिखाते हैं –

सर्व तत्त्व यथार्थ प्रतिभासित होने पर अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व कैसे हो ? कोई अनिष्ट नहीं रहा, निंदक स्वयमेव अनिष्ट को प्राप्त होता ही है; स्वयं क्रोध किस पर करें ? सिद्धों से ऊँचा कोई है नहीं, इन्द्रादिक स्वयमेव नमन करते हैं और इष्ट को पाते हैं; किससे मान करें ? सर्व भवितव्य भासित हो गया, कार्य रहा नहीं, किसी से प्रयोजन रहा नहीं है; किसका लाभ करें ? कोई अन्य इष्ट रहा नहीं; किस कारण से हास्य हो ? कोई अन्य इष्ट प्रीति करने योग्य है नहीं; फिर

कहाँ रति करें ? कोई दु:खदायक संयोग रहा नहीं है; कहाँ अरति करें ? कोई इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग होता नहीं है; किसका शोक करें ? कोई अनिष्ट करनेवाला कारण रहा नहीं है; किसका भय करें ? कहाँ जुगुप्सा करें ? कामपीड़ा दूर होने से स्त्री-पुरुष दोनों से रमण करने का कुछ प्रयोजन नहीं रहा; किसलिये पुरुष, स्त्री या नपुंसकवेदरूप भाव हो ? – इसप्रकार मोह उत्पन्न होने के कारणों का अभाव जानना।....

मोह के निमित्त से मिथ्यात्व और कषायभाव होते थे उनका भी सर्वथा अभाव हुआ होने से दु:ख का अभाव है।

इसप्रकार मोह के अभाव से दु:ख का तथा उसके कारणों का भी अभाव हुआ। ज्ञान-दर्शन-वीर्य शक्ति की पूर्णता होने पर अल्पज्ञान-दर्शन-वीर्य का अभाव हुआ, इससे मोह के कारणों का अभाव हुआ। सिद्धभगवान के मोह का अभाव है – इस कारण दु:ख का भी अभाव ही है।

मिथ्यात्वदशा में विपरीत श्रद्धा के कारण तत्त्व विपरीतपने भासित होते थे – इसलिये वहाँ मिथ्यात्व से अनन्त दु:खी था; परन्तु सिद्ध-दशा में तो सर्व तत्त्व यथार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं तब उनके अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यात्व कैसे हो सकता है ? तथा सिद्धदशा में कुछ भी मोह नहीं है। वहाँ कोई अनिष्टरूप नहीं रहा। निंदक स्वयं अपने विरुद्धभाव से अनिष्ट को पाता है तो स्वयं किसके ऊपर क्रोध करें ? अर्थात् सिद्धों के क्रोध नहीं है। तथा सिद्धों से ऊँचा तो कोई है ही नहीं। इन्द्र आदि भी उनको नमन करते हैं और वे नमने वाले स्वयं अपने भाव से इष्ट फल पाते हैं, तब भगवान किससे मान करें ? तथा अपना आत्मा स्वयमेव इष्टरूप हो गया है, अब अन्य कुछ इष्ट रहा नहीं कि जिसके लिये वे छल-प्रपंचरूप माया करें। जिसे कुछ इष्ट प्राप्ति की इच्छा होवे तो उसके लिये माया करे; परन्तु भगवान के अन्य कोई इष्ट नहीं – इसकारण उनके माया नहीं है। तथा भगवान को तो सर्व भवितव्य प्रत्यक्ष भासित हो ही रहा है कि – कब क्या होने वाला है ? कोई कार्य रहा नहीं और किसी के साथ प्रयोजन साधना रहा नहीं, तो फिर लोभ किसके लिये करें ? – इसप्रकार भगवान को क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हैं। ऐसे सिद्ध भगवान को ज्ञान-आनन्द का अनुभव है। परमाणु तो स्वभाव में होने पर भी उसे ज्ञान-आनन्द का अनुभव नहीं होता तथा वह तो पुन: विभावरूप परिणमता है। जबकि सिद्ध भगवान कभी विभावरूप नहीं परिणमते हैं।

भगवान को अपने ज्ञान में कोई वस्तु गुप्त नहीं रही – इसप्रकार आश्चर्य कारक कुछ रहा ही नहीं। भगवान के हास्य भी नहीं है। कोई अन्य इष्ट प्रीति करने योग्य नहीं है तो किससे

रति हो ? कोई दु:खदायक संयोग उनके रहा नहीं, तो किससे अरति करें ? कोई इष्ट-अनिष्ट, संयोग-वियोग उनके होता नहीं, तो वे किसका शोक करें ? कोई अनिष्ट कारक कारण रहा नहीं, तो किससे भय करें ?

भगवान के ज्ञान में सभी वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव सहित प्रत्यक्ष भासित होती हैं। उनमें अपने को कुछ भी अनिष्ट नहीं रहा – इसकारण भगवान के जुगुप्सा नहीं होती। तथा आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो गया हैं, अत: काम पीड़ा ही नहीं है; इस कारण स्त्री-पुरुष के साथ रमने की इच्छा नहीं है, अर्थात् तीन प्रकार का वेद नहीं है। इसप्रकार भगवान के मोह की उत्पत्ति के कारणों का अभाव होने से दु:ख नहीं है।

....तथा अन्तराय के उदय से शक्ति हीनपने के कारण पूर्ण नहीं होती थी, अब उसका अभाव हुआ, इसलिये दु:ख का अभाव हुआ। तथा अनन्तशक्ति प्रगट हुई इसलिये दु:ख के कारण का भी अभाव हुआ।....

अब अन्तरायकर्म के अभाव का वर्णन करते हैं –

सिद्धदशा में अन्तरायकर्म नहीं है और ज्ञान-दर्शन-वीर्य की शक्ति में हीनता भी नहीं रही। अन्तरायकर्म का नाश होकर दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य शक्ति पूर्ण हो गई है। अनन्त शक्तियाँ प्रगट हो गई हैं; इस कारण वहाँ दु:ख के कारणों का अभाव है। दु:ख के निमित्त भी दूर हो गये हैं और दु:ख का भी अभाव है।

....यहाँ कोई कहे कि – दान, लाभ, भोग, उपभोग तो करते नहीं हैं; इनकी शक्ति कैसे प्रकट हुई ?....

दान, लाभ, भोग, उपभोग तो सिद्ध के नहीं है तब उनके शक्ति प्रगट हुई कैसे कहलाई ? सिद्धभगवान कोई लक्ष्मी आदि का दान नहीं करते, उनके लक्ष्मी आदि की प्राप्ति नहीं है, वे पाँच इन्द्रियों के विषयों का भोग-उपभोग तो करते नहीं, फिर भी उनके अन्तराय के अभाव से अनन्त शक्ति प्रगटी – ऐसा कैसे कहा जाता है ?

....समाधान – ये कार्य रोग के उपचार थे; रोग ही नहीं है, तब उपचार क्यों करें ? इसलिये इन कार्यों का सद्भाव तो है नहीं और इन्हें रोकनेवाले कर्मों का अभाव हुआ, इसलिये शक्ति प्रगट हुई कहते हैं। जैसे – कोई गमन करना चाहता था। उसे किसी ने रोका था तब दु:खी था और जब उसकी रोक दूर हुई तब जिस कार्य के अर्थ जाना चाहता था वह कार्य नहीं रहा इसलिये गमन भी नहीं किया। वहाँ उसके गमन न करने पर भी शक्ति प्रगट हुई कही जाती है; उसी प्रकार यहाँ भी जानना। तथा उनके ज्ञानादिकी शक्तिरूप अनन्तवीर्य प्रगट पाया जाता है।....

ये दान, लाभ, भोग, उपभोग तो रोग के उपचार थे। इच्छा होने पर इन दानादि का भाव होता था; परन्तु जब इच्छारूप रोग ही नहीं रहा तो वे दानादिक कार्य किसलिये करें ? अन्दर में दानादिक की वृत्ति उठती ही नहीं। अन्तर में अपने स्वरूप का सम्पूर्ण दान दिया है, स्वरूप का सम्पूर्ण लाभ हुआ है, प्रतिसमय आनन्द का भोग करते हैं और अनन्त गुणों के आनन्द का बारम्बार उपभोग करते है। उनके इच्छा की वृत्ति भी नहीं रही और बाह्य उपचार रूप दानादिक कार्य भी नहीं रहे तथा अन्तराय कर्म भी नहीं रहा – इसकारण उनके यह शक्ति प्रगट हुई कही जाती है। जैसे कोई लग्न (विवाहादि) कार्य के लिये गमन करना चाहता था, उसे किसी ने रोका तो वह दु:खी होने लगा; परन्तु जब रोक दूर हुई और लग्न आदि जिस कार्य के लिये जाना चाहता था वह कार्य भी नहीं रहा अर्थात् उसने गमन भी नहीं किया; वहाँ उसके गमन न करने पर भी उसमें गमन करने की शक्ति प्रगटी – ऐसा कहते हैं। वैसे ही सिद्धदशा में भी समझना चाहिये। वहाँ इच्छा का ही अभाव है और दानादि की शक्तिरूप अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है। वहाँ ज्ञान-दर्शन, प्रभुत्व, स्वच्छत्व आदि अनन्त शक्तियाँ प्रगट हुई हैं।

....तथा अघाति कर्मों में मोह से पापप्रकृतियों का उदय होने पर दु:ख मान रहा था, पुण्यप्रकृतियों का उदय होने पर सुख मान रहा था; परमार्थ से आकुलता के कारण सब दु:ख ही था। अब मोह के नाश से सर्व आकुलता दूर होने पर सर्व दु:खका नाश हुआ। तथा जिन कारणों से दु:ख मान रहा था, वे कारण तो सर्व नष्ट हुए; और किन्हीं कारणों से किंचित् दु:ख दूर होने से सुख मान रहा था सो अब मूल ही में दु:ख नहीं रहा, इसलिये उन दु:ख के उपचारों का कुछ प्रयोजन नहीं रहा कि उनसे कार्य की सिद्धि करना चाहे। उसकी सिद्धि स्वयमेव ही हो रही है।

इसी का विशेष बतलाते हैं – वेदनीय में असाता के उदय से दु:ख के कारण शरीर में रोग, क्षुधादिक होते थे; अब शरीर ही नहीं, तब कहाँ हो ? तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था को कारण आताप आदि थे; परन्तु अब शरीर बिना किसको कारण हो ? तथा बाह्य अनिष्ट निमित्त बनते थे; परन्तु अब इनके अनिष्ट रहा ही नहीं। इसप्रकार दु:ख के कारणों का तो अभाव हुआ।

तथा साता के उदय से किंचित् दु:ख मिटाने के कारण औषधि, भोजनादिक थे उनका प्रयोजन नहीं रहा है, और इष्टकार्य पराधीन नहीं रहे हैं; इसलिये बाह्य में भी मित्रादिक को इष्ट मानने का प्रयोजन नहीं रहा, इनके द्वारा दु:ख मिटाना चाहता था और इष्ट करना चाहता था; सो अब तो सम्पूर्ण दु:ख नष्ट हुआ और सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हुआ।....

अघातिकर्मों में पाप के उदय से दु:ख और पुण्य के उदय से सुख मानता था; परन्तु उससमय वास्तव में तो आकुलता होने से दु:ख ही है। बाहर में सुख-दु:ख की कल्पना तो

मोह से की थी। सिद्धदशा में मोह का नाश होने पर दुःख भी नहीं रहा, और दुःख मानने (के निमित्त) रूप बाह्य में साता-असाता भी नहीं रही। अर्थात् वेदनीयकर्म का अभाव हो गया है। (अरहन्त दशा में) केवली के साता-असाता होने पर भी उनके मोह नहीं होने से सुख-दुःख की कल्पना नहीं है। सिद्ध के मूल से ही दुःख का सर्वथा अभाव होने से उसके उपचार का कुछ प्रयोजन नहीं रहा। जिस द्वारा कार्य की सिद्धि करना चाहता था उसकी सिद्धि तो स्वयमेव हो ही रही है अर्थात् स्वयं का दुःख मिटकर सुख प्रगट हो गया है।

वेदनीयकर्म में असाता के उदय से शरीर में रोग, क्षुधादिक दुःख के कारण होते थे, परन्तु अब जबकि शरीर ही नहीं रहा तब (वे कारण) कैसे रहेंगे ? शरीर की अनिष्ट अवस्था के हेतुरूप आतापादिक थे; परन्तु अब शरीर बिना वे किसे कारणरूप हों ? बाह्य अनिष्ट निमित्त बनते थे, परन्तु अब सिद्ध के अनिष्ट कुछ रहा ही नहीं। इसप्रकार सिद्ध के दुःख के कारणों का अभाव हुआ।

शरीर, शरीर के निमित्तरूप रोगादिक तथा बाहर में शत्रु आदि अनिष्ट निमित्तों का भी सिद्ध के अभाव है। अन्दर में मोह का नाश हुआ है और बाहर में दुःख के निमित्तों का भी अभाव हुआ है। असाता के उदय से प्रतिकूल निमित्त आने पर मोह के कारण उनमें दुःख मानता था, परन्तु सिद्धों में तो वह कुछ रहा नहीं।

तथा साता के उदय से किंचित् दुःख मिटने के कारणरूप जो औषधि, भोजनादिक थे, उनका कुछ प्रयोजन रहा नहीं। तथा कोई पराधीन इष्ट कार्य नहीं रहने से बाह्य मित्रादिक को भी इष्ट मानने का प्रयोजन नहीं रहा, कारण कि इनके द्वारा दुःख मिटाना और इष्ट प्राप्त करना चाहता था; परन्तु अब यहाँ सम्पूर्ण दुःख नष्ट होने से सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हुई।

अन्तर में आत्मा की पूर्णदशा हुई वहाँ पूर्ण सुख प्रगटा और दुःख मिटा, अर्थात् इष्ट की प्राप्ति स्वयमेव हो गई। अब कुछ भी इष्ट कार्य करना नहीं रहा। पहले मित्र, पुत्र, लक्ष्मी आदि से दुःख मिटाकर सुख प्राप्त करना चाहता था, वह मोह से मानता था। परन्तु अब अन्तर स्वभाव में से सम्पूर्ण सुखदशा प्रगटी और दुःख का नाश हुआ अर्थात् सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हुआ – इस कारण इष्ट प्राप्ति के लिये बाहर में कुछ मिलाना नहीं रहा।

इष्ट माने क्या ? अपनी पूर्ण निर्मल आनन्ददशा ही इष्ट है। वास्तव में बाहर में कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अन्दर के आनन्द सागर में एकाग्र होने पर पर्याय में आनन्द उछला है। आत्मा की पूर्ण आनन्दमय दशा प्रगट हुई – वही इष्ट है।

....तथा आयु के निमित्त से जीवन-मरण था। वहाँ मरण से दुःख मानता था; परन्तु

अविनाशी पद प्राप्त कर लिया इसलिये दु:ख का कारण नहीं रहा। तथा द्रव्यप्राणों को धारण किये कितने ही काल तक जीने-मरने से सुख मानता था, वहाँ भी नरक पर्याय में दु:ख की विशेषता से वहाँ नहीं जीना चाहता था; परन्तु अब इस सिद्धपर्याय में द्रव्यप्राण के बिना ही अपने चैतन्यप्राण से सदाकाल जीता है और वहाँ दु:ख का लवलेश भी नहीं रहा।

तथा नामकर्म से अशुभ गति, जाति आदि होने पर दु:ख मानता था, परन्तु अब उन सबका अभाव हुआ; दु:ख कहाँ से हो ? तथा शुभगति, जाति आदि होने पर किंचित् दु:ख दूर होने से सुख मानता था; परन्तु अब उनके बिना ही सर्व दु:ख का नाश और सर्व सुख का प्रकाश पाया जाता है। इसलिये उनका भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा।....

आयुकर्म के निमित्त से जीवन-मरण होता था। वहाँ मरण से तो दु:ख मानता था; परन्तु यहाँ अब अविनाशी पद प्राप्त हुआ तो दु:ख का भी कोई कारण रहा नहीं। आनन्दमूर्ति आत्मा अशरीरी पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुआ वह तो अविनश्वर है, वहाँ अब जन्म-मरण रहा नहीं, अर्थात् मृत्यु ही नहीं रही। पहले आयुकर्म के निमित्त से दस प्राण धारण करके जीता था, उसमें सुख मानता था और मृत्यु से डरता था। तथा नरक में तो जीना भी नहीं चाहता था। इसप्रकार जीवन-मरण होते थे। वहाँ मोह से सुख-दु:ख मानता था, परन्तु अब सिद्धदशा में तो सदा काल अपने चैतन्यप्राणों से जीता है, वहाँ कभी मरण नहीं है। चैतन्यप्राण में दु:ख का अंश भी नहीं है और वहाँ मोह भी नहीं, अत: मृत्यु के निमित्त से जो दु:ख होता था उसका सिद्धदशा में नाश हो गया है।

....नामकर्म से प्राप्त अशुभगति, जाति आदि में दु:ख मानता था, परन्तु अब इन सबका अभाव हुआ, अत: दु:ख कहाँ से हो ? और शुभ गति, जाति आदि में किंचित् दु:ख दूर होने से सुख मानता था, अब इनके बिना भी सर्व दु:खों का नाश और सर्व सुख का प्रकाश होने से उनका भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

गोत्रकर्म के निमित्त से नीच कुल पाने पर दु:ख मानता था और उच्च कुल पाने पर सुख मानता था। परन्तु यहाँ नीच कुल का अभाव होने से दु:ख का कारण नहीं रहा तथा उच्च कुल बिना भी त्रैलोक्यपूज्य उच्चपद को पाता है।....

इसप्रकार सिद्ध के दु:ख का और दु:ख के निमित्त कारणों का सर्वथा अभाव हुआ है और आत्मा का पूर्ण सुख प्रगट हुआ है।

दु:ख का लक्षण तो आकुलता है। आकुलता तो इच्छा से होती है। सिद्ध भगवान के इच्छा भी नहीं और इच्छा के कारण भी नहीं रहे, इससे वे सर्व दु:खरहित निराकुल अनन्त

सुख को अनुभवते हैं। सुख का लक्षण निराकुलपना ही है। संसार में भी किसी प्रकार निराकुल होने पर ही सुख मानते हैं, तो जहाँ सम्पूर्ण निराकुलता हुई वहाँ सम्पूर्ण सुख कैसे नहीं माने ?

इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि के साधन से सिद्धपद पाने पर सर्व दु:खों का अभाव होता है, सर्व सुख प्रगट होता है।

इसप्रकार संसार में दु:ख और सिद्धदशा में सुख है।

यहाँ उपदेश देते हैं कि, हे भव्य ! हे भाई ! यहाँ संसार के जो दु:ख बताये, उनका अनुभव तुझे होता है या नहीं ? तू जो उपाय कर रहा है, उनका मिथ्यापन बतलाया तो वैसा ही है या नहीं ? – यह सब विचार ! यदि तुझे उपरोक्त अनुसार ही प्रतीति आती हो तो संसार से छूटकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का जो उपाय कहते हैं वह कर ! विलम्ब मत कर ! इस उपाय के करने से तेरा कल्याण ही होगा।

ग्रन्थकार सामने वाले जीव से कहते हैं कि हे भाई ! तू विचार कर कि क्या यह बात सत्य है ?

(१) संसार की अवस्था में जो दु:ख बताये उनका तुझे अनुभव होता है या नहीं ?
(२) उन दु:खों के मिटाने के लिये तू जो उपाय करता है वे झूँठे है या नहीं ?
(३) सिद्ध अवस्था में ही सुख है – यह बात सत्य है या नहीं ?

इसप्रकार विचार करने पर यदि तुझे प्रतीति आती हो तो संसार से छूटकर सिद्धदशा प्राप्त करने के लिये हम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप उपाय कहते हैं, उन्हें कर ! इसमें विलम्ब मत कर ! ऐसा करने से तेरा कल्याण होगा।

इसप्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित
मोक्षमार्गप्रकाशक के तीसरे अधिकार
'संसारदु:ख तथा मोक्षसुख का निरूपण' पर
दिनांक १२-११-५२ से ८-१२-५२ तक हुए
आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत ही सच्ची शुरुआत है।

चौथा अधिकार
मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण

दोहा

इस भव के सब दु:खनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनिकी सत्ता नाश करि, प्रगटे मोक्ष उपाव॥

आत्मा नित्य ध्रुव रहता है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उत्पाद होता है, जो कि मोक्ष का उपाय है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र जो कि संसार का कारण है, उसका अभाव हो जाता है। मिथ्याभाव का व्यय, सम्यग्दर्शनादि का उत्पाद होता है और आत्मा की ध्रुवता है।

....अब यहाँ संसार दु:खों के बीजभूत, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं, उनके स्वरूप का विशेष निरूपण करते हैं। जैसे वैद्य है सो रोग के कारणों को विशेषरूप से कहे तो रोगी कुपथ्य सेवन न करे, तब रोग रहित हो। उसीप्रकार यहाँ संसार के कारणों का विशेष निरूपण करते हैं, जिससे संसारी मिथ्यात्वादिक का सेवन न करे, तब संसार रहित हो। इसलिये मिथ्यादर्शनादिक का विशेष निरूपण करते हैं....

संसार दु:खों का मूलकारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं। जैसे आम का बीज उसकी गुठली और नीम का बीज निंबोली होती है; वैसे ही संसार का बीज मिथ्यात्व है और मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं। यहाँ संसार के कारणरूप जो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं उनका विशेष निरूपण करते हैं –

जैसे वैद्य रोग के कारणों को विशेषरूप से बतलावे तथा कुपथ्य सेवन का निषेध करे और वैद्य के ऊपर प्रतीति करके रोगी उन कुपथ्यों का सेवन न करे तो रोगमुक्त हो; परन्तु वैद्य सच्चा होना चाहिये। यदि ऊँट वैद्य (नीम हकीम) हो तो उल्टा उपाय बताकर मार दे।

एक बार ऊँट के गले में काँटा अटक गया वहाँ किसी के द्वारा पैर की पादुका मारने से वह काँटा अन्दर उतर गया। पश्चात् किसी वृद्ध स्त्री को गले का रोग हुआ तब वह कहता है कि पादुका मारने से ऊँट का रोग मिट गया था, इसलिये इस वृद्धा के गले पर भी पादुका मारो, तो ऐसा कहने वाला वैद्य सच्चा नहीं है। अत: धर्म में सच्चे ज्ञानी गुरु ही मोक्ष का उपाय यथार्थ बतलाते हैं। जिसे आत्मा का भान नहीं हो वह सच्चा उपाय कहाँ से बतला सकता

है ? जब संसारी जीव सच्चा उपदेश सुनकर मिथ्यादर्शनादि कुपथ्य का सेवन छोड़ता है, तभी संसार रोग का नाश होता है। अत: उन मिथ्यादर्शनादि को छोड़ने के लिये उनका स्वरूप बतलाते है।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

....यह जीव अनादि से कर्म सम्बन्ध सहित है। उसको दर्शनमोह के उदय से हुआ जो अतत्त्वश्रद्धान उसका नाम मिथ्यादर्शन है। क्योंकि तद्भाव सो तत्त्व, अर्थात् जो श्रद्धान करने योग्य अर्थ है, उसका जो भाव-स्वरूप उसका नाम तत्त्व है। तत्त्व नहीं उसका नाम अतत्त्व है। इसलिये अतत्त्व है वह असत्य है; अत: इसीका नाम मिथ्या है। तथा 'ऐसे ही यह है' – ऐसा प्रतीतिभाव उसका नाम श्रद्धान है –

यहाँ श्रद्धान ही का नाम दर्शन है। यद्यपि दर्शन का शब्दार्थ सामान्य अवलोकन है; तथापि यहाँ प्रकरणवश इसी धातु का अर्थ श्रद्धान जानना। – ऐसा ही सर्वार्थसिद्धि नामक सूत्र की टीका में कहा है। क्योंकि सामान्य अवलोकन संसार-मोक्ष का कारण नहीं होता; श्रद्धान ही संसार-मोक्ष का कारण है, इसलिये संसार-मोक्ष के कारण में दर्शन का अर्थ श्रद्धान ही जानना।

तथा मिथ्यारूप जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान, उसका नाम मिथ्यादर्शन है। जैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है वैसा मानना, जैसा है वैसा नहीं मानना, ऐसा विपरीताभिनिवेश अर्थात् विपरीत अभिप्राय, उसको लिये हुए मिथ्यादर्शन होता है।....

यह जीव अनादिकाल से कर्मबंधन सहित है। अपने स्वरूप को भूल गया है – इस कारण मोहादि कर्मों का सम्बन्ध हुआ है। उनमें दर्शनमोह के उदय से अतत्त्वश्रद्धान करता है उसका नाम मिथ्यादर्शन है। स्वयं अतत्त्व का श्रद्धान करता है वह मिथ्यादर्शन है। वह संसार का मूल है। तद्भाव अर्थात् जीव-अजीव, देव-गुरु-शास्त्र आदि तत्त्वों का जैसा भाव (स्वरूप) है, उसके अनुसार श्रद्धा नहीं करता; परन्तु उससे विपरीत मानता है – उसका नाम अतत्त्व श्रद्धा है।

जिस पदार्थ का जैसा भाव है वैसी श्रद्धा करना, तत्त्वश्रद्धा है और जिस पदार्थ का जैसा भाव नहीं है वैसा मानना, अतत्त्वश्रद्धा है और अतत्त्वश्रद्धा ही मिथ्यात्व है।

पुस्तक को जानते समय "मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ" – ऐसा न मानकर मैं पर को ही जानता हूँ – ऐसा मानता है।

पुस्तक एक क्षणिक पर्याय होने पर भी उसे कायम रखना चाहता है।

पुस्तक किसी के द्वारा की हुई नहीं होने पर भी उसे किसी ने बनाया – इसप्रकार पर को उसका कर्त्ता मानता है।

मिथ्यादृष्टि पर-पदार्थों को जानता है, वहाँ उसे सत्ता-असत्ता का विवेक (भेद) नहीं है, इससे वह कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता को उत्पन्न करता है। वहाँ वह जिसे जानता है उसके मूलकारण को नहीं पहिचानता और अन्यथा कारण मानता है, वह कारण विपरीतता है। जिसको जानता है उसके मूल वस्तुभूत स्वरूप को तो नहीं पहिचानता और अन्यथा स्वरूप मानता है, वह स्वरूप विपरीतता है। तथा जिसे वह जानता है उसे 'यह इससे भिन्न है तथा यह इससे अभिन्न है' – इसप्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता और अन्यथारूप भिन्न-अभिन्नपना मानता है, वह भेदाभेद विपरीतता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के जानने में विपरीतता होती है।

इसप्रकार तत्त्व की अश्रद्धा है। इसी अधिकार में आगे तीन प्रकार की विपरीतता का वर्णन आयेगा। वहाँ विशेष खुलासा किया गया है।

'यह ऐसा ही है' – ऐसी प्रतीति करना, वह श्रद्धान है। उपादान क्या, निमित्त का स्वरूप क्या, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्या, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है – इसप्रकार सभी तत्त्व जैसे हैं, उनकी वैसी श्रद्धा न करके विपरीत मानना अतत्त्वश्रद्धान है और वही मिथ्यात्व है। यहाँ मिथ्यादर्शन कहा उसमें श्रद्धान का नाम ही दर्शन है। दर्शन उपयोग की बात यहाँ नहीं है। यद्यपि दर्शन शब्द का अर्थ सामान्यावलोकन भी है; तथापि यहाँ प्रकरण अनुसार इसी धातु का अर्थ श्रद्धान समझना। श्री सर्वार्थसिद्धि टीका में भी ऐसा ही कहा है। कारण कि सामान्य अवलोकन संसार-मोक्ष का कारण नहीं होता; परन्तु श्रद्धान ही संसार-मोक्ष का कारण है। इसकारण संसार-मोक्ष के कारणों के विवेचन में दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धान ही ग्रहण करना।

दर्शनोपयोग तो सामान्यावलोकनरूप है, वह संसार-मोक्ष का कारण नहीं है। तत्त्वार्थ-सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका है, जिसे पूज्यपाद स्वामी ने बनाया है, वहाँ भी दर्शन का अर्थ श्रद्धान किया है।

मिथ्यारूप जो दर्शन अर्थात् मिथ्याश्रद्धा, वह मिथ्यादर्शन है। जैसा वस्तु स्वरूप नहीं है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा नहीं मानना – ऐसी विपरीत मान्यता ही मिथ्यादर्शन है। वह मिथ्यादर्शन संसार का कारण है।

जीव को अनादिकाल से तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा है, वह मिथ्यादर्शन है और वही संसार का कारण है। पदार्थों का जो स्वरूप है, वह तत्त्व है। तत्त्वार्थ तो अनन्त हैं; अनन्त द्रव्य-

गुण-पर्यायें हैं – वे सभी अर्थ अर्थात् तत्त्व हैं। उनका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान करना तत्त्वार्थ श्रद्धान है। अर्थ को भी तत्त्व कहते हैं और पदार्थों का जो स्वरूप है उसे भी तत्त्व कहते हैं। अर्थ कहो या तत्त्व कहो – दोनों एक ही है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं' भी कहते हैं और 'तत्त्वश्रद्धान' भी कहते हैं। देवतत्त्व-गुरुतत्त्व-शास्त्रतत्त्व आदि जो तत्त्व जैसे हैं, वैसा न मानकर विपरीत मानना ही मिथ्यादर्शन है।

....यहाँ प्रश्न है कि – केवलज्ञान के बिना सर्व पदार्थ यथार्थ भासित नहीं होते और यथार्थ भासित हुए बिना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता, तो फिर मिथ्यादर्शन का त्याग कैसे बने ?....

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि तत्त्व तो अनन्त हैं, उन सब पदार्थों (तत्त्वार्थों) का ज्ञान तो केवलज्ञान बिना होता नहीं है और केवलज्ञान बिना सर्व पदार्थों का यथार्थ स्वरूप भासित हुए बिना उनका यथार्थ श्रद्धान भी कहाँ से हो ? तब मिथ्यादर्शन का त्याग भी कैसे संभव है ? देखो ! व्यापार करने में यह नहीं पूछता कि केवलज्ञान हुए बिना व्यापार कैसे हो ? वहाँ तो जानपना बतलाता है और यहाँ पूछता है कि हमें तत्त्वार्थों का श्रद्धान केवलज्ञान बिना कैसे हो ? केवलज्ञान बिना मिथ्यात्व का त्याग कैसे संभव है ? उसका उत्तर कहते हैं–

....समाधान – पदार्थों का जानना, न जानना, अन्यथा जानना तो ज्ञानावरण के अनुसार है; तथा जो प्रतीति होती है सो जानने पर ही होती है, बिना जाने प्रतीति कैसे आये – यह तो सत्य है। परन्तु जैसे (कोई) पुरुष है वह जिनसे प्रयोजन नहीं है उन्हें अन्यथा जाने या यथार्थ जाने, तथा जैसा जानता है वैसा ही माने तो उससे उसका कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है, उससे वह पागल या चतुर नाम नहीं पाता; तथा जिनसे प्रयोजन पाया जाता है उन्हें यदि अन्यथा जाने और वैसा ही माने तो बिगाड़ होता है, इसलिऐ उसे पागल कहते हैं; तथा उनको यदि यथार्थ जाने और वैसा ही माने तो सुधार होता है, इसलिये उसे चतुर कहते हैं। उसीप्रकार जीव है वह जिनसे प्रयोजन नहीं है उन्हें अन्यथा जाने या यथार्थ जाने, तथा जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे, तो इसका कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है, उससे मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त नहीं करता; तथा जिनसे प्रयोजन पाया जाता है उन्हें यदि अन्यथा जाने और वैसी ही श्रद्धान करे तो बिगाड़ होता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं; तथा यदि उन्हें यथार्थ जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो सुधार होता है, इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

यहाँ इतना जानना कि – अप्रयोजनभूत अथवा प्रयोजनभूत पदार्थों का न जानना या यथार्थ-अयथार्थ जानना हो उसमें ज्ञान की हीनाधिकता होना इतना जीव का बिगाड़-सुधार है और उसका निमित्त तो ज्ञानावरण कर्म है। परन्तु वहाँ प्रयोजनभूत पदार्थों का अन्यथा या यथार्थ

श्रद्धान करने से जीव का कुछ और भी बिगाड़-सुधार होता है, इसलिये उसका निमित्त दर्शनमोह नामक कर्म है।....

पदार्थों को जानना, नहीं जानना अथवा अन्यथा जानना तो ज्ञानावरण के क्षयोपशम अनुसार होता है और उनकी प्रतीति भी जानने से ही होती है, जाने बिना प्रतीति कैसे हो ? – यह तो सत्य है कि जाने बिना पदार्थ की प्रतीति नहीं होती; परन्तु जैसे कोई पुरुष जिस पदार्थ से अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है उस पदार्थ को अन्यथा जाने, यथार्थ जाने अथवा जैसा जाने वैसा ही माने; फिर भी उससे उसका कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं होता और न ही इसप्रकार जानने से वह पुरुष चतुर या मूर्ख ही होता है। परन्तु जिनसे प्रयोजन है उन्हें यदि अन्यथा जानकर वैसा ही मानने लगे तो उससे उसका बिगाड़ होता है और इससे वह पागल कहलाता है। तथा इन प्रयोजनभूत पदार्थों को यथार्थ जाने व वैसा ही माने तो उसका सुधार होता है और इससे वह चतुर कहलाता है। यह तो सांसारिक दृष्टान्त है। नारियल को फोड़ने से उसके कितने टुकड़े हुए, वस्त्र में कितने ताने है – ऐसा नहीं जानने से कोई मूर्ख नहीं कहलाता। हलुवा बनाने बैठे वहाँ हलुवा बनाने की विधि तो नहीं जाने और यह जानने बैठ जाए कि चूल्हे में कितनी लकड़ियाँ और कण्डे डाले हैं –तो उसे वहाँ मूर्ख कहते हैं; परन्तु लकड़ी कितनी डाली यह नहीं जाने और हलुवा बनाने की विधि को बराबर जाने तो उसे मूर्ख नहीं कहते। तात्पर्य यह है कि लोक में भी प्रयोजनभूत ज्ञान करे और अन्य ज्ञान न करे तो भी उसे मूर्ख नहीं कहा जाता।

इसीप्रकार यहाँ मोक्षमार्ग में भी मोक्ष के लिये प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने की प्रधानता है। जिनसे प्रयोजन नहीं है – ऐसे पदार्थों को यह जीव अन्यथा जाने, यथार्थ जाने अथवा जैसा जाने वैसा ही श्रद्धान करे तो उससे इसका कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है अथवा उससे यह मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टि नाम नहीं पाता; परन्तु जिससे प्रयोजन है यदि उनको अन्यथा जानकर वैसा ही श्रद्धान करे तो उससे इसका बिगाड़ होता है – इसलिये इसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। तथा यदि उन्हें यथार्थ जानकर वैसा ही श्रद्धान करे तो उससे इसका सुधार होता है – इसलिये इसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

देव-शास्त्र-गुरु क्या ? नवतत्त्व क्या ? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या ? – यह सब प्रयोजनभूत हैं, जो इन्हें नहीं जानकर विपरीत माने, वह मिथ्यादृष्टि है। अन्य अप्रयोजनभूत तत्त्वों को नहीं जानने से मिथ्यादृष्टि नहीं कहलाता; परन्तु यथार्थ प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने में भूल करे तो मिथ्यादृष्टि है। प्रयोजनभूत तत्त्वों का ज्ञान तो केवलज्ञान बिना निचलीदशा में (क्षयोपशम ज्ञान वाले पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त को) हो सकता है – यह यहाँ बतलाना है। जैसे

(कोई) रूई के ढेर में पाँच लाख के नुकसान को तो नहीं गिने और खोल (रजाई आदि) में से रुई के टुकड़े इकट्ठे करने बैठे, तो उससे कोई नुकसान की पूर्ति होने वाली नहीं है। वैसे ही अप्रयोजनभूत बात को जानने में रुके किन्तु प्रयोजनभूत देव-शास्त्र-गुरु आदि को नहीं जाने तो मिथ्यात्व नहीं मिटता। यहाँ कम-अधिक जानने की मुख्यता नहीं अपितु प्रयोजनभूत तत्त्वों को पहिचानकर उनकी यथार्थ प्रतीति करने से ही मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, इसकी मुख्यता है।

यहाँ इतना समझना कि अप्रयोजनभूत अथवा प्रयोजनभूत पदार्थों को जानना या यथार्थ-अयथार्थ जानना होने में तो मात्र ज्ञान की ही हीनता-अधिकता होती है, इतना ही जीव का बिगाड़-सुधार है और उसका निमित्त तो ज्ञानावरण कर्म है। परन्तु प्रयोजनभूत पदार्थों का अन्यथा या यथार्थ श्रद्धान करनें पर जीव का कुछ अन्य भी बिगाड़-सुधार होता है – इसकारण उसका निमित्त दर्शनमोहकर्म है। प्रयोजनभूत तत्त्व कौन हैं – यह बात आगे आयेगी।

पाँचवें अध्याय में अन्यमत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि अज्ञानियों को "तत्त्वार्थ श्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है" – उसकी तो प्रधानता नहीं है, किन्तु स्वयं जैसे अरहन्तदेव, साधु-गुरु-दयाधर्म का निरूपण करते हैं, उसके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। अब प्रथम तो अरहन्तादिक का स्वरूप ही अन्यथा कहते हैं तथा तत्त्वार्थश्रद्धान हुए बिना मात्र इतने ही श्रद्धान से सम्यक्त्व किस प्रकार हो ? अत: वे मिथ्या कहते हैं। तथा तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं, परन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कहते।

धर्म में कोई कुलक्रम का प्रयोजन नहीं है, परन्तु शास्त्रों का अन्यथा विचारकर जैनधर्म में ही पापी पुरुषों ने कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवनादिरूप अथवा विषय-कषाय के पोषणरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई हो – उसका त्याग करके जिन आज्ञानुसार प्रवर्तना योग्य है। (पाँचवाँ अध्याय)

कोई मंद कषायादि का कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम होने से तत्त्वविचार करने की शक्ति प्रगट हुई, तथा मोह मंद होने से तत्त्वविचार में उद्यम हुआ और बाह्य निमित्त देव-शास्त्र-गुरु आदि का होने पर उनके द्वारा सत्य उपदेश का लाभ हुआ। वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादि तत्त्वों के, स्व-पर के तथा अपने को हितकारी-अहितकारी भावों के – इत्यादिक के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि, अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है। यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं; अत: मुझे इन

बातों का बराबर निर्णय करना, कारण कि इसमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है – ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना हो उसका निर्धार करने का उद्यम किया। (सातवाँ अध्याय)

हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है। वहाँ जीवादि द्रव्यों व तत्त्वों को पहिचानना, त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागदिक व ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना – इत्यादि जिनके जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो उन्हें अवश्य जानना। (सातवाँ अधिकार)

देवादिक का व तत्त्वों का निर्धार हुए बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं और उनका तो निर्धार भी हो सकता है। यदि कोई उनका स्वरूप विपरीत कहे तो अपने को ही भासित हो जाता है; परन्तु अन्य कथन का निर्धार नहीं होता; संशयादि रहते हैं अथवा अन्यथा जानपना हो जाता है वहाँ यदि "केवली का कहा प्रमाण है" – ऐसा श्रद्धान रहे तो उसमें मोक्षमार्ग में कोई विघ्न नहीं है; ऐसा समझना। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार)

इसप्रकार मोक्षमार्ग में जो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं उनकी स्वयं परीक्षा करके अवश्य निर्णय करना चाहिये। किसी कुगुरु के कहने से विपरीत मान्यता का सेवन करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। जगत में तो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यतायें चलती हैं, अत: स्वयं को ही प्रयोजनभूत तत्त्वों की परीक्षा करके उन्हें पहिचानना चाहिये। मोक्षमार्ग में जो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं, उनकी यथार्थ श्रद्धा करने से जीव का कल्याण होता है और उन प्रयोजनभूत तत्त्वों के निर्णय में भूल करने से जीव का महा अकल्याण होता है। ज्ञान का उघाड़ कम होने से अकल्याण नहीं है और ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ा हो; परन्तु यदि यथार्थ तत्त्वश्रद्धान करके सम्यग्दर्शन नहीं करे तो कल्याण नहीं है। तथा ज्ञान कम होने पर भी यदि प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ जाने तो सम्यग्दर्शन होकर कल्याण होता है।

जैसे हीरे की दुकान में लाखों के नुकसान को तो नहीं गिने और साग-भाजी की संभाल करने में रुके तो उसे लोग मूर्ख कहते हैं। साग खरीदना भले ही नहीं आता हो; परन्तु यदि आवश्यक वस्तुओं का ज्ञान हो तो लोग उसे चतुर कहते हैं। वैसे ही यहाँ मूलतत्त्वों के स्वरूप में विपरीतता होवे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्याश्रद्धान में तो दर्शनमोह निमित्त है और ज्ञान के उघाड़ में ज्ञानावरण का क्षयोपशम निमित्त है। ज्ञान के कम-अधिक उघाड़ से मोक्षमार्ग का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का आधार तत्त्वों की सम्यक् अथवा विपरीत श्रद्धा है अर्थात् सम्यक् श्रद्धा मोक्षमार्ग और विपरीत श्रद्धा संसारमार्ग है।

....यहाँ कोई कहे कि जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे, इसलिये ज्ञानावरण ही के अनुसार श्रद्धान भासित होता है, यहाँ दर्शनमोह का विशेष निमित्त कैसे भासित होता है ?

समाधान – प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो सर्व संज्ञी पंचेन्द्रियों के हुआ है। परन्तु द्रव्यलिंगी मुनि ग्यारह अङ्ग तक पढ़ते हैं तथा ग्रैवेयक के देव अवधिज्ञानादियुक्त हैं, उनके ज्ञानावरण का क्षयोपशम बहुत होने पर भी प्रयोजनभूत जीवादिक का श्रद्धान नहीं होता; और तिर्यंचादिक को ज्ञानावरण का क्षयोपशम थोड़ा होने पर भी प्रयोजनभूत जीवादिक का श्रद्धान होता है। इसलिये जाना जाता है कि ज्ञानावरण के ही अनुसार श्रद्धान नहीं होता; कोई अन्य कर्म है और वह दर्शनमोह है। उसके उदय से जीव के मिथ्यादर्शन होता है, तब प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का अन्यथा श्रद्धान करता है।....

प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो सर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के हुआ है। ग्वाले को भी उतना क्षयोपशम तो है और ग्वाले की गाय को भी इतना क्षयोपशम तो है। चारों गति के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को उतना उघाड़ है। जीव क्या ? अजीव क्या ? देव का जीव कैसी पर्यायरूप परिणमित है ? गुरु का जीव कैसी पर्यायरूप परिणमित है ? उनके द्वारा कथित सच्चे अनेकान्तरूप शास्त्र कैसे होते हैं ? – यह सब ज्ञान कर सके – इतना उघाड़ तो सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को होता है। अत: यहाँ यह बतलाना है कि जीव को जो यथार्थ तत्त्वश्रद्धान नहीं है, उसमें ज्ञान के उघाड़ का कारणपना नहीं है; परन्तु स्वयं मिथ्याश्रद्धा करता है, स्वयं यथार्थ तत्त्व की पहिचान नहीं करता। द्रव्यलिंगी ग्यारह अंग तक पढ़ता है फिर भी स्वयं प्रयोजनभूत तत्त्वों की श्रद्धा नहीं करता – इस कारण उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता। ग्रेवेयक आदि के (मिथ्यादृष्टि) देवों को कुअवधिज्ञान भी होता है, उन्हें अन्य सामान्य जीवों की अपेक्षा ज्ञान का उघाड़ विशेष है; परन्तु प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता, और ज्ञान का उघाड़ अल्प होने पर भी किसी-किसी तिर्यन्च को, नारकी को तथा शिवभूति मुनि आदि को प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होता है और वे उसके द्वारा मोक्षमार्ग को साधते हैं।

अत: ज्ञान के कम-ज्यादा उघाड़ के साथ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का सम्बन्ध नहीं है। तिर्यन्च भी अन्दर में चैतन्य की अनाकुल शान्ति में सुख है और जो आकुलता है वह दु:ख है – ऐसा विवेक करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। आकुलता ही दु:ख है और अन्दर में चैतन्य के आश्रय से अनाकुलता का वेदन ही सुख है – ऐसी प्रतीति में नवतत्त्वों की और देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति समाहित है। मिथ्यात्व में निमित्तभूत दर्शनमोहकर्म है, ज्ञानावरण का उदय मिथ्यात्व में निमित्त नहीं है।

यहाँ दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व होता है – यह सिद्ध नहीं करना है, अपितु ज्ञान

का उघाड़ और विपरीत श्रद्धा – इन दो के बीच भिन्नता बतलानी है। अर्थात् विपरीत श्रद्धा में ज्ञानावरण का निमित्त नहीं; किन्तु दर्शनमोह का निमित्त है – ऐसा यहाँ बतलाना है। अत: प्रयोजनभूत तत्त्वों की परीक्षा करके उनका यथार्थ श्रद्धान करने से मिथ्यात्व मिटता है।

प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पदार्थ

....यहाँ कोई पूछे कि – प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन हैं ?....

वे प्रयोजनभूत तत्त्व और अप्रयोजनभूत तत्त्व कौन-कौन से है ? मोक्षमार्ग के लिये अवश्य जानने योग्य तत्त्व कौन-कौनसे है ?

....समाधान – इस जीव को प्रयोजन तो एक यही है कि दु:ख न हो और सुख हो। किसी जीव के अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है। तथा दु:ख का न होना। सुख का होना एक ही है; क्योंकि दु:ख का अभाव वही सुख है और इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक का सत्य श्रद्धान करने से होती है। कैसे ?

इस जीव का प्रयोजन तो एक यही है कि "मुझे दु:ख न हो और सुख हो", अन्य कुछ भी प्रयोजन किसी जीव के नहीं है। तथा दु:ख का न होना और सुख का होना – यह एक ही है, कारण कि दु:ख का अभाव ही सुख है। अब इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक तत्त्वों का सत्य श्रद्धान करने पर ही होती है – यह बात पूर्व में तीसरे अधिकार में सिद्ध कर आये हैं कि बाहर के पदार्थों को मिलाकर अथवा दूर करके सुख प्राप्त करना चाहता है, वे उपाय सच्चे नहीं है। सुख तो आत्मा की पूर्णानन्द दशा में है और उस पूर्णानन्द दशा का नाम मोक्ष है। मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अत: उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपाय करना। ज्ञान का हीनाधिक उघाड़, वह प्रयोजन नहीं है, किन्तु दु:ख मिटे और सुख प्राप्त हो – यही सर्व जीवों का प्रयोजन है। देखो ! अपमान हो वहाँ दु:ख मानता है, किन्तु यह उपाय सच्चा नहीं है। अन्दर में चैतन्य का भान करके समाधान करना और आकुलता नहीं होने देना ही सुख का उपाय है। अरे जीव ! तू संसार में सुख के लिये झपट्टे मार रहा है, परन्तु बाहर के तेरे सब उपाय मिथ्या हैं; अत: तू सुख के सच्चे उपाय को अन्तर में शोध ! जीवादिक तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा करने से ही जीव के (सुखरूप) प्रयोजन की सिद्धि होती है। वह किस प्रकार? यह कहते है –

उसमें भी सर्वप्रथम जीव-अजीव तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान की बात करते हैं –

....सो कहते हैं – प्रथम तो दु:ख दूर करने में आपापर का ज्ञान अवश्व होना चाहिये।

यदि आपापर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहिचाने बिना अपना दु:ख कैसे दूर करे ? अथवा आपापर को एक जानकर अपना दु:ख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे तो अपना दु:ख दूर कैसे हो ? अथवा अपने से पर भिन्न हैं, परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे तो उससे दु:ख ही होता है। आपापर का ज्ञान होने पर ही दु:ख दूर होता है। तथा आपापर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है; क्योंकि आप स्वयं जीव है, शरीरादिक अजीव हैं।

यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो अपनी और पर की भिन्नता भासित हो; इसलिये जीव-अजीव को जानना। अथवा जीव-अजीव का ज्ञान होने पर, जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दु:ख होता था उनका यथार्थ ज्ञान होने से दु:ख दूर होता है; इसलिये जीव-अजीव को जानना।....

प्रथम तो दु:ख दूर करने के लिये स्व-पर का ज्ञान अवश्य चाहिये। कारण कि यदि स्व-पर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहिचाने बिना अपना दु:ख कैसे दूर करे ? अथवा स्व-पर को एकरूप जानकर अपना दु:ख दूर करने के लिये पर का उपचार करे तो अपना दु:ख कैसे दूर हो ? अथवा अपने से भिन्न ऐसे पर में ही यह जीव अहंकार-ममकार करे तो उससे दु:ख ही हो। अत: स्व-पर का ज्ञान होने पर ही दु:ख दूर होता है।

स्व-पर को भिन्न-भिन्न जाने बिना अपने दु:ख का उपचार कहाँ से करे ? यदि स्व-पर को एक जाने तो जीव के बदले अजीव में उपचार करे। जीव और अजीव को जाने बिना अपने बदले शरीर में दु:ख मिटाने का उपाय करे। जैसे रोग तो हुआ हो अपने को और दवा करे दूसरे की, तो अपना रोग कैसे मिटे ? अपनी आँख में मोतियाबिन्द आया हो और उसकी दवा दूसरे की आँख में करे तो अपनी आँख का मोतियाबिन्द कैसे मिटे ? वैसे ही जीव को मिथ्यात्वरूप मोतियाबिन्द हुआ है, उसे मिटाने का उपाय करने के बदले शरीर में और बाहर में उपचार करे तो दु:ख कहाँ से मिटे ? अत: पहले जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न पहिचानना चाहिये।

जीव क्या और अजीव क्या ? यह जाने बिना शरीर का रोग दूर करने अथवा पैसा संग्रह करनेरूप उपायों से अपना दु:ख मिटाना चाहे, तो वे उपाय झूठे हैं। दु:ख तो जीव में है और वह दु:ख मोह से है; अत: उस दु:ख के दूर करने का उपाय भी जीव का भान करके मोह को मिटाना ही है।

प्रथम यदि स्व-पर को नहीं पहिचाने तो दु:ख मिटाने का उपाय किसप्रकार करे ? तथा स्व-पर को एकरूप जानकर पर में उपचार करे तो अपना दु:ख कैसे दूर हो ? स्व-पर को भिन्न-

भिन्न जाने बिना अपने से भिन्न ऐसे पर-पदार्थों में अहंकार-ममकार से जीव दुःखी ही होता है। अतः सुख की सिद्धि जीव-अजीव के भेदविज्ञान से ही होती है।

कोई कहे कि हम भेदविज्ञान करें फिर भी सुख न हो तो क्या करना ?

उससे कहते हैं कि अरे भाई ! यथार्थ भेदविज्ञान करे और सुख न हो – ऐसा तीन काल में भी नहीं बनता और जीव-अजीव को एकरूप माने और उसका दुःख दूर हो जाए – ऐसा भी नहीं बनता। अतः स्व-पर का भेदविज्ञान करने से ही दुःख दूर होता है।

तथा स्व-पर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है। उसमें स्व कौन ? और पर कौन ? कि मैं जीव हूँ और शरीरादिक अजीव है। मैं जीव स्व हूँ और शरीरादिक अजीव हैं, वे मुझसे पर हैं। जीव तो ज्ञान लक्षण वाला है और अजीव पदार्थ ज्ञान रहित जड़ हैं। इसप्रकार लक्षणों द्वारा जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न जाने तो दुःख मिटे। शरीर सुखी तो सुखी – ऐसा मानने वाले को जीव-अजीव की भिन्नता का भान नहीं है, इसीकारण उसने शरीर की निरोगता में सुख माना है। परन्तु दुःख मिटकर सुख होने का उपाय तो आत्मा में है, उसका भान नहीं है। शरीर की दरकार न रखे और गंदगी में पड़ा रहे, इससे उसे शरीर में एकत्व बुद्धि छूट गई है – ऐसा नहीं है; वह तो महामूढ़ अविवेकी है। स्व-पर कौन है, जीव-अजीव कौन है – उन्हें जानकर यथार्थ श्रद्धा करने से ही दुःख दूर होता है; इसलिये जीव और अजीव तत्त्वों का ज्ञान प्रयोजनभूत है, उन्हें जानना चाहिए।

अन्य प्रयोजनभूत तत्त्व कौन है – यह बात अब करते हैं।

....तथा दुःख का कारण तो कर्मबन्धन है और उसका कारण मिथ्यात्वादिक आस्रव हैं। यदि इनको न पहिचाने, इनको दुःख का मूल कारण न जाने तो इनका अभाव कैसे करे ? और इनका अभाव नहीं करे तो कर्मबन्धन कैसे नहीं हो ? इसलिये दुःख ही होता है। अथवा मिथ्यात्वादिक भाव हैं सो दुःखमय हैं। यदि उन्हें ज्यों का त्यों नहीं जाने तो उनका अभाव नहीं करे, तब दुःखी ही रहे; इसलिये आस्रव को जानना।

आस्रव को नहीं पहिचाने तो उसे किसप्रकार मिटावे ? आत्मा में मिथ्यात्व, शुभाशुभभाव और अव्रतादिक के भाव होते हैं, वे दुःख का मूलकारण है। जो परिणाम बंधन और दुःख का मूलकारण है। उन्हें दुःख का मूल कारण न जाने तो किसप्रकार मिटावे ? अज्ञानी जीव संयोग को दुःख का कारण जानकर उसे हटाना चाहता है; परन्तु यह मान्यता ही विपरीत है। कर्मबंधन (संयोग) तो निमित्तमात्र है, मूल कारण तो विकारीभाव है। यदि आस्रव का अभाव न करे तो कर्मबंधन हो और उससे दुःख ही होता है।

मिथ्यात्वादिभाव, अज्ञान, पुण्य-पाप के भाव स्वयं दु:खरूप हैं। वे विकार हैं, उन्हें नहीं जाने तो सच्ची श्रद्धा नहीं होती। पहले आस्रव को दु:ख का कारण कहा था। यहाँ कहते हैं कि आस्रव ही दु:खमय हैं। अज्ञानी पुण्य को धर्म का कारण मानकर उसे रखने का प्रयत्न करता हैं; परन्तु उससे तो वह संसार में ही भ्रमण करता है। अत: पुण्य-पाप परिणाम दु:ख है, दु:ख के कारण हैं – ऐसा जानना चाहिये। देवगति का भाव दु:खमय है और देवगति दु:ख का कारण है। आत्मा अकषायी-शान्तस्वभावी है – ऐसा ज्ञान नहीं करे, उसका दु:ख नहीं मिटता।

....तथा समस्त दु:ख का कारण कर्मबन्धन है। यदि उसे न जाने तो उससे मुक्त होने का उपाय नहीं करे, तब उसके निमित्त से दु:खी हो; इसलिये बन्ध को जानना।....

समस्त दु:खों का मूलकारण कर्मबंधन है। जीव का भावबंध कर्मबंध में (द्रव्यबंध में) निमित्त होता है। पुण्य-पाप भाव जीव को बंध के कारण हैं। तीर्थंकर पुण्यप्रकृति अथवा आहारक शरीर मिले ऐसी पुण्यप्रकृति बंधना, वह सब बंधन है। बंधन मात्र दु:खदायक है। यदि उसे नहीं जाने तो उससे मुक्त होने का उपाय भी नहीं करे और उसके निमित्त से दु:खी ही हो; अत: बंधन को जानना आवश्यक है। स्वभाव का आश्रय करने से भावबंध का अभाव होता है और भावबंध का अभाव होने से द्रव्यबंध का अभाव होता है।

....तथा आस्रव का अभाव करना, सो संवर है। उसका स्वरूप न जाने तो उसमें प्रवर्तन नहीं करे, तब आस्रव ही रहे, उससे वर्तमान तथा आगामी दु:ख ही होता है; इसलिये संवर को जानना।....

आत्मा के भानपूर्वक पुण्य-पाप के भाव को रोकना संवर है। अज्ञानी शरीरादि की बाह्य क्रिया करते-करते संवर होना मानता है। शरीर की क्रिया होती है वह जड़ की अवस्था है। शुभभाव होता है वह आस्रव है। पुण्य-पाप रहित आत्मा में शुद्धदशा का होना, वह संवर है। जीव को जो विकल्प उठता है वह भी आस्रव है, उससे रहित अन्तर निर्मलदशा होना ही संवर है – ऐसी जिसे खबर नहीं है, उसे धर्म नहीं होता। सामायिक, प्रोषध आदि सब आत्मा के आश्रय से होते हैं। लोग संवर को नहीं जानते – इसकारण मलिन परिणाम को संवर मानते हैं; जिनसे वर्तमान में दु:ख है और भविष्य में दु:ख का कारण बनते हैं। अत: संवर का ज्ञान करना आवश्यक है।

....तथा कथंचित् किंचित् कर्मबन्ध का अभाव करना, उसका नाम निर्जरा है। यदि उसे न जाने तो उसकी प्रवृत्ति का उद्यमी नहीं हो, तब सर्वथा बन्ध ही रहे, जिससे दु:ख ही होता है; इसलिये निर्जरा को जानना।

कथंचित् किंचित् कर्म बंधन का अभाव करना, वह निर्जरा है। किसीप्रकार से किंचित् बंधन का अभाव होने को निर्जरा कहते हैं। यहाँ आत्मा के भान पूर्वक होने वाली निर्जरा की बात है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। विकार आस्रव और दुःखमय है और निर्जरा हितरूप है – ऐसे भान वाले को निर्जरा होती है।

कथंचित् – किसीप्रकार, परन्तु सर्वथा प्रकार से कर्मबंधन का अभाव करना, ऐसा निर्जरा का स्वरूप नहीं है। किंचित् – थोड़ा अभाव करना कहा है, सर्वथा अभाव कहे तो मोक्ष हो जाये; किन्तु यहाँ निर्जरा की व्याख्या होने से किंचित् कहा है। तथा यदि कथंचित् न कहे और अकेला किंचित् कहे तो पुण्य कर्म की भी निर्जरा हो जाये, परन्तु पुण्य के रस (अनुभाग) की निर्जरा नहीं होती। सम्यग्दृष्टि के पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है। धर्मी के सकाम-अकाम, सविपाक और अविपाक – इसप्रकार चारों निर्जरा होती हैं; तथापि अनुभाग अथवा रस की निर्जरा होती है अथवा रस (पुण्य प्रकृतियों को अनुभाग) आंशिक घटता है – ऐसा नहीं है। इसकारण कथंचित – किसीप्रकार – शब्द का प्रयोग किया है।

निर्जरा को यथार्थ नहीं जाने तो उसरूप प्रवृत्ति का उद्यमी नहीं होवे अर्थात् स्वभाव सन्मुख रहने का प्रयत्न नहीं करे, तब सर्वथा बंध ही रहे जिससे दुःख ही हो।

ज्ञानी को पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है, इसलिए कथंचित् कहा है। आगे पृष्ठ २३२ (सातवां अधिकार, जयपुर संस्करण) कहा है कि मोक्षमार्ग में स्थिति का घटना तो सभी प्रकृतियों का होता है, वहाँ पुण्य-पाप की विशेषता है ही नहीं। तथा अनुभाग का घटना पुण्य प्रकृतियों में शुद्धोपयोग से भी नहीं होता। ऊपर-ऊपर पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का तीव्र बंध-उदय होता है और पाप प्रकृतियों के परमाणु पलटकर शुभ प्रकृतिरूप होते हैं – ऐसा संक्रमण शुद्ध और शुभ दोनों भाव होने पर होता है।

अज्ञानी जीव तो बाहर की क्रिया से निर्जरा मानता है; परन्तु यह ठीक नहीं है। इस कारण यहाँ उसका सच्चा स्वरूप बताया है।

....तथा सर्वथा सर्व कर्मबन्ध का अभाव होना उसका नाम मोक्ष है। यदि उसे नहीं पहिचाने तो उसका उपाय नहीं करे, तब संसार में कर्मबन्ध से उत्पन्न दुःखों को ही सहे; इसलिये मोक्ष को जानना। इसप्रकार जीवादि सात तत्त्व जानना।

तथा शास्त्रादि द्वारा कदाचित् उन्हें जाने, परन्तु ऐसे ही हैं ऐसी प्रतीति न आयी तो जानने से क्या हो ? इसलिये उनका श्रद्धान करना कार्यकारी है। ऐसे जीवादि तत्त्वों का सत्य श्रद्धान करने

पर ही दु:ख होने का अभावरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसलिये जीवादिक पदार्थ हैं वे ही प्रयोजनभूत जानना।

तथा इनके विशेष भेद पुण्य-पापादिरूप हैं उनका भी श्रद्धान प्रयोजनभूत है, क्योंकि सामान्य से विशेष बलवान है। इसप्रकार ये पदार्थ तो प्रयोजनभूत हैं, इसलिये इनका यथार्थ श्रद्धान करने पर तो दु:ख नहीं होता, सुख होता है; और इनका यथार्थ श्रद्धान किए बिना दु:ख होता है, सुख नहीं होता।

तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, वे अप्रयोजनभूत हैं; क्योंकि उनका यथार्थ श्रद्धान करो या मत करो उनका श्रद्धान कुछ सुख-दु:ख का कारण नहीं है।....

निर्जरा में कथंचित् और किंचित् कर्मबंधन का अभाव कहा था और यहाँ मोक्ष में सर्वथा और सर्वप्रकार कर्मबंध का अभाव कहा। यदि उसे नहीं पहिचाने तो उसका उपाय नहीं करे। ''मोक्ष कहो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ''

आत्मा के भान पूर्वक शुद्ध वीतरागी दशा प्रगट होना, वह मोक्ष का पंथ है। जो मोक्ष तत्त्व को नहीं पहिचाने, वह उसका उपाय भी नहीं करता, जिससे संसार में कर्मबंधन से उत्पन्न दुखों को ही सहन करता है। अत: मोक्ष को जानना आवश्यक है।

इसप्रकार सात तत्त्व आ गये। इन सातों तत्त्वों को जानना प्रयोजनभूत है।

कदाचित् शास्त्रादिक से इन्हें जाने, ज्ञान के उघाड़ से जाने; परन्तु 'ये ऐसे ही है' – ऐसी प्रतीति न आवे तो मात्र जानने से क्या हो ?

जीव ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध वस्तु है। शरीर-कर्म आदि अजीव हैं। पुण्य-पाप – दोनों आस्रव हैं। उनमें अटकना बंध है, आस्रव-बंध – दोनों अहितकर हैं। आस्रव का अभाव करने से संवर होता है। शुद्धि की वृद्धि निर्जरा है। संवर-निर्जरा हितरूप है और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष परमहित है। ये पदार्थ 'ऐसे ही हैं' – ऐसी प्रतीति न आवे तो मात्र जानने से क्या हो ? पहले तो सत्य सुनने को ही नहीं मिलता, सुनने को मिले तो ग्रहण नहीं करता और कदाचित् ग्रहण किया और व्यापार-धंधे में फँस जाने के कारण धारणा नहीं रही तो श्रवण व ग्रहण निरर्थक है; तथा कदाचित् धारणा भी हो जावे; परन्तु ये तत्त्व 'ऐसे ही हैं' – ऐसी प्रतीति नहीं आवे तो क्या कार्य होवे ?

यहाँ कहते हैं कि सातों तत्त्वों को जानने का उघाड़ होने पर भी प्रतीति न करे तो व्यर्थ है। अत: सात तत्त्वों की श्रद्धा करना ही कार्यकारी है। इसप्रकार जीवादिक की सच्ची श्रद्धा

करने से ही दु:ख के अभावरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। अत: जीवादिक सातों तत्त्वों को प्रयोजनभूत जानना चाहिये।

तथा आस्रव के पुण्य और पाप – ऐसे दो विशेष जानना भी प्रयोजनभूत हैं; क्योंकि सामान्य से विशेष का जानना बलवान है। यहाँ सामान्य का अर्थ संक्षेप से जानना – ऐसा समझना और विशेष अर्थात् वर्तमान ज्ञान की विशेष निर्मलता समझना। आस्रव के दो गर्भित भेद कहते हैं – खाना, पीना, खेलना आदि के भाव वे पाप भाव हैं और दया-दानादि के भाव, वे पुण्यभाव हैं। अज्ञानी पुण्य-पाप के भेद को नहीं जानता।

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित नवतत्त्वों को यथावत् जानना चाहिये; कारण कि वे प्रयोजनभूत हैं। उन्हें नहीं जाने तो धर्म नहीं होता। नव तत्त्वों का यथार्थश्रद्धान करने पर ही सुख होता है और दु:ख नहीं होता और उनकी यथार्थ श्रद्धा किये बिना दु:ख ही होता है, सुख नहीं होता। इसप्रकार यहाँ श्रद्धा के ऊपर वजन है। जब तक नवतत्त्वों का यथावत् निर्धारण नहीं करे तब तक धर्म नहीं होता।

यहाँ कहा है कि नवतत्त्वों को पहिचानना प्रयोजनभूत है। इनके सिवाय अन्य पदार्थ अप्रयोजनभूत हैं; अत: उनका श्रद्धान करो या नहीं करो; क्योंकि उनका श्रद्धान कुछ सुख-दु:ख का कारण नहीं है।

....यहाँ प्रश्न उठता है कि – पहले जीव-अजीव पदार्थ कहे, उनमें तो सभी पदार्थ आ गये; उनके सिवा अन्य पदार्थ कौन रहे, जिन्हें अप्रयोजनभूत कहा है ?....

समाधान – पदार्थ तो सब जीव-अजीव में गर्भित हैं, परन्तु उन जीव-अजीवों के विशेष बहुत हैं। उनमें से जिन विशेषों सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने से स्व-परका श्रद्धान हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान हो, उनसे सुख उत्पन्न हो; तथा अयथार्थ श्रद्धान करने से स्व-पर का श्रद्धान नहीं हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान नहीं हो, इसलिये दु:ख उत्पन्न हो; उन विशेषों सहित जीव-अजीव पदार्थ तो प्रयोजनभूत जानना।

तथा जिन विशेषों सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने या न करने से स्व-पर का श्रद्धान हो या न हो, तथा रागादिक दूर करने का श्रद्धान हो या न हो – कोई नियम नहीं है; उन विशेषों सहित जीव-अजीव पदार्थ अप्रयोजनभूत जानना।

जैसे – जीव और शरीर का चैतन्य, मूर्त्तत्वादि विशेषों से श्रद्धान करना तो प्रयोजनभूत है; और मनुष्यादि पर्यायों का तथा घट-पटादि का अवस्था, आकारादि विशेष से श्रद्धान करना अप्रयोजनभूत है। इसीप्रकार अन्य जानना।

इसप्रकार कहे गये जो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्व उनके अयथार्थ श्रद्धान का नाम मिथ्यादर्शन जानना।....

सभी पदार्थ जीव-अजीव में आ जाते हैं; परन्तु उनके प्रकार बहुत हैं – विशेष बहुत है। जिन भेदों सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने पर स्व-पर का श्रद्धान होवे, रागादिक दूर करने की श्रद्धा होवे, उससे सुख उत्पन्न होता है; अत: उन भेदों सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करना प्रयोजनभूत है।

अज्ञानी 'णमो अरहंताणं' शब्द बोलकर उससे धर्म मानता है; परन्तु शब्द तो जड़ हैं और जो शुभभाव उत्पन्न हुआ वह पुण्य है, धर्म नहीं – ऐसा नहीं पहिचाने तो राग को बनाये रखे; जिससे दु:ख ही उत्पन्न हो।

जीव-अजीव के सात विशेष हैं, उन्हें यथार्थ जानने से सुख उत्पन्न हो और अयथार्थ जानने से स्व-पर की श्रद्धा नहीं हो, रागादिक दूर करने की श्रद्धा नहीं हो और इस कारण दु:ख उत्पन्न हो – अत: ऐसे भेद सहित जीव-अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। तथा जिन भेदों सहित जीव-अजीव का यथार्थ श्रद्धान करते स्व-पर का श्रद्धान हो अथवा नहीं हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान हो या नहीं हो, इसप्रकार जिसका कोई नियम नहीं है – ऐसे विशेषों सहित जीव-अजीव पदार्थ अप्रयोजनभूत समझना।

जैसे जीव सामान्य है उसका विशेष जानना-देखना है, वह प्रयोजनभूत है; परन्तु किसी मनुष्य का शरीर इतना मोटा-पतला अथवा ऊँचा है – यह नहीं जाने तो श्रद्धा में बाधा नहीं आती। आत्मा सामान्य है और उसका जानने-देखने का स्वभाव है वह विशेष है। शरीर मूर्त–रूपी है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण उसके गुण है – वे विशेष है – इसप्रकार जीव-अजीव को उनके विशेष सहित जानना आवश्यक है। परन्तु जुगलिया तीन कोस ऊँचे होते हैं, देवों की इतनी संख्या होती है – इत्यादि बातों को जानने से कदाचित् ख्याल आवे कि यह बात सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र नहीं है। ऐसा ख्याल आने पर कदाचित् श्रद्धा हो, अर्थात् ऐसे विशेषों से स्व-पर की श्रद्धा हो अथवा नहीं हो, रागादिक दूर करने की श्रद्धा हो अथवा नहीं हो – इसप्रकार कोई नियम नहीं है ऐसे विशेषों सहित जीव-अजीव अप्रयोजनभूत जानना।

जीव स्वयं सामान्य है और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा आदि उसके विशेष हैं – उन्हें जानना प्रयोजनभूत है। परन्तु जड़ शरीर के आकार, तथा घटपटादि के आकाररूप विशेष जानना अप्रयोजनभूत है।

इसीप्रकार अन्य भी समझना।

मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति

....अब संसारी जीवों के मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति कैसी होती है, वह यहाँ कहते हैं। यहाँ वर्णन तो श्रद्धान का करना है, परन्तु जानेगा तो श्रद्धान करेगा – इसलिये जानने की मुख्यता से वर्णन करते है।....

जीव-अजीव तत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

....अनादिकाल से जीव है वह कर्म के निमित्त से अनेक पर्यायें धारण करता है। वहाँ पूर्व पर्याय को छोड़ता है, नवीन पर्याय धारण करता है। तथा वह पर्याय एक तो स्वयं आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर उनसे एक पिण्ड बन्धानरूप है। तथा जीव को उस पर्याय में – 'यह मैं हूँ' – ऐसी अहंबुद्धि होती है। तथा स्वयं जीव है, उसका स्वभाव तो ज्ञानादिक है और विभाव क्रोधादिक है और पुद्गलपरमाणुओं के वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि स्वभाव हैं – उन सबको अपना स्वरूप मानता है।

'ये मेरे हैं' – इसप्रकार उनमें ममत्वबुद्धि होती है। तथा स्वयं जीव है, उसके ज्ञानादिक की तथा क्रोधादिक की अधिकता हीनतारूप अवस्था होती है और पुद्गल-परमाणुओं की वर्णादि पलटनेरूप अवस्था होती है उन सबको अपनी अवस्था मानता है। 'यह मेरी अवस्था है' – ऐसी ममत्वबुद्धि करता है।....

अनादिकाल से संसारी जीव कर्म के निमित्त से अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। आत्मा स्वयं एक है और अनन्त पुद्गलपरमाणु के बंधानरूप एक शरीर है, उसमें जीव को 'यही मैं हूँ' – ऐसी बुद्धि होती है। अपने आत्मा का परिज्ञान नहीं होने से शरीर को अपना मानता है।

स्वयं जीव है और उसका स्वभाव जानना-देखना है। पर्याय में होने वाले पुण्य-पाप, काम-क्रोध के भाव विकार हैं और शरीरादि जड़ है। फिर भी अनन्त पुद्गलपरमाणुओं को अपना मानता है। वर्ण-गंधादि मैं, विकार मैं, और ज्ञानादिक मैं, इसप्रकार तीनों को अपने से एकमेक मानता है। शरीर जड़ है, विकार क्षणिक है और स्वयं ज्ञानानन्द नित्य है – ऐसा नहीं मानता। अज्ञानी जीव को (अपनी) पहिचान नहीं होने से वह शरीर को अपना मानता है – यह मिथ्याप्रवृत्ति है।

जीव में ज्ञान की अवस्था न्यूनाधिक होती है, उसे अपनी मानता है। क्रोधादिक की अवस्था न्यूनाधिक हो उसे अपनी मानता है। शरीर की मोटी-पतली अवस्था होवे – उसे

अपनी मानता है। पुद्गल परमाणुओं की रूपादि अवस्था पलटती है – उन सबको अपनी अवस्था मानकर "यह मेरी अवस्था है" ऐसी ममकार बुद्धि करता है।

अनादि से नवतत्त्वों की विपरीत श्रद्धा के कारण परिभ्रमण हुआ है। नवतत्त्व पृथक्-पृथक् किसप्रकार हैं, वह जाना नहीं। शरीर और आत्मा आकाश के एक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न होने पर भी अज्ञानी शरीर को अपना मानता है। शरीर और उसके स्पर्शादिक गुणों को अपना मानता है। तथा शरीरादि की अवस्था को, ज्ञान की न्यूनाधिक अवस्था को, तथा विकार आदि सब अवस्थाओं में ममकार बुद्धि करता है।

छहढाला में भी सात तत्त्वों सम्बन्धी भूलें संक्षेप में बतलाई हैं, यहाँ उन्हें विस्तार से बताया गया है।

पर्याय क्षणिक है और शरीरादि पर हैं – इसप्रकार (ज्ञान, राग व शरीरादि) तीनों के बीच भेदज्ञान नहीं करता – इस कारण यह जीव परिभ्रमण करता है।

....तथा जीव और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिये जो क्रिया होती है उसे अपनी मानता है। अपना दर्शन-ज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रवृत्ति को निमित्तमात्र शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्यइन्द्रियाँ हैं; यह उन्हें एक मानकर ऐसा मानता है कि – हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया, जीभ से स्वाद लिया, नासिका से सूँघा, नेत्र से देखा, कानों से सुना। मनोवर्गणारूप आठ पंखुड़ियों के फूले कमल के आकार का हृदयस्थान में द्रव्यमन है, वह दृष्टिगम्य नहीं ऐसा है, सो शरीर का अंग है; उसके निमित्त होने पर स्मरणादिरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यह द्रव्यमन को और ज्ञान को एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने मन से जाना।....

जीव और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वहाँ शरीर की जो क्रिया होती है, उसे अपनी मानता है।

आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है। उसकी ज्ञानपर्याय को स्पर्शनादि इन्द्रियाँ निमित्त हैं। अज्ञानी उन इन्द्रियों को अपनी मानता है। ज्ञान की पर्याय जानने की योग्यता वाली है, वह ज्ञान गुण की परिणति है – ऐसा नहीं मानकर हाथ के स्पर्श से ज्ञान हुआ मानता है, वह जीव और अजीव के स्वरूप की भूल है, यह मिथ्यादर्शन शल्य है।

जब अपने कारण से ज्ञान होता है तब अन्य पदार्थ निमित्त कहलाते हैं – ऐसा नक्की करे तो पर्यायबुद्धि छूट जाए; परन्तु जो निमित्त से कार्य होना मानता है, उस जीव को भेदज्ञान नहीं होता। निमित्तरूप स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, उनके द्वारा ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियों

की क्रिया तो जड़ की क्रिया है और ज्ञान की क्रिया आत्मा की क्रिया है – दोनों क्रियायें स्वतन्त्र हैं।

तथा ''मैंने जीभ से चखा'' – ऐसा मानता है; परन्तु वस्तुत: तो उस समय स्वाद का ज्ञान, ज्ञान की परिणति से किया है – ऐसा नहीं मानता। अज्ञानी जीभ की क्रिया अपने से हुई मानता है और उस जीभ की क्रिया से ज्ञान हुआ मानता है, यह महा पाखण्ड और भ्रम है – ऐसा महापाप अज्ञानी के ख्याल में नहीं आता।

तथा ''मैंने नासिका से सूँघा'' – ऐसा मानकर नाक की क्रिया से ज्ञान होना मानता है और नासिका की क्रिया अपने से हुई मानता है। ज्ञान की क्रिया मुझमें मुझसे होती है, उसमें सुगंध जानने में आती है। नाक की क्रिया तो जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है। वह नैमित्तिक दशा स्वतन्त्र है, उसमें जीव निमित्तमात्र है – ऐसा नहीं मानकर जीव के कारण नाक की क्रिया हुई मानता है। तथा गंध सम्बन्धी ज्ञान अपने से होता है, उसमें जड़ इन्द्रियाँ निमित्तमात्र है – ऐसी भिन्नता नहीं मानकर निमित्त से ज्ञान की क्रिया हुई मानता है।

तथा 'मैंने नेत्र से देखा' – ऐसा मानता है। आँख की क्रिया जड़ की है और ज्ञान क्रिया में आँख निमित्तमात्र है – इसप्रकार यथार्थ नहीं मानता उसे धर्म नहीं होता। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया है, उसे तो अज्ञानी मानता नहीं और निमित्त से नैमित्तिक दशा हुई ऐसा मानता है – दोनों को भिन्न-भिन्न नहीं मानता।

तथा 'मैंने कान से सुना' – ऐसा मानता है। अपनी सुनने की ज्ञान अवस्था नैमित्तिक है, उसमें कान निमित्त है। इसप्रकार पृथक् नहीं मानता – इस कारण दोनों क्रियाओं को एकमेक मानता है; परन्तु नैमित्तिक क्रिया और निमित्त की क्रिया भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा नहीं मानता।

यहाँ स्पष्ट लिखा है कि इन्द्रियाँ आदि निमित्तमात्र हैं, तथापि अज्ञानी जीव आत्मा और इन्द्रियों को एकमेक मानता है और इन्द्रियों से ज्ञान होना मानता है।

तथा आठ पंखुड़ियों के आकार युक्त द्रव्यमन जीव के विचार में निमित्त है। वह द्रव्यमन अपने से भिन्न वस्तु है – ऐसा अज्ञानी को भासित नहीं होता। द्रव्यमन दृष्टिगोचर नहीं है। उसके निमित्त होने पर स्मरणादि की प्रवृत्ति होती है। अज्ञानी उस द्रव्यमन और आत्मा को एक मानता है। तथा जीव संज्ञी हुआ, इसलिये उपदेश ग्रहण कर सकता है – ऐसा मानता है। असंज्ञी जीवों के मन नहीं है, इसलिये वे शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते और संज्ञी जीवों के मन है तो वे शिक्षा-उपदेश ग्रहण कर सकते हैं और उनके स्मरण शक्ति विकसित हुई है – ऐसा अज्ञानी मानता है। अज्ञानी का वज़न द्रव्यमन के ऊपर जाता है। वह मानता है कि मन के आधार से ज्ञान

विकास को प्राप्त होता है; वस्तुत: वह सम्पूर्ण चैतन्य को भूल गया है, ज्ञान को पराधीन मानता है। द्रव्यमन और ज्ञान को एकरूप मानकर ऐसा मानता है कि मैंने मन से जाना।

....तथा अपने को बोलने की इच्छा होती है तब अपने प्रदेशों को जिसप्रकार बोलना बने उसप्रकार हिलाता है, तब एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध के कारण शरीर के अंग भी हिलते हैं। उनके निमित्त से भाषावर्गणारूप पुद्गल वचनरूप परिणमित होते हैं; यह सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं बोलता हूँ।

तथा अपने को गमनादि क्रिया की या वस्तु ग्रहणादिक की इच्छा होती है, तब अपने प्रदेशों को जैसे कार्य बने वैसे हिलाता है। वहाँ एकक्षेत्रावगाह के कारण शरीर के अंग हिलते हैं, तब यह कार्य बनता है; अथवा अपनी इच्छा के बिना शरीर हिलता है, तब अपने प्रदेश भी हिलते हैं; यह सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं गमनादि कार्य करता हूँ, मैं वस्तु का ग्रहण करता हूँ अथवा मैंने किया है – इत्यादिरूप मानता है।....

जब बोलने की इच्छा हो तब आत्मा के प्रदेशों को जैसे बोलना बने उसप्रकार हिलाता है, वहाँ प्रदेशों का कंपन तो जीव की पर्याय है और जीव के निमित्त से शरीर के अंग भी हिलते हैं। देह चले, देह में कंपन हो, उन शरीर आदि की अवस्थाओं को आत्मा के कारण हुई मानता है। तथा भाषावर्गणारूप पुद्गल स्वयं वचनरूप परिणमित होते हैं, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं बोलता हूँ। यह क्रिया मेरे से हुई ऐसा मानता है – यह अजीव तत्त्व में भूल करता है। आत्मा के प्रदेशों को, शरीर के अंगों को तथा भाषारूप वचनों को – एकरूप मानकर ऐसा मानता है कि "मैं बोलता हूँ"।

तथा शरीरादि का गमनादि हो, हाथ ऊँचा होवे अथवा खाते समय हाथादि की क्रिया हो तथा कोई वस्तु लेने की इच्छा हो, उस समय आत्मा के प्रदेशों की जो क्रिया होती है, वह तो आत्मा की क्रिया है और उस समय जो शरीर की क्रिया होती है वह जड़ की क्रिया है; उसमें इच्छा निमित्तमात्र है।

अथवा बिना इच्छा के भी शरीर के चलने पर अपने प्रदेश भी हिलते हैं, वहाँ प्रदेशों की क्रिया में शरीर निमित्तमात्र है और शरीर की क्रिया में आत्मा निमित्त है – ऐसा होने पर भी जीव मानता है कि मैं शरीरादिक को चलाता हूँ।

वस्तु ग्रहणादिक की क्रिया होती है, वहाँ जो-जो अवस्था हुई वह अपने-अपने कारण से हुई है; परन्तु इच्छा के कारण नहीं हुई है। तथा इच्छा के बिना भी आत्मा के प्रदेश क्षेत्रांतर होते हैं, वहाँ भी आत्मा की क्रिया आत्मा के कारण से है, शरीर के कारण से नहीं। दोनों क्रियायें

स्वतन्त्र हैं; तथापि अज्ञानी जीव शरीर की क्रिया को, परवस्तु की अवस्था को, आत्मा के प्रदेशों की हलन-चलनरूप अवस्था को तथा जीव और इच्छा को एकरूप मानता है और मानता है कि मैं गमनादि करता हूँ अथवा इस वस्तु को चखता हूँ – इत्यादि।

कषायभाव होने पर शरीर की अवस्था कषाय अनुसार हो जाती है, उसकी बात करते हैं। ध्यान रहे, यहाँ मिथ्यात्व सहित कषाय की बात है।

....तथा जीव के कषायभाव हों तब शरीर की चेष्टा उनके अनुसार हो जाती है। जैसे – क्रोधादिक होने पर लाल नेत्रादि हो जाते हैं, हास्यादि होने पर मुखादि प्रफुल्लित हो जाते हैं, पुरुषवेदादि होने पर लिंगकाठिन्यादि हो जाते हैं; यह सब एक मानकर ऐसा मानता है कि यह कार्य सब मैं करता हूँ। तथा शरीर में शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, रोग इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं; उनके निमित्त से मोहभाव द्वारा स्वयं सुख-दुःख मानता है; इन सबको एक जानकर शीतादिक तथा सुख-दुःख अपने को ही हुए मानता है।....

क्रोध होने पर नेत्र लाल हो जाते हैं, वहाँ क्रोध तो आत्मा की विकारी अवस्था है और आँख का लाल होना, वह जड़ की अवस्था है। अज्ञानी मानता है कि क्रोध के कारण आँख की लाल अवस्था हुई। क्रोध होने पर शरीर काँपता है, वहाँ शरीर की सम्पूर्ण अवस्था स्वतन्त्र है, क्रोधादि तो निमित्तमात्र है। तथा हास्यादि होने पर मुखादि प्रफुल्लित हो जाते हैं, वहाँ अज्ञानी शरीर की उस अवस्था को अपने से हुई मानता है, किन्तु ऐसा नहीं है। शरीर की क्रिया नैमित्तिक है, उसमें हास्य, रति आदि निमित्त हैं। पुत्र का वियोग होने पर मुख मुरझा जाता है, यह शरीर की क्रिया है। पुरुष वेदादि होने पर शरीर का लिंग कठोर हो जाता है – अज्ञानी इन सबको एकरूप मानकर मानता है कि मैंने लाल नेत्र किये, मुख प्रफुल्लित किया – इत्यादि जड़ के कार्य मैंने किये। जबकि यहाँ तो दोनों – आत्मा और जड़ का स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया है। वे-वे जड़ की पर्यायें अपने-अपने द्रव्य की स्वतन्त्र दशायें हैं – ऐसा मानकर पर्यायबुद्धि छोड़ने को कहते हैं।

तथा शरीर में शीत-उष्ण, वायुरोग आदि अवस्थायें होती है, वहाँ मोहभाव से सुख-दुःख मानता है। इन सबको एकरूप मानकर मुझे शीत लगी, मुझे बुखार चढ़ा – ऐसा मानता है तथा सुख-दुःख अपने को ही हुए मानता है। इस प्रकार इन सब अवस्थाओं को अपनी मानता है।

....तथा शरीर के परमाणुओं का मिलना-बिछुड़ना आदि होने से अथवा उनकी अवस्था पलटने से या शरीर स्कन्ध के खण्ड आदि होने से स्थूल-कृशादिक, बाल-वृद्धादिक अथवा

अंगहीनादिक होते हैं और उसके अनुसार अपने प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है; यह सबको एक मानकर मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरे इन अंगों का भंग हुआ है – इत्यादिरूप मानता है।....

शरीर कृश होता जावे या स्थूल होता जावे – इत्यादि अवस्थायें होने पर मेरी अवस्था पलटी – ऐसा मानता है। तथा शरीर के स्कंध में से अंगुली टूट जाए या नाक कट जाए तो मैं कट गया, दाँत गिर जाने पर मैं दाँत विहीन हो गया – ऐसा मानता है। इसप्रकार शरीर स्थूल होवे, उसमें जालंधर रोग होवे, बाल अथवा वृद्ध अवस्था होवे – वे सब शरीर की अवस्थायें हैं; तदनुसार आत्मा के प्रदेशों का स्वयं के कारण से संकोच-विस्तार होता है, अज्ञानी उन सबको अपना मानता है। 'अनुसार' का अर्थ यह है कि अपने प्रदेशों की उसप्रकार की योग्यता है, उसमें शरीर की अवस्था निमित्त है। निमित्त के अनुरूप नैमित्तिक दशा होती है, अत: निमित्त के अनुसार हुआ – ऐसा कहा है।

....तथा शरीर की अपेक्षा गति कुलादिक होते हैं, उन्हें अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ – इत्यादिरूप मानता है। तथा शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है; उसे अपना जन्म-मरण मानकर मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा – ऐसा मानता है।

तथा शरीर ही की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है। जिनके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ उसे अपना पुत्र मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे मित्र मानता है;जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है – इत्यादिरूप मान्यता होती है।....

शरीर की अपेक्षा से गति, कुल आदि होते हैं, उन्हें अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यन्च हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं खानदानी हूँ, मैं हल्के कुल का हूँ – इत्यादिरूप मानता है।

शरीर का संयोग होने पर मैं जन्मा और शरीर का वियोग होने पर मैं मरा – ऐसा मानता है। नये भव में जन्मना है – ऐसा मानता है; परन्तु ये सब शरीर की अवस्थायें हैं और जीव स्वयं नित्य रहने वाला तत्त्व है – ऐसा नहीं मानता।

माता-पिता के साथ शरीर का सम्बन्ध है। उनके साथ शरीर का सम्बन्ध नहीं मानकर उन्हें अपने (आत्मा के) माता-पिता मानता है। जो शरीर को रमावे उसे रमणी मानता है जो शरीर से उत्पन्न हुए उन्हें पुत्र-पुत्री मानता है। वहाँ भी पुत्रादिक के शरीर की अवस्था नैमित्तिक

है, उसमें माता-पिता का शरीर निमित्तमात्र है, तथापि यह जीव पर की पर्याय को अपनी पर्याय मानता है; परन्तु यह बात सत्य नहीं है।

अज्ञानी जीव अनादि से अपने स्वरूप को शरीर से भिन्न नहीं मानता, वह अधर्मभाव है। जबतक ऐसी अधर्मदृष्टि हो तबतक धर्म नहीं होता। शरीर तो जड़ है, उससे पुत्र-पुत्री जन्मे – ऐसा कहना, यह तो निमित्त का कथन है। पुत्र-पुत्रियों का आत्मा भिन्न है और उनके शरीर के परमाणु माता-पिता के शरीर के परमाणुओं से भिन्न हैं; फिर भी उन्हें अपना मानना अधर्मभाव है। सच्ची श्रद्धा होने के पश्चात् जो राग होता है, वह अपना चारित्रदोष है।

जो निमित्तरूप से शरीर का उपकार करे उसे मित्र मानता है। मित्र का आत्मा और शरीरादि अपने से भिन्न हैं, फिर भी उन्हें अपने मानता है, वे अपने काम आते हैं – ऐसा मानता है। शरीर का बुरा करे उसे शत्रु मानता है। कोई शरीर को काटे या मारे तो मानता है कि यह शत्रु है। जबतक जीव इन मिथ्या मान्यताओं को नहीं मिटाता तबतक धर्म नहीं होता। शरीर और उसके सम्बन्धी अपने नहीं है – ऐसा भेदविज्ञान नहीं करे वहाँ तक धर्म नहीं होता। अज्ञानी जीव ऐसी मान्यता किया करता है।

....अधिक क्या कहें ? जिस-तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है।....

रोग होने पर मुझे रोग हुआ। शरीर का अंग पुष्ट होने पर मैं पुष्ट हुआ – यह मान्यतायें अधर्मभाव है, जिन्हें टाले बिना धर्म नहीं होता। इन्द्रियाँ – आँख, नाक, कान आदि जड़ होने पर भी उन्हें अपनी मानता है। यदि वे इन्द्रियाँ इसकी हों तो सदा इसके साथ रहना चाहिये; परन्तु चैतन्य और इन्द्रियाँ तो पृथक्-पृथक् हैं, इसकी खबर नहीं है, उसे कुछ भी गम्य नहीं है, अचेत जैसा बनकर पर्याय में अहंबुद्धि करता है।

आत्मा हो तो पर की दया पालकर पर को बचाया जा सकता है.... आत्मा हो तो शरीर चलता है....आत्मा हो तो वाणी बोली जा सकती है – ऐसा अज्ञानी मानता है। वेषधारी द्रव्यलिंगी साधु होकर भी यह जीव शरीर से धर्म होना मानता है; किन्तु आत्मा अपना भान करके उसमें लीनता करे तो धर्म होता है। वस्तुत: मिथ्यात्व के त्याग बिना सप्त व्यसनों का त्याग नहीं होता। सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। इस संदर्भ में कहा है कि, "जैन धर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है, इसलिये इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। अत: जो पाप के फल से डरते

हों तथा अपनी आत्मा को दु:ख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते हों, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ें, निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है।''

हम सत्य मानेंगे तो लोक में हमारा व्यवहार नहीं रहेगा – ऐसा विचार छोड़ दे। मृत्यु होने पर दुनिया साथ नहीं आयेगी। (पर) स्त्री सेवन, तथा माँस भक्षण के पाप की अपेक्षा भी मिथ्यात्व का पाप अनन्त गुना है। देव को कुदेव माने, कुदेव को देव माने, कुगुरु को गुरु तथा कुशास्त्र को शास्त्र माने – इत्यादि प्रकार की मिथ्या मान्यतायें माँस भक्षण और शिकार के पाप से भी महान पाप हैं। सात तत्त्वों की विपरीत मान्यता महान पाप है। लोगों को इस मिथ्यात्वरूप पाप का ख्याल नहीं है। पर-जीव की अवस्था आत्मा कर सकता है – ऐसा (अज्ञानी) मानता है। जगत में कुदेवादिक को देवादि मानने और सात तत्त्वों की विपरीत मान्यता जैसा महान पाप दूसरा नहीं है।

कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु किसे कहना ? – इसकी भी लोगों को खबर नहीं है। कुदेवादिक को माननेरूप विपरीत मान्यता से मिथ्यात्व होता है, उसके तो स्थूल मिथ्यात्व है ही; परन्तु जिसे त्रिलोकनाथ देव द्वारा कथित जीव-अजीव आदि का परिज्ञान नहीं, उन्हें एक माने, वह भी मिथ्यात्व का सेवन करता है।

अज्ञानी जीव शरीर और आत्मा को एक मानता है, पर्याय में अहंबुद्धि धारण करता है – उसका कारण क्या है – वह यहाँ कहते हैं।

....इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है; उससे स्वयं अमूर्तिक है, वह तो भासित नहीं होता; परन्तु शरीर मूर्तिक है, वही भासित होता है। और आत्मा किसी को आपरूप जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे, सो जब स्वयं पृथक् भासित नहीं हुआ, तब उनके समुदायरूप पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है।....

इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियजनित ज्ञान है, पर के ऊपर लक्ष्य करके ज्ञान करता है। आत्मा अमूर्तिक है उसकी प्रतीति नहीं आती। मैं आत्मा अमूर्तिक ज्ञानस्वभावी हूँ, उसे नहीं मानता और मूर्तिक शरीर को अपना मानता है। शरीर कुछ देखता जानता नहीं है; परन्तु आत्मा में शरीरादि दिखते (ज्ञात होते) हैं – यह बात अज्ञानी को नहीं बैठती। स्वयं अपने को भासित नहीं होता, इस कारण अपना अस्तित्व पर में मानता है। स्वयं ने चिदानन्द आत्मा की पहिचान नहीं की होने से अन्य को अपनेरूप मानता है। शरीर और आत्मा एक साथ होने से शरीर को ही 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है। इसप्रकार जीव-अजीव तत्त्व की भूल करता है। अत: सच्चे ज्ञान बिना धर्म नहीं होता।

देह की क्रिया से पुण्य अथवा धर्म नहीं होता। हिंसा, झूठ आदि के भाव से पाप और दया-दानादि के भाव से पुण्य होता है तथा आत्मा के आश्रय से धर्म होता है। अज्ञानी को इस बात का पता नहीं होने से वह अपने को पर से पृथक् नहीं मानता और (जीव-पुद्गल) के समुदायरूप पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है, शरीर में आत्मबुद्धि करता है।

....तथा अपने को और शरीर को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत हैं, इसलिये भिन्नता भासित नहीं होती। और जिस विचार द्वारा भिन्नता भासित होती है, वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिये पर्याय में ही अहंबुद्धि पायी जाती है।

तथा मिथ्यादर्शन से यह जीव कदाचित् बाह्यसामग्री का संयोग होने पर उसे भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़े, महल, किंकर आदि प्रत्यक्ष अपने से भिन्न और सदाकाल अपने आधीन नहीं ऐसे स्वयं को भासित होते हैं; तथापि उनमें ममकार करता है।

पुत्रादिक में 'ये हैं सो मैं ही हूँ' ऐसी भी कदाचित् भ्रमबुद्धि होती है। तथा मिथ्यादर्शन से शरीरादिक का स्वरूप अन्यथा ही भासित होता है। अनित्य को नित्य मानता है, भिन्न को अभिन्न मानता है, दुःख के कारण को सुख का कारण मानता है, दुःख को सुख मानता है – इत्यादि विपरीत भासित होता है।

इसप्रकार जीव-अजीवतत्त्वों का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।....

शरीर और आत्मा में घनिष्ट निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव इच्छा करे और शरीर स्वयं अपने कारण से गमनरूप परिणमित हो – इसमें शरीर की क्रिया नैमित्तिक है और जीव की इच्छा निमित्त है। तथा इन्द्रियाँ निमित्त है और ज्ञानदशा होना नैमित्तिक है; परन्तु अज्ञानी निमित्त से कार्य होना मानता है। जैसे लोगों में एक-दूसरे की जाति में घनिष्ट सम्बन्ध कहलाता है, उसीप्रकार यहाँ आत्मा की अरूपी जाति है और शरीर की रूपी जाति है, उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध घनिष्ट है। जीव इच्छा करे और हाथ ऊँचा हो, तब हाथ की अवस्था नैमित्तिक है और जीव की इच्छा निमित्त है – इसप्रकार ये दोनों कार्य एक साथ होते दिखलाई देते हैं – इससे अज्ञानी जीव को निमित्त से कार्य होना भासित होता है। जीव का चलना नैमित्तिक है और इच्छा निमित्त है; परन्तु दोनों का नजदीकी सम्बन्ध होने से अज्ञानी को भिन्नता भासित नहीं होती। निमित्त की उपस्थिति में नैमित्तिक दशा होती है – इसी कारण उस दशा को नैमित्तिक कहा, परन्तु वह निमित्त के कारण होती है – ऐसा अर्थ नैमित्तिक का नहीं है।

आँख निमित्त है और ज्ञानपर्याय नैमित्तिक है। दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है; किन्तु अज्ञानी को मोह के कारण भिन्नता भासित नहीं होती। आँखें सही हों तो सूई में डोरा सही प्रकार से

पिरोया जा सकता है, अन्यथा नहीं – इसप्रकार वह पर के कारण कार्य होना मानता है। जड़ की क्रिया जड़ के कारण और आत्मा की क्रिया आत्मा के कारण है – यह बात अज्ञानी को नहीं जँचती। अरे ! जीवों ने सत्य बात सुनी ही नहीं है इस कारण शरीर और आत्मा की भिन्नता भासित नहीं होती। तथा शरीर और आत्मा भिन्न हैं – यह जिस विचार से भासित होता है, वह विचार मिथ्याभिप्राय के कारण करता नहीं है। अपनी विपरीत मान्यता के कारण सच्चा विचार नहीं कर सकता।

यह वस्तु है, उसका जो वर्तमान परिणमन दिख रहा है वह पर की अवस्था है; परन्तु अज्ञानी वह पर का वर्तमान परिणमन मुझसे होता है – ऐसा मानता है। इसप्रकार दृष्टि में भूल है, इस कारण सच्चे विचार नहीं आते।

लोगों ने यह बात कभी सुनी ही नहीं। जीव की अपनी पात्रता हो और पूर्व पुण्य कर्म का निमित्त हो तो ही यह बात सुनने को मिलती है। तथा उसप्रकार के वैराग्य के शुभभाव होते हैं और वाणी को जानने योग्य ज्ञान का उघाड़ होता है – इसप्रकार तीनों कारण हों तो सच्ची बात सुनने को मिलती है।

अज्ञानी को जीव और शरीर की भिन्नता की खबर नहीं है और अपनी कल्पना से लिये हुए सामायिक व प्रतिक्रमणादिक करे तो उससे कुछ धर्म नहीं होता; क्योंकि वह जीव और शरीर को एक मानता है। जीवों ने तत्त्व की बात सुनी नहीं है, अत: उन्हें पर्याय में अहंबुद्धि होती है।

मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव किसी समय बाह्य सामग्री का संयोग होने पर उसे भी अपनी मानता है। नारकियों में तो धनादिक का संयोग नहीं है। मनुष्य, देवादिक में किसी समय बाह्य सामग्री का संयोग मिले, तब मिथ्यादर्शन से उसे अपनी मानता है। अच्छे नौकर, दुकान, आढ़तिया आदि मिलें, पुत्र-पुत्री आदि का संयोग मिले, तो उन सबको अपना मानता है। पुत्र-पुत्रादि का आत्मा भिन्न है, फिर भी अज्ञानी उन्हें अपना मानता है। सुवर्ण के आभूषण, धन-धान्य, अनाजादि को निज मानता है। यह गाय हमारी है, यह पुत्री हमारी है – ऐसा मानता है। हाथी-घोड़े हमारे हैं, मन्दिर अर्थात् मकान हमारे बाप-दादा की निशानी है – ऐसा मानता है। यह नौकर हमारे पिताश्री के समय से है, यह हमारा किंकर है – ऐसा मानता है। दोनों की आत्मायें पृथक् हैं, दास-दासी प्रत्यक्ष भिन्न हैं, एक रजकण भी आत्मा का नहीं है; अत: वहाँ से दृष्टि हटा ! ऐसा यहाँ कहने का तात्पर्य है।

बाह्य सामग्री सदा काल अपने आधीन नहीं है – ऐसा स्वयं को ज्ञात होने पर भी उसमें

ममकार करता है। पुत्रादिक में 'ये ही मैं हूँ' ऐसा मानता है। पुत्र और पिता भिन्न होने पर भी उन्हें अपने मानता है – ऐसी श्रद्धा पाप है। यह पुत्र मुझसे हुआ है – इस कारण -'यह है सो ही मैं हूँ'' – ऐसा मानता है; इसप्रकार इस जीव को भ्रमबुद्धि होती है।

विपरीत श्रद्धा से इसे शरीरादि का स्वरूप अन्यथा ही भासित होता है। शरीर अनित्य होने पर भी उसे नित्य मानता है और उसे कायम रखना चाहता है। प्रत्यक्ष भिन्न वस्तुओं को अभिन्न मानता है। स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी आदि दुःख के निमित्त हैं, उन्हें सुख के निमित्त मानता है। शरीर में रोग होने पर कोई सेवा करने आयेगा – ऐसा मानकर सुख मानता है। दुःख को सुख मानता है। विषय-भोग के परिणाम दुःखदायक होने पर भी उन्हें सुखदायक मानता है – इत्यादि प्रकार से विपरीत मानता है।

इसप्रकार जीव-अजीव तत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ ज्ञान होने पर श्रद्धान भी अयथार्थ होता ही है। अब आस्रव तत्त्व सम्बन्धी भूल की बात करते हैं।

आस्रवतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

आस्रव विकारी भाव है....।

....तथा इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व-कषायादिभाव होते हैं, उनको अपना स्वभाव मानता है, कर्मोपाधिसे हुए नहीं जानता। दर्शन-ज्ञान उपयोग और ये आस्रवभाव उनको एक मानता है; क्योंकि इनका आधारभूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन एक ही काल में होता है, इसलिए इसे भिन्नपना भासित नहीं होता और भिन्नपना भासित होने का कारण जो विचार है, सो मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकता।

तथा ये मिथ्यात्व-कषायभाव आकुलता सहित हैं, इसलिये वर्त्तमान दुःखमय है और कर्मबन्ध के कारण हैं इसलिये आगामी काल में दुःख उत्पन्न करेंगे – ऐसा उन्हें नहीं मानता और भला जान इन भावोंरूप होकर स्वयं प्रवर्तता है। तथा वह दुःखी तो अपने इन मिथ्यात्व-कषायभावों से होता है और वृथा ही औरों को दुःख उत्पन्न करने वाले मानता है। जैसे – दुःखी तो मिथ्याश्रद्धान से होता है, परन्तु अपने श्रद्धान के अनुसार जो पदार्थ न प्रवर्ते उसे दुःखदायक मानता है। तथा दुःखी तो क्रोध से होता है; परन्तु जिससे क्रोध किया हो, उसको दुःखदायक मानता है। दुःखी तो लोभ से होता है; परन्तु इष्ट वस्तु की अप्राप्ति को दुःखदायक मानता है – इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा इन भावों का जैसा फल आता है वैसा भासित नहीं होता। इनकी तीव्रता से नरकादि

होते हैं तथा मन्दता से स्वर्गादि होते हैं, वहाँ अधिक-कम आकुलता होती है। ऐसा भासित नहीं होता है, इसलिये वे बुरे नहीं लगते। कारण यह है कि – वे अपने किये भासित होते हैं, इसलिये उनको बुरे कैसे माने ?

इसप्रकार आस्रवतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।....

इस आत्मा को मोहनीयकर्म के उदय में जुड़ने से मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं। विपरीप श्रद्धा मिथ्यात्व है और दया, दानादि कोमलता के भाव और हिंसा, झूठ आदि के भाव – ये दोनों कषायभाव हैं और विकार हैं। उन्हें अज्ञानी नहीं पहिचानता। इन भावों के होने में मोहनीयकर्म निमित्त है। व्रत, पुण्य, तपश्चर्या आदि करूँ – ऐसी वृत्ति उठती है, वह कषायभाव है; उसे अपना स्वभाव मानता है। परन्तु वह तो कर्म के निमित्त के आश्रय से उत्पन्न हुआ उपाधिभाव है। पुण्य-पाप के सभी भाव उपाधि हैं, त्रिकाली स्वभाव नहीं। अज्ञानी उपाधिभाव को तथा स्वभावभाव को भिन्न नहीं मानता। जैसे फोड़ा शरीर का अंग है – शरीर में उत्पन्न होता है, किन्तु वह शरीर में उपाधि है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसमें पुण्य-पाप फोड़े के समान उपाधि हैं। वे आत्मा की पर्याय में होने पर भी उपाधि भाव हैं, त्रिकाली स्वभाव नहीं। इसप्रकार अज्ञानी जीव दोनों की भिन्नता को नहीं जानता। अज्ञानी जानने-देखने के व्यापार और पुण्य-पाप के भाव को एकरूप मानता है। मेरा स्वभाव तो जानना-देखना है, उसमें जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे उपाधि हैं, स्वभाव नहीं – ऐसा नहीं मानता।

जीव का स्वरूप नहीं जाना – इस कारण जीव को पर में माना। देहरूपी घर में आत्मा है, वहाँ देह को ही आत्मा मानता है – यह तो जीव- अजीव तत्त्व सम्बन्धी भूल है। यहाँ तो आस्रव सम्बन्धी भूल की बात चल रही है।

पर्याय में उत्पन्न होने वाले दया-दानादि तथा काम-क्रोधादि के भाव हैं, उत्पन्नध्वंसी हैं; आते और जाते हैं। वे आत्मा के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। आत्मा का मूलस्वरूप जानना-देखना है, फिर भी यह आत्मस्वरूप और आस्रव भावों को एक मानता है; क्योंकि उपाधिभाव का आधार और जानने-देखने के भाव का आधार एक आत्मा है। राग-द्वेष कर्म के आधार से नहीं बल्कि आत्मा के आधार से होते हैं और जानना-देखना भी आत्मा के आधार से होता है। इसप्रकार इन दोनों का आधार एक आत्मा होने से (अज्ञानी) इन दोनों को एक मान रहा है। विकार के छह कारक अपने में हैं। विकार का कर्त्ता, करण स्वयं है और जानपना भी अपनी पर्याय है। दोनों का आधार एक होने से ज्ञान पर्याय और विभाव (उपाधिभाव), दोनों भिन्न हैं – ऐसा नहीं मानता।

यहाँ विकार का और जानने-देखने का आधार एक कहा, तथा दोनों का काल भी एक है। विकारादि भाव का होना और ज्ञान का प्रगट होना एक समय में होता है, इस कारण इसे इनमें भिन्नता भासित नहीं होती। ज्ञान-दर्शन के उपयोग का परिणमन और आस्रव का होना एक समय में है – इस कारण भिन्नता भासित नहीं होती। तथा यह विकार और स्वभाव को एक मान रहा है – इस कारण सच्चा विचार कर नहीं सकता। यदि मिथ्या विचार में कमजोर पड़े कि – विकार कृत्रिम है और स्वभाव निरूपाधिस्वरूप है, तो भेदज्ञान का अवसर आये। परन्तु अज्ञानी ने दोनों में एकता मान रखी है। वह दया, दानादि से धर्म मानता है, इस मान्यता से अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से दोनों की भिन्नता नहीं करता। व्यवहार करें, कषाय मंद करें तो धर्म हो – ऐसी विपरीत श्रद्धा स्वभाव और विभाव को भिन्न जानने के विचार नहीं करने देती।

अज्ञानी जीव आत्मा और आस्रव – इन दोनों को एक मानता है, आस्रव को अपना स्वभाव मानता है। तथा आस्रव और ज्ञानोपयोग का आधार आत्मा एक होने से दोनों को एक मानता है। तथा आस्रव का और ज्ञानपर्याय का उत्पाद का समय एक है – इस कारण दोनों को एक मानता है।

मिथ्यात्वपने के कारण पुण्य-पाप के भाव वर्तमान में आकुलता वाले हैं और भविष्य में दु:ख के निमित्त हैं। दया, दानादिक पुण्य का विकल्प दु:खमय है। उससे कर्म बंध होता है। तथा यह बाह्य संयोग मिलने पर मोह करके दु:ख पाता है। पुण्य-पाप को दु:खरूप न जानकर भला जानता है। राग करना चाहिये, पुण्य करना चाहिये....हिंसा में लाभ है – ऐसा मानता है। खेल में और, दुकान में कमाई हो, उसमें आनन्द मानता है। वहाँ आकुलता होने पर भी आनन्द मानता है। इसप्रकार दु:ख को भला मानकर उसरूप प्रवर्तता है। दया, दान, भक्ति के परिणाम दु:खरूप हैं, फिर भी उन्हें सुखरूप मानकर, उन भावों रूप होकर प्रवर्तता है – इसकारण यह दु:खी हो रहा है।

यहाँ मिथ्यादर्शन के स्वरूप की विशेष बात चल रही है। यह मिथ्यादर्शन सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप है। वह मान्यता किस प्रकार हो रही है – वह यहाँ बतलाया जा रहा है। जीव और अजीव भिन्न होने पर भी, अज्ञानी पर की क्रिया अपने से हुई मानता है तथा पर से लाभ-हानि होना मानता है।

यहाँ तो आस्रव की व्याख्या चल रही है। आस्रवभाव के परिणाम माने कषायभाव का होना। पुण्य-पाप, दया, दानादि के परिणाम आस्रवभाव में समाहित हैं और वे दु:खदायक

हैं। तथा स्वभाव सुखदायक है – ऐसा नहीं मानकर अज्ञानी विभाव को सुखदायक मानता है – यह मिथ्या भ्रान्ति है। ज्ञानानन्द स्वभाव और पुण्य-पाप को भिन्न नहीं जानता, पुण्य-पाप को भला जानकर प्रवर्तना, मिथ्यादर्शन है। जानने-देखने के स्वभाव का और विकार का आधार एक आत्मा है – इसकारण दोनों को भिन्न नहीं मानता। तथा दोनों का (उत्पत्ति) काल भी एक ही है – इस कारण आस्रव को निज मानकर प्रवर्तता है। पुण्य-पाप भाव दुःखरूप हैं और दुःख का कारण हैं। चिदानन्द आत्मा की पर्याय होने पर भी दया, दान, पूजा, विषय, भोग के परिणाम दुःखरूप हैं, उनकी पहिचान तो करता नहीं, उल्टे उन्हें भला जानकर उनरूप प्रवर्तता है – यह मिथ्याश्रद्धा है।

तथा दुःख तो अपनी विपरीत श्रद्धा और काम-क्रोधादिक से होता है; परन्तु अन्य पदार्थ दुःख उपजाते हैं – ऐसा मानता है। वस्तुतः दुःखी तो इसी मिथ्याश्रद्धा से होता है; तथापि पर-पदार्थ को दुःखदायक मानता है। शरीर में रोग होने पर "मुझे रोग हुआ" ऐसी श्रद्धा से दुःखी होता है। धनादिक की अनुकूलता न मिले और प्रतिकूलता न मिटे तो दुःखी हुआ मानता है। वे पदार्थ तो उनके कारण आते-जाते हैं, तथापि पर से अपने में दुःख मानता है। इसीप्रकार नरक आदि गति में पर से दुःख मानता है। लक्ष्मी, कुटुम्ब, मकान आदि पदार्थ उनकी अवस्थानुसार परिणमते हैं; तथापि मैं उनसे सुखी होऊँगा – ऐसा मानता है। स्वयं क्रोध से दुःखी होता है, फिर भी पर-जीव ने मुझे हैरान किया – ऐसा मानता है। इसप्रकार स्वयं मिथ्याश्रद्धा का सेवन करके दुःखी होता है। ऐसी मिथ्याश्रद्धा वाले को धर्म नहीं होता। दूसरे ने मेरा कार्य बिगाड़कर मुझे हैरान कर दिया है – ऐसा मानता है। इसप्रकार नरक-निगोदगति के परिणामों का सेवन करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव अन्य जीव को दुःखदायक मानते हैं। जो पदार्थ अपनी श्रद्धा अनुसार नहीं परिणमता उसे अज्ञानी दुःखदायक मानने लगता है।

दुःखी तो लोभ से होता है, परन्तु इच्छानुसार किराया नहीं आया, ब्याज नहीं मिला, पुत्र इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं करे तो अपने को दुःखी मानता है। यह तो मूल में भूल है। व्यापार में पच्चीस हजार रूपये नहीं मिले, इससे अपने को दुःखी मानता है। रहने को इच्छित मकान नहीं मिला तो अपने को दुःखी मानता है। – ये सब विपरीत मान्यतायें है। इसीप्रकार अन्यत्र भी जानना।

स्वयं मान से दुःखी होता है, परन्तु मानता है कि अन्य जीव ने ऐसा किया इसलिये ऐसा हुआ; इसप्रकार अन्य का दोष निकालकर अपने को दुःखी मानता है। अज्ञानी अनादि से संयोग को देखता है, परन्तु स्वभाव को नहीं देखता। क्रोध, मान, माया, लोभ होने पर पर-पदार्थों को अनुकूल करना चाहता है; परन्तु यदि क्रोधादि परिणाम क्षणिक व दुःखदायक हैं

तथा मेरा स्वभाव त्रिकाल व सुखदायक है – ऐसा माने तो स्वभाव की श्रद्धा से सुखी हो और स्थिरता करने से पूर्ण सुखी होवे।

क्रोधादि के परिणाम आकुलता हैं और उनके फल में अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोग मिलेंगे – यह इसे भासित नहीं होता। मिथ्या अभिप्राय, कुदेवादिक की मान्यता और तीव्र राग-द्वेषादि के परिणाम से नरकादि होना नहीं भासता।

अब पुण्य की बात करते हैं – दया, दानादि के परिणामों से स्वर्ग मिलता है अथवा सेठाई मिलती है, वह पुण्य का फल है। वह मुझे सुखदायक अथवा लाभदायक नहीं है – ऐसा नहीं मानता।

वर्तमान में तीव्र मिथ्यात्व और तीव्र क्रोधादिक के परिणामों से नरक और तिर्यन्च होगा और वहाँ तीव्र दु:ख है तथा दया, दानादि, करके स्वर्ग में जावे तो वहाँ भी मंद दु:ख है; परन्तु वह भासित नहीं होता। सेठपने और देवपने में आकुलता भासित नहीं होती। पुण्य के फल में मिलने वाला सेठपना और स्वर्ग भी झूठे हैं और पाप के फल में मिलने वाला नरक भी झूठा है – यह भासित नहीं होता। इस कारण पुण्य-पाप अच्छे लगते हैं। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसे जबतक नहीं पहिचाने तबतक आकुलता नहीं मिटती। चारों गतियाँ पुण्य-पाप का फल हैं। आत्मा के लाभ के लिये पुण्य-पाप निरर्थक है – इस बात का विचार करके नहीं मानता।

अज्ञानी जीवों को पुण्य के भाव अच्छे लगते हैं। उनके फल बुरे नहीं लगते – इस कारण स्वर्गादिक के संयोग मैंने मिलाये, मैं अरबपति हुआ, बोलने की कला विकसित हुई तो वकील हुआ – इस प्रकार वे सब अपने किये भासित होते हैं। जब फल अपना भासता है तो विकार अपना भासित हुए बिना नहीं रहता। बाहर की वस्तुयें मिली, तो वे मेरे द्वारा की हुई है – ऐसा मानता है। इसप्रकार आस्रव को दु:खदायक नहीं मानता। कुदेवादिक को मानने से अनुकूलता की प्राप्ति होना मानता है। इस प्रकार विपरीत श्रद्धा करता है। अज्ञानी मानता है कि व्रत-तपादि करें तो धर्म होगा। जो जीव अपने स्वभाव को सुखदायक नहीं मानता वह आस्रव तथा उसके फल को दु:खदायक नहीं मानता। इसप्रकार उसे आस्रवतत्त्व की खबर नहीं है। स्वभाव की रुचि के बिना पुण्य-पाप में मिठास का वेदन करता है। सुयोग्य पुत्रादिक हों और धनादि का संयोग हो, वहाँ हर्षित हो जाता है। इन्द्र हो तो भी मंद आकुलतारूप दु:ख है और नारकी हो तो तीव्र आकुलतारूप दु:ख है।

यहाँ तो सच्ची श्रद्धा की बात है। चिदानन्द भगवान आत्मा की रुचि किये बिना विपरीत अभिप्राय नहीं मिटता। इसप्रकार अज्ञानी जीव को आस्रवतत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं है इस कारण उसका श्रद्धान भी अयथार्थ होता है।

बंधतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

....तथा इन आस्रवभावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है। उनका उदय होने पर ज्ञान-दर्शन की हीनता होना, मिथ्यात्व-कषायरूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख-दु:ख का कारण मिलना, शरीर संयोग रहना, गति-जाति-शरीरादि का उत्पन्न होना, नीच-उच्च कुल का पाना होता है। इनके होने में मूल कारण कर्म है, उसे यह पहिचानता नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्म है, इसे दिखायी नहीं देता; तथा वह इसको इन कार्यों का कर्त्ता दिखायी नहीं देता; इसलिये इनके होने में या तो अपने को कर्त्ता मानता है या किसी और को कर्त्ता मानता है। तथा अपना या अन्य का कर्त्तापना भासित न हो तो मूढ़ होकर भवितव्य को मानता है।

इसप्रकार बन्धतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।....

आठों कर्मों का बंधन दु:खदायक है। आस्रवभाव से आठों कर्मों का बंधन होता है। दया, दानादि के परिणाम हों अथवा हिंसा, झूठ, चोरी के भाव हों – दोनों परिणामों से बंध होता है। पंच महाव्रत पाले अथवा बारह व्रतों का विकल्प करे, उससे आठों कर्म बंधते हैं, परन्तु उस आस्रव से अबंधमार्ग – मुक्तिमार्ग प्रगट नहीं होता। अबंधदशा तो स्वभाव से होती है और आस्रव से बंधदशा होती है – इस बात का अज्ञानी को पता नहीं है।

यह जीव पुण्य के भाव करे अथवा पाप के भाव करे – दोनों समय ज्ञानावरणीयादि कर्म बंधते हैं। उनके उदय के वश होने से ज्ञान-दर्शन की हीन अवस्था होती है; उसकी अज्ञानी को खबर नहीं पड़ती। परन्तु वह पुण्यबंध को ठीक मानता है। पूर्व में पुण्य-पाप के परिणामों से बंध हुआ था, वहाँ मोहनीयकर्म बंधा था, उसके उदय के वश होने से मिथ्यात्व और कषायरूप परिणाम होते हैं और जीव की विपरीत दशा करते हैं, फिर भी यह पुण्य को हितकारी मानता है। पुण्य से लाभ मानकर विपरीत अभिप्राय किया, इससे मिथ्यात्व कर्म बंधा, उसके निमित्त से मिथ्यात्व-कषाय भाव होते हैं। लोग कहते हैं कि पुण्य तो बंधेगा न ? परन्तु उस समय आठों कर्म बंधते हैं और उनके उदय के समय यदि आत्मा उनमें जुड़े तो आत्मा को हानि होती है। इसकी अज्ञानी को खबर नहीं है।

पुण्य से हित मानकर कर्म बंधते हैं उसमें अन्तराय कर्म बंधा, उसके उदय के वश होने से जीव दान, लाभ, भोग, उपभोग नहीं कर सकता तथा वीर्य को बदल नहीं सकता। जिसे आठ कर्मों का बंधन होता है और जो उसे ठीक मानता है, वह जीव कर्म के उदय के समय विपरीत श्रद्धा किये बिना नहीं रहेगा। अन्तरायकर्म के उदय के समय उस कर्म तरफ का झुकाव हुए बिना नहीं रहेगा, कारण कि वह बंधतत्त्व को हितरूप मानता है। जिसने विपरीत अभिप्राय

से बंध किया, वह पर्यायबुद्धि वाला जीव कर्म के उदय के समय में कर्म में जुड़ जाने वाला है। वह दान, लाभ, भोग, उपभोग नहीं कर सकेगा, वीर्य को बदल नहीं सकेगा, कारण कि वह बंध को हितकारक मानता है – इसकारण अबंधस्वभाव को हितकारक नहीं मानता।

यह जीव पुण्य से साताप्रकृति और पाप से असाताप्रकृति बांधता है। उसके उदय के समय में बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलेंगे। अज्ञानी जीव की दृष्टि बंध पर होने से संयोगों पर दृष्टि जाये बिना नहीं रहेगी। जिस भाव से बंधन किया उस बंध को अच्छा माना, उसकी दृष्टि बाह्य कारणों पर जायेगी, परन्तु स्वभाव पर दृष्टि नहीं जायेगी।

पुण्य परिणाम से मनुष्य में राजा की अथवा देव की आयुष्य बांधी, उस आयुकर्म के अनुसार स्थिति रहती है। पाप के भाव से नरक अथवा तिर्यन्च की आयुष्य बांधी, उस अनुसार स्थिति रहती है। जिस जीव ने बंध को अच्छा माना है वह जीव शरीर के संयोग को अच्छा माने बिना नहीं रहेगा। उसकी रुचि शरीर के संयोग पर जायेगी। मेरा आत्मा शरीर से भिन्न है – ऐसे ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि का अवसर नहीं रहेगा।

जैसे पुण्य-पाप किये थे वैसा शुभ अथवा अशुभ नामकर्म बांधा है। उसके फल में जाति, गति मिलती है। देव की गति मिले अथवा नरक की गति मिले; एकेन्द्रिय जाति मिले अथवा पंचेन्द्रिय जाति मिले – सब एक ही है, अर्थात् बंधन ही है; फिर भी जो पुण्य को भला मानता है उसके आठों कर्म बंधते हैं। नामकर्म के फल में जाति, गति मिलती है, वहाँ अज्ञानी जीव पंचेन्द्रियपने के मिलने को अच्छा मानता है; परन्तु बंधतत्त्व हितकर नहीं है – ऐसा नहीं मानता। शरीर का सुन्दर अथवा असुन्दर मिलना नामकर्म के निमित्त से है। परन्तु बंध पर जिसकी दृष्टि है ऐसा जीव शरीर और पंचेन्द्रिय जाति में एकत्वबुद्धि का राग किये बिना नहीं रहता।

पुण्य के परिणाम से उच्च गोत्र और पाप के परिणाम से नीच गोत्र मिलता है। ***जिस भाव से बंधन होता है उस भाव से सम्यग्दर्शन नहीं होता।*** जो जीव बंध को हितकर मानता है वह स्वभाव को हितकर नहीं मानता।

स्वयं ने जैसे पुण्य-पाप के परिणाम किये थे उनके फल में बंधन हुआ और उसके उदय के समय ऊपर कहे अनुसार अवस्थायें हुई – उसमें मूल निमित्तकारण कर्म है। मिथ्यात्व में, राग-द्वेषादि होने में, इच्छित कार्य नहीं होने में, बाह्य संयोगादि के मिलने में कर्म कारण है। यह जीव इस बात को नहीं जानता।

जिस भाव से कर्म बंधे, वह भाव सूक्ष्म हैं और जो रूपी कर्म बंधे वे भी सूक्ष्म हैं, उन्हें

नहीं जानता। ये ज्ञान-दर्शन हीन क्यों हुये ? उसकी खबर नहीं। ज्ञानावरणीय के उदय के समय उस तरफ का लक्ष्य होने से ज्ञान की हीनता होती है।

बंधतत्त्व के ज्ञान के बिना विकार स्वभाव में से होता है – ऐसा मानता है। तथा शरीरादि का संयोग अपना किया मानता है। बंधतत्त्व सूक्ष्म है, उसे नहीं जानता। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म सूक्ष्म हैं और उनके लक्ष्य से ज्ञान-दर्शन की हीनता होती है। मोहनीय कर्म सूक्ष्म है और उसके लक्ष्य से मिथ्यात्व-कषायरूप परिणाम होते हैं। अन्तराय कर्म सूक्ष्म है और उसके लक्ष्य से वीर्य नहीं फेर सकता, दान, लाभ, भोग, उपभोग नहीं कर सकता। वेदनीय कर्म सूक्ष्म है और उसके निमित्त से बाह्य सुख-दुःख के संयोग मिलते हैं तथा आयु कर्म सूक्ष्म है और उसके लक्ष्य से शरीर का संयोग मिलता है। नाम कर्म सूक्ष्म है और उसके लक्ष्य से गति, जाति आदि मिलते हैं। गोत्र कर्म सूक्ष्म है और उसके निमित्त से उच्च गोत्र-नीच गोत्र मिलते हैं – ऐसा कुछ भी अज्ञानी को भासित नहीं होता।

इन कार्यों का कर्त्ता दिखता नहीं – इस कारण समस्त संयोगों का कर्त्ता स्वयं को मानता है। किन्तु बंधन ही निमित्तरूप से कर्त्ता है – ऐसा नहीं मानता, अथवा पर को कर्त्ता मानता है। दूसरों ने खराब पुस्तकें दी – इस कारण ज्ञान हीन हुआ, डॉक्टरों ने आकर शरीर को ठीक कर दिया अथवा ईश्वर को कर्त्ता मानता है। सब ईश्वर की इच्छानुसार होता है – ऐसा मानता है। स्वयं ने सूक्ष्म बंध किया है वह दिखलाई नहीं देता – इस कारण सबका कर्त्तापना अपने को मानता है अथवा पर को कर्त्ता मानता है। कुगुरु के मिलने से मिथ्याश्रद्धा हुई – ऐसा मानता है। स्वयं बंधतत्त्व में जुड़ा है और बंध को हितकर माना है – इसकारण वैसी मिथ्याश्रद्धा हुई है – ऐसा नहीं मानता। ज्ञान की हीनता व मिथ्यात्वादि होते हैं, उसके वास्तविक कारण का पता नहीं है। अतः इन सब कार्यों में या तो अपने को कर्त्ता मानता है या पर को कर्त्ता मानता है। ऐसा न भासे तो कहता है कि मुझे सुध नहीं पड़ती, इसप्रकार मूढ़ होकर भवितव्य को मानता है, परन्तु बंधतत्त्व को नहीं पहिचानता।

विकार और बंधन हितकर नहीं है, स्वभाव हितकर है – ऐसा माने तो सुखी होवे; परन्तु स्वयं अपनी कल्पना से दुःखी हो रहा है। अज्ञानी जीव पागल जैसा बनकर भवितव्य को मानने लगता है। जिसने एक शुभपरिणाम को हितकर माना वस्तुतः उसने आठ कर्मों को ही हितकर माना है। अथवा पुण्य बाँधूँगा तो स्वर्ग में जाकर भगवान के पास जाऊँगा – ऐसे जीव को बंध के फल की तरफ की रुचि नहीं छूटती। वह मूढ़ जैसा होता है उसे सुध नहीं पड़ती। मैंने बंध किया है इसलिये संयोग वर्तते हैं – यह बात नहीं सूझती।

जैसे होली के त्यौहार के समय कई जीव शरीर को मैला करके प्रसन्न होते है, वैसे अज्ञानी जीव का स्वभाव निकलंक होने पर भी पुण्य के बंधने को हितरूप मानकर सन्तुष्ट होते हैं। उन्हें बंधतत्त्व की खबर नहीं हैं। अमुक शुभ भाव करूँगा तो अनुकूलता मिलेगी – ऐसा मानते हैं। द्रव्य बंध अपने भावों की विपरीतता में, हीनता में निमित्त है अथवा संयोगों में निमित्त है; परन्तु स्वभाव में निमित्त नहीं है। कदाचित् पुण्य के उदय के समय देव-शास्त्र-गुरु का योग मिलेगा, तो भी उस समय उनकी वाणी के समय अज्ञानी की दृष्टि बंध के ऊपर रहेगी। ज्ञानी पुरुष अबंध तत्त्व की बात कहेंगे और जिस भाव से बंधन हो वह भाव तथा जड़ बंधन हानिकारक है – ऐसे गुरु के कहने पर भी अज्ञानी जीव इस बात को नहीं मानेगा और बंधन को ही हितकर मानेगा।

जो बंधन को हितरूप मानता है, उसको कदाचित् भगवान का समवशरण साक्षात मिले तो भी उसे अबंध स्वभावी आत्मा की बात नहीं रुचेगी। तेरा आत्मा चैतन्यज्योति है, उसे उपादेय कर व विकार को हेय कर – ऐसी वाणी उसके क्षयोपशम के कारण से कदाचित् ख्याल में आवे तथा बंधतत्त्व अहितकर है, संयोग दु:ख के कारण हैं, स्वभाव हितरूप है – ऐसा सुनने पर भी बंधतत्त्व को हितकर माना होने से और वैसी बुद्धि चालू ही रहने से वह यह बात सुनने पर भी अबंध स्वभाव की श्रद्धा नहीं करेगा।

पर की दया पालने के भाव के फल में कदाचित् अच्छे संयोग मिलें, फिर भी सच्ची दृष्टि नहीं करेगा। लम्बी आयुष्य मिलने से प्रसन्न होगा। बंध को हितरूप मानने वाला बंध की सच्ची श्रद्धा नहीं कर सकता। जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, ज्ञानी जीव तो उस भाव को भी हितरूप नहीं समझता।

कोई कहे कि शास्त्र में तो उसे परम्परा मोक्ष का कारण कहा है न ?

उसका समाधान – ज्ञानी को उस भाव तथा उस कर्म का आदर नहीं है, स्वभाव का आदर है। वह तो बंधतत्त्व को अहितकर मानता है। उसके शुभराग से तीर्थंकर प्रकृति बंध जाने पर भी उसका आदर नहीं हैं। वह स्वभाव का आदर होने से मोक्ष प्राप्त करेगा। इस कारण उस प्रकृति को उपचार से मोक्ष का कारण कहा है।

मेरा अबंध स्वभाव हितकर है और बंध भाव हितकर नहीं है – ऐसा समझे तो सच्ची श्रद्धा होती है। परन्तु अज्ञानी जीव को बंध भाव का यथार्थ ज्ञान नहीं है – इसकारण उसका श्रद्धान भी अयथार्थ होता है।

संवरतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

....तथा आस्रव का अभाव होना सो संवर है। जो आस्रव को यथार्थ नहीं पहिचाने उसे संवर का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे – किसी के अहितरूप आचरण है; उसे वह अहितरूप भासित न हो तो उसके अभाव को हितरूप कैसे माने ? जैसे – जीव को आश्रव की प्रवृत्ति है; इसे वह अहितरूप भासित न हो तो उसके अभावरूप संवर को कैसे हितरूप माने ?

तथा अनादि से इस जीव को आस्रवभाव ही हुआ है, संवर कभी नहीं हुआ, इसलिये संवर का होना भासित नहीं होता। संवर होने पर सुख होता है वह भासित नहीं होता। संवर से आगामी काल में दु:ख नहीं होगा वह भासित नहीं होता। इसलिये आस्रव का तो संवर करता नहीं है और उन अन्य पदार्थों को दु:खदायक मानता है, उन्हीं के न होने का उपाय किया करता है; परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं। वृथा ही खेदखिन्न होता है।

इसप्रकार संवरतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।....

यहाँ मिथ्यादर्शनरूप विपरीत अभिप्राय के स्वरूप का वर्णन है। सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से ही जीव परिभ्रमण करता है। पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा ही ज्ञान करे तो धर्म हो। जीव स्वयं विपरीत मान्यता करता है इसलिये स्वभाव की रुचि नहीं होती। सात तत्त्वों अथवा नवतत्त्वों की विपरीत मान्यता के कारण धर्म नहीं होता। यहाँ संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल की बात चलती है।

दया, दान, भक्ति आदि के जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे राग हैं। उनका अभाव होना संवर है। वर्तमान दशा में जो शुभ-अशुभ की वृत्ति होती है, वह मलिन भाव है। उनसे रहित जो भाव है वह संवर है – धर्म है। जो पुण्य-पाप के भाव को यथार्थ नहीं पहिचानता उसे संवर का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ, गुण-गुणी के भेद का विकल्प स्वभाव से विपरीत दशायें हैं। उस विकार को दु:खदायक नहीं माने तो विकार रहित आत्मा सुखस्वरूप है, उस तरफ की वृत्ति कहाँ से हो ? कुदेवादिक को मानना, मिथ्यात्व आस्रव है और कुदेवादिक की सन्मुखता के भाव करना कषाय आस्रव है। यदि जीव ऐसे मलिन परिणामों को नहीं पहिचाने तो वह जीव आत्मा के आश्रय से होने वाली आनन्दरूप दशा अर्थात् संवर को नहीं पहिचान सकता।

जैसे कोई प्राणी असज्जन हो, लंपटी हो, और झूठे आचरण वाला हो, उसे अपने परिणाम अहितरूप नहीं लगे, वह छल-प्रपंच करने, हिसाब में गड़बड़ करने आदि परिणामों को अहितरूप नहीं माने, ऐसे परिणाम सज्जन को शोभा नहीं देते – ऐसा नहीं माने तो उनके

अभाव को हितरूप कैसे मानेगा ? नहीं मानेगा। इसी दृष्टान्तानुसार आत्मा में होने वाले आस्रव के परिणाम, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति राग के परिणाम अहितरूप भासित नहीं हों तो उनके अभाव को हितरूप कैसे मानेगा ? कुदेवादिक की श्रद्धा तो अहितरूप है ही; परन्तु यदि सुदेवादिक की श्रद्धा का राग भी अहितरूप भासित न होवे तो वहाँ से हटकर अपने आनन्द स्वभाव की एकाग्रता से होने वाले संवर को हितरूप कैसे माने ? आत्मा के स्वरूप से विपरीत कहने वाले देव-शास्त्र-गुरु को मानना, गृहीत मिथ्यात्व है तथा अगृहीत मिथ्यात्व की पुष्टि का कारण है। उस गृहीत मिथ्यात्व को मिटाकर भी विकाररूप परिणामों को अहितरूप न माने तो संवर को हितरूप कैसे माने ?

यहाँ विचार करने को कहा है। सच्ची समझ और ज्ञान के बिना भव का किनारा नहीं आता। और असत्य समझ को छोड़े बिना सत्य समझ आवे – ऐसा नहीं है।

"स्वभाव को समझने में पहले विकल्प होना चाहिये", जिसको इस प्रकार से राग की पकड़ है, वह उसका अभाव कैसे करे ? ज्ञानमूर्ति आत्मा की दशा में उत्पन्न होने वाले पुण्य-पाप को जो अहितकर नहीं मानता वह उनके अभाव करने का प्रयत्न नहीं करता।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक है। आत्मा मोक्षमार्ग के प्रकाश का उत्पाद करता है और बंध मार्ग का व्यय करता है; आत्मा ध्रुव रहता है – ऐसा स्वरूप इस ग्रन्थ में बतलाया है।

चिदानन्द निर्लेप शुद्ध वस्तु अनादि काल से ऐसी की ऐसी पड़ी है। एकसमय के संसार का प्रवेश स्वभाव में नहीं है। अनादि से उस स्वभाव को भूलकर मिथ्यात्व, राग-द्वेष होते हैं; उन्हें ही जानता है – इस कारण आस्रव हुआ है, परन्तु संवर नहीं हुआ। संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप दशा आनन्द रूप है, वह इसे भासित नहीं होता। यह अनादि से नित्यानन्द वस्तु को भूलता आया है, भूल को मिटाता नहीं है। पुण्य भाव, दया, दान, व्रतादि क्रियाकाण्ड करेंगे तो धर्म होगा – ऐसा मानता है। इसका कारण यह है कि अनादि से आस्रव किया है, संवर एकसमय को भी नहीं किया है। एकसमय को भी संवर किया होता तो मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। यहाँ जिसे पूर्व में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ ऐसे जीव की बात लेनी है। पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि और एकाग्रता करने से शान्ति होती है और भविष्य में दुःख नहीं होता।

कुदेवादिक की श्रद्धा वाले को संवर नहीं होता और राग से धर्म मानने वाले को भी संवर नहीं होता। अन्तर्मुख होकर स्वभाव का अवलम्बन करे तो संवर प्रगट हो – ऐसा है। अन्तर ज्ञायक स्वभाव को पकड़ना ही संवर अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह सुखदायक

एवम् भविष्य के दु:ख का नाशक है – ऐसा अज्ञानी को भासित नहीं होने से वह आस्रव का संवर नहीं करता।

देव-शास्त्र-गुरु का राग भी आस्रव है, मलिन परिणाम है – ऐसा जिसे भासित नहीं होता वह आस्रव से हटना नहीं चाहता और बाहर के पदार्थों को दु:खदायक मानकर उन्हें छोड़ना चाहता है। यह जीव स्त्री-पुत्रादिक को छोड़कर जंगल में जाना चाहता है। व्यापार आदि पर-पदार्थों को छोड़ देना चाहता है; परन्तु अन्तर मलिन परिणामों को नहीं छोड़ना चाहता। पर-पदार्थों को दु:खदायक मानकर उनके न होने देने का उपाय करता है। परन्तु पर-पदार्थों का परिणमन अपने आधीन नहीं है – ऐसा नहीं मानता। अग्नि हो वहाँ पैर नहीं देना, हरितकाय हो वहाँ पैर नहीं देना – इत्यादि संयोग से दूर भागता है। छह काय की रक्षा करना चाहता है, परन्तु पर-पदार्थों से दूर भागना आत्मा के आधीन नहीं है और पर-पदार्थों का संयोग न होने देना भी आत्मा के आधीन नहीं है। भाषा नहीं होने देना अर्थात् मौनपना आत्मा के आधीन मानता है। नव बाड़ से ब्रह्मचर्य पालन के लिये स्त्री से दूर भागना चाहता है। इसप्रकार अज्ञानी पर-पदार्थों को दु:खदायक मानता है, परन्तु अपने मलिन परिणाम को दु:खदायक नहीं मानता। घर, स्त्री, पुत्रादि को काजल की कोटड़ी मानता है, परन्तु पुण्य-पाप के परिणाम दु:खदायक नहीं मानता और पर-वस्तु से बन्ध मानता है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसकी खबर नहीं है। उसकी दशा में पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती हें वे मलिन परिणाम हैं उन्हें अहित नहीं मानता – इस कारण पर-पदार्थों को दूर करना चाहता है। दया, दानादि की वृत्तियाँ मलिन भाव हैं। उन्हें दु:खदायक नहीं जानता और आत्मा की स्वभाव सन्मुख दशा को सुखदायक नहीं जानता, वह पर-पदार्थ से दूर रहना चाहता है। यह भाषा नहीं बोलूँ – ऐसा मानता है। होठ का हिलना, भाषा बोलना आदि सब जड़ की क्रिया है। पर से दूर होना चाहता है वह संवर की रीति नहीं है। वर्तमान दशा में शुभाशुभ वृत्तियाँ होती है, उनसे रहित अन्तर सन्मुखता करना ही संवर की रीति है।

पर-पदार्थों के प्रति मोह और मूर्छा दु:खदायक है – यह तो मानता नहीं और पर-पदार्थों को दूर करना चाहता है। उसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता। वस्तुत: पर पदार्थ का संयोग-वियोग आत्मा के आधीन नहीं है। मैं त्रिकाल नित्यानंद हूँ, उसे भूलकर जो वृत्तियाँ होती हैं, वे दु:खदायक हैं – ऐसा नहीं मानता। पुण्य-पाप से हटने का मतलब चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा करना है। अज्ञानी जीव अनादि से मिथ्यादर्शन का सेवन करके संसार में परिभ्रमण कर रहा है। निमित्त की सन्मुखता वाले भाव से भागना है या शरीर से भागना है ? शरीर से भागा जा सकता है ? शरीरादि का उत्पाद-व्यय जड़ के कारण से होता है, उसे तो पहिचानता नहीं;

जो-जो संयोग हैं आत्मा उनका जानने वाला है – ऐसे अपने ज्ञान की रुचि नहीं करता और परभाव को छोड़ना नहीं चाहता। ''सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:'' है। आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और चारित्र होने पर आनन्द प्रगट होता है और अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप दशा के प्रगट होने को ही संवर कहते है।

जीव अनन्तबार स्वर्ग में गया। शुभभाव से ब्रह्मचर्य का पालन किया, परन्तु पुण्य-पाप से रहित आत्मा की प्रतीति नहीं की – इस कारण संवरतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ। भगवान आत्मा सिद्ध समान है। जो सिद्ध हुए, उनकी सिद्धदशा स्वभाव में से प्रगट हुई है। परन्तु अज्ञानी को द्रव्य कौन है ? इसकी खबर नहीं है और वह द्रव्य से विरुद्ध भाव को मिटाना नहीं चाहता, बल्कि पर को हटाना चाहता है; परन्तु पर-पदार्थ अपने आधीन नहीं है। अत: वह व्यर्थ ही खेदखिन्न होता है।

इसप्रकार संवरतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

निर्जरातत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

अब निर्जरातत्त्व के सम्बन्ध में यह जीव क्या भूल करता है वह बतलाते है –

....तथा बन्ध का एकदेश अभाव होना सो निर्जरा है। जो बन्ध को यथार्थ नहीं पहिचाने उसे निर्जरा का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे – भक्षण किये हुए विष आदिक से दु:ख का होना न जाने तो उसे नष्ट करने के उपाय को कैसे भला जाने ? उसी प्रकार बन्धनरूप किये कर्मों से दु:ख होना न जाने तो उनकी निर्जरा के उपाय को कैसे भला जाने ?

तथा इस जीव को इन्द्रियों द्वारा सूक्ष्मरूप जो कर्म उनका तो ज्ञान होता नहीं है और उनमें दु:खों के कारणभूत शक्ति है उसका भी ज्ञान नहीं है; इसलिये अन्य पदार्थों के ही निमित्त को दु:खदायक जानकर उनका ही अभाव करने का उपाय करता है, परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं। तथा कदाचित् दु:ख दूर करने के निमित्त कोई इष्ट संयोगादि कार्य बनता है तो वह भी कर्म के अनुसार बनता है। इसलिये उनका उपाय करके वृथा ही खेद करता है।

इसप्रकार निर्जरातत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।....

पूर्व में कहा जा चुका है कि ''कथंचित्-किंचित् कर्म बंधन का अभाव करना निर्जरा है।'' आत्मा का अनुभव होना – वह निर्जरा है। उससमय पुण्य का रस-अनुभाग-नहीं घटता इसलिये 'कथंचित्' कहा है और आंशिक कर्मों का घटना होने से 'किंचित्' शब्द का प्रयोग किया है।

यहाँ दूसरे प्रकार से बात करते हैं। 'बंधन का एकदेश अभाव होना – वह निर्जरा है।' यदि बंध का सर्वथा अभाव होवे तब तो मोक्ष कहलाये। आत्मा का भान होकर उसमें लीनता होने पर पुराना बंध आंशिक खिर जाता है, उसे निर्जरा कहते हैं। आत्मा के स्वभाव को चूककर जितने भी परिणाम होते हैं वे बंध के कारण हैं। जिस परिणाम से कर्मों की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ बंधें, वह बंध दु:ख का निमित्त है; फिर भी अज्ञानी बंध की रुचि करता है। वह मानता है कि कुछ पुण्य करूँगा तो सुख पाऊँगा – वैसी रुचि करता है। पुण्य-पाप के परिणाम होना भावबंध है और नये कर्म का बंधना – वह जड़बंध है। जो इन दोनों को यथार्थ नहीं जानता उसे निर्जरातत्त्व का ज्ञान नहीं होता। कुछ पुण्य बांधूगा तो लाभ होगा – इस प्रकार जो पुण्य बंध से लाभ होना मानता है वह बंधतत्त्व को नहीं जानता और इसलिये वह बंध के आंशिक अभावरूप निर्जरातत्त्व को भी नहीं जानता।

जिस भाव से बंध के भेद – प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबंध पड़ते हैं, उस भाव को जो अच्छा मानता है उसको, बंध के आंशिक अभाव अथवा शुद्धोपयोग अर्थात् राग रहित व्यापाररूप भावनिर्जरा, और उसके निमित्त से कर्मों के आंशिक अभावरूप द्रव्यनिर्जरा की प्राप्ति नहीं होती।

आत्मा का भान होने पर जितने अंश में शुद्धि हो, उतने अंश में नया बंध नहीं होता और पुराने कर्म आंशिक खिर जाते हैं। अज्ञानी जीव को पुण्य की रुचि है। पुण्य से स्वर्ग में जाऊँगा, वहाँ से भगवान से भेंट होगी – ऐसा मानने वाला अज्ञानी जीव स्वभाव की रुचि पूर्वक प्रगट होने वाली निर्जरा को नहीं पहिचानता।

पहले तो जीव ने अनादिकाल से यह बात सुनी ही नहीं, कदाचित् सुनता भी है तो उसे ग्रहण नहीं करता; जब ग्रहण ही नहीं करता तो ग्रहण किये बिना धारणा कहाँ से हो ? और धारणा बिना रुचि होती नहीं।

मुक्ति माने आत्मा की परमानन्ददशा – सिद्धदशा, वह पर्याय है; उसमें बंध का सम्पूर्णरूप से अभाव है। जबकि निर्जरा में बंध का आंशिक अभाव है।

प्रश्न – हमारी काललब्धि ही नहीं पकी हो तो क्या करना ?

समाधान – इस जगत में द्रव्य-गुण-पर्याय – इस प्रकार तीन वस्तुयें (वस्तु के तीन अंश) हैं। उनमें शक्तियों (गुणों) का पिण्ड – वह द्रव्य है, शक्तियाँ – वह गुण है और उनकी वर्तमान अवस्था – वह पर्याय है।

इसप्रकार तीन वस्तुयें हैं। उनमें से काललब्धि पर्याय में आती है। स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ ही काललब्धि है। जो वस्तु हो वह इन तीनों में समाहित होना चाहिये। अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय में होनी चाहिये। जगत में इन तीन के सिवाय चौथी वस्तु नहीं होती। आत्मा का भान करके अपने में रमणता करे – वही काललब्धि है। उस पुरुषार्थ को काललब्धि कहते हैं। आत्मा के स्वभाव सन्मुख और पुण्य-पाप से विमुख होते हुए पुरुषार्थ को काललब्धि कहते हैं।

आत्मा अरूपी है, उसका विकारी परिणाम अरूपी है और कर्मबंधन रूपी – जड़ है। जिसको इन तीनों का परिज्ञान नहीं है उसे बंध से हटकर अबंध स्वभाव सन्मुख होने का अवसर नहीं रहता – इस कारण उसे निर्जरा तत्त्व की भी खबर नहीं पड़ती।

जैसे कोई जहर खाने से दु:ख होता न जाने तो उसे नष्ट करने के उपाय को भला कैसे जाने ? नहीं जाने। उसी प्रकार आठों कर्म दु:ख के कारण हैं। यद्यपि कर्म दु:ख नहीं देते, क्योंकि आत्मा और कर्म के बीच अत्यन्त अभाव है। स्वयं दु:ख की वृत्ति खड़ी करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। अत: कर्मों को दु:ख का कारण नहीं जाने तो उसकी निर्जरा को भला कैसे जाने?

पुण्य करके इन्द्र होऊँगा, देव होऊँगा – इस प्रकार जो पुण्य को दु:खरूप नहीं मानता, वह जीव स्वभाव की विपरीत श्रद्धा से चारों गतियों में भ्रमण करता है। जो जीव कर्म बंधन को दु:ख का निमित्त नहीं जानता वह जीव स्वभाव सन्मुखतारूप आनन्दकन्द दशा को भला कैसे जानेगा ?

जीव को सूक्ष्म आठ कर्म नहीं दिखते। वे कार्माणवर्गणा के पिण्ड हैं। अज्ञानी ने कर्म देखे नहीं हैं। तथा उनमें दु:ख के कारणभूत निमित्तपने की शक्ति है। वे दु:ख में निमित्त हैं – ऐसा उसे ज्ञान नहीं है। सातावेदनीय बांधे तो भी वह आकुलता में निमित्त है। आत्मा में आनन्द के कारणरूप होने की शक्ति है, अतीन्द्रिय अनुभव होने का कारण है और कर्म में दु:ख का निमित्त कारणरूप होने की शक्ति है – उसका अज्ञानी को भान नहीं है। इस कारण वह पर-पदार्थों को दु:ख का कारण जानता है। रोटी नहीं खाना, पानी नहीं पीना – इत्यादि पर-वस्तुओं को छोड़ना चाहता है। पुण्य-पाप – दोनों दु:खरूप दशा है; उसमें कर्म निमित्त हैं। आत्मा आनन्दकन्द वस्तु है, उसे अज्ञानी नहीं पहिचानता। उपवास करूँ, व्रत परिसंख्यान करूँ – इसप्रकार के विकल्प करके निमित्तों का अभाव करना चाहता है। परन्तु बाह्य कारणों का अभाव करना – वह वास्तविक विधि नहीं है। यह जीव प्रायश्चित, विनय आदि के विकल्प किया करता है और पर से दूर भागना चाहता है। परन्तु चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से लीनता होने

पर निर्जरा होती है, उसकी इसे खबर नहीं है। पर-पदार्थों को दूर करना आत्मा के आधीन नहीं है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहित है। अर्थात् पुरानी अवस्था से बदलकर नई अवस्थारूप उत्पन्न होता है और स्वयं गुण के समूहरूप कायम रहता है। परन्तु उनकी अवस्था आत्मा के आधीन नहीं है।

कदाचित् कोई इष्ट संयोग मिले, पैसा-टका मिले, अच्छा खाने-पीने को मिले; पूर्व के पुण्ययोग से ये सब संयोग मिलते हैं। पैसे आत्मा को होशियारी से नहीं आते। अज्ञानी को भी संयोग पूर्व पुण्य के अनुसार ही मिलते है; परन्तु वह इसे मिलाऊँ, इसका करूँ – ऐसा व्यर्थ अभिमान करता रहता है। परन्तु पर में आत्मा का प्रयत्न काम नहीं करता। ऐसे अज्ञानी जीव को जीव, अजीव, बंधादि तत्त्वों की खबर नहीं हैं, अत: वह मिथ्या उपाय करके व्यर्थ खेद करता है। इसप्रकार उसको निर्जरा तत्त्व का ज्ञान नहीं है।

आत्मा के आश्रय से लीनता होने पर आंशिक आनन्द प्रगट होना भावनिर्जरा है। तथा कर्मों का आंशिक खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है।

इसप्रकार जिसको निर्जरा का यथार्थ ज्ञान नहीं है उसको उसका श्रद्धान भी यथार्थ नहीं है।

अब अज्ञानी मोक्षतत्त्व के सम्बन्ध में क्या भूल करता है, वह कहते हैं –

मोक्षतत्त्व सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

....तथा सर्व कर्मबन्ध के अभाव का नाम मोक्ष है। जो बन्ध को तथा बन्धजनित सर्व दु:खों को नहीं पहिचाने उसको मोक्ष का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे – किसी को रोग है; वह उस रोग को तथा रोगजनित दु:ख को न जाने तो सर्वथा रोग के अभाव को कैसे भला माने ? उसी प्रकार इसके कर्मबन्धन है; यह उस बन्धन को तथा बन्धजनित दु:ख को न जाने तो सर्वथा बन्ध के अभाव को कैसे भला जाने ?

तथा इस जीव को कर्मों का और उनकी शक्ति का तो ज्ञान है नहीं; इसलिये बाह्य पदार्थों को दु:ख का कारण जानकर उनका सर्वथा अभाव करने का उपाय करता है। तथा यह तो जानता है कि – सर्वथा दु:ख दूर होने का कारण इष्ट सामग्रियों को जुटाकर सर्वथा सुखी होना है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यह वृथा ही खेद करता है।

इसप्रकार मिथ्यादर्शन से मोक्षतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने से अयथार्थ श्रद्धान है।

इसप्रकार यह जीव मिथ्यादर्शन के कारण जीवादि सात तत्त्वों का जो कि प्रयोजनभूत हैं उनका अयथार्थ श्रद्धान करता है।....

सर्व कर्म बंधन के अभाव का नाम मोक्ष है। कर्मों का एकदेश अभाव होना निर्जरा है और सर्वथा अभाव होना मोक्ष है।

जो जीव बंधतत्त्व को भला मानता है उसे बंधतत्त्व की खबर नहीं है। पुण्य बाँधूंगा तो स्वर्ग में जाकर भगवान के पास जाऊँगा – ऐसा मानने वाले को बंधजनित दु:ख की खबर नहीं है और कर्म के अभावरूप मोक्ष की रुचि भी नहीं है। अत: उसे मोक्ष की श्रद्धा भी नहीं है। अज्ञानी मानता है कि हम मोक्ष के लिये क्रिया करते हैं, परन्तु वस्तुत: वे बंध के ही रास्ते हैं। जो बंध के एक अंश को भी हितकर मानता है वह मोक्ष को हितकर नहीं मानता।

पहले ज्ञान द्वारा पहिचाने तो सही ! सच्चे ज्ञान से स्वतन्त्र हुआ जाता है। जीव ने अनादिकाल से यह सत्य बात सुनी नहीं है और कहता है कि – "मैं पुण्य तो बाँधूंगा न। दया, दान, व्रतादि करने से अच्छी गति तो मिलेगी न" – ऐसे जीव को गतियों की रुचि है, परन्तु गति रहित मोक्षदशा की रुचि नहीं है।

आठों कर्मों का बंध दु:ख का विपाक है। ऐसा होने पर भी जो यह मानता है कि – सातावेदनीय बंधा तो ठीक हुआ, वह बंध रहित स्वभाव को ठीक नहीं मानता। बंधतत्त्व, वह जड़तत्त्व है। वस्तु स्वभाव से अबंध है और पर्याय से मोक्षतत्त्व अबंध है। परन्तु जिसे पर्याय में बंध अच्छा लगा, उसे जीवतत्त्व और मोक्षतत्त्व – दोनों की खबर नहीं है। बंध रहित स्वभाव के आश्रय से मोक्षदशा प्रगट होगी – उसका अज्ञानी को पता नहीं है। जो बंध के भाव को सुखदायक मानता है और बंध को हितकारक मानता है, उसको बंध का अभाव कैसे हो ? इसका पता नहीं है तथा अबंध स्वभाव कैसे प्रगट हो ? इसका भी पता नहीं है।

जिसने बंधन को भला माना, वास्तव में उसने बंधन को नहीं पहिचाना; अत: उसे मुक्ति की भी पहिचान नहीं है। तथा उसने मुक्ति का कारण संवर-निर्जरा नहीं माना है, इस तरह वह संवर-निर्जरा से विपरीत आस्रव-बंध को भी नहीं पहिचानता। इसप्रकार अबंध स्वभाव को नहीं जानने वाला सातों तत्त्वों को नहीं पहिचानता।

कोई रोगी रोग को नहीं पहिचाने तथा रोग जनित दु:ख को नहीं जाने तो वह रोग के सर्वथा अभाव को भला कैसे जानेगा ? तथा इस जीव को कर्म का व उसकी निमित्तपने की शक्ति का ज्ञान नहीं है। तथा यह अरहंत भगवान को भी नहीं पहिचानता। अरहंत भगवान ने बंध का अभाव किया है। बंध के अभावरूप मोक्ष हितकारक है, बंध हितकारक नहीं है –

ऐसा अरहंत भगवान कहते हैं; फिर भी जो पुण्यबंध को हितकारक मानता है तथा दया, दानादिक से संसार का घटना मानता है, वस्तुत: उसने सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को नहीं माना है। कितने ही जीव राग की मंदता को क्षयोपशमभाव मानते हैं, परन्तु यह मानना मिथ्या है। रागादिक भाव औदयिक भाव है। आत्मा के अवलंबन बिना सम्यक् क्षयोपशमभाव नहीं होता।

राग की मंदता से जो ज्ञान का परलक्ष्यी क्षयोपशम हुआ वह भी सम्यक्ज्ञान का कारण नहीं है। किन्तु स्वभाव के लक्ष्य से जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रगटा, वह क्षयोपशम ज्ञान मोक्ष का कारण है।

कर्मबंधन से रहित होने पर मोक्षदशा होती है, परन्तु अज्ञानी को न तो बंधन की ही खबर है और न बंध का अभाव कैसे हो ? इसकी ही खबर है। इस कारण वह बाह्य संयोगों को छोड़ना चाहता है। कंचन, कामिनी, कुटुम्बादि को छोड़ना चाहता है। बंधन पर के कारण नहीं बल्कि कर्म के निमित्त से बंधन है, उसकी उसे खबर नहीं है। अत: जिसने बंध को भला माना उसने बंध के एकदेश अभावरूप निर्जरा और सर्वथा अभावरूप मोक्ष को भला नहीं माना।

प्रश्न – शास्त्रों में पुण्यानुबन्धी पुण्य की बात आती है तो पुण्यानुबंधी पुण्य से क्या आशय है।

उत्तर – आत्मा के भान वाले जीव को शुभराग से पुण्य बंधता है। उसे पुण्य के बंध की रुचि नहीं, स्वभाव में दृष्टि होने से उसका आदर नहीं – इस कारण उसके पुण्य को पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं।

पहले तो यह मानना चाहिये कि – पुण्य का बंध ठीक नहीं है। सम्यग्दृष्टि को पुण्य रहित स्वभाव की प्रतीति है और वह पुण्य से लाभ नहीं मानता।

मिथ्यादृष्टि का पुण्य सर्व अनर्थों का कारण है, क्योंकि वह पुण्य दु:खदायक होने पर भी उसे सुखदायक मानता है। अज्ञानी जीव शुभराग को मोक्ष का कारण मानता है, वह मूढ़ता है। पुण्य की रुचि वाला मिथ्यात्व की रुचि वाला है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं है।

जैसे ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने वाला जड़ और आत्मा की पर्याय का कर्त्ता ईश्वर को मानता है; उसी प्रकार जैन सम्प्रदाय में आकर कर्म को आत्मा की पर्याय का कर्त्ता माने, और आत्मा के कारण शरीर में रूपांतर-परिवर्तन माने, तो वह भी ईश्वर जगत्कर्त्ता की मान्यता वाले की तरह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि – अज्ञानी जीव को कर्म का तथा उसकी निमित्तपने की शक्ति का

ज्ञान न होने से वह बाह्य पदार्थों को दु:ख के कारणरूप जानकर, उनका सर्वथा अभाव करने का उपाय करता है। स्त्री-पुत्र आदि को छोड़ना चाहता है, पैसा छोड़ना चाहता है – इस प्रकार बाह्य कारणों का अभाव करना चाहता है; परन्तु दु:ख दूर करने का उपाय संवर, निर्जरा व मोक्ष है, उसे नहीं जानता।

वह मानता है कि भगवान की वाणी और समवशरण मिले, अच्छा काल हो – इत्यादि बाह्य सामग्री मिले तो दु:ख का अभाव होकर सुख हो। तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि अभी व्रत, तप करो; उन्हें करने से स्वर्ग में जायेंगे और वहाँ से श्री सीमंधर भगवान के पास जायेंगे व वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर लेंगे; परन्तु यह भी भ्रम है।

कितने ही लोग मानते हैं कि – समकित में पुरुषार्थ नहीं है, पुरुषार्थ तो चारित्र में है। समकित तो दैव (भाग्य) से होता है। वे व्रत, तप, महाव्रत को चारित्र मानते हैं। वे मानते हैं कि ऐसा चारित्र पालकर स्वर्ग में जायेंगे, सीमन्धर भगवान के पास जाकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेंगे – इसप्रकार जो मान रहे हैं वे सब भी भ्रम में हैं।

अज्ञानी जीव सीमन्धर भगवान, समवशरण, भगवान की वाणी आदि संयोगों को इष्ट मानता है और उनसे समकित पाऊँगा – ऐसा मानता है। अरे ! अज्ञानी अनन्तबार समवशरण में जा आया, परन्तु कुछ भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

सम्यग्ज्ञान-दीपिका में क्षुल्लक धर्मदासजी ने लिखा है कि तुमने पूर्व में अनन्तबार प्रत्यक्ष समवशरण में केवली भगवान की मोती, अक्षत, रत्न और कल्पवृक्ष के पुष्पादि से पूजा की है, प्रत्यक्ष दिव्यध्वनि सुनी है, मुनिव्रत, शील भी अनन्तबार धारण किया है और काम-क्रोध, लोभादिक भी अनन्तकाल से करते चले आये हो – इस प्रकार बिना समझ सर्व शुभाशुभभाव करते चले आये हो।

अज्ञानी बाहरी संयोगों को कारण मानकर उनसे सुख मानता है। ''सर्वथा दु:ख दूर करने के कारणरूप इष्ट सामग्री है और उसके मिलने से सर्व सुख होगा'' – ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु वैसा कभी नहीं बनता। अत: व्यर्थ ही खेद करता है।

इसप्रकार मिथ्यादर्शन से मोक्षतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

शरीर की क्रिया से जीव को लाभ मानना और अजीव जीव से चलता है – ऐसा मानना, वह जीव-अजीवतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

आस्रव को सुखदायक मानना – वह आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल है।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को दुःखदायक मानना – वह संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल है।
पुण्य से निर्जरा होना मानना – वह निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल है।
बंध को हितकर मानना – वह बंधतत्त्व सम्बन्धी भूल है। तथा
सर्व कर्मों का अभाव होने पर मोक्ष होता है – ऐसा नहीं मानना – वह मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

इसप्रकार यह जीव मिथ्यादर्शन से सातों प्रयोजनभूत तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान करता है।

पुण्य-पाप सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान

....तथा पुण्य-पाप हैं सो इन्हीं के विशेष हैं और इन पुण्य-पाप की एक जाति है; तथापि मिथ्यादर्शन से पुण्य को भला जानता है, पाप को बुरा जानता है। पुण्य से अपनी इच्छानुसार किंचित् कार्य बने, उसको भला जानता है और पाप से इच्छानुसार कार्य नहीं बने, उसको बुरा जानता है; परन्तु दोनों ही आकुलता के कारण हैं इसलिये बुरे ही हैं।

तथा यह अपनी मान्यता से वहाँ सुख-दुःख मानता है। परमार्थ से जहाँ आकुलता है वहाँ दुःख ही है; इसलिये पुण्य-पाप के उदय को भला-बुरा जानना भ्रम ही है।

तथा कितने ही जीव कदाचित् पुण्य-पाप के कारण जो शुभ-अशुभभाव उन्हें भला-बुरा जानते हैं वह भी भ्रम ही है; क्योंकि दोनों ही कर्मबन्धन के कारण हैं।

इसप्रकार पुण्य-पाप का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।

इसप्रकार अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यादर्शन का स्वरूप कहा। यह असत्यरूप है इसलिये इसी का नाम मिथ्यात्व है और यह सत्यश्रद्धान से रहित है इसलिये इसी का नाम अदर्शन है।....

पुण्य-पाप, आस्रव-बंध के ही भेद होने पर भी, उनकी जाति एक होने पर भी मिथ्यादर्शन के कारण पुण्य को भला और पाप को बुरा जानता है।

अज्ञानी जीव को पुण्य-पाप की खबर नहीं हैं। पुण्य से अपनी इच्छानुसार कुछ काम हो तो भला जानता है और पाप से इच्छानुसार कार्य न बनें तो बुरा जानता है। तथा मान पोषण के लिये शुभभाव करने वाला तो पापी है, मानी भी है। पुण्य-पाप के परिणाम आकुलतामय हैं, इससे बुरे हैं। फिर भी अपनी मान्यता से सुख-दुःख मानता है। वस्तुतः दोनों चाण्डालनी के पुत्र हैं। पहले यथार्थ प्रतीति करे, तो श्रद्धा में से पुण्य-पाप छूटते हैं और पश्चात् शुद्धोपयोग होने पर चारित्र अपेक्षा से छूटते हैं।

सच्ची मान्यता करने पर अन्यमत वाले अपने विषय में क्या कहेंगे ? उसकी ओर मत देख ! मनुष्य तो संख्यात है। संख्यात मनुष्य विरुद्ध बोलें, उनके समक्ष मत देख ! शरीर के अनन्त परमाणु तेरी इच्छा के विरुद्ध वर्तेंगे तो तू क्या करेगा ? बुखार होगा, सर्दी होगी, शरीर में खलबलाहट होगी – इत्यादि प्रसंगों में पुद्गल-अनन्त द्रव्य तेरी इच्छा के विपरीत वर्तेंगे, क्योंकि उनका परिणमन स्वतन्त्र है। अत: संख्यात मनुष्य तेरे विरुद्ध बोलें तो उनके सामने मत देख ! अत: लोग अपने विषय में क्या कहते हैं, इस पर से दृष्टि बदल तो सृष्टि बदलेगी; अर्थात् तेरी पर्याय में मिथ्यादर्शन का अभाव होकर सम्यग्दर्शन होगा।

अज्ञानी जीव पुण्य-पाप में सुख-दु:ख मानता है। वस्तुत: तो जहाँ आकुलता है वहाँ दु:ख ही है। अत: पुण्य-पाप के उदय को भला-बुरा मानना भ्रम है। क्योंकि उनमें कहीं सुख नहीं, मात्र आकुलता ही है।

आत्मा में शुभाशुभभाव होते हैं वे आकुलता है। दोनों विकार हैं। उनमें से पुण्य भला और पाप बुरा है इस प्रकार अज्ञानी पुण्य-पाप – दोनों में अन्तर डालता है। पुण्य के उदय से पैसा मिले, उसमें सुख मानता है और पाप के उदय से रोग व गरीबदशा के होने पर दु:ख मानता है; उसकी श्रद्धा विपरीत है। वह जीव कितने ही व्रत, तप करे, वे सब वृथा हैं। जहाँ आकुलता है वहाँ दु:ख है। अत: पुण्य-पाप के संयोगों से सुख-दु:ख मानना और उन्हें भला-बुरा मानना – वह भ्रम है।

जैन कुल में जन्मने मात्र से कोई जैन नहीं है, अपितु जो सच्ची मान्यता करे वह जैन है। यहाँ पर दो बातें ली है –

(१) पूर्व के पुण्य-पाप कर्म के अनुसार प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में सुख-दु:ख मानना – वह अधर्म है।

(२) वर्तमान में दया, दानादि के भाव होते हैं – वे शुभ हैं और हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव – वे अशुभ हैं। जो जीव शुभभावों का भला और अशुभ भावों को बुरा मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। उसकी श्रद्धा मिथ्या है, उसे धर्म की खबर नहीं है। दोनों भाव बंधन के कारण है। पुण्यभाव सोने की बेड़ी है व पापभाव लोहे की बेड़ी है; फिर भी शुभराग को भला मानना – वह मिथ्याश्रद्धा है। निचलीदशा में शुभाशुभ भाव होते हैं। अशुभभाव छोड़कर शुभभाव आता है; परन्तु जो जीव शुभ को भला जानता-मानता है, वह वीतरागदेव की आज्ञा नहीं मानता। त्रिलोकनाथ भगवान शुभाशुभ भाव और उनके फल को दु:ख का कारण कहते हैं।

अनादि से ही अज्ञानी जीव अनुकूलता में सुख मानता है और उसके कारणरूप शुभराग में सुख मानता है। वीतरागदेव क्या कहते हैं ? इसका उसे पता नहीं है।

इसप्रकार पुण्य-पाप के स्वरूप का विपरीत ज्ञान होने पर श्रद्धान भी विपरीत होता है।

इसप्रकार अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यादर्शन का स्वरूप कहा। वह असत्यरूप है इसलिये ही मिथ्यात्व कहते हैं। आत्मा शरीर की क्रिया कर सकता है – ऐसा मानना, अनुकूलता से धर्म मानना, वह सब विपरीत श्रद्धा है। वह असत्यरूप है, इसलिये उसका नाम मिथ्यात्व है और सत्य श्रद्धान से रहित होने के कारण उसका नाम अदर्शन है।

मिथ्याज्ञान का स्वरूप

....अब मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहते हैं – प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को अयथार्थ जानने का नाम मिथ्याज्ञान है। उसके द्वारा उनको जानने में संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय होता है। वहाँ, 'ऐसे है कि ऐसे है ?' – इसप्रकार परस्पर विरुद्धता सहित दोरूप ज्ञान उसका नाम संशय है। जैसे – 'मैं आत्मा हूँ कि शरीर हूँ ?' – ऐसा जानना। तथा 'ऐसा ही है' इस प्रकार वस्तुस्वरूप से विरुद्धता सहित एकरूप ज्ञान उसका नाम विपर्यय है। जैसे – 'मैं शरीर हूँ' – ऐसा जानना। तथा 'कुछ है' ऐसा निर्धाररहित विचार उसका नाम अनध्यवसाय है। जैसे – 'मैं कोई हूँ' – ऐसा जानना। इसप्रकार प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों में संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप जो जानना हो उसका नाम मिथ्याज्ञान है।

तथा अप्रयोजनभूत पदार्थों को यथार्थ जाने या अयथार्थ जाने उसकी अपेक्षा मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान नाम नहीं है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि रस्सी को रस्सी जाने तो सम्यग्ज्ञान नाम नहीं होता, और सम्यग्दृष्टि रस्सी को साँप जाने तो मिथ्याज्ञान नाम नहीं होता।....

प्रयोजनभूत जीवादितत्त्वों को अयथार्थ जानना – उसका नाम मिथ्याज्ञान है।

मिथ्याज्ञान के कारण, जानने में (१) संशय, (२) विपर्यय और (३) अनध्यवसाय होता हैं।

१. संशय – वहाँ 'ऐसे है कि ऐसे है' ? – इस प्रकार जो परस्पर विरुद्धता पूर्वक दो प्रकार का ज्ञान होता है – उसका नाम संशय है।

जीव को खबर नहीं पड़ती कि – मैं ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा हूँ अथवा शरीर हूँ – यह संशय ज्ञान है। शरीर की हलन-चलनरूप क्रिया शरीर से होती है। आत्मा शरीर को नहीं चलाता। शरीर में उत्पाद-व्यय-ध्रुव उसके अपने कारण से होते हैं; फिर भी अज्ञानी को संशय

रहा करता है कि – शरीर की क्रिया आत्मा से होती है कि शरीर से होती है; ऐसा डॉवाडोल ज्ञान, वह संशय है।

२. **विपर्यय** – शरीर की क्रिया तथा भाषा की क्रिया आत्मा करता है – ऐसा मानना, वह विपरीतता है। इच्छा होने पर भी बहुत बार भाषा नहीं निकलती – यह स्वतन्त्रता की परिचायक है। शरीर की क्रिया से ही मुझे लाभ होता है – यह मान्यता अधर्मभाव है। मैं ज्ञानानन्द हूँ, मेरी ज्ञानक्रिया मुझसे होती है – ऐसा मानना चाहिये। परन्तु वस्तुस्वरूप से विरुद्ध "यह ऐसा ही है" – ऐसे एकरूप ज्ञान का नाम विपर्यय है।

३. **अनध्यवसाय** – "मैं कुछ हूँ" –ऐसा निर्धार रहित जानना, वह अनध्यवसाय है।

कोई निमित्त से कार्य मानता है, कोई उपादान से कार्य मानता है। अत: इसमें हमें तो कुछ पता नहीं चलता, कुछ होगा – ऐसा निर्धार रहित विचार करना – वह अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान है। जहाँ मिथ्याज्ञान हो वहाँ सब व्रत-तप आदि व्यर्थ हैं।

इसप्रकार प्रयोजनभूत जीवादि साततत्त्वों में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप जो जानना हो, उसका नाम मिथ्याज्ञान है। जो यथार्थ ज्ञान नहीं करता उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। वकालात सीखे, पाक कला सीखे – इत्यादि अप्रयोजनभूत पदार्थों में होशियार हो तो भी सम्यक् नाम नहीं पाता। क्योंकि संसार का ज्ञान अप्रयोजनभूत है। अप्रयोजनभूत को यथार्थ जाने तो सम्यग्ज्ञान और न जाने तो मिथ्याज्ञान – ऐसा नहीं है।

मिथ्यादृष्टि रस्सी को रस्सी जाने, तो इससे कोई उसका ज्ञान सम्यक् नाम नहीं पाता और कोई सम्यग्दृष्टि जीव रस्सी को सर्प जाने तो भी उसका ज्ञान मिथ्या नहीं होता, कारण कि डोरी का ज्ञान प्रयोजनभूत नहीं है। संसार की अप्रयोजनभूत बात की भूल से प्रयोजनभूत ज्ञान खोटा नहीं होता। अत: संसार का चतुरपना तो शून्य के समान निष्फल है। आत्मा और जड़ पदार्थों के बीच यथार्थ भेदज्ञान नहीं करे तो उसका सब ज्ञान खोटा है। दो और दो चार कहने पर भी उसका ज्ञान खोटा है। क्योंकि वे शब्द बोले गये, वह तो भाषा की अवस्था है, फिर भी अज्ञानी जीव मानता है कि – वह भाषा मेरे से – आत्मा से हुई। मैं जीव अरूपी चैतन्य हूँ और भाषा जड़, मूर्तिक है – दोनों भिन्न हैं – ऐसा उसे ख्याल नहीं है। अत: मिथ्यादृष्टि जीव दो और दो चार कहे तो भी उसका ज्ञान खोटा है।

....यहाँ प्रश्न है कि – प्रत्यक्ष सच्चे-झूठे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान कैसे न कहें ?....

प्रत्यक्ष सच्चे-झूठे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान क्यों नहीं कहा जाता है ? रस्सी को सर्प जाने वह झूठा ज्ञान है और रस्सी को रस्सी जाने, वह सच्चा ज्ञान है – ऐसा क्यों नहीं कहा जाता ?

....समाधान – जहाँ जानने ही का सच-झूठ का निर्धार करने का – प्रयोजन हो वहाँ तो कोई पदार्थ है उसके सच-झूठ जानने की अपेक्षा ही सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान नाम दिया जाता है। जैसे – प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के वर्णन में कोई पदार्थ होता है; उसके सच्चे जाननेरूप सम्यग्ज्ञान का ग्रहण किया है और संशयादिरूप जानने को अप्रमाणरूप मिथ्याज्ञान कहा है। तथा यहाँ संसार-मोक्ष के कारणभूत सच-झूठ जानने का निर्धार करना है; वहाँ रस्सी, सर्पादिक का यथार्थ या अन्यथा ज्ञान संसार-मोक्ष का कारण नहीं है, इसलिये उनकी अपेक्षा यहाँ सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान नहीं कहे हैं। यहाँ तो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वों के ही जानने की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान कहे हैं।

इसी अभिप्राय से सिद्धान्त में मिथ्यादृष्टि के तो सर्व जानने को मिथ्याज्ञान ही कहा और सम्यग्दृष्टि के सर्व जानने को सम्यग्ज्ञान कहा।....

जहाँ सच्चे-झूठे का निर्धार करने का ही प्रयोजन हो वहाँ तो किसी पदार्थ को उसके सच्चे-झूठे जानने की अपेक्षा ही सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान नाम पाता है। जैसे सर्प को सर्प जानना, वह जानने की अपेक्षा बराबर है।

जैसे प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के वर्णन में किसी पदार्थ को सच्चा जाने तो सम्यग्ज्ञान है और संशयादि रूप जानपने को अप्रमाणरूप मिथ्याज्ञान कहा है। परन्तु यहाँ तो संसार का कारण विकार है और मोक्ष का कारण अविकारीस्वभाव है; उसका निर्णय करना है। वकालात सीखे इसलिये धर्म का कारण हो ? नहीं। तथा किसी कुम्हार को वकालात का ज्ञान नहीं है तो उसका धर्म अटक जाता है ? नहीं। किसी सम्यग्ज्ञानी को संसार की कला का ज्ञान न हो; परन्तु शरीरादि पर हैं, विकार अशुद्ध है और स्वयं ज्ञानस्वभावी है – ऐसा भेदज्ञान हो तो उसका ज्ञान सम्यक् है। यहाँ उसका निर्णय करना है। रस्सी, सर्प आदि का यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान मोक्ष या संसार का कारण नहीं है। अत: उसकी अपेक्षा यहाँ सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान नहीं कहा है।

यहाँ तो प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ जाने, उसे सम्यग्ज्ञान कहा है और विपरीत जाने अथवा नहीं जाने उसे मिथ्याज्ञान कहा है। – इस अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि ग्यारह अंग तक पढ़े तो भी वह मिथ्याज्ञानी है। जड़ पृथक्, विकार पृथक् और स्वभाव पृथक् है – ऐसी जिसे खबर

नहीं है उस जीव का सब ज्ञान मिथ्याज्ञान है। और जिसे ज्ञानस्वभावी आत्मा की खबर है, जो पुण्य-पाप को विकार जानता है और शरीर को जड़ मानता है – उस सम्यग्दृष्टि जीव का समस्त ज्ञान यथार्थ है। नवतत्त्वों के यथार्थ भान बिना जीव भगवान की भक्ति करता होवे तो भी अज्ञानी है। कोई सम्यग्दृष्टि जीव युद्ध में होने पर भी उसका ज्ञान सम्यक् है। लड़ाई की क्रिया जड़ की है और जो भाव हुआ, वह पाप है; मेरा आत्मा उससे रहित शुद्ध है – ऐसा विवेक होने से उसका ज्ञान युद्ध के समय भी सम्यक् है।

इस अभिप्राय से शास्त्र में मिथ्यादृष्टि के समस्त जानपने को मिथ्याज्ञान कहा है और सम्यग्दृष्टि के समस्त जानपने को सम्यग्ज्ञान कहा है।

....यहाँ प्रश्न है कि – मिथ्यादृष्टि को जीवादि तत्त्वों का अयथार्थ जानना है, उसे मिथ्याज्ञान कहो; परन्तु रस्सी, सर्पादिक के यथार्थ जानने को तो सम्यग्ज्ञान कहो ?....

मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव, विकारादि में भिन्नता की खबर नहीं है अत: उसे मिथ्याज्ञान कहो, परन्तु रस्सी, सर्पादि के यथार्थ जानपने को तो सम्यग्ज्ञान कहो ? – ऐसा प्रश्न है।

....समाधान – मिथ्यादृष्टि जानता है, वहाँ उसको सत्ता-असत्ता का विशेष नहीं है; इसलिये कारणविपर्यय व स्वरूपविपर्यय व भेदाभेदविपर्यय को उत्पन्न करता है। वहाँ जिसे जानता है उसके मूल कारण को नहीं पहिचानता, अन्यथा कारण मानता है; वह तो कारणविपर्यय है। तथा जिसे जानता है उसके मूलवस्तुत्वरूप स्वरूप को नहीं पहिचानता, अन्यथास्वरूप मानता है; वह स्वरूपविपर्यय है। तथा जिसे जानता है उसे यह इनसे भिन्न है, इनसे अभिन्न है – ऐसा नहीं पहिचानता, अन्यथा भिन्न-अभिन्नपना मानता है; सो भेदाभेदविपर्यय है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के जानने में विपरीतता पायी जाती है।

जैसे मतवाला माता को पत्नी मानता है, पत्नी को माता मानता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के अन्यथा जानना होता है। तथा जैसे किसी काल में मतवाला माता को माता और पत्नी भी जाने तो भी उसके निश्चयरूप निर्धार से श्रद्धान सहित जानना नहीं होता, इसलिये उसको यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जाता; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि किसी काल में किसी पदार्थ को सत्य भी जाने, परन्तु उनसे अपना प्रयोजन अयथार्थ ही साधता है; इसलिये उसके सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं।....

मिथ्यादृष्टि जानता है, उसमें उसे स्वसत्ता और परसत्ता की खबर नहीं है। आत्मा की सत्ता और जड़ की सत्ता भिन्न-भिन्न है, उसकी उसे खबर नहीं है। वह इन्द्रियों की सत्ता से ज्ञान

मानता है, परन्तु जड़ की सत्ता जड़ की सत्ता में है, वह मेरे में नहीं और चैतन्य सत्ता मेरे में है, वह जड़ की सत्ता में नहीं – ऐसा नहीं मानता। सत्ता माने होनापना ''उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'' और ''सत् द्रव्य लक्षणम्'' अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव है। पूर्व अवस्था का अभाव होना और नई अवस्था का उत्पाद होना तथा गुण ध्रुव रहना – यह सत् का लक्षण है। किसी के कारण किसी की सत्ता नहीं है, फिर भी अज्ञानी जीव मिलावट करता है। जीव की क्रिया जड़ से मानता है और जड़ की क्रिया जीव से मानता है – ऐसा होने से उसके ज्ञान में कारणविपरीतता है। आत्मा और ज्ञानगुण अभेद है, फिर भी इन्द्रियों से ज्ञान होना मानता है और ज्ञान तथा आत्मा को भिन्न मानता है। और जड़ से आत्मा भेदरूप होने पर भी जड़ की क्रिया मुझसे हुई – ऐसा मानकर उसके साथ अभेदता करता है। इसकारण भेदाभेदविपरीतता है।

इसप्रकार अज्ञानी के जानने में तीन प्रकार की विपरीतता पाई जाती है –

(१) कारणविपरीतता – रूपी पदार्थ का कारण ईश्वर है – ऐसा मानता है। ईश्वर को इस जगत का कर्त्ता मानता है, वह कारणविपरीतता है। तथा जड़ की पर्याय आत्मा से हुई – ऐसा मानना भी कारण में भूल है। कोई, पृथ्वी, जल आदि को भिन्न-भिन्न तत्त्व मानता है, वह भूल है। पंच महाभूतों की भिन्न-भिन्न जाति मानता है। वह कारणविपरीतता है। वे सब पुद्गल की अवस्थायें होने पर भी भिन्न-भिन्न मानना कारणविपरीतता है।

तथा इन्द्रिय, पुस्तक अथवा निमित्त से ज्ञान होता है – ऐसा मानना कारण विपरीतता है। आत्मा को मूर्त शरीर का कारण मानना कारणविपरीतता है। कोई पदार्थ नया उत्पन्न नहीं होता और किसी पदार्थ का सर्वथा नाश नहीं होता, मात्र उसकी पर्याय बदलती है; तथापि पर से पर्याय बदलती है – ऐसा मानना कारणविपरीतता है। पर्याय उस-उस द्रव्य के कारण से बदलती है – ऐसे उसके मूलकारण को अज्ञानी नहीं जानता। शरीर की अवस्था का मूल उपादान कारण जड़ है, परन्तु आत्मा नहीं। तथा आत्मा की ज्ञान की दशा का कारण आत्मा है, परन्तु इन्द्रिय आदि नहीं, फिर भी विपरीत मानना – वह कारणविपरीतता है। कर्म की पर्याय का कर्त्ता आत्मा को मानना कारणविपरीतता है। विकार का कारण कर्म को मानना कारण विपरीतता है। जीव स्वयं विकार करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है, कर्म विकार नहीं कराता। यदि कर्म विकार करावे तो विकार का कभी नाश नहीं हो सकता। आत्मा अरूपी चैतन्य है और कर्म रूपी जड़ हैं। मूर्त का कारण अमूर्त को मानना और अमूर्त का कारण मूर्त को मानना कारण विपरीतता है। तथा पुण्य-पाप विकार हैं, उन्हें धर्म का मूलकारण मानना कारण विपरीतता है।

अज्ञानी जीव जैन साधु हुआ हो, किन्तु इस भूल के कारण मिथ्यादृष्टि है। वस्तुत: वह साधु ही नहीं है। छहढाला में आता है कि जीव ने अनन्त बार मुनिपना धारण किया परन्तु आत्मज्ञान बिना संसार में ही परिभ्रमण किया है।

तथा जो औपचारिक (निमित्त) कारणों को मूलकारण माने, वह मिथ्यादृष्टि है। जैसे दर्पण में मयूर का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रतिबिम्ब दर्पण की पर्याय है और वह दर्पण के कारण है; उसके बदले मयूर के कारण दर्पण की पर्याय हुई – ऐसा जानना कारण विपरीतता है। तथा समय-समय ज्ञान होता है उसका मूलकारण अपनी योग्यता है, फिर भी भाषा से ज्ञान हुआ – ऐसा मानना कारणविपरीतता है। यदि भाषा से ज्ञान होता हो तो सबको समान ज्ञान होना चाहिये, परन्तु ऐसा तो नहीं होता। प्रतिमा देखते समय शुभराग होता है वह आत्मा के कारण होता है। यदि प्रतिमा के कारण होता हो तो सबको होना चाहिये, परन्तु सबको शुभभाव नहीं होता। अत: प्रतिमा होवे तो शुभभाव होता है – ऐसा जानना कारणविपरीतता है।

वीतरागी पर्याय का कारण आत्मा है। पर्याय पर्याय का कारण नहीं है। अर्थात् पूर्व पर्याय का अभाव होता है उसमें से नई पर्याय नहीं आती। नई पर्याय द्रव्य में से आती है – ऐसा न मानकर धर्म की पर्याय, पर्याय में से आती है, राग में से अथवा निमित्त में से आती है – ऐसा जानना विपरीत ज्ञान है।

जो मूलकारण है उसे नहीं जानना और अन्यथा कारण मानना कारणविपरीतता है। जड़ पदार्थों का मूलकारण वे पदार्थ स्वयं हैं; परन्तु उनके मूलकारण के रूप में ब्रह्मा को अथवा ईश्वर को जानना कारणविपरीतता है। तथा प्रत्येक कार्य में कारण वह पर्याय है और निमित्त आरोपित कारण है, फिर भी मूलकारण को छोड़कर निमित्त कारण से ही कार्य मानना कारणविपरीतता है और मिथ्याज्ञान है।

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि –

उपादान निज गुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि बिरला बूझे कोय ।।

जिससमय जिस गुण की जो पर्याय होती है उससमय निमित्तरूप परवस्तु होती है। फिर भी निमित्त आवे तो कार्य होवे – ऐसा मानना कारणविपरीतता है। आत्मा के राग के कारण कर्म बंधे – ऐसा मानना कारणविपरीतता है। कर्म का मूलकारण जड़ की पर्याय है, राग तो निमित्तमात्र है। प्रत्येक पदार्थ पृथक्-पृथक् है, कोई किसी के कारण नहीं है। आत्मा की पर्याय अपने से होती है, वह मूलकारण है; परन्तु निमित्त के कारण कार्य होना मानना विपरीतता है।

सम्यग्ज्ञान होते समय कुदेवादिक के राग का अभाव होना, प्रतिबंध का अभाव है। प्रतिबंध का अभाव निमित्तकारण है, वह मूलकारण नहीं। तथापि प्रतिबंध के अभाव को मूलकारण मानना कारणविपरीतता है।

(२) स्वरूपविपरीतता – जड़ और चेतन सब एक हैं – ऐसा मानना स्वरूपविपरीतता है। जड़ का स्वरूप जड़ से है और आत्मा का स्वरूप आत्मा से है। सब मिलकर एक आत्मा मानना अथवा जगत में सब ज्ञान ही है अथवा सब जड़ ही है – ऐसा मानना, स्वरूपविपरीतता है। विकार और स्वभाव एक ही हैं – ऐसा मानना, स्वरूपविपरीतता है। मूल वस्तुभूत स्वरूप को नहीं पहिचाने और अन्यथा स्वरूप माने – वह स्वरूपविपरीतता है।

निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों एक हैं – ऐसा मानना स्वरूपविपरीतता है। जब नैमित्तिकदशा होती है तब अनुकूल निमित्त होता ही है – इस प्रकार दोनों की भिन्नता है, उसके बदले दोनों को एक मानना स्वरूपविपरीतता है। ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या – ऐसी मान्यता स्वरूपविपरीतता है। शरीर और आत्मा की पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र है, फिर भी दोनों को एक मानना, स्वरूप में भूल है।

(३) भेदाभेदविपरीतता – भिन्न और अभिन्नपना यथार्थ नहीं पहिचानकर अन्यथा भिन्न-अभिन्नपना मानना भेदाभेदविपरीतता है। आत्मा ज्ञानगुण से सर्वथा भिन्न नहीं, गुण-गुणी कथंचित भिन्न हैं। पहले ज्ञानगुण की दशा न्यून थी और बाद में ज्ञान बढ़ा – तो वह बाहर से आया – ऐसा जो मानता है उसने गुण और गुणी को भिन्न माना है – यह भेदविपरीतता है।

द्रव्य है, उसे ही गुण मानता है, किन्तु उनके लक्षण भिन्न हैं। सम्यग्दर्शन होते ही सभी गुण प्रगट जाते हैं – ऐसा जानना, वह अभेद विपरीतज्ञान है। उसे गुणभेद का ज्ञान नहीं है। राग क्षणिक है और स्वभाव त्रिकाल है, फिर भी दोनों को एक मानना, वह अभेद विपरीत बुद्धि है।

जो विकार से आत्मा को लाभ मानता है वह (उनमें भिन्नता होने पर भी उन्हें) अभेद मानता है; वह अभेद विपरीतता है।

यह जीव मानता है कि आत्मा और शरीर साथ मिलकर कार्य करते हैं अवस्थायें भिन्न होने पर भी, दो द्रव्य साथ मिलकर एक परिणाम करते हैं अथवा आत्मा ने इच्छा की तो शरीर की अवस्था हुई – ऐसा मानना भिन्न-भिन्न दो पदार्थों में अभेद बुद्धि है। शरीर आत्मा से नहीं चलता। जड़ की अवस्था जड़ से होती है; फिर भी जड़ का उत्पाद आत्मा से होना मानना तथा जड़ से भी होना मानना – ऐसे दो द्रव्यों का एक परिणाम मानना, यह अभेद विपरीतबुद्धि

है। यही मिथ्याज्ञान है। ऐसा मानने वाले जीव को धर्म नहीं होता। दो भिन्न द्रव्यों को एक मानना मिथ्याज्ञान है।

गुण-गुणी प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होने पर भी उन्हें सर्वथा भेदरूप जानना भेदाभेद विपरीतता है।

तथा पर्याय और द्रव्य कथंचित् भेदरूप है और कथंचित् अभेद रूप है। किन्तु उन्हें सर्वथा भेदरूप माने तो भी मिथ्या है और सर्वथा अभेदरूप माने तो भी मिथ्या है। तथा एक को अनेक जानना भी मिथ्याज्ञान है।

नवतत्त्वों का ज्ञान अपना है, बंध का अथवा पुण्य-पाप का ज्ञान नहीं है। आत्मा का ज्ञान करने पर उसमें नवतत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आ जाता है। जीव से अजीव की क्रिया मानना और अनेक की एक क्रिया मानना मिथ्यात्व है। पुण्यास्रव से सामायिक मानना और संवर करने से पुण्य बंधता है ऐसा जानना अनेक तत्त्वों को एक माननेरूप मिथ्याज्ञान है।

कारण से कार्य सर्वथा भिन्न है अथवा सर्वथा अभिन्न है – ऐसा मानना, वह भेदाभेद विपरीतता है। प्रत्येक द्रव्य की पूर्व पर्याय का व्यय होकर नवीन पर्याय का उत्पाद होता है। उसमें व्यय कारण है और उत्पाद कार्य है; उनमें समयभेद नहीं हैं, इसकारण वे अभेद हैं और व्यय व उत्पाद में लक्षण भेद की अपेक्षा भेद है – इस प्रकार कथंचित् भेद-अभेदपना समझना चाहिये। किन्तु सर्वथा भेद मानना अथवा सर्वथा अभेद मानना भेदाभेदविपरीतता है।

एकसमय की पर्याय में वीर्यशक्ति कारण है और वर्तमान पर्याय कार्य है। यद्यपि उनमें समयभेद नहीं है तथापि गुण और पर्याय में लक्षण भेद से भेद है। इसप्रकार भेदाभेद स्वरूप को समझना चाहिये। ऐसा न समझकर सर्वथा भेद समझे अथवा सर्वथा अभेद समझे, तो वह भेदाभेदविपरीतता है।

पूज्यपादस्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका में यह विपरीतता मिथ्याज्ञान के अधिकार में बतलाई है। जहाँ मिथ्याज्ञान होता है वहाँ धर्म नहीं होता। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में विपरीतता है। वह पृथक् पदार्थों को एक मानता है।

आत्मा के आश्रय से जो प्रतीति, ज्ञान और रमणता प्रगट हुई, वह द्रव्य के साथ मिली होने से उसे अभेद कहा है और पर्याय द्रव्य से कथंचित् भेदरूप है – इसप्रकार भेदाभेद स्वरूप समझना। दही और दूध – दोनों गोरस के रूप में वर्तमान में एक हैं, अभेद हैं और दही व दूध – दोनों पर्याय अपेक्षा से पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् भेदरूप हैं। इसप्रकार भेदाभेद है। अत:

गोरसपने अभेद नहीं माने तो मिथ्याज्ञान है और अलग-अलग स्वाद की अपेक्षा भेद न माने तो भी मिथ्याज्ञान है। अज्ञानी जीव को जड़ और चेतन की भिन्नता का ज्ञान नहीं है तथा स्वभाव और विकार की भिन्नता का ज्ञान नहीं है। वह पुण्य से धर्म और जड़ की पर्याय से आत्मा को लाभ मानता है। अपनी इच्छा अनुसार जगत के कार्य होते हैं – ऐसा मानता है – यही मिथ्याज्ञान है।

जैसे शराबी माता को पत्नी और पत्नी को माता जानता है; वैसे ही अज्ञानी शरीरादि की क्रिया से धर्म मानता है। यह विपरीत मान्यता है। तथा जैसे वही शराबी मनुष्य किसी काल में माता को माता और पत्नी को पत्नी भी जाने, तो भी उसको निश्चयरूप निर्धार से श्रद्धानपूर्वक जानपना नहीं होने से, उसके ज्ञान को यथार्थ ज्ञान नहीं कहते। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि किसी समय कहता है कि आत्मा और देह भिन्न हैं, तथा किसी समय कहता है कि शरीर निरोगी हो तो धर्म होवे। परन्तु शरीर तो जड़ है, और आत्मा से भिन्न है। जो पदार्थ भिन्न हैं उससे लाभ होगा ? नहीं होगा। मुझे शरीर से लाभ-हानि नहीं और शरीर को मुझसे लाभ-हानि नहीं – ऐसा माने तो शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न माना कहा जावे। रोग आने पर मुझे दुःख हुआ – ऐसा मानना भ्रान्ति है। तथा वह कहता है कि – पथ्य (पोष्टिक) आहार लें तो आयु बढ़ सकती है। इसप्रकार अज्ञानी को कुछ भी भान नहीं है।

अज्ञानी कदाचित् कहे कि – ये देव-शास्त्र-गुरु सच्चे हैं; परन्तु गुरु की कृपा से कल्याण माने, तो वह भ्रान्ति है। यदि गुरु से कल्याण होता हो तो सबका कल्याण हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। पर की तरफ का लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख लक्ष्य करे तो ही कल्याण होता है। तथा वह प्रतिमा को अपने से भिन्न मानता है और किसी समय प्रतिमा से कल्याण होना मानता है। इसप्रकार उसका ज्ञान मिथ्या है। अपना आत्मा ही कल्याण का कारण है, उसे प्रगट करे तो भगवान की प्रतिमा को निमित्त कहा जाता है – ऐसा उसे पता नहीं है। पर से अपने को और अपने से पर को लाभ-हानि नहीं मानना – ऐसा भेदज्ञान करना ही कल्याण का कारण है। समयसार कलश में कहा है –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१*॥

*अब तक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की॥
और जीव जो भटक रहे वे भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव में भटक रहे हैं॥१३॥ पद्यानुवाद : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अर्थात् जो कोई बंधे हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हैं और जो कोई सिद्ध हुये हैं वे भेदज्ञान के कारण ही सिद्ध हुये हैं।

अज्ञानी किसी समय कर्म और आत्मा को भिन्न कहता है तथा फिर कहता है कि – कर्म का उदय बलवान है। कर्म तो जड़ हैं। तब कर्मों ने तुझे हैरान किया अथवा कर्म के उदय के कारण विकार हुआ – यह बात कहाँ रहती है ? ज्ञानी विचारता है कि मैं चिदानन्द हूँ, जो विकार होता है वह मेरी कमजोरी है; परन्तु स्वभाव में विकार नहीं है। जबकि अज्ञानी कर्म के कारण विकार होना मानता है। शास्त्रों में (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव – ऐसे चार अभाव कहे हैं। आत्मा और जड़कर्म के बीच अत्यन्ताभाव है। सबकी अपनी-अपनी अवस्था अपने-अपने से होती हैं। तथा एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय में अन्योन्याभाव है; इसका अज्ञानी को पता नहीं है। ऐसे भान बिना सामायिक, व्रत आदि किया करे तो भी उसे धर्म नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना श्रावक अथवा मुनिपना नहीं होता।

अज्ञानी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमानुसार किसी पदार्थ को जानता होवे तो भी उसका श्रद्धान मिथ्या होने से, उसका समस्त ज्ञान मिथ्या है। जिसे आत्मा ज्ञानस्वभावी है – ऐसा भान नहीं है, उसको ग्यारह अंग नौ पूर्व का जानपना भी मिथ्याज्ञान है।

जैसे किसी को सन्निपात हुआ हो, वह किसी समय अच्छा बोलता है और किसी समय तिरस्कार करता है; वैसे ही अज्ञानी किसी समय सच्चा जानपना करता है और किसी समय यथार्थ जानपना नहीं करता; परन्तु उसे सच्ची श्रद्धा नहीं है इससे उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। वह निश्चय निर्धारपूर्वक सच्चा नहीं जानता।

(१) जिसको छह द्रव्यों और नव तत्त्वों का पता नहीं, उसके तीनों विपरीततायें होती हैं। अत: उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

(२) किसी समय कदाचित् किसी पदार्थ को जानता है, परन्तु यथार्थ श्रद्धा नहीं करता, इसकारण उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

(३) किसी को सत्य बात का ख्याल आने पर भी वह उसे महानता प्राप्त करने की चाह में गँवा देता है। महान आचार्यों की वाणी पढ़कर ख्याल में आ जाये परन्तु उसके निमित्त से अपना मान पोषण करे तो उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। ऐसा जीव समझते हुये भी विपरीत प्रयोजन साधता है। वह आचार्यों के शास्त्र पढ़ता अवश्य है, परन्तु अयथार्थ प्रयोजन अर्थात्

जगत की मान, पूजा आदि तथा सम्प्रदाय चलाने का प्रयोजन साधे तो उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। कहा भी है – **''असद्गुरु को दृढ़ करे निज मानार्थे मुख्य''**

किसी अन्य की बात को चुराकर अपनी कहे अर्थात् अपने मान के लिये अथवा सम्प्रदाय चलाने के लिये अपने ज्ञान का उपयोग करे तो उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। 'समझता है' का आशय है कि – उसके ज्ञान के क्षयोपशम में आया है कि आचार्य यह कहना चाहते हैं, उपादान-निमित्त स्वतन्त्र कहना चाहते हैं; स्वभाव शुद्ध है और विकार अशुद्ध है – यह बात उसके ज्ञान में आती है; परन्तु मान, पूजा आदि के लिये उसका उपयोग किया होने से उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसप्रकार किसी समय सच्ची धारणा करे, परन्तु आत्मा का प्रयोजन नहीं साधता। मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है – ऐसा प्रयोजन नहीं साधता। मान और कीर्ति लेने के लिये विपरीत मार्ग को सच्चा कहकर परम्परा चलाना, मिथ्याज्ञानी का कार्य है।

जो छह द्रव्यों और नव तत्त्वों को पृथक्-पृथक् नहीं मानता वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, परन्तु कोई धारणा करके ऐसा कहे कि – निमित्त और उपादान स्वतन्त्र भिन्न काम करते हैं, परन्तु इसे यथार्थ श्रद्धा में नहीं लेता तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। तीसरा जीव अयथार्थ प्रयोजन साधता है इसलिये मिथ्यादृष्टि है, कारण कि अपनी खोटी परम्परा चलाने का उसका हेतु है, इसकारण उसका ज्ञान भी सच्चा नहीं है। शरीरादि की क्रिया शरीर के कारण होती है। वाणी वाणी के कारण निकलती है और आत्मा उसका देखने-जानने वाला है – इसप्रकार जो स्वतन्त्र नहीं समझता वह मिथ्यादृष्टि है। अपना प्रयोजन ज्ञान और आनन्द है। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ दुःखदायक है। जगत की प्रतिष्ठा का प्रयोजन साधे, वह मिथ्यादृष्टि है।

पर की दया मेरे से पलती है – ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म नहीं होता। उसका ज्ञान मिथ्या है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। वह संसार का कारण है और सम्यग्ज्ञान मुक्ति का कारण है।

....यहाँ प्रश्न है कि – इस मिथ्याज्ञान कारण का कौन है ?....

इस मिथ्याज्ञान में निमित्तकारण कौन है ? जीव स्वयं मिथ्याज्ञान करता है, अपने वास्तविक ज्ञान बिना मिथ्याज्ञान करता है उसमें कौनसा कर्म निमित्त है ?

....समाधान – मोह के उदय से जो मिथ्यात्वभाव होता है, सम्यक्त्व नहीं होता; वह इस मिथ्याज्ञान का कारण है। जैसे – विष के संयोग से भोजन को भी विषरूप कहते हैं वैसे मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान है सो मिथ्याज्ञान नाम पाता है।....

आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है। जो उससे चूककर पर से लाभ मानता है, उसके मोहभाव में मोहनीय कर्म निमित्त है। कर्म मोह नहीं कराता, परन्तु जीव स्वयं मोह करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है। इसप्रकार सम्यक्भाव नहीं होता, वही मिथ्याज्ञान का कारण है। सम्यग्ज्ञान में सम्यक्भाव निमित्त है। मिथ्याज्ञान में मिथ्याभाव निमित्त है। जहर के संयोग से पदार्थ को जहर कहने में आता है। जैसे दूधपाक में जहर पड़ने से उसे जहर कहने में आता है; वैसे ही विपरीत मान्यता से ज्ञान मिथ्या कहा जाता है। ज्ञान का उघाड़ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से है, परन्तु विपरीत मान्यता के कारण वह ज्ञान मिथ्या नाम पाता है।

....यहाँ कोई कहे कि – ज्ञानावरण को निमित्त क्यों नहीं कहते ?....

विपरीत श्रद्धापूर्वक जो मिथ्याज्ञान होता है उसमें ज्ञानावरणीय कर्म का निमित्तपना क्यों नहीं कहते ?

....समाधान – ज्ञानावरण के उदय से तो ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव होता है तथा उसके क्षयोपशम से किंचित् ज्ञानरूप मति-आदिज्ञान होते हैं। यदि इनमें से किसी को मिथ्याज्ञान, किसी को सम्यग्ज्ञान कहें तो यह दोनों ही भाव मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि के पाये जाते हैं, इसलिये उन दोनों के मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव हो जायेगा और वह सिद्धान्त से विरुद्ध होता है, इसलिये ज्ञानावरण का निमित्त नहीं बनता।....

यदि ज्ञानावरणीय कर्म को मिथ्याज्ञान में निमित्त माना जावे तो सम्यग्दृष्टि को भी किसी समय उस प्रकार के ज्ञानावरणीय के उदय के कारण किसी पदार्थ को जानने में भूल हो जाये तो उसका ज्ञान मिथ्या हो जावे और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशाम के कारण उघाड़ हो तो उसके ज्ञान को सम्यक् कहना पड़े। अत: यदि ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के कारण ज्ञान को सम्यक् कहोगे तो अज्ञानी के ज्ञान को भी सम्यक् कहना पड़ेगा और ज्ञानी की (ज्ञान के उघाड़ विषयक) भूल को भी मिथ्या कहना पड़ेगा; परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ निमित्त की व्याख्या है। स्वयं ज्ञान की हीनदशा करे तो ज्ञानावरणीय को निमित्त कहा जाता है, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को हीन नहीं करता। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के समय ज्ञान का उघाड़ नहीं होता है। तथा ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से किंचित् मति, श्रुत, अवधिज्ञान का उघाड़ होता है। अज्ञानी जीव के जिस किसी ज्ञान का उघाड़ होता है वह ज्ञान मिथ्या नाम पाता है। सम्यग्दृष्टि को आत्मा का भान होने से उसका ज्ञान सम्यक् है।

वकील, प्रधानमंत्री आदि को ज्ञानावरणीय का बहुत क्षयोपशम है, यदि उसके कारण उन्हें सम्यग्ज्ञान कहा जावे तब तो उन्हें समकिती कहना पड़ेगा और समकिती मेंढ़क को उघाड़

कम है, उसे वकील जितना ज्ञान नहीं है, तो उसे मिथ्यादृष्टि कहना पड़ेगा; परन्तु ऐसा नहीं है। जिसे आत्मा का भान है वह समकिती है। अत: ज्ञानावरणीय कर्म सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान में निमित्त नहीं है।

ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान में निमित्त नहीं है और ज्ञानावरणीय कर्म का अल्प क्षयोपशम मिथ्याज्ञान में निमित्त नहीं है। अज्ञानी अप्रयोजनभूत पदार्थों का ज्ञान करता है, उसे भेदज्ञान नहीं है – इसकारण उसका ज्ञान मिथ्या है।

....यहाँ फिर पूछते हैं कि – रस्सी, सर्पादिक के अयथार्थ-यथार्थ ज्ञान का कारण कौन है ? उस ही को जीवादि तत्त्वों के अयथार्थ-यथार्थ ज्ञान का कारण कहो ?....

डोरी पड़ी हो उसे सर्प जाने – ऐसे अयथार्थ ज्ञान में कौन कारण है ? यदि निमित्त के कारण से डोरी को सर्प जानता है तो निमित्त कारण को जीवादि तत्त्वों के अयथार्थ ज्ञान का कारण कहो और जिस कारण से डोरी को डोरी जानता है उस कारण को यथार्थ ज्ञान का कारण कहो तो क्या बाधा है ?

....उत्तर – जानने में जितना अयथार्थपना होता है उतना तो ज्ञानावरण के उदय से होता है; और जो यथार्थपना होता है उतना ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है। जैसे कि – रस्सी को सर्प जाना वहाँ यथार्थ जानने की शक्ति का बाधक कारण का उदय है इसलिये अयथार्थ जानता है; तथा रस्सी को रस्सी जाना वहाँ यथार्थ जानने की शक्ति का कारण क्षयोपशम है इसलिये यथार्थ जानता है। उसी प्रकार जीवादितत्त्वों को यथार्थ जानने की शक्ति होने या न होने में तो ज्ञानावरण ही का निमित्त है; परन्तु जैसे किसी पुरुष को क्षयोपशम से दु:ख के तथा सुख के कारणभूत पदार्थों को यथार्थ जानने की शक्ति हो; वहाँ जिसको असातावेदनीय का उदय हो वह दु:ख के कारणभूत जो हों उन्हीं का वेदन करता है, सुख के कारणभूत पदार्थों का वेदन नहीं करता। यदि सुख के कारणभूत पदार्थों का वेदन करे तो सुखी हो जाये, असाता का उदय होने से हो नहीं सकता। इसलिये यहाँ दु:ख के कारणभूत और सुख के कारणभूत पदार्थों के वेदन में ज्ञानावरण का निमित्त नहीं है, असाता-साता का उदय ही कारणभूत है। उसी प्रकार जीव में प्रयोजनभूत जीवादिकतत्त्व तथा अप्रयोजनभूत अन्यको यथार्थ जानने की शक्ति होती है। वहाँ जिसके मिथ्यात्व का उदय होता है वह तो अप्रयोजनभूत हों उन्हीं का वेदन करता है, जानता है; प्रयोजनभूत को नहीं जानता। यदि प्रयोजनभूत को जाने तो सम्यग्दर्शन हो जाये, परन्तु वह मिथ्यात्व का उदय होने पर हो नहीं सकता; इसलिये यहाँ प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में ज्ञानावरण का निमित्त नहीं है; मिथ्यात्व का उदय-अनुदय ही कारणभूत है।....

प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने में दर्शनमोह का अभाव निमित्त है और मिथ्या जानने में दर्शनमोह का सद्भाव निमित्त है – यह बात यहाँ सिद्ध करनी है। जानने में जितना अयथार्थपना है उतना तो ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से है और जितना लौकिक व प्रयोजनभूत पदार्थों का ज्ञान है, उसमें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त है। डोरी को सर्प जाने तो ज्ञानावरणीय का उदय निमित्त है और डोरी को डोरी जाने तो ज्ञानावरणीय का उस जाति का क्षयोपशम है। परन्तु वह आत्मा को लाभ या हानिकारक नहीं है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी को ज्ञान का जितना उघाड़ वर्तता है, उसमें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त है। जीवादि पदार्थों को यथार्थ जानने में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम निमित्त है और अयथार्थ जानने में ज्ञानावरणीय का उदय निमित्त है। इस प्रकार जीवादि पदार्थों को यथार्थ जानने का उघाड़ न होने अथवा होने में तो ज्ञानावरणीय का ही निमित्त है। परन्तु मिथ्याज्ञान या सम्यग्ज्ञान में ज्ञानावरणीय का निमित्तपना नहीं है। समकिती के प्रगट ज्ञान में कदाचित् अप्रयोजनभूत बात में भूल हो, परन्तु प्रयोजनभूत पदार्थ के ज्ञान में भूल नहीं होती। इसकारण उसके ज्ञान को मिथ्या नहीं कहते, किन्तु सम्यक् ही कहते है।

जैसे किसी पुरुष को सुख-दुःख के कारणों को जाननेरूप ज्ञान का उघाड़ है, परन्तु जिसके असाता का उदय हो वह प्रतिकूल कारणों को ही वेदता है और जिसके साता का उदय हो वह अनुकूल कारणों को ही वेदता है।

एक पुरुष के पुत्रादिक हैं व धन का संयोग भी है – इसप्रकार दोनों संयोग हैं, दोनों को जानने का उघाड़ है; परन्तु पुत्र आज्ञा में नहीं चलता हो तो धनादिक होने पर भी पुत्र के प्रतिकूल वर्तन पर लक्ष्य जायेगा। असाता के उदय वाले के प्रतिकूल पदार्थों के ऊपर लक्ष्य जायेगा, अनुकूल पदार्थों पर लक्ष्य नहीं जायेगा। अतः वेदने में निमित्त साता अथवा असाता का उदय है। उसी प्रकार जानने अथवा नहीं जानने में ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है। अभी ज्ञान के उघाड़ में सम्यक् अथवा मिथ्या की बात नहीं है। ज्ञान के उघाड़ के कारण साता और असाता की वस्तुओं को जानता है, परन्तु जिसके असाता का उदय है वह प्रतिकूलता को वेदेगा, उसका लक्ष्य रोग आदि के ऊपर जायेगा, धनादिक पर नहीं जायेगा, वह सुख के कारणभूत पदार्थों को नहीं वेदेगा। यदि वह सुख के कारणभूत पदार्थों को वेदे तो सुखी होवे, परन्तु उसके असाता के उदय से वैसा नहीं बन सकता। तथा साता के उदय के समय अनुकूलता पर लक्ष्य जायेगा, किन्तु रोग आदि के ऊपर लक्ष्य नहीं जायेगा। अतः सुख-दुःख के कारणभूत पदार्थों के वेदने में ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त नहीं है; परन्तु साता-असाता का उदय ही कारणभूत है।

जीव को प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत जानने की शक्ति है, परन्तु जिसके मिथ्यात्व का उदय है उसका लक्ष्य प्रयोजनभूत तत्त्वों पर नहीं जायेगा। चिदानन्द आत्मा से धर्म होता है, नवतत्त्व भिन्न-भिन्न हैं – इत्यादि प्रयोजनभूत बातों पर दृष्टि नहीं जायेगी।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा कुदेवादिक को जानना प्रयोजनभूत है, और उन्हें जानने का उघाड़ तो मिथ्यादृष्टि को भी है; परन्तु उसका लक्ष्य उन पर नहीं जायेगा। अपनी विपरीत रुचि में निमित्तरूप दर्शनमोह के कारण अप्रयोजनभूत ऊपर ही उसका लक्ष्य जायेगा और वह उन्हें ही जानेगा।

जिसको आत्मा का भान है उसका लक्ष्य प्रयोजनभूत तत्त्व के ऊपर ही जायेगा। कदाचित् उसके क्षयोपशम में कोई भूल हो तो भी उसका ज्ञान सम्यक् है। अज्ञानी के उघाड़ होने पर भी मिथ्यारुचि के कारण उसका ज्ञान मिथ्या है। किसी पैसे वाले को रास्ते में कोई शत्रु मिला, उससमय पैसे व शत्रु – दोनों को जानने का उघाड़ है; फिर भी असाता के उदय के कारण शत्रु पर लक्ष्य जायेगा और असाता को वेदेगा। अज्ञानी को प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत – दोनों पदार्थों को जानने का उघाड़ है, तथापि मिथ्यारुचि के कारण उसका लक्ष्य प्रयोजनभूत तत्त्वों पर नहीं जायेगा और अप्रयोजनभूत पर ही लक्ष्य जायेगा।

सिद्ध समान आत्मा का अंशत: अनुभव होना धर्म है। आनन्दकन्द प्रभु की निर्विकारी शान्ति को धर्म कहते हैं। द्रव्यलिंगी साधु होने पर भी जीव को धर्म प्रगट नहीं हुआ, कारण कि उसका लक्ष्य अप्रयोजनभूत पर जाता है। मिथ्याश्रद्धा के कारण उसका लक्ष्य अप्रयोजनभूत पर जाता है। वह दया, दान, भक्ति आदि के शुभभावों में ही एकान्तत: रुक जाता है; परन्तु नवतत्त्व पृथक्-पृथक् हैं – ऐसी प्रयोजनभूत बात के ऊपर उसका लक्ष्य नहीं जाता।

जिसको मिथ्यात्व की शल्य है अर्थात् जिसकी श्रद्धा विपरीत है, उसका लक्ष्य – दान करूँ, दया पालूँ इत्यादि विकल्पों पर जाता है; राग की मंदता करने पर ही लक्ष्य जाता है। राग की मंदता करना अप्रयोजनभूत है, परन्तु वह प्रयोजनभूत राग रहित चिदानन्द स्वभाव को नहीं साधता। मान पोषण में रुक जाता है। परन्तु जितनी रागादिक की वृत्ति उठती है वह सब विकार है। मेरा तत्त्व अबंध है – ऐसी वृत्ति करने के लिये निवृत्त नहीं होता। मेरा द्रव्य स्वभाव ज्ञानस्वरूप है, उसके अवलम्बन से सम्यक् पर्याय प्रगट होती है – ऐसी प्रयोजनभूत बात को वह (अज्ञानी) नहीं पकड़ता। मिथ्यादृष्टि को प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत – दोनों पदार्थों को जानने का उघाड़ है, परन्तु उसका लक्ष्य प्रयोजनभूत को जानने में नहीं जायेगा, उसमें दर्शनमोह कारण है। उघाड़ तो उघाड़ है परन्तु मिथ्याश्रद्धा के कारण उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

ज्ञानी को प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत तत्त्व – दोनों को जानने का उघाड़ है, फिर भी मिथ्यात्व के अभाव के कारण उसका लक्ष्य प्रयोजनभूत को जानने में जाता है। अज्ञानी कदाचित् व्यवहार (धर्म) धारण करे परन्तु अन्तर्मुख दृष्टि नहीं करता, इसकारण वह अप्रयोजनभूत को ही जानता है। अन्तर परमात्मा में से वीतरागता प्रगट होती है, शक्तिरूप परमात्मा की प्रतीति और अनुभव करने से धर्म होता है। वह अपने ऐसे परमात्मा की रुचि नहीं करता, इसलिये उसके ज्ञान को मिथ्या कहते हैं। यदि वह जीव, जीव-अजीव आदि तत्त्वों को व देव-शास्त्र-गुरु आदि को यथार्थरूप से जाने तो सम्यग्ज्ञान हो जाये। परन्तु विपरीत श्रद्धा के कारण व निमित्तरूप दर्शनमोह के कारण ऐसा नहीं बनता। वास्तविक तत्त्व क्या है ? इस पर जिसकी रुचि नहीं जाती, वह भले ही शास्त्र की बातें करे, परन्तु प्रयोजनभूत बात पर लक्ष्य नहीं करता। अत: वहाँ प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत पदार्थों को जानने में ज्ञानावरण का निमित्त नहीं है।

ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के कारण ज्ञान का उघाड़ होता है, परन्तु उसके कारण मिथ्याज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान नहीं है। अत: प्रयोजनभूत पदार्थों को न जानने अथवा जानने के साथ मिथ्याज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध जानना। इसप्रकार आत्मा में जो मिथ्याज्ञान होता है उसका निमित्त कारण कौन है ? मिथ्याज्ञान में ज्ञानावरणीय को निमित्त न कहकर मिथ्यात्व को निमित्त क्यों कहा ? इसका उत्तर दिया कि – जीव को ज्ञान का क्षयोपशम तो है परन्तु वह विपरीत मान्यता के कारण तत्त्वों का निर्णय नहीं करता, देव-गुरु आदि की परीक्षा नहीं करता – उसमें मिथ्यात्व निमित्त कारण है।

जीव को अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, उन्हें जानने का ज्ञान का उघाड़ है, परन्तु असाता के उदय में अनुकूल सामग्री पर लक्ष्य नहीं जाकर प्रतिकूल सामग्री पर लक्ष्य जाता है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि का लक्ष्य प्रयोजनभूत पदार्थों पर नहीं जाकर अप्रयोजनभूत पदार्थों पर जाता है। दुकानें चलती हो, लाखों रुपयों की कमाई हो, रोग हो, स्त्री-पुत्रादिक हो – इन सबको जानने की संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की योग्यता होती है; परन्तु असाता का उदय हो तो उसका लक्ष्य प्रतिकूलता पर जाता है, अन्य अनुकूलता पड़ी होने पर भी उस पर लक्ष्य नहीं जाता। उसीप्रकार ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से मिथ्यादृष्टि ने ग्यारह अंग नव पूर्व पढ़ा होने पर भी प्रयोजनभूत तत्त्व का ज्ञान नहीं किया – उसका कारण क्या ? अपनी मिथ्यारुचि के कारण वह सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता। राग मंद करके उघाड़ लेकर आया है अथवा वर्तमान में राग मंद करके उघाड़ होता है, परन्तु मिथ्यारुचि के कारण देव-शास्त्र-गुरु की रुचि नहीं होती, मिथ्यादेव शास्त्र-गुरु की ओर ही लक्ष्य जाता है तथा मिथ्यारुचि के कारण उसे विपरीत कुतर्क सूझते हैं।

प्रयोजनभूत पदार्थ किसे कहते है ? इस संदर्भ में इसी शास्त्र में सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में निम्न प्रकार कहा है –

मोक्षमार्ग में देव-गुरु धर्मादिक, जीवादि तत्त्व तथा बंध – मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत है। अत: उनकी तो परीक्षा अवश्य करना। और जिन शास्त्रों में वे सच्चे कहे हों, उनकी सर्व आज्ञा माननी तथा जिसमें वे अन्यथा कहे हों उनकी आज्ञा नहीं माननी। जैसे लोक में जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्यों में झूठ नहीं बोलता, वह प्रयोजन रहित कार्यों में झूठ क्यों बोलेगा? उसीप्रकार जिन शास्त्रों में प्रयोजनभूत देवादिक का स्वरूप अन्यथा नहीं कहा, उनमें प्रयोजन रहित द्वीप-समुद्रादि का स्वरूप अन्यथा किसकारण होगा ? क्योंकि देवादिक का कथन अन्यथा करने में तो वक्ता के विषय-कषाय का पोषण होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करे तो विषय-कषाय का पोषण नहीं होता। अज्ञानी जीव को उघाड़ होने पर भी वह सच्चे देवादिक के स्वरूप का निर्णय नहीं कर सकता। हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है। वहाँ जीवादिक तत्त्वों को पहिचानना, त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादिक तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शन आदि का स्वरूप पहिचानना – इत्यादि जिनके जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो उन्हें अवश्य जानना। सो उनकी तो परीक्षा करना। सामान्य हेतु से उनको जानना, प्रमाण नयों द्वारा जानना।

इसप्रकार प्रयोजनभूत तत्त्व कहे।

प्रयोजनभूत तत्त्वों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है ? यह जानना चाहिये। आत्मा विकार करे तो कर्म को निमित्त कहते हैं – इत्यादि निर्णय जीव मिथ्यात्व के कारण नहीं करता। कितने ही लोग तो कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अथवा देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करना व्यर्थ है, तो जानना चाहिये कि उन्हें मिथ्यात्व की रुचि है। अज्ञानी यथार्थ निर्णय नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है – ऐसी प्रयोजनभूत बात का जो निर्णय नहीं करता, उसको धर्म नहीं होता।

....यहाँ ऐसा जानना कि – जहाँ एकेन्द्रियादि जीवों के यथार्थ जानने की शक्ति नहीं है वहाँ तो ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है और मिथ्यारुचि के कारण मिथ्यात्व का उदय निमित्त है। इस प्रकार उनके मिथ्याज्ञान में दोनों का उदय निमित्त है। तथा जहाँ संज्ञी मनुष्यादिक में क्षयोपशमादि लब्धि होने से शक्ति हो और न जाने, वहाँ मिथ्यात्व के उदय का ही निमित्त जानना।

इसलिये मिथ्याज्ञान का मुख्य कारण ज्ञानावरण को नहीं कहा, मोह के उदय से हुआ भाव वही कारण कहा है।....

संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यादिक को उघाड़ है, वास्तविक तत्त्व जानने का उघाड़ है, परन्तु प्रयोजनभूत बात को नहीं पकड़ते। जैसे – आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, राग विकार है और आत्मा राग रहित शुद्ध है, अशुद्धता पर्याय में है और गुण की (स्वभाव की) दृष्टि करने से अशुद्धता मिटती है। गुण अशुद्ध नहीं अपितु शुद्ध है और पर्याय अशुद्ध है। अत: अशुद्ध की दृष्टि छोड़कर शुद्ध की दृष्टि करना प्रयोजनभूत है। अज्ञानी को उघाड़ होने पर भी वह इसका निर्णय नहीं करता। पर्याय में अशुद्धता है ऐसा ज्ञान करके आत्मा में आत्मा के आश्रय से शुद्धता प्रगट करना प्रयोजनभूत है – ऐसी श्रद्धा अज्ञानी नहीं करता। गुणदृष्टि किये बिना अर्थात् अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना दोषों का मिटना संभव नहीं है। अत: स्वभाव दृष्टि करना चाहिए। जो प्रयोजनभूत गुण दृष्टि करके सर्वज्ञ हुये हैं उन्हें तथा जो स्वरूप को साध रहे हैं ऐसे मुनियों को, तथा वैसा ही कहने वाले अनेकान्त शास्त्र को प्रयोजनभूत समझना चाहिये। परन्तु अज्ञानी को ऐसा ख्याल नहीं आता।

जो दोष टालने हैं वह दोष कहाँ हैं ? शरीर में हैं अथवा कर्म में हैं ? नहीं। द्रव्य-गुण में दोष हैं ? नहीं। यदि दोष गुण में हो तो उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। जो दोष टालना चाहते हैं वह दोष पर्याय में हैं, परन्तु पर्याय के सामने देखने से दोषों का अभाव नहीं होगा। गुण से परिपूर्ण द्रव्य के सन्मुख देखने से ही दोष मिटते हैं। इसीप्रकार अनन्त जीवों ने सर्वज्ञपना प्रगट किया है और मुनिराज सर्वज्ञपने को साध रहे हैं। इस बात का निर्णय करना चाहिये।

अज्ञानी में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा करने की शक्ति है। वह नये तर्क भी कर सकता है। उसे उघाड़ होने पर भी वह सच्चे तत्त्व का निर्णय नहीं करता; अत: उसके ज्ञान में मिथ्यात्व को निमित्तरूप जानना। मुख्य कारण ज्ञानावरणीय को न कहकर मिथ्याज्ञान का कारण दर्शनमोह जनित विपरीत श्रद्धा ही है। – ऐसा कहा है

निश्चय की अलौकिक बात बाहर आई तो कितने ही लोग हमारे क्रमबद्ध में अशुभराग की पर्याय होनी है अत: होती है – ऐसा मानकर स्वच्छन्दता का सेवन करते हैं। उन्हें सत्समागम के व्यवहार का उत्साह भी नहीं रहा। स्वभाव की दृष्टि हुए बिना राग के काल में राग आता है – ऐसा कहने वाला स्वच्छन्दता का सेवन करता है। क्रमबद्धपर्याय वाले की दृष्टि ज्ञानस्वभाव पर है, अन्य पर दृष्टि नहीं है। कितने ही क्रमबद्धपर्याय को एकान्त नियत कहते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।

क्रमबद्धपर्याय की बात करें तब कोई कहता है कि – "हमें स्वाध्याय का विकल्प आने के काल में आयेगा" – ऐसा कहकर उल्टे दिग्मूढ़ होता है, अपनी स्वच्छन्दता का पोषण करना

चाहता है। तथा कोई कहे कि देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय जब होना होगा तभी होगा, वह भी मूढ़ है। अरे ! तुझे आत्मा का निर्णय हुआ हो तो देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय होना ही चाहिये।

''अनुभवप्रकाश'' में कहते हैं कि ''तेरे हरामजादीपने ने भव खड़ा किया है।'' तू चैतन्य तत्त्व को नहीं पहिचानकर विपरीत मार्ग पर दौड़ गया है। राग के काल में राग आयेगा – ऐसा कहने वाले का लक्ष्य कहाँ है ? इस कथन की अपेक्षा क्या है ? इसका सही निर्णय करना चाहिये। पहले व्यवहार से स्वाध्याय का उत्साह था सो क्रमबद्ध के बहाने स्वच्छन्दता के सेवन से वह उत्साह भी चला गया।

तथा कोई कहता है कि ''समयसार बहुत ऊँचा ग्रन्थ है, अत: अभी नहीं पढ़ना'' – वह भी मूढ़ है।

अज्ञानी को पर्याय में अशुद्धता किस प्रकार की है, उसका पता नहीं है। जो ऐसा मानता है कि – अशुद्धता से अशुद्धता मिटेगी, उसे तत्त्व का पता नहीं है। तथा उघाड़ होवे और गुणदृष्टि करे तो, गुणी कैसी पर्याय वाला होता है, सर्वज्ञदेव और निर्ग्रन्थगुरु कैसे होते है ? – वह उसके ख्याल में आ जाता है; परन्तु अज्ञानी जीव अप्रयोजनभूत बातों में अटक जाता है। अन्य को समझाने में अटक जाता है। अन्य समझे या न समझे, वह उनकी पर्याय के आधीन है। दुनिया समझे या नहीं समझे – इस पर लक्ष्य करने योग्य नहीं है, कारण कि वह अप्रयोजनभूत है।

देव-शास्त्र-गुरु क्या कहते हैं, वह जानना प्रयोजनभूत है और पर्याय की अशुद्धता गुणदृष्टि से (स्वभाव दृष्टि से) नष्ट होती है – ऐसा ख्याल में लेना प्रयोजनभूत है। पुस्तक बनाने में अटकना, अन्य को समझाने में अटकना – यह सब अप्रयोजनभूत है।

एकेन्द्रिय आदि असंज्ञियों को आत्मा का निर्णय करने का उघाड़ नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय को उघाड़ होने पर भी यदि वह सच्चा निर्णय करने में नहीं लगता तो उसके मिथ्याज्ञान में मिथ्यारुचि निमित्त है। मलिनभाव की प्रतीति से मलिनभाव नहीं मिटता। मलिनभाव का अभाव निर्मल प्रभु भगवान आत्मा के आश्रय से ही होता है – ऐसा निर्णय नहीं करता, किन्तु अन्य अप्रयोजनभूत बातों में अटक जाता है।

जैसे एक जीव के एक जवाहरात की दुकान है और दूसरी अनाज की दुकान है। अनाज की दुकान पर विशेष ध्यान देने से जवाहरात की दुकान में नुकसान होने लगा, तो वह जवाहरात की दुकान का नुकसान अनाज की दुकान से पूरा हो जाने योग्य नहीं है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव व्यवहार क्रियाकाण्ड में बहुत ध्यान रखता है, परन्तु प्रयोजनभूत बात का ख्याल नहीं करता; इससे उसे नुकसान होता है अर्थात् मिथ्यात्व होता है और धर्मी जीव आत्मा के तत्त्व

का निर्णय करने में पुरुषार्थ करता है। मिथ्यादृष्टि आत्मा का निर्णय करने की मेहनत नहीं करता, विकार और स्वभाव के बीच भेदज्ञान नहीं करता, उसका कारण उसका मिथ्याभाव है, उसमें ज्ञानावरणीय कारण नहीं है। शरीर व कर्म लाभ अथवा नुकसान नहीं करते। दया, दानादि भाव मलिन हैं। उन्हें मिटाने का उपाय गुणदृष्टि अथवा स्वभावदृष्टि है – वह निर्णय अज्ञानी नहीं करता। भले ही वह शास्त्र पढ़ता है परन्तु मिथ्यारुचि के कारण पुण्य-पाप के भावों में अटक गया है; परन्तु पुण्य-पाप रहित आत्मा के निर्णय करने में उपयोग नहीं लगाता, जो कि आत्मा को जवाहरात के लाभ से भी अधिक अनुपम लाभकारी है।

शुद्ध आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है, उसे अज्ञानी नहीं मानता। मिथ्यारुचि के कारण उल्टा निर्णय करता है। अतः उसके मिथ्याज्ञान में मिथ्यारुचि निमित्त है।

....प्रश्न – यदि ज्ञान होने के बाद श्रद्धान होता है तो पहले मिथ्याज्ञान कहो और बाद में मिथ्यादर्शन कहो ?

उत्तर – है तो इसी प्रकार, क्योंकि जाने बिना श्रद्धान नहीं होता; परन्तु ज्ञान में मिथ्या संज्ञा मिथ्यादर्शन के निमित्त से और सम्यक् संज्ञा सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। जैसे – मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान हैं; परन्तु वही जानना मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसीप्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन कारण जानना।

इसलिये जहाँ सामान्यतया ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ तो ज्ञान कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है, उसे बाद में कहना। तथा जहाँ मिथ्यासम्यक् ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ श्रद्धान कारणभूत है, उसे पहले कहना और ज्ञान कार्यभूत है उसे बाद में कहना।....

आत्मा का प्रगट ज्ञान आत्मसन्मुख झुके तो वह सम्यक् कहलाता है और पर से मुझे हानि है, विकार से मुझे लाभ होता है – ऐसा जानकर जो ज्ञान परसन्मुख झुकता है, वह ज्ञान मिथ्या है। इसप्रकार मिथ्याश्रद्धा के कारण मिथ्याज्ञान कहलाता है और सम्यक्श्रद्धा के कारण सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

ज्ञानी विचारता है कि – अहो ! मैं आत्मा हूँ। जैसे अशरीरी सिद्ध हैं वैसा ही मैं हूँ। पर्याय में दोष है परन्तु वह क्षणिक है और आत्मा ज्ञानस्वभावी निर्दोष है – ऐसा भान करके सम्यक् ज्ञान पाता है।

जिसे स्वभाव, शरीर और विकार के बीच भेदज्ञान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही सुवर्ण को सुवर्ण कहें, हीरा को हीरा कहें, ज्वार-बाजरे की परीक्षा करे; इससे कोई अज्ञानी या सम्यग्ज्ञानी नहीं हो जाता। मिथ्यादृष्टि भी संसार का ज्ञान करे, परन्तु वह ज्ञान सम्यक् नहीं है। तथा अज्ञानी सोने को सोना कहे तो भी उसका ज्ञान मिथ्या है; क्योंकि "सोना मेरा है, मैं उसे ला सकता हूँ और उससे मुझे लाभ है" – ऐसा वह मानता है, इसकारण उसका ज्ञान मिथ्या है। जिसको जड़ पदार्थों की स्वतन्त्रता का ज्ञान नहीं है उसका ज्ञान मिथ्या है। और ज्ञानी को पता है कि हीरा जड़ है, हीरे की क्रिया उससे होती है, मेरे से नहीं होती; मुझे किंचित् राग होता है वह दोष है, वह दोष स्वभाव में नहीं है – इसप्रकार निर्दोष स्वभाव का ज्ञान होने से उसका ज्ञान सम्यक् है। मिथ्यामान्यता के कारण मिथ्यादृष्टि का सांसारिक ज्ञान भी मिथ्यात्व रहित नहीं है। और समकिती युद्ध में हो उस समय भी उसे आत्मा का भान है। वह जानता है कि लड़ाई की क्रिया जड़ की है और मुझे किंचित् द्वेष हुआ है परन्तु स्वभाव में द्वेष नहीं है – इसप्रकार आत्मा का भान होने से उसका ज्ञान सम्यक् है।

इसप्रकार मिथ्याज्ञान का कारण मिथ्यादर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन जानना।

इसकारण जहाँ सामान्यपने ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ ज्ञान कारणभूत है। सामान्य रीति से अर्थात् "जाने बिना श्रद्धान नहीं होता" – इस अपेक्षा से ज्ञान कारण है, अत: उसे पहले कहना और श्रद्धान कार्य है अत: उसे बाद में कहना। परन्तु जहाँ मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का निरुपण हो, वहाँ श्रद्धान कारणभूत है, अत: श्रद्धान पहले कहना और ज्ञान कार्यभूत है, अत: ज्ञान बाद में कहना।

किसी समकिती को संसार का ज्ञान अल्प हो, परन्तु आत्मा का ज्ञान होने से उसका ज्ञान सम्यक् है। पर्याय में दोष है, उसे मिटाने का उपाय अन्तर्मुख दृष्टि है – उसे नहीं मानकर बाहर की क्रिया को उपाय मानना, वह मिथ्याज्ञान है।

सर्वज्ञदेव कथित आत्मा ज्ञानानन्द मूर्ति है। जो विकार होता है वह बंधन है – ऐसा ज्ञान नहीं होने से अज्ञानी का समस्त ज्ञान मिथ्या कहा जाता है।

....फिर प्रश्न है कि – ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् होते हैं, उनमें कारण-कार्यपना कैसे कहते हो ?....

आत्मा में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एकसाथ होते

हैं, आगे-पीछे नहीं होते, तब फिर मिथ्यादर्शन कारण और मिथ्याज्ञान कार्य कैसे ? जब ज्ञान श्रद्धान युगपत् है तो उनमें कार्य-कारणपना कैसे संभव है ?

....समाधान – वह हो तो वह हो – इस अपेक्षा कारणकार्यपना होता है। जैसे – दीपक और प्रकाश युगपत् होते हैं; तथापि दीपक हो तो प्रकाश हो, इसलिये दीपक कारण है प्रकाश कार्य है। उसीप्रकार ज्ञान-श्रद्धान के है। अर्थात् मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान के व सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के कारण-कार्यपना जानना।....

जैसे दीपक और प्रकाश एकसाथ हैं, फिर भी दीपक कारण और प्रकाश कार्य है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है; शरीर, कर्म अजीव हैं – ऐसी श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन दीपक है और सम्यग्ज्ञान प्रकाश है – दोनों एक ही समय में हैं। सच्ची प्रतीति होने पर ज्ञान खिलता है। पुण्य-पाप दु:खदायक है, आत्मा सुखदायक है; सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इसप्रकार युगपत् होने पर भी उनमें कारण-कार्यपना संभव है।

आशय यह है कि जहाँ सम्यग्दर्शन हो वहाँ सम्यग्ज्ञान हो ही तथा जहाँ मिथ्यादर्शन हो वहाँ मिथ्याज्ञान हो ही – इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना होता है। जैसे दीपक और प्रकाश एकसाथ हैं। दीपक होवे और प्रकाश न हो – ऐसा संभव नहीं है, दोनों युगपत् हैं। अत: दीपक कारण और प्रकाश कार्य है – यह दृष्टान्त है। उसीप्रकार जहाँ मिथ्याश्रद्धा है वहाँ मिथ्याज्ञान है, अत: मिथ्याश्रद्धा कारण और मिथ्याज्ञान कार्य है। तथा जहाँ सम्यक्श्रद्धा है वहाँ सम्यग्ज्ञान है – अत: सम्यक्श्रद्धा कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। इसप्रकार कारण-कार्यपना समझना चाहिये।

....फिर प्रश्न है कि – मिथ्यादर्शन के संयोग से ही मिथ्याज्ञान नाम पाता है, तो एक मिथ्यादर्शन को ही संसार का कारण कहना था, मिथ्याज्ञान को अलग किसलिये कहा ?....

यदि मिथ्यादर्शन कारण और मिथ्याज्ञान कार्य है और मिथ्यादर्शन के कारण ही मिथ्याज्ञान है तो मिथ्यादर्शन को ही संसार का कारण कहना चाहिये; परन्तु यहाँ मिथ्याज्ञान को अलग किसलिये कहते हो ? भोजन में जहर मिला हो तो उसमें जहर को जहर कहो, परन्तु सारे भोजन को जहर किसलिये कहते हो ?

....समाधान – ज्ञान ही की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशम से हुए यथार्थ ज्ञान में कुछ विशेष नहीं है तथा वह ज्ञान केवलज्ञान में भी जा मिलता है, जैसे नदी समुद्र में मिलती है। इसलिये ज्ञान में कुछ दोष नहीं है। परन्तु क्षयोपशम ज्ञान जहाँ लगता है वहाँ एक ज्ञेय में लगता है; और इस मिथ्यादर्शन के निमित्त से वह ज्ञान अन्य ज्ञेयों में तो लगता है, परन्तु

प्रयोजनभूत जीवादिकतत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने में नहीं लगता। सो यह ज्ञान में दोष हुआ; अत: इसे मिथ्याज्ञान कहा। तथा जीवादिकतत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता सो यह श्रद्धान में दोष हुआ; इसे मिथ्यादर्शन कहा। ऐसे लक्षणभेद से मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान को भिन्न कहा।

इसप्रकार मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहा। इसी को तत्त्वज्ञान के अभाव से अज्ञान कहते हैं और अपना प्रयोजन नहीं साधता इसलिये इसी को कुज्ञान कहते हैं।....

ज्ञान के उघाड़ की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, दोनों का क्षयोपशमज्ञान स्वभाव का अंश है। वह अंश केवलज्ञान का कारण है, वह ज्ञान केवलज्ञान में जा मिलता है। अभव्य का प्रगट ज्ञान भी स्वभाव का अंश है। दूसरे अधिकार के नवीन बंध विचार प्रकरण में कहा है कि – "इन कर्मों के क्षयोपशम से जितना ज्ञान, दर्शन, वीर्य स्वभाव प्रगट है वह जीव के स्वभाव का ही अंश है, कर्मोदय जन्य औदयिक भाव नहीं...।"

तथा और भी कहा है कि – "ज्ञानगुण की शुद्धता से ज्ञानगुण निर्मल होता है तथा चारित्र गुण की शुद्धता से चारित्रगुण निर्मल होता है और वह केवलज्ञान का तथा यथाख्यात चारित्र का अंश है।"[१]

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी केवलज्ञान का अंश है, वह ज्ञान केवलज्ञान में जा मिलता है। जैसे नदी समुद्र में जा मिलती है, उसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु छद्मस्थ के ज्ञान का उघाड़ एक ज्ञेय में ही लगता है। एक ज्ञेय से आशय परज्ञेय एक ही हो – यह नहीं है किन्तु या तो पर में लगे या स्व में लगे – ऐसा आशय है। मिथ्यादर्शन के कारण प्रगटरूप ज्ञान अप्रयोजनभूत में लगता है, परन्तु प्रयोजनभूत तत्त्व – देव-शास्त्र-गुरु आदि के निर्णय में नहीं लगता। मेरे परिणाम क्या ? गुण क्या ? देव-गुरु कैसे परिणाम के धारक होते हैं ? किस परिणाम को धर्म अथवा अधर्म कहते हैं ?

– इन प्रयोजनभूत बातों पर विपरीत रुचि के कारण लक्ष्य नहीं जाता। मिथ्याज्ञान में मिथ्यादर्शन निमित्त है। परन्तु ज्ञान के उघाड़ का दोष यह है कि वह प्रयोजनभूत विषयों का निर्णय नहीं करता, अत: उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहने में आता है। इसकारण मिथ्याज्ञान संसार का कारण है। एक गुण की पर्याय को अन्य गुण की पर्याय उपादान कारण नहीं होती, अपितु निमित्त कारण होती है। ज्ञान अपने कारण से (स्वयं स्वत:) स्वसन्मुख होवे उसमें ज्ञान पर्याय उपादान कारण है और सम्यग्दर्शन पर्याय ज्ञान के लिये निमित्त कारण है। इसीप्रकार

---

१. निमित्त-उपादान की चिट्ठी – कविवर पं. बनारसीदास

ज्ञान अपने कारण से परसन्मुख होवे तो उस मिथ्याज्ञान का उपादान कारण ज्ञान स्वयं है और मिथ्यादर्शन पर्याय उसमें निमित्त है।

मिथ्याज्ञान परज्ञेय को विषय करता है, अत: उसे बंध का मार्ग कहा है। जैसे 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि' में ज्ञान को मोक्षमार्ग का कारण कहा है, वैसे ही मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र में मिथ्याज्ञान भी बंध का कारण है। जहाँ जिस अपेक्षा से जैसा कहा हो वहाँ वह अपेक्षा सही प्रकार से समझना चाहिये। मिथ्याज्ञान में मिथ्यादर्शन निमित्त है और उसके निमित्त से ज्ञान पर में अटका तथा उसने प्रयोजनभूत तत्त्वों को नहीं जाना – वह ज्ञान का दोष है – इसकारण उसे बंध का कारण कहा है।

मिथ्यादर्शन के निमित्त से ज्ञान परज्ञेयों में लगता है, संसार के कार्यों में लगता है; परन्तु जो नव तत्त्व प्रयोजनभूत हैं उसमें नहीं लगता, वह ज्ञान का दोष है। यदि ज्ञान का अपना दोष नहीं हो तो मिथ्यादर्शन का निमित्तपना भी उसमें संभव नहीं है। जीव शुद्ध है, उसका निर्णय करने में तो ज्ञान नहीं लगता और अन्य कार्यों में रुकता है, वह ज्ञान का दोष है। ज्ञान संस्कृत, व्याकरण आदि जानने में रुकता है, परन्तु वास्तविक तत्त्व का ज्ञान नहीं करता, इसे ही मिथ्याज्ञान कहते हैं।

जीवादि प्रयोजनभूत नवतत्त्व, देव-शास्त्र-गुरु आदि के स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा नहीं करे, वह श्रद्धा का दोष है – अत: उसे मिथ्यादर्शन कहा। इसप्रकार लक्षण भेद से मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान जुदे-जुदे कहे हैं।

इसप्रकार मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहा।

तथा मिथ्याज्ञानी के तत्त्वज्ञान का अभाव है। इसलिये अभाव की अपेक्षा से मिथ्याज्ञान को अज्ञान कहते हैं। तथा अपना प्रयोजन नहीं साधता – इस अपेक्षा से उसे कुज्ञान कहते हें। इसप्रकार –

(१) ज्ञान स्व को विषय नहीं करता तथा प्रयोजनभूत तत्त्वों का ज्ञान नहीं करता, इसलिये उसे 'मिथ्याज्ञान' कहते हैं।

(२) तत्त्वज्ञान का अभाव होने से उसे 'अज्ञान' कहते हैं।

(३) मैं शान्त स्वभावी हूँ, विकार दु:खदायक हैं, अपने आश्रय से ही शान्ति है – इस प्रकार अपना प्रयोजन साधकर कल्याण नहीं साधता – इसकारण उसे 'कुज्ञान' कहते हैं।

इसप्रकार मिथ्याज्ञान का स्वरूप वर्णन किया।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप

....अब मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहते हैं – चारित्रमोह के उदय से जो कषायभाव होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र है। यहाँ अपने स्वभावरूप प्रवृत्ति नहीं है, झूठी पर-स्वभावरूप प्रवृत्ति करना चाहता है। सो बनती नहीं है; इसलिये इसका नाम मिथ्याचारित्र है।....

अब मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहते हैं। चारित्रमोह के उदय से अर्थात् उसमें जुड़ने से जो कषायभाव होता हैं उसका नाम मिथ्याचारित्र है।

जितना पुण्य-पाप का भाव होता है, वह मिथ्याचारित्र है वह दु:ख का कारण है। आत्मा पुण्य-पाप से रहित है, उसकी श्रद्धा करके लीनता करे तो सुखी होवे। परन्तु यह विपरीत श्रद्धा करके राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति करता है और अपने स्वरूपरूप प्रवृत्ति नहीं करता; किन्तु हम राग से सुखी हैं, पुण्य से सुखी हैं – ऐसी झूठी परभावरूप प्रवृत्ति करना चाहता है। अर्थात् शुभाशुभ परिणाम सुख के कारण हैं – ऐसी प्रवृत्ति करना चाहता है, परन्तु वैसा बनता नहीं इससे उसका नाम मिथ्याचारित्र है। वही यहाँ कहते हैं।

....वही बतलाते हैं – अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है, सो स्वयं केवल देखनेवाला, जाननेवाला तो रहता नहीं है। जिन पदार्थों को देखता-जानता है। उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है, इसलिये रागी-द्वेषी होकर किसी का सद्भाव चाहता है, किसी का अभाव चाहता है। परन्तु उनका सद्भाव या अभाव इसका किया हुआ होता नहीं, क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता है नहीं, सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं; यह वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता हैं....

आत्मा का स्वभाव तो देखना-जानना है। परन्तु यह केवल देखने जानने वाला नहीं रहता। जिन पदार्थों को देखता-जानता है, वे पदार्थ ज्ञेय होने पर भी यह उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है – इसकारण राग-द्वेष होते हैं। यह मिथ्यादर्शन सहित के विपरीत चारित्र की बात है। वह बंध का कारण है। यह शरीर अनुकूल रहे तो ठीक, पैसा, मकानादि अनुकूल रहे तो ठीक, इत्यादि प्रकार मानता है। परन्तु वे सब तो जगत की वस्तुयें हैं, वे आत्मा के आधीन नहीं हैं। निरोगता होवे तो धर्म हो ऐसा मानना भ्रान्ति है। शरीर में रोग आने से आत्मा को रोग नहीं आता।

इसप्रकार अज्ञानी जीव किसी का सद्भाव करना चाहता है और किसी का अभाव करना चाहता है। यह वस्तु खराब आई है, ये संयोग प्रतिकूल हैं – ऐसा मानकर उनका अभाव चाहता है। तथा अनुकूल परपदार्थों का सद्भाव चाहता है, जैसे कि जबतक मैं जीऊँ तबतक इतने

पैसे रहें तो ठीक, जीवन पर्यन्त प्रतिष्ठा रहे तो ठीक – ऐसा मानता है। तथा ऐसा मानता है कि – क्षय के रोग से मरूँ तो ठीक, क्योंकि उसमें बहुत घबराहट नहीं होती। जड़ की पर्याय जीव के आधीन नहीं है, फिर भी जो अमुक प्रकार की शरीर की पर्याय को चाहता है – वह जीव मूढ़ है। व्यर्थ ही राग करता है। हैजे में बहुत पीड़ा होती है, उल्टी-दस्त होते हैं – वैसे रोग अज्ञानी नहीं चाहता, अपितु उनका अभाव चाहता है। शरीर तो पर है; अत: आत्मा का विचार कर ! शरीर की जो-जो अवस्थायें होती हैं, उन्हें जानने-देखने का आत्मा का स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी ऐसी अवस्था हो तो ठीक और ऐसी अवस्था हो तो ठीक नहीं – ऐसा मानकर राग-द्वेष किया करता है। बीमारी के समय भी अमुक सामग्री का सद्भाव चाहता है, सेवा-चाकरी करने वाले हों तो ठीक, सुविधाओं का सद्भाव व असुविधाओं का अभाव चाहता है। परन्तु स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है, उसका भान नहीं करता। तथा कोई जीव कहता है कि बिच्छू की अपेक्षा सर्प के डसने से मृत्यु हो तो ठीक, क्योंकि सर्प के डँसने से विशेष दु:ख नहीं होता। शरीर ठीक हो तो आत्मा का ध्यान कर सकता हूँ – ऐसा मानना, वह सब अज्ञानभाव है।

अज्ञानी बाह्य संयोगों को चाहता है और उन्हें रखना चाहता है। आँखें सही हों तो भगवान के दर्शन होवें – इसप्रकार पर-पदार्थों की भावना भाता है। अनुकूलता का सद्भाव और प्रतिकूलता का अभाव चाहता है; परन्तु इस जीव के करने से किसी का सद्भाव अथवा अभाव होता ही नहीं। क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता है ही नहीं। मात्र यह जीव व्यर्थ ही कषायभाव करके आकुलित होता है।

मेरी मौजूदगी में व्यापार-धंधा ठीक चले और 'बंद मुट्ठी लाख की' रहे तो ठीक – ऐसा मानता है। वस्तुत: अपने भाव के अनुसार पर में कार्य नहीं होता। पर-पदार्थों का रहना या नहीं रहना आत्मा के आधीन नहीं है। तथा कोई कहता है कि – पुत्र नहीं है तो ठीक है, तो कोई पुत्र होने को ठीक मानता है। परन्तु पर-वस्तु का सद्भाव या अभाव चाहना मिथ्या कषाय है, अज्ञानभाव है।

....तथा कदाचित् जैसा यह चाहे वैसा ही पदार्थ परिणमित हो तो वह अपने परिणमाने से तो परिणमित हुआ नहीं है। जैसे गाड़ी चलती है और बालक उसे धक्का देकर ऐसा माने कि मैं इसे चला रहा हूँ तो वह असत्य मानता है; यदि उसके चलाने से चलती हो तो जब वह नहीं चलती तब क्यों नहीं चलाता ? उसीप्रकार पदार्थ परिणमित होते हैं और यह जीव उनका अनुसरण करके ऐसा मानता है कि इनको मैं ऐसा परिणमित कर रहा हूँ परन्तु वह असत्य मानता है; यदि उसके परिणमाने से परिणमित होते हैं तो वे वैसे परिणमित नहीं होते तब क्यों नहीं परिणमाता ? सो जैसा स्वयं चाहता है वैसा तो पदार्थ का परिणमन कदाचित् ऐसे ही बन जाय तब होता है।

बहुत परिणमन तो जिन्हें स्वयं नहीं चाहता वैसे ही होते देखे जाते हैं। इसलिए यह निश्चय है कि अपने करने से किसी का सद्भाव या अभाव होता नहीं।....

कदाचित् कोई पदार्थ इच्छानुसार परिणमित होवे तो भी वह पदार्थ आत्मा की इच्छा के कारण से परिणमित नहीं हुआ है।

जैसे बालक चलती हुई गाड़ी को धक्का देकर ऐसा मानता है कि मैं गाड़ी को चलाता हूँ, इसप्रकार वह असत्य मानता है। यदि वह गाड़ी उसके चलाने से चलती हो तो जब वह नहीं चलती तब क्यों नहीं चलाता ? उसीप्रकार वस्तु तो उसके स्वयं के कारण परिणमती है, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मेरी इच्छा से यह वस्तु परिणमित हुई।

लड़का अपने परिणामों के अनुसार परिणमता है, पिता के परिणामों के अनुसार नहीं परिणमता; वैसे ही जगत के पदार्थ स्वयं के कारण परिणमते होने पर भी, वे मेरी इच्छा से परिणमित होते हैं – ऐसा अज्ञानी मानता है। जगत में आत्मा (निज आत्मा) एक है और पदार्थ अनन्त हैं। वे अनन्त पदार्थ अपनी-अपनी अवस्थारूप परिणमित हो जावें तो अज्ञानी मान लेता है कि मेरे से परिणमन हुआ – ऐसा मानना वस्तुत: भ्रान्ति है। इसप्रकार अज्ञानी जीव असत्य मानता है इसलिये राग-द्वेष मिथ्या है।

ज्ञानी को कमजोरी के कारण राग-द्वेष होते हैं; परन्तु उसे पर-पदार्थों को परिणमाने की इच्छा (अभिप्राय) नहीं होती। अज्ञानी जीव पर-पदार्थों को परिणमाना चाहता है – इस कारण उसका चारित्र मिथ्या है।

जैसे बालक चलती हुई गाड़ी को हाथ लगाकर मानता है कि मैं गाड़ी चलाता हूँ; वैसे ही जगत के सभी द्रव्य गाड़ी के समान हैं, उनका परिणमन उनके आधीन है; फिर भी अज्ञानी शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्ब, देश आदि की व्यवस्था अपने आधीन मानता है और राग-द्वेष करता है। ज्ञानी को पर के कारण राग-द्वेष नहीं होते, किन्तु स्वयं की कमजोरी के कारण राग-द्वेष होते हैं। वे मानते हैं कि राग-द्वेष करना या मिटाना स्वभाव में नहीं हैं। तथा पर-पदार्थ उनके कारण रहते हों तो रहें।

अज्ञानी जीव पर को बदलता चाहता है। अज्ञानी का राग पर में निरर्थक है, इसकारण उसके मिथ्याचारित्र है। दुश्मन को हैरान करूँ, असुविधाओं को दूर करूँ इत्यादि प्रकार मानकर वह द्वेष करता है; जो कि निरर्थक है; क्योंकि उस द्वेष के कारण पर में कुछ नहीं होता। शिष्यों को समझा दूँ – ऐसा मानना मिथ्या है। किसी जीव को समझ होना अथवा नहीं होना उस जीव के आधीन है। तथा दवा, हवा, पानी आदि जीव के इच्छानुसार नहीं मिलते। कदाचित्

वे संयोग मिलें तो वैसा योगानुयोग बनने पर होता है। कौऐ का बैठना और डाल का पड़ना; इसीतरह अज्ञानी के इच्छा का होना और पदार्थों का मिलना किसी समय बन जाता है। इच्छा हुई और दवा आई, व रोग मिटा – यह योगानुयोग है। इच्छा की और मकान मिल गया, तो वहाँ अज्ञानी मूढ़ मानता है कि मेरी इच्छा के कारण रोग मिटा और मकान मिला – इत्यादि। यह सब मिथ्याचारित्र है।

प्रश्न – प्रत्यक्ष को झूठा कैसे माने ?

समाधान – वे पदार्थ उनके कारण से प्रत्यक्ष परिणमते हैं। मल-मूत्रादि की क्रिया उसके कारण से होती है। ऐसा रोग हो जाता है कि मल-मूत्रादि का विसर्जन कठिनाई से होता है, फिर भी इच्छा से होना मानता है। जीव की बहुत इच्छा होने पर भी पर में कुछ नहीं होता। स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर वह निरर्थक कषाय करता है।

पुत्र को कोई काम करने को कहे तो वह नहीं मानता। अपनी इच्छानुसार पर में परिणमन नहीं होता, परन्तु यह बात अज्ञानी की श्रद्धा में नहीं बैठती। वस्तु का जैसा वास्तविक स्वरूप है वह उसको नहीं बैठता। अन्य पदार्थों को टिकाये रखना अथवा उनका अभाव करना आत्मा के आधीन नहीं हैं। अरे ! जब आत्मा की इच्छानुसार शरीर का भी परिणमन नहीं होता तो फिर कषायभाव करने से क्या फायदा ? स्वयं ही राग-द्वेष करके दु:खी होता है। जैसे विवाह में, रसोई में, मकान आदि के कार्यों में अपनी कुछ चलती न हो फिर भी उनमें पागल बना फिरता है। कोई स्वयं को गिनता न हो, पूछता न हो फिर भी सलाह दिया करता है, परन्तु कोई नहीं माने तब दु:खी होता है। अज्ञानी को स्वभाव की सुध नहीं पड़ती। जैसे पानी को बिलौने से मक्खन नहीं निकलता; वैसे ही पर की दया पालूँ आदि भाव करना, वह पानी को बिलौने के समान है। अर्थात् पर में राग-द्वेष कार्यकारी नहीं है। इसकारण इन कषायों की प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

ज्ञानी को कमजोरीवश राग-द्वेष होते हैं, परन्तु पर के कार्य करने के अभिप्राय से नहीं होते।

इष्ट-अनिष्ट की मिथ्याकल्पना

....तथा कषायभाव होते हैं सो पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानने पर होते हैं, सो इष्ट-अनिष्ट मानना भी मिथ्या है; क्योंकि कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है नहीं।

कैसे ? सो कहते हैं – जो अपने को सुखदायक – उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं; अपने को

दु:खदायक – अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्त्ता हैं, कोई किसी को सुख-दु:खदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक – उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दु:खदायक-अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है; क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है। जैसे – जिसे वस्त्र न मिलता हो उसे मोटा वस्त्र इष्ट लगता है और जिसे पतला वस्त्र मिलता है उसे वह अनिष्ट लगता है। सूकरादि को विष्टा इष्ट लगती है, देवादिको अनिष्ट लगती है। किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसी को अनिष्ट लगती है। – इसीप्रकार अन्य जानना।....

अज्ञानी पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है। यह मनुष्य मेरा विश्वासपात्र है, यह मनुष्य मेरे से विरुद्ध है – इसप्रकार राग करके अनुकूल को रखना चाहता है और द्वेष करके प्रतिकूल को मिटाना चाहता है। परन्तु पर-वस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानना मिथ्या है। तूने आकर सब बिगाड़ दिया, तेरे आने से मेरा मान जाता है और मेरी महत्ता नहीं रहती – इसप्रकार निरर्थक राग-द्वेष करता है। परन्तु वे पदार्थ तो उनके कारण आते-जाते हैं – ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। वेषधारी साधु होकर भी एक-दूसरे की ईर्ष्या में जला करता है। वह बड़ा हो गया और उसके बहुत शिष्य हो गये – इसप्रकार राग-द्वेष करके हैरान होता है।

वस्तुत: तो इस जगत में भगवान भी इस आत्मा के लिये इष्ट नहीं हैं।

प्रश्न – परन्तु भगवान तो परमेष्ठी कहलाते है न ?

समाधान – शुभराग आता है उससमय भगवान के प्रति लक्ष्य जाने से ऐसा कहा जाता है; परन्तु निश्चय से वे उनके लिये परमेष्ठी हैं, इस आत्मा के लिये परमेष्ठी नहीं। अपना स्वभाव इष्ट है और विकार अनिष्ट है। वास्तव में तो विकार भी ज्ञेय है – ऐसा समझना चाहिये। पर पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानने से राग-द्वेष होते हैं। अत: पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानना मिथ्या है; क्योंकि कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्टरूप नहीं है। वह किसप्रकार ? सो ही कहते है –

जो अपने को सुखदायक और उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं और दु:ख में निमित्त हो उसे अनिष्ट कहते हैं। केवलज्ञानी भगवान अपनी पर्याय के कर्त्ता हैं, शत्रु का आत्मा उसकी पर्याय का कर्त्ता है। इसप्रकार सभी पदार्थ अपनी-अपनी पर्याय के कर्त्ता हैं। कोई किसी का उपकारक-अपकारक नहीं है, सुख-दुख का देने वाला नहीं है। साधक जीव को आत्मा का भान तो है ही, परन्तु जब उसे शुभराग आता है तब भगवान के प्रति उपकारक का आरोप करता है। उसकी पर्याय अपने अनारोप ज्ञानस्वभाव में झुकी है, किन्तु किंचित् शुभराग शेष होने से भगवान पर आरोप करता है। ज्ञानी जानता है कि किसी राग को लाना नहीं, घटाना नहीं,

मिटाना नहीं; वह तो राग को मात्र जानता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव प्रगट हुये बिना अन्य को उपकारी मानना मिथ्या है। स्वयं ज्ञायकस्वभाव को निर्विकल्पपने जानने से पूर्व भी शुभराग के समय ऐसा निश्चित किया था कि मैं स्वयं चिदानन्द सूर्य हूँ, उसमें स्थिरता ही कार्य है। पहले ऐसा विकल्प था। तत्पश्चात् पुरुषार्थ पूर्वक स्वभाव में श्रद्धा-लीनता करे तो पूर्व के शुभभाव को निमित्त कहा जाता है, और उसमें निमित्तरूप देव-गुरु का उपकार माना कहा जाता है।

गुरु शिष्य पर उपकार करते हैं – इस कथन का प्रयोजन निमित्त का ज्ञान कराना है। ज्ञान होते समय कौन निमित्त था ? सुख-दु:ख के समय कौन निमित्त था ? इत्यादि का ज्ञान कराना है। एक समय का संसाररूपी औदयिकभाव और ज्ञायक परमस्वभावभाव – ये दोनों कभी भी तन्मय नहीं हुये। स्वभाव स्वभाव है और विकार विकार है। स्वभाव में विकार का अभाव है। स्वभाव का भान होने पर ज्ञानी संसार के कर्त्ता नहीं अपितु संसार के ज्ञाता हैं। ज्ञानी दया, दानादिरूप संसारभाव के ज्ञाता हैं – ऐसा कहना भी उपचार से है। वहाँ राग होता है इसलिये ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। राग के साथ ज्ञान का तन्मयपना नहीं है। ज्ञान का तन्मयपना ज्ञाता के साथ है। इसप्रकार अपना ज्ञानस्वभाव उपकारी है – ऐसा निर्णय करे तो गुरु के उपकार को सच्चा व्यवहार कहा जाता है।

अज्ञानी राग को साधन मानता है, वह भूल है। स्वभाव में ज्ञाता-दृष्टा नाम का गुण है और साधन नाम का गुण है, वह स्वभाव के साथ तन्मय है, वही वास्तव में साधन है। कोई पदार्थ किसी अन्य का उपकारक नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में जो पदार्थों का परस्पर में उपकार बताया है वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। तथा कुदेव-कुगुरु को आत्मा के प्रत्यक्ष घातक माने बिना कल्याण होना संभव नहीं है – इस कथन का परमार्थभूत आशय समझना चाहिये। आशय यह है कि जीव स्वयं अपने स्वभाव की घातक विपरीत मान्यता करे तो कुदेव-कुगुरु को निमित्त कहा जाता है।

व्यवहार शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि "जिसके निमित्त से ज्ञान हुआ हो, उसके उपकार का लोप करने वाला जीव महापातकी है।" इसका अर्थ यह है कि अपने स्वभाव को पहिचानने में कौन निमित्त था, उसका ज्ञान कराया है। तथा अपना बहुमान आने पर निमित्त का बहुमान आये बिना नहीं रहता। परन्तु वास्तव में पर का उपकार माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। अत: अपेक्षा समझनी चाहिये। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रगट होते समय किसप्रकार का शुभभाव होता है, और ज्ञान मैं कैसा निमित्त था ? यह जानकर उसके प्रति व्यवहार उपकार का विकल्प आये बिना नहीं रहता। सम्यग्ज्ञान होने के समय यह गुरु, यह वाणी, यह पुस्तक

निमित्त थी – ऐसा यथार्थ जानता है। ये चीजे उपकारी हैं इसलिये नहीं, किन्तु शुभराग के काल में शुभराग आता है, निमित्त के कारण शुभराग नहीं आता; परन्तु वह व्यवहार विवेक है और वह सार्थक है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी अपने गुरु का बहुमान करते हैं कि "आपके चरण कमल के प्रसाद से मैं संसार को तिर गया।" जबकि यहां कहते हैं कि पर का उपकार मानना, वह मिथ्या है; तो इन दोनों कथनों का मेल किसप्रकार करना ? तो उसका समाधान यह है कि – निश्चय से स्वभाव का उपकार है और राग के समय गुरु का उपकार आये बिना नहीं रहता। ऐसा व्यवहार उपकार न माने तो मिथ्यादृष्टि होता है और इस कथन के अनुसार पर का उपकार वास्तविक अर्थात् निश्चय से मानले तो भी मिथ्यादृष्टि है। अत: जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो उसकी अपेक्षा समझना चाहिये।

अपना लड़का अच्छा-भला बोले तो अज्ञानी मिठास का वेदन करता है और दुश्मन को देखते ही द्वेष करता है व उसे देखना नहीं चाहता। अज्ञानी उसको दु:खदायक मानकर दु:खी होता है। अपने परिणाम में अनुकूल मानकर सुखदायक और प्रतिकूल मानकर दु:खदायक मानता है।

वस्तुयें इष्ट-अनिष्ट नहीं होने पर भी इसको एक वस्तु इष्ट लगती है और वही वस्तु दूसरे को अनिष्ट लगती है। उन वस्तुओं में प्रमेय होने की निमित्तता है परन्तु उनमें इष्ट-अनिष्ट में निमित्तरूप होने की तो योग्यता भी नहीं है। केवलज्ञान होने पर लोकालोक में ज्ञेय होने का निमित्तपना है। पर-पदार्थ में सुख-दु:ख का निमित्तपना होने की योग्यता नहीं है, परन्तु स्वयं पर में इष्ट की कल्पना करे तो सुख के निमित्त का और अनिष्ट की कल्पना करे तो दु:ख के निमित्त का आरोप आता है; परन्तु अज्ञानी पदार्थों को ही इष्ट-अनिष्ट मान बैठा है।

अब भगवान की वाणी अथवा समयसार की ही बात लो। कितने ही लोगों को लगता है कि अभी समयसार नहीं पढ़ना चाहिये। कितने ही पण्डितों को लगता है कि इस समयसार का स्पष्टीकरण आने से हमारी प्रतिष्ठा पर पानी फिरता है। शास्त्र तो ज्ञान का ज्ञेय है। अज्ञानी उसे अनिष्ट मानकर द्वेष करता है। तथा दूसरा अज्ञानी समयसार से ही ज्ञान होगा – ऐसा मानकर, उसे इष्ट मानकर राग करता है; दोनों भूल में हैं।

कोई कहता है कि आप समयसार पढ़ते हो उसमें प्रियता है। परन्तु वास्तव में उसमें प्रियता नहीं है। अपनी ज्ञानपर्याय की योग्यतानुसार सामने ज्ञेय उपस्थित होते हैं। स्वभाव उपादेय है और राग हेय है। यह अमुक भूमिका तक है, परमार्थ से तो दोनों ज्ञेय हैं; परन्तु राग

मिट जाता है इसलिये उसे हेय कहा है।

गरीब मनुष्य को मोटा वस्त्र मिले तो उसे अच्छा लगता है, वही वस्त्र श्रीमंत को दो तो उसे वह नहीं रुचता। गरीब मनुष्य को पैसा और स्त्री मिले तो इष्ट लगते हैं, जबकि पैसे वाले को उसकी कीमत नहीं होती। अज्ञानी कल्पना के काल में कल्पना किया करता है। घर में मिष्टान्न बना हो उसीसमय किसी को उल्टी हो जाये तो कहता है कि अभी मेरा मन मिष्टान्न खाने का नहीं है। जो मिष्टान्न इष्ट लगता था वही मिष्ठान्न अब अनिष्ट लगने लगा। सूकर को विष्टा अच्छी लगती है जबकि मनुष्य को बुरी लगती है। खाते समय पुत्र साथ में खाने बैठे तो अच्छा लगता है और उसीसमय वह दस्त करदे तो बुरा लगता है। वस्तुयें तो वे की वे ही हैं, वे तो ज्ञान की ज्ञेय हैं; परन्तु अज्ञानी इष्ट-अनिष्ट मानकर मिथ्याभाव करता है।

किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है। किसान को अन्तिम वर्षा अमृत समान लगती है और खेतों में अनाज तैयार पड़ा हो ऐसे माह में वर्षा आवे तो अनिष्ट लगती है। नदी में पानी आवे तो गाँव के मनुष्यों को अच्छा लगता है और जंगल के प्राणियों, सर्प आदि को डूब जाने के भय से बुरा लगता है। तथा वर्षा में माल भीग जावे तो किसान व व्यापारी द्वेष करते हैं। अपना स्वभाव तो इन सबको जानने का है। ये पदार्थ स्वयं अपने स्वकाल में परिणमते हैं – ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। अपना इकलौता पुत्र अपनी इच्छा-प्रमाण कार्य करे तो अच्छा लगता है और अपने से प्रतिकूल वर्तन करे तो बुरा लगता है। अज्ञानी ही इसप्रकार कल्पना करता है, वस्तु में अच्छापना अथवा बुरापना रजिस्टर्ड नहीं है। अत: अज्ञानी की कल्पना ही मिथ्या है।

....तथा इसी प्रकार एक जीव को भी एक ही पदार्थ किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है – इत्यादि जानना। जैसे – शरीर इष्ट है, परन्तु रोगादि सहित हो तब अनिष्ट हो जाता है; पुत्रादिक इष्ट हैं, परन्तु कारण मिलने पर अनिष्ट होते देखे जाते हैं – इत्यादि जानना। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है, वह भी इष्ट होता देखते हैं। जैसे – गाली अनिष्ट लगती है, परन्तु ससुराल में इष्ट लगती है। इत्यादि जानना।

इसप्रकार पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता वह अनिष्ट ही होता; परन्तु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है।....

एक ही जीव को कोई पदार्थ किसी काल में इष्ट लगता है, वही पदार्थ किसी काल

में अनिष्ट लगता है। सर्दी में गर्म कपड़ा अच्छा लगता है वही गर्मी में बुरा लगता है। सर्दी में गर्म पानी अच्छा लगता है वही गर्मी में बुरा लगता है। वस्तु तो वह की वह है।

यह जीव जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है वह भी अनिष्ट होता देखने में आता है – जैसे शरीर अच्छा लगता है वही रोग होने पर अनिष्ट लगता है। जो शरीर विषयभोग के समय अच्छा लगता था उसी शरीर में जीवाणु पड़ जाने पर वह बुरा लगता है। जो पदार्थ अनुकूलता के समय इष्ट लगता था वही पदार्थ प्रतिकूलता के समय अनिष्ट लगता है। अत: पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं, परन्तु स्वयं राग-द्वेष करके कल्पना करता है, जो कि व्यर्थ है।

पर-पदार्थ उनके कारण परिणमते हैं। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा रहना और अपूर्ण दशा में अपनी कमजोरीवश राग आवे, उसे भी जानना; इसप्रकार सच्ची समझ करना ही सुखी होने का उपाय है।

आत्मा के सिवाय पर-पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय हैं। कोई भी पर-वस्तु इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं, फिर भी उसे इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना निरर्थक है। इसलिये अज्ञान से होने वाले राग-द्वेष मिथ्याचारित्र है।

जीव ने मुख्यरूप से शरीर को इष्ट माना है, उसे ही रोग के समय अनिष्ट मानता है। अपमान होने पर जीना नहीं चाहता। परिवार में, राज्य में अपमान होवे तो शरीर छूट जाये तो ठीक – ऐसा मानता है। इसप्रकार अज्ञानी कल्पना करके राग-द्वेष करता है।

तथा यह जीव जिन्हें मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है वह भी इष्ट होता देखने में आतां है जैसे – गाली को अनिष्ट मानता है, परन्तु शादी के अवसर पर ससुराल पक्ष वाले गाली गावें तो इष्ट मानता है।

इसप्रकार अज्ञानी पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है। ज्ञानी पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानता, परन्तु अपनी कमजोरी से होने वाले राग-द्वेष को जानता है। अज्ञानी तो इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके राग-द्वेष करता है इसलिय उसका चारित्र मिथ्या है। शरीर को इष्ट माना होने पर भी रोग लम्बे काल तक चले तो मानता है कि अब देह में देखना नहीं, क्योंकि यह वेदना सही न जाये ऐसी है। इसप्रकार मिथ्यामान्यता से अनिष्ट कल्पना करता है।

तथा शरीर अच्छा हो तो धर्म होता है – ऐसा मानकर उसे इष्ट मानता है। यदि पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना होवे तो जो पदार्थ इष्ट हो वह सबको इष्ट होना चाहिये। प्रिय पुत्र पिता को इष्ट लगता है परन्तु वहीं अपने से प्रतिकूल वर्ते तो अनिष्ट लगता है। जो मकान पचास हजार का था, वह पचास हजार में मिलने पर इष्ट लगता है, और उसी मकान में भूत की शंका हो

जाये तो अनिष्ट लगने लगता है। इसप्रकार कल्पना करता है। यदि पदार्थ अनिष्ट होवे तो वह सबको अनिष्ट लगना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। कोई शिष्य दीक्षा ले तब साधु को अच्छा लगता है और बाद में प्रतिकूल वर्ते तो वह अनिष्ट लगता है। इसप्रकार जीव कल्पना करके पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है, परन्तु वह कल्पना मिथ्या है।

....तथा पदार्थ सुखदायक-उपकारी या दु:खदायक-अनुपकारी होता है सो अपने-आप नहीं होता, परन्तु पुण्य-पाप के उदयानुसार होता है। जिसके पुण्य का उदय होता है उसको पदार्थों का संयोग सुखदायक-उपकारी होता है और जिसके पाप का उदय होता है उसे पदार्थों का संयोग दु:खदायक-अनुपकारी होता है। – ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं। किसी को स्त्री-पुत्रादिक सुखदायक हैं, किसी को दु:खदायक हैं; किसी को व्यापार करने से लाभ है, किसी को नुकसान है; किसी के शत्रु भी दास हो जाते हैं; किसी के पुत्र भी अहितकारी होता है। इसलिये जाना जाता है कि पदार्थ अपने आप इष्ट-अनिष्ट नहीं होते, परन्तु कर्मोदय के अनुसार प्रवर्तते हैं। जैसे किसी के नौकर अपने स्वामी के कहे अनुसार किसी पुरुष को इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कुछ नौकरों का कर्त्तव्य नहीं है, उनके स्वामी का कर्त्तव्य है। कोई नौकरों को ही इष्ट-अनिष्ट माने तो झूठ है। उसीप्रकार कर्म के उदय से प्राप्त हुए पदार्थ कर्म के अनुसार जीव को इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कोई पदार्थों का कर्त्तव्य नहीं है, कर्म का कर्त्तव्य है। यदि पदार्थों को ही इष्ट-अनिष्ट माने तो झूठ है।

इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है।....

वे पदार्थ सुखदायक (उपकारी) होते हैं अथवा दु:खदायक (अनुपकारी) होते हैं सो अपने आप नहीं होते; परन्तु पूर्व के पुण्य-पाप के अनुसार होते हैं। अनुकूल पदार्थ मिलना पुण्य के आधीन है अर्थात् उस पदार्थ की अवस्था तो उसके कारण होती है, परन्तु पुण्यकर्म उसमें निमित्त है तथा प्रतिकूल पदार्थ के मिलने में पापकर्म निमित्त है। पूर्व में सातावेदनीय कर्म बांधा होवे तो नौकर, मकान आदि सुखदायक-उपकारी होते हैं और असातावेदनीय कर्म बांधा होवे तो लड़के-लड़कियाँ, नौकर आदि प्रतिकूल-दु:खदायक होते हैं। सेठ को अच्छा नौकर मिला हो तो प्रीति करता है और वही नौकर अलग होकर सामने दुकान लगा ले तो उसे दु:खदायक और अनुपकारी मानता है। अरे ! आज तक उसे सब सिखाया और अब मेरे ही सामने दुकान लगाता है – इसप्रकार द्वेष किया करता है; परन्तु यह सब पूर्व कर्मानुसार होता है – ऐसा नहीं देखता। जैसे कुत्ता लकड़ी मारने वाले को तो देखता नहीं और लकड़ी पर द्वेष

करता है; उसीप्रकार अज्ञानी परजीवों के प्रति राग-द्वेष करता है, परन्तु संयोग अपने पूर्व कर्म के अनुसार मिलते हैं – इस बात को नहीं देखता।

जो स्त्री-पुत्र प्रिय लगते थे वे ही विपरीत परिणमें तब खेदखिन्न होता है। अत: पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की इसकी मान्यता मिथ्या है। किसी को व्यापार करने से लाभ होता है तो वह पुण्य के उदय के कारण होता है, चतुराई के कारण नहीं। तथा पाप के उदय से नुकसान होता है व आई हुई वस्तु भी चली जाती है। पर में जीव का प्रयत्न काम नहीं आता, फिर भी अज्ञानी जीव पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माना करता है। वह न तो पूर्व कर्मों को मानता है और न मैं ज्ञाता हूँ – ऐसी श्रद्धा ही करता है। अत: परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष होते हैं, वह मिथ्याचारित्र है और ज्ञानी को अपनी अस्थिरता के कारण जो राग-द्वेष होते हैं, वह चारित्र का दोष है।

पाप के उदय से स्त्री-पुत्रादि भी अहितकारी होते हैं और पुण्य के उदय से शत्रु भी मित्र बन जाता है। देखो ! रावण जैसा महामानव भी लक्ष्मण के सामने दीन हो गया।

यहाँ स्पष्ट बात लिखी है कि – धनादि संयोग सातावेदनीय के निमित्त से मिलते हैं और जो सुख-दु:ख की कल्पना करता है, उस मान्यता में दर्शनमोहनीय निमित्त है और उसप्रकार के राग-द्वेष में चारित्रमोहनीय निमित्त है। इससे जाना जाता है कि पदार्थ स्वयं इष्ट-अनिष्टरूप नहीं, वरन् वे कर्म के उदय के अनुसार वर्तते हैं।

जैसे किसी का नौकर अपने स्वामी की इच्छानुसार किसी पुरुष को इष्ट-अनिष्ट उपजावे। किसी राजा के पास अन्य राजा का नौकर जाकर विरुद्ध बोले और इष्ट-अनिष्ट उपजावे तो वह नौकर का कार्य नहीं है। जैसे नौकर से सिंहासन को लात मारने को कहे तो वह नोकर का कर्त्तव्य नहीं किन्तु उसके स्वामी का कर्त्तव्य है; वैसे ही पदार्थों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। ज्ञानी को राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वह पर के कारण राग-द्वेष नहीं मानता और राग-द्वेष से लाभ नहीं मानता। अत: उसको मर्यादित राग होता है।

यहाँ कहा है कि – जो नौकर राजा का अपमान करता है उसे मारना, वह राज्यनीति नहीं है; क्योंकि वह अपमान नौकर का कर्त्तव्य नहीं है, परन्तु उसके स्वामी का कर्त्तव्य है, फिर जो पुरुष उस नौकर को ही इष्ट-अनिष्ट मानता है वह मूढ़ है। उसीप्रकार जीव को कर्म के उदय के अनुसार पदार्थ मिलते हैं, वे इष्ट-अनिष्ट नहीं उपजाते; परन्तु इष्ट-अनिष्ट की कल्पना में बाह्य निमित्त हैं। वहाँ यह कोई पदार्थों का कार्य नहीं किन्तु कर्म का कार्य है अर्थात् उसमें

कर्म निमित्त है। फिर भी यह जीव पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है, वह मूढ़ है। अत: निश्चित होता है कि पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना मिथ्याचारित्र है।

समकिती युद्ध करने जाता है वहाँ युद्ध में मनुष्यों का संहार करता दिखे तो भी वह पदार्थ के कारण राग-द्वेष नहीं मानता। उसे जो अल्प राग-द्वेष होते हैं, उन्हें जानता हैं कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ। जबकि अज्ञानी पर के कारण राग-द्वेष होना मानता है। शरीर अनुकूल होवे तो धर्म हो – ऐसा मानकर शरीर को इष्ट मानता है और शरीर में रोग आये तो व्रत व सामायिक नहीं होती – ऐसा मानकर रोगी शरीर को अनिष्ट मानता है। उसे वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है। शरीर निरोगी हो तो उसे धर्म का साधन मानता है। अत: वह मिथ्याचारित्र है। ऐसी मान्यता वाला मुनि भी हो तो भी मिथ्यादृष्टि है।

....यहाँ कोई कहे कि – बाह्य वस्तुओं का संयोग कर्मनिमित्त से बनता है, तब कर्मों में तो राग-द्वेष करना ?....

बाह्य वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष नहीं करना क्योंकि वे तो कर्म के निमित्त से मिलती है, तो कर्मों के प्रति तो राग-द्वेष करना न ?

....समाधान – कर्म तो जड़ हैं, उनके कुछ सुख-दु:ख देने की इच्छा नहीं है। तथा वे स्वयमेव तो कर्मरूप परिणमित होते नहीं हैं, इसके भावों के निमित्त से कर्मरूप होते हैं। जैसे – कोई अपने हाथ से पत्थर लेकर अपना सिर फोड़ ले तो पत्थर का क्या दोष है ? उसी प्रकार जीव अपने रागादिक भावों से पुद्गल को कर्मरूप परिणमित करके अपना बुरा करे तो कर्म का क्या दोष है ? इसलिये कर्म से भी राग-द्वेष करना मिथ्या है।

इसप्रकार परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना मिथ्या है। यदि परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट होते और वहाँ राग-द्वेष करता तो मिथ्या नाम न पाता; वे तो इष्ट-अनिष्ट हैं नहीं और यह इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है, इसलिये इस परिणमन को मिथ्या कहा है। मिथ्यारूप जो परिणमन, उसका नाम मिथ्याचारित्र है।....

कर्म तो जड़ हैं। उनमें कुछ सुख-दु:ख देने की शक्ति नहीं है। एक मनुष्य ने रास्ते में बबूल का काँटा लग जाने से सम्पूर्ण बबूल को ही काट डाला, अपने किसी प्रिय व्यक्ति पर कुत्ता भौंकने लगा तो उसने कुत्ते को ही मार दिया। इसप्रकार अज्ञानी जीव पदार्थों के प्रति राग-द्वेष करते हैं। तथा कोई कहता है कि किस भव के कर्म उदय में आये जो इतने दु:ख सहन करने पड़ते हैं – ऐसा मानकर कर्म के प्रति द्वेष करता है। परन्तु कर्म तो अपने आप परिणमते नहीं, जीव के राग-द्वेष उसमें निमित्त होते हैं। अत: उसमें कर्म का दोष नहीं है। जैसे कोई मनुष्य

स्वयं हाथ में पत्थर लेकर अपना सिर फोड़ ले तो उसमें पत्थर का क्या दोष है ? उसीप्रकार यह जीव स्वयं राग-द्वेष करता है, वही अपना दोष है और उसका निमित्त पाकर कर्म परिणमते हैं। ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु दोनों एक-दूसरे के आधीन नहीं हैं। कर्म अपने कारण परिणमते हैं तब राग-द्वेष निमित्त होते हैं। यहाँ कहना यह है कि – जीव राग-द्वेष करता है तो कर्म बंधते हैं। व्यापारी खराब माल दे, उसमें व्यापारी खराब भाव करता है वह उसका दोष है, ग्राहक को खराब माल मिले, उसमें ग्राहक के उसप्रकार के कर्म का निमित्त है। इसप्रकार जीव स्वयं राग-द्वेष करके कर्म बांधता है और अपना ही बुरा करता है, उसमें कर्मों का दोष नहीं हैं। अत: कर्मों से भी राग-द्वेष करना मिथ्या है।

इसप्रकार पर-द्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना मिथ्या है।

यदि पर-द्रव्य इष्ट-अनिष्ट होते और जीव राग-द्वेष करता होता तो मिथ्याचारित्र नाम नहीं पाता। परन्तु वे पदार्थ अनुकूल-प्रतिकूल है नहीं, यह जीव ही उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है और राग-द्वेष करता है; इसकारण इसके परिणाम को मिथ्या कहा है। मिथ्यारूप जो परिणमन, उसी का नाम मिथ्याचारित्र है। किसी जीव के पाप का उदय आया इसलिये शत्रु को द्वेष हुआ – ऐसा नहीं है। जीव स्वतन्त्ररूप से राग-द्वेष करता है और सामने वाले जीव को प्रतिकूलता असाता के उदय से मिलती है। तथा मित्र अनुकूल वर्तता है, वह पुण्य के कारण अनुकूल नहीं वर्तता। मित्र अनुकूलता के परिणाम अपने कारण से करता है और अपने को अनुकूल संयोग मिलते हैं, वे स्वयं के पुण्यकर्म के कारण मिलते हैं।

व्यापारी अच्छा माल बताकर अन्य खराब माल दे तो वह वैसा खराब माल मिलना अपने पापकर्म के कारण होता है; अत: जीव को समता रखनी चाहिये। पर के कारण से राग-द्वेष मानना मिथ्या है। पर-पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है, किन्तु पर के कारण राग-द्वेष करना मिथ्याचारित्र है।

राग-द्वेष का विधान व विस्तार

....अब, इस जीव के राग-द्वेष होते हैं, उनका विधान और विस्तार बतलाते हैं –

प्रथम तो इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि है सो अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। तथा इस शरीर में अपने को सुहाये ऐसी इष्ट अवस्था होती है उसमें राग करता है; अपने को न सुहाये ऐसी अनिष्ट अवस्था होती है उसमें द्वेष करता है। तथा शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों तो राग करता है और उसके घातकों में द्वेष करता है। तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है। तथा

इनमें जिन बाह्य पदार्थों से राग करता है उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में राग करताहै और उनके घातकों में द्वेष करता है। तथा जिन बाह्य पदार्थों से द्वेष करता है उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है। तथा इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में राग-द्वेष करता है। तथा जिनसे द्वेष है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है। इसीप्रकार राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।

तथा कितने ही बाह्य पदार्थ शरीरी की अवस्था को कारण नहीं हैं उनमें भी राग-द्वेष करता है। जैसे – गाय आदि को बच्चों से कुछ शरीर का इष्ट नहीं होता तथापि वहाँ राग करते हैं और कुत्ते आदि को बिल्ली आदि से कुछ शरीर का अनिष्ट नहीं होता तथापि वहाँ द्वेष करते हैं। तथा कितने ही वर्ण, गंध, शब्दादि के अवलोकनादिक से शरीर का इष्ट नहीं होता तथापि उनमें राग करता है। कितने ही वर्णादिक के अवलोकनादिक से शरीर को अनिष्ट नहीं होता तथापि उनमें द्वेष करता है – इसप्रकार भिन्न बाह्य पदार्थों में राग-द्वेष होता है।

तथा इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों में राग व द्वेष करता है। और जिनसे द्वेष करता है उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है। इसीप्रकार यहाँ भी राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।....

प्रथम तो इस जीव को शरीर में अहंबुद्धि होती है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है – दोनों भिन्न हैं, तथापि वह अपने को और शरीर को एकरूप जानकर प्रवर्तता है। शरीर में निरोगता और अच्छा रूप मिलना आदि रुचिकर इष्ट अवस्था होवे तो राग करता है और कुरूप शरीर होने पर, चेचक निकलने पर, शरीर खराब होने पर, आँखें फूट जाने आदि अरुचिकर अनिष्ट अवस्थायें होने पर द्वेष करता है।

तथा शरीर को अनुकूल पदार्थ लड्डू, दाल, भात, गर्मी में मौसम्मी का रस आदि मिलने पर उनमें राग करता है और कोई उन अनुकूल पदार्थों को रोके तो उसमें द्वेष करता है। शरीर की अनिष्ट अवस्था के कारणरूप अपथ्यवस्तु, तलवार, आदि में द्वेष करता है और प्रतिकूलता को रोके उस पर राग करता है।

इसप्रकार राग-द्वेष में लम्बा चला ही करता है, राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।

ज्ञान का स्वभाव पर-पदार्थों को जानने का है – ऐसा निश्चित करे तो राग-द्वेष का अन्त आये। पर के कारण राग-द्वेष नहीं माने तो अस्थिरताजन्य अल्प राग-द्वेष भी मिट जाने वाले हैं। अतः पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माननेरूप परिणाम करना मिथ्याचारित्र है।

ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होते हैं, अन्तर स्वभाव का भान होने पर भी राग-द्वेष होते हैं। पर्याय में राग-द्वेष बिना रह नहीं सकता इस जाति की भूमिका है – इसकारण राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते। परन्तु उसके राग-द्वेष अनन्त संसार का कारण नहीं है। अज्ञानी को जो राग-द्वेष होते हैं वे परवस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर होते हैं, वे अनन्त संसार का कारण हैं; क्योंकि वह चैतन्य जाति को नहीं जानता। समकिती न तो पर को इष्ट-अनिष्ट मानता है और न पर के कारण राग-द्वेष करता है। शरीर को धर्म का साधन मानकर राग करे तो अनन्त संसार का कारण है। ज्ञानी प्रयोजन विचारकर राग-द्वेष करता है। वह अन्तर हेतु विचारता है कि – ये मेरी कमजोरी के कारण होते हैं।

ज्ञानी जानता है कि मैं चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ। जो राग होता है वह मेरी कमजोरी के कारण होता है। ज्ञानी किसी वस्तु को हितकर या अहितकर मानकर उससे राग-द्वेष नहीं करते। अज्ञानी जीव स्त्री का शरीर इष्ट है – ऐसा मानकर राग करता है और छुरी अनिष्ट है – ऐसा मानकर द्वेष करता है, उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं। धर्मी को अन्तर में स्थिरता नहीं होने से राग-द्वेष हो जाते हैं। धर्मी युद्ध में जाता है तो वहाँ भी 'शत्रु अनिष्ट है' – ऐसा मानकर युद्ध करने जाना पड़ता है – ऐसा नहीं मानता, परन्तु अपनी भूमिका में राग-द्वेष होता है – ऐसा जानता है।

समकिती किसी को शत्रु नहीं मानता, तथा पर के कारण द्वेष होता है – ऐसा नहीं मानता; परन्तु कमजोरी के कारण द्वेष हो जाता है। भरत और बाहुबली लड़े, वहाँ भरत ने बाहुबली को अनिष्ट नहीं माना तथा वस्तु की अप्रियता से द्वेष नहीं हुआ, ज्ञानी को अपनी भूमिकानुसार द्वेष हो जाता है।

कोई बाह्य पदार्थ शरीर की अवस्था को कारणरूप नहीं है तो भी अज्ञानी उनमें भी राग-द्वेष करता है। जैसे गाय को अपने बछड़े से शरीर का कुछ भी इष्ट नहीं होता तो भी उसमें राग करती है। बछड़ा या बछड़ी गाय की कुछ भी मदद नहीं करते तो भी गाय उनके लिये निष्प्रयोजन राग करती है। कुत्ता बिल्ली को देखता है और उसे अनिष्ट मानकर द्वेष करता है। यद्यपि बिल्ली कुत्ते का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, कुत्ते का उससे कुछ भी अनिष्ट नहीं होने पर भी द्वेष करता है।

(अज्ञानी) कोई वर्ण, गंधादि देखकर, शब्द सुनकर, उनसे राग करता है। संगमरमर का मकान देखकर इष्ट मानता है; उनसे अपने शरीर का कुछ भी इष्ट नहीं होता तो भी इष्ट मानकर राग करता है। कुत्ते की आवाज सुनकर द्वेष करता है। तथा किसी का काला शरीर देखे तो

द्वेष करता है। परन्तु वह जड़ की अवस्था है। उससे अपना कुछ भी अनिष्ट नहीं होता, फिर भी उसे अनिष्ट मानकर द्वेष करता है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों में राग-द्वेष करता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, राग-द्वेष विकार है – ऐसे भेदज्ञान का उसे पता नहीं है।

तथा उसमें भी जिनसे राग करता है उनके कारणरूप अन्य पदार्थों में राग करता है। कोई अपने इष्ट पदार्थ का बखान करे तो उसमें राग करता है और विरुद्ध कहे तो द्वेष करता है। तथा जिनसे द्वेष करता है, उनके कारणरूप पदार्थों में द्वेष करता है और उनके घातक अन्य पदार्थों में राग करता है। इसप्रकार वहाँ भी राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।

जिसने एक भी पर-पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट माना उसने अनन्त पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माना है; इससे उसके राग-द्वेष अनन्त हो जाते हैं। अर्थात् वह अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष हैं। समकिती को पर के कारण राग-द्वेष नहीं होते। अत: उसके राग-द्वेष मर्यादा में आ जाते हैं। उसके अनन्तानुबंधी का अभाव है। उसका कारण यह है कि – उसको यह भान है कि कोई भी परवस्तु मुझे अनुकूल अथवा प्रतिकूल नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। इसकारण उसके कमजोरी से होने वाले राग-द्वेष मर्यादित होते हैं।

आत्मा के मूलस्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेष पर्याय में हैं। जो पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है उसको अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होते हैं, वे अनन्त संसार का कारण हैं। और ज्ञानी के पर को इष्ट-अनिष्ट माने बिना कमजोरीवश जो राग-द्वेष होते हैं, वे अल्प संसार का कारण हैं। इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी के राग-द्वेष के प्रकार में अन्तर है।

....यहाँ प्रश्न है कि – अन्य पदार्थों में तो राग-द्वेष करने का प्रयोजन जाना, परन्तु प्रथम ही मूलभूत शरीर की अवस्था में तथा जो शरीर की अवस्था को कारण नहीं है उन पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट मानने का प्रयोजन क्या है ?....

अन्य पदार्थों में तो राग-द्वेष करने का प्रयोजन जाना, परन्तु मूलभूत शरीर की अवस्था में व शरीर की अवस्था के कारणरूप नहीं, ऐसे पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानने का क्या प्रयोजन है ?

....समाधान – जो प्रथम मूलभूत शरीर की अवस्था आदिक हैं उनमें भी प्रयोजन विचारकर राग-द्वेष करे तो मिथ्याचारित्र नाम क्यों पाये ? उनमें बिना ही प्रयोजन राग-द्वेष करता है और उन्हीं के अर्थ अन्य से राग-द्वेष करता है, इसलिये सर्व राग-द्वेष परिणति का नाम मिथ्याचारित्र कहा है।....

यदि मूलभूत शरीर की अवस्थादि में भी प्रयोजन विचारकर राग-द्वेष करे तो मिथ्याचारित्र नाम नहीं पाता।

समकिती चक्रवर्ती के (९६,०००) छियानवैं हजार स्त्रियाँ होती हैं, इन्द्र के भी इन्द्राणी और विमान हैं, परन्तु वे किसी पर-वस्तु को प्रियकर नहीं मानते तथा राग-द्वेष को भी हेय मानते हैं – इसकारण उनका चारित्र मिथ्याचारित्र नहीं है।

ज्ञानी को अपने स्वभाव का भान है। अत: उसके राग-द्वेष को श्रद्धा अपेक्षा (स्वभाव दृष्टि के जोर में) निर्जरा कहा है, ज्ञान की अपेक्षा से वे ज्ञेय हैं और चारित्र अपेक्षा से राग-द्वेष हेय हैं।

ज्ञानी के शरीर में रोग आया, तब अपनी कमजोरी से सहन नहीं हुआ, इससे द्वेष होता है; वह दोष है, बंधन है; परन्तु मिथ्याचारित्र नाम नहीं पाता, किन्तु कोई बाह्य से साधु हुआ हो परन्तु यदि वह पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माने तो उस अज्ञानी का चारित्र मिथ्या है।

आठ वर्ष की बालिका सम्यग्दर्शन प्राप्त करे और बाद में विवाह करे तो भी वह 'पति इष्ट है' – ऐसा नहीं मानती। ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव का भान है और कमजोरीवश प्रयोजन विचार कर (अर्थात् भूमिकानुसार) राग होता है। अज्ञानी स्त्री, पुत्रादि को छोड़कर साधु हो किन्तु यह माने कि 'स्त्री-पुत्रादि अनिष्ट हैं' तो इससे उसका चारित्र मिथ्याचारित्र है।

अज्ञानी जीव पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है और उनके लिये अन्य के साथ भी राग-द्वेष करता है। इसकारण प्रयोजन विचारे बिना सर्व राग-द्वेष परिणति का नाम मिथ्याचारित्र कहा है।

अज्ञानी लड्डू मिलने पर उन्हें हितकर मानता है – यह राग अनन्तसंसार का कारण है। चक्रवर्ती तीन सौ साठ दिनों तक (पूरे वर्ष) अलग-अलग रसोई जीमता है, कोई तीर्थंकर चक्रवर्ती होवें, तीन ज्ञान के धारी होवें वे भी अनेक प्रकार का भोजन लेते हैं; परन्तु उन्हें आत्मा का भान है। अत: वे मानते हैं कि यह जड़ की क्रिया जड़ से होती है, परवस्तु मुझे हितकर नहीं है। क्षुधा जड़ की पर्याय है, परन्तु मुझमें सहनशीलता नहीं होने से राग होता है; अत: उनका राग मर्यादित होता है। जबकि अज्ञानी लड्डू, दाल आदि में सम्पूर्णत: अर्पित हो जाता है। पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है। खाने की वस्तु में कंकड़ आवे वहाँ उत्तेजित हो जाता है और द्वेष करता है। वह तो पर-पदार्थों को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है। ज्ञानी भी कदाचित् उससमय द्वेष करे तो भी वह पर के कारण द्वेष नहीं करता। ज्ञानी के द्वेष

का लक्षण ''अस्थिरता'' है और अज्ञानी के द्वेष का लक्षण ''परवस्तु को अनिष्ट मानना'' है। इसप्रकार दोनों के राग-द्वेष में बहुत अन्तर है।

आत्मा अरूपी चैतन्य है और लड्डू रूपी जड़ है। आत्मा को लड्डूओं का स्वाद नहीं आता। अज्ञानी को भ्रान्ति सहित आकुलता का स्वाद आता है और ज्ञानी को अल्पराग आता है, उसे वह जानता है।

....प्रश्न – शरीर की अवस्था व बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानने का प्रयोजन तो भासता नहीं और इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा जाता नहीं – इसका क्या कारण ?....

लड़का अच्छी कमाई करे तो इष्ट माने बिना कैसे रहा जाये और यदि वह रुपये उड़ाये तो अनिष्ट माने बिना कैसे रहा जाये ?

....समाधान – इस जीव के चारित्रमोह के उदय से राग-द्वेषभाव होते हैं और वे भाव किसी पदार्थ के आश्रय बिना हो नहीं सकते। जैसे – राग हो तो किसी पदार्थ में होता है, द्वेष हो तो किसी पदार्थ में होता है। – इसप्रकार उन पदार्थों के और राग-द्वेष के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ विशेष इतना है कि – कितने ही पदार्थ तो मुख्यरूप से राग के कारण हैं और कितने ही पदार्थ मुख्यरूप से द्वेष के कारण हैं। कितने ही पदार्थ किसी को किसी काल में राग के कारण होते हैं तथा किसी को किसी काल में द्वेष के कारण होते हैं।

यहाँ इतना जानना – एक कार्य होने में अनेक कारण चाहिये सो रागादिक होने में अन्तरंग कारण मोह का उदय है वह तो बलवान है और बाह्य कारण पदार्थ है वह बलवान नहीं है। महामुनियों को मोह मन्द होने से बाह्य पदार्थों का निमित्त होने पर भी राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। पापी जीवों को मोह तीव्र होने से बाह्य कारण न होने पर भी उनके संकल्प ही से राग-द्वेष होते हैं। इसलिये मोह का उदय होने से रागादिक होते हैं। वहाँ जिस बाह्य पदार्थ के आश्रय से रागभाव होना हो, उसमें बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजनसहित इष्टबुद्धि होती है। तथा जिस पदार्थ के आश्रय से द्वेषभाव होना हो उसमें बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजनसहित अनिष्टबुद्धि होती है। इसलिये मोह के उदय से पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा नहीं जाता।

इसप्रकार पदार्थों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि होने पर जो राग-द्वेषरूप परिणमन होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र जानना।....

इस जीव को जो राग-द्वेष होते हैं उसमें चारित्रमोह का उदय निमित्तमात्र है। आत्मा के लक्ष्य से राग-द्वेष नहीं होते। परन्तु स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र आदि पर के आश्रय बिना राग-द्वेष नहीं हो सकते।

यह प्रतिमा मुझे इष्ट है अथवा समवशरण में विराजमान भगवान मुझे इष्ट है – ऐसा मानकर शुभभाव करे तो वह मिथ्याचारित्र है। ज्ञानी को शुभभाव आता है, परन्तु यह शुभभाव पर के कारण होता है – ऐसा वे नहीं मानते। उन्हें अपनी कमजोरी से भक्ति का शुभभाव आता है।

यहाँ कहते हैं कि जो राग-द्वेष होते हैं, वे पदार्थ के निमित्त से होते हैं। जीव स्वयं राग-द्वेष करता है वह अपना नैमित्तिकभाव है और पदार्थ निमित्त है। जैसे – राग होता है वह किसी पदार्थ के प्रति ही होता है और द्वेष होता है वह भी किसी पदार्थ के प्रति ही होता है। इसप्रकार जो पदार्थ के और राग-द्वेष के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसकी विशेषता यह है कि कोई पदार्थ तो मुख्यरूप से राग का कारण है तथा कोई पदार्थ मुख्यरूप से द्वेष का कारण है। कोई पदार्थ किसी को किसी काल में राग का कारण होता है, तथा किसी को किसी काल में द्वेष का कारण होता है।

यहाँ इतना समझना कि – जो राग-द्वेष होते हैं उनमें अनेक कारणों की उपस्थिति होती है। उसमें रागादि होने में अन्तरंग कारण मोह का उदय बलवान है। अर्थात् निमित्तपने के प्रकार में मोहनीय कर्म के निमित्त की मुख्यता है, बाह्य कारणों की मुख्यता नहीं हैं। राग-द्वेषादि के परिणाम नोकर्म के आश्रय बिना नहीं होते तो भी उनका बलवानपना नहीं है। (निमित्त में) मूल बलवान कारण चारित्रमोह कर्म है। अर्थात् वह मुख्य है, अन्य निमित्त मुख्य नहीं है।

मुनिराज छठवीं-सातवीं भूमिका में वर्तते हैं। उनके चारित्रमोह मंद है – इसकारण बाह्य पदार्थ निमित्त होने पर भी उनके राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। गजकुमार को अग्नि का निमित्त है, सुकोशल मुनि को बाघ भक्षण कर रहा है – इसतरह मुनिराजों को बाह्य निमित्त होने पर भी मोहभाव मंद है, अत: राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते।

अज्ञानी के बाह्य कारण न होने पर भी वह मिथ्याश्रद्धा के कारण से अन्तर में संकल्प-विकल्प करता है। उसे धर्म का पता नहीं है। संकल्प-विकल्प करके राग-द्वेष करता है, क्योंकि मोहभाव तीव्र है। अत: उसके अन्तरंग में मोहनीयकर्म की मुख्यता है। जीव राग-द्वेष करे तब मोहनीयकर्म का उदय तो होता ही है, परन्तु बाह्य निमित्त होवे ही – ऐसा नियम नहीं है। अत: मोह का उदय होने पर ही रागादिक होते हैं। मोहनीयकर्म और आत्मा के बीच मोटी वज्र की दीवार है अर्थात् उनके बीच अत्यन्ताभाव है। कर्म राग-द्वेष नहीं कराता; परन्तु यहाँ तो जो निमित्त है उनके बीच का भेद बताना है।

वहाँ जो बाह्य पदार्थ के आश्रय से रागभाव होता हो उसमें प्रयोजन बिना व कुछ प्रयोजन

सहित इष्ट बुद्धि होती है। तथा जिस पदार्थ के आश्रय से द्वेषभाव होता हो उसमें प्रयोजन बिना व कुछ प्रयोजन सहित अनिष्ट बुद्धि होती है। अज्ञानी पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है अथवा प्रयोजन बिना भी करता है।

अज्ञानी ने कुछ प्रयोजन विचारा, परन्तु वह वस्तु को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है, अत: वे राग-द्वेष अनन्तसंसार का कारण हैं। यहाँ प्रयोजन सहित कहा, परन्तु पर में इष्ट-अनिष्टपना मानता है इसलिये उसके राग-द्वेष अनन्तसंसार के कारण हैं। पर-पदार्थ तो ज्ञान में ज्ञेय हैं। ज्ञेय इष्ट हों – ऐसा निमित्तपना भी उनमें नहीं है, मात्र ज्ञान में निमित्त होवे – ऐसा निमित्तपना ज्ञेय में है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि – यह पदार्थ ठीक लगता है और यह पदार्थ ठीक नहीं लगता। बीमारी में कोई सेवा-टहल करने वाला नहीं है – ऐसा कहकर पर-जीवों पर द्वेष करता है। ज्ञानी पर में इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करता। ज्ञानी भगवान को इष्ट मानकर राग नहीं करता। किसी भी प्रकार का राग करना इष्ट है ही नहीं। ज्ञानी को किंचित् राग आता है, परन्तु वह पर में इष्ट-अनिष्ट नहीं मानता; क्योंकि पर में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। किसी को भगवान की वाणी अच्छी लगती है, किसी को बुरी लगती है; किसी को तत्त्व की बात ठीक लगती है, किसी को ठीक नहीं लगती। अत: पर-वस्तु में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है, परन्तु अज्ञानी स्वयं ही इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि करके राग-द्वेष करता है। इसकारण मोह के उदय से पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट माने बिना नहीं रहा जाता – ऐसा कहा है। निमित्त किसी को प्रेरित नहीं करता, परन्तु जीव मोह में जुड़ता है इसलिये पर-पदार्थों के ऊपर लक्ष्य गये बिना नहीं रहता। परन्तु जीव को अर्थात् अज्ञानी को पता नहीं है कि राग क्यों होता है। अत: वह विपरीत मानता है।

इसप्रकार पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होने पर राग-द्वेष होते हैं, वह मिथ्याचारित्र है। तथा ज्ञानी को कमजोरी के कारण राग-द्वेष होते हैं, वह अल्प दोष है, पर मिथ्याचारित्र नहीं।

....तथा इन राग-द्वेषों ही के विशेष क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेदरूप कषायभाव हैं; वे सब इस मिथ्याचारित्र ही के भेद जानना। इनका वर्णन पहले किया ही है।....

तथा इस मिथ्याचारित्र में स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव है, इसलिये इसका नाम अचारित्र भी कहा जाता है। तथा यहाँ वे परिणाम मिटते नहीं हैं अथवा विरक्त नहीं हैं, इसलिये इसी का नाम असंयम कहा जाता है या अविरति कहा जाता है। क्योंकि पाँच इन्द्रियाँ और मन के विषयों

में तथा पंचस्थावर और त्रस की हिंसा में स्वच्छन्दपना हो तथा उनके त्यागरूप भाव नहीं हो, वही बारह प्रकार का असंयम या अविरति है। कषायभाव होने पर ऐसे कार्य होते हैं इसलिये मिथ्याचारित्र का नाम असंयम या अविरति जानना। तथा इसी का नाम अव्रत जानना – क्योंकि हिंसा, अनृत, अस्तेय, अब्रह्म, परिग्रह – इन पाप कार्यों में प्रवृत्ति का नाम अव्रत है। इनका मूलकारण प्रमत्तयोग कहा है। प्रमत्तयोग है वह कषायमय है इसलिये मिथ्याचारित्र का नाम अव्रत भी कहा जाता है।

ऐसे मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहा।....

सारांश यह है कि – अनादि से स्वयं ज्ञाता है, ज्ञान अपना स्वभाव है और ज्ञान की परिणति, वह जानने की क्रिया है – ऐसा अपना स्वरूप है। अज्ञानी जीव ऐसा नहीं जानकर जो राग-द्वेष करता है, वे मिथ्यादर्शन की भूमिका वाले राग-द्वेष हैं, वे मिथ्याचारित्र हैं। ऐसे जीव को धर्म नहीं होता।

पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होने पर राग-द्वेषरूप परिणमन होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र जानना। धर्मी को राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वे मिथ्याचारित्र नहीं है। क्योंकि धर्मी पर-पदार्थों से लाभ-नुकसान नहीं मानता। तथा अज्ञानी जीव पर-पदार्थों को अनुकूल-प्रतिकूल मानता है। ऐसी मान्यता वाला जीव जिनसे लाभ हो ऐसे पदार्थों को 'निज' माने बिना नहीं रहता। यह संयोग हानि करेगा – ऐसी मान्यता वाले का द्वेष मिथ्यात्व की भूमिका का द्वेष है – इसकारण मिथ्याचारित्र है। मैं ज्ञायक हूँ – ऐसा भूलकर ये पदार्थ मेरे पास आवें तो ठीक रहे – ऐसा विकल्प पदार्थ को इष्ट माने बिना नहीं होता और यह पदार्थ मेरे से दूर जायें तो ठीक – ऐसा विकल्प पदार्थ को अनिष्ट माने बिना नहीं होता। इसप्रकार अज्ञानी के राग-द्वेष मिथ्याचारित्र हैं। अज्ञानी को अपने मिथ्याचारित्र का पता नहीं है परन्तु ज्ञानी जानता है कि – उसका चारित्र मिथ्या है।

तथा इन राग-द्वेष के ही विशेष – क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायभाव हैं। यह मुझे प्रतिकूल है – ऐसा मानकर अज्ञानी क्रोध करता है। ज्ञानी पर के कारण क्रोध नहीं मानता। यह वस्तु प्रतिकूल है – ऐसी छाप वस्तु में नहीं है और न उसमें प्रतिकूल होने का धर्म है, उसमें तो मात्र ज्ञेय होने का धर्म है। ऐसा समझने वाले को ज्ञान और द्वेष के बीच भेदज्ञान रहता है और अज्ञानी पर से द्वेष मानता है इससे उसे ज्ञान और द्वेष के बीच भेद नहीं रहता।

आत्मा की ज्ञानपर्याय का स्वभाव स्व और पर को जानने का है। तथा पर-द्रव्यों में अनिष्ट होने का धर्म नहीं है, उनमें मात्र प्रमेय (ज्ञेय) होने का धर्म है, फिर भी वह उनके कारण क्रोध मानता है – यह मिथ्यादृष्टि का क्रोध है।

ये मकान, गाय, भैंस, लड्डू आदि इष्ट है – ऐसा मानकर अज्ञानी उनका मान करता है, वह मिथ्यात्व सहित मान है। धर्मी को ज्ञान, मान और पर-पदार्थों के बीच विवेक वर्तता है। अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है। ज्ञेय जानने योग्य है और स्वयं जानने वाला है – ऐसा जाने बिना लौकिक में मध्यस्थ होवे तो भी मानी है।

मैं कपट करूँ तो इज्जत रहे। इस निमित्त से सही काम होगा – वैसा भाव अज्ञान सहित माया है। ज्ञानी को अल्प माया होती है, परन्तु वह पर के कारण नहीं होती। तथा ज्ञान का स्वभाव माया करने का नहीं है। स्वयं जानने वाला है, कमजोरीवश माया होती है, वह अल्पदोष है; परन्तु मिथ्याचारित्र नहीं है।

अज्ञानी पर-वस्तुओं को इष्ट मानकर लोभ करता है। शरीर अनुकूल होवे तो सामायिक होती है, यह मिथ्याचारित्ररूप लोभ है – ऐसे जीव को सामायिक का पता नहीं है।

पर-वस्तु को अनुकूल मानकर हास्य करता है। स्त्री का सुन्दर शरीर, गहने, कपड़े आदि देखकर हास्य करता है। यह मिथ्यादृष्टि की भूमिका का मिथ्याहास्य है। ऐसे जीव को धर्म नहीं होता। मैं भगवान के पास गया और प्रतिमाजी की शान्तमुद्रा देखकर वह इष्ट लगी, और शुभभाव हुआ – यह मिथ्यादृष्टि का पुण्यभाव है। उसको किंचित् भी धर्मभाव नहीं होता। अज्ञानी धर्म अथवा अधर्म बाहर से मानता है। किन्तु मान्यता बदले तो धर्म है और विपरीत मान्यता अधर्म है।

अज्ञानी अच्छे शरीर अथवा भगवान को देखकर रति करता है। पर-पदार्थ को निश्चय से हितकर मानकर रतिभाव करना, वह मिथ्यादृष्टि का रतिभाव है। यह नौकर प्रतिकूल है – इसप्रकार पर-पदार्थों को अनिष्ट मानकर अरतिभाव करना मिथ्यादृष्टि का अरतिभाव है। ज्ञानी निमित्त के कारण अरति नहीं करता, परन्तु कमजोरीवश अरतिभाव होता है वह बंधन है – दोष है; पर मिथ्याचारित्र नाम नहीं पाता।

गहने खो जायें, लड़का मर जाये तो वस्तु का वियोग मानकर अज्ञानी शोक करता है। वस्तुयें तो अपने काल और क्षेत्र में परिणम जाती हैं, वे जीव के कारण नहीं परिणमती, फिर भी मुझे प्रतिकूलता हुई – ऐसा मानकर शोक करना मिथ्याचारित्र है।

इस मकान में भूत है – ऐसा मानकर अज्ञानी भय करता है, वह मिथ्यात्व सहित का भय है। उल्टी-दस्त देखकर जुगुप्सा करता है और ऐसी परवस्तु नजर में न आवे – ऐसा अज्ञानी चाहता है। ज्ञेय मेरी नजर में न हो ऐसा मानने वाला ज्ञानपर्याय का नकार करता है। पर-पदार्थ के प्रति अनिष्टबुद्धि से किया गया भाव जुगुप्साभाव है।

इस सुन्दर पुरुष का शरीर अनुकूल है – ऐसा मानकर जो स्त्रीवेद के परिणाम होते हैं, वह मिथ्याचारित्र है; क्योंकि उसने पर में इष्टपना माना है। पुरुष को स्त्री अनुकूल लगती है ऐसा मानकर पुरुषवेद का विकार होता है, वह मिथ्याचारित्र है। नपुंसक को स्त्री-पुरुष – दोनों का शरीर सुन्दर लगता है, वह मिथ्यात्व सहित का नपुंसकवेद है। चक्रवर्ती के छियानवै हजार स्त्रियाँ होने पर भी चक्रवर्ती को उन्हें इष्ट मानकर विकार नहीं होता (अस्थिरता के कारण विकार होता है;) क्योंकि जगत में कोई भी पर-पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं हैं। तीनलोक के पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं और मैं जानने वाला हूँ – ऐसा वह मानता है।

कर्म के उदय के कारण विकार होता है – ऐसा मानने वाले जीव को कर्म का मंद उदय इष्ट लगता है और कर्म का तीव्र उदय आवे तो धर्म नहीं होता – ऐसा मानने वाले जीव को कर्म का तीव्र उदय अनिष्ट लगता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के समस्त राग-द्वेष मिथ्या चारित्र हैं।

पर-पदार्थों में अच्छे-बुरे की छाप नहीं हैं। पदार्थों में प्रमेयत्वगुण है इसलिये वे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य हैं। उनमें इष्ट-अनिष्टपने का स्वभाव नहीं है और ज्ञान में भी वैसा स्वभाव नहीं है। परन्तु अज्ञानी इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है इसलिये वह मिथ्याचारित्र है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी – दोनों को जब जिसप्रकार का राग होता है तब उन-उन पदार्थों के प्रति लक्ष्य जाता है, परन्तु अज्ञानी पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है और ज्ञानी पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करता, परन्तु उसे कमजोरीवश राग-द्वेष हो जाते हैं। इसकारण ज्ञानी के राग-द्वेष को मिथ्याचारित्र नहीं कहते और अज्ञानी के राग-द्वेष को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

जो पदार्थ जिस समय जैसे हैं वैसे हैं, द्रव्य-गुण-पर्याय में कोई फेरफार नहीं, सारा लोक ऐसा का ऐसा खड़ा है – उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना संसार है और ज्ञाताबुद्धि ही मोक्ष का कारण है। जिस पदार्थ की जो पर्याय होना है वह होती है, परन्तु अज्ञानी उसे बदलना चाहता है, वह मिथ्याचारित्र है।

अज्ञानी पर-पदार्थ में प्रियपने की कल्पना करता है इसकारण उसके अनन्तानुबंधी का सद्भाव है और स्वरूपाचरण चारित्र का अभाव है। अत: उसे अचारित्र भी कहते हैं। तथा पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि नहीं मिटती व उनसे नहीं छूटता, इसकारण उसे असंयम या अविरति भी कहते हैं। क्योंकि पाँच इन्द्रियों तथा मन के विषयों में तथा पाँच स्थावर व एक त्रस की हिंसा में प्रवृत्ति होने को व उनके त्यागरूप भाव न होने को ही असंयम अथवा बारह प्रकार की अविरति कही है। इन जड़ इन्द्रियों को कमजोर करे तो इन्द्रियाँ वश में रहकर

शरीर जीर्ण होवे तो व्रतादि पालन में अनुकूल पड़े, यदि तंदुरुस्तरूप शरीर होवे तो विषय (विकार) उपजावें – ऐसी मान्यता वाले जीव के राग-द्वेष को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

तथा यह जीव नहीं मरा इसलिये मेरा व्रत पला – ऐसा मानने वाला स्वच्छन्दी है। पर-जीव उसके कारण मरता है और इष्ट-अनिष्टपना लगना वह अपनी मिथ्याश्रद्धा के कारण है। पर-जीव बचा इसलिये पुण्य हुआ और पर-जीव मर गया इसलिये पाप हुआ – ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

निर्दोष अन्न होवे तो मन ठीक रहता है – इसप्रकार निर्दोष आहार को भला माने और अध:कर्म आहार आया इसलिये परिणाम बिगाड़ गये – ऐसा मानने वाला बाह्य से त्यागी अथवा मुनि होवे तो भी मिथ्यादृष्टि है। आहार शुद्धि-वचन शुद्धि-काय शुद्धि होवे तो परिणाम ठीक रहते हैं – ऐसा मानने वाला पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है। उसके सम्यक्चारित्र नहीं होता। निमित्त की इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ने ही संसार खड़ा रखा है। अध:कर्मी आहार लेने की वृत्ति, वह खराब परिणाम है। पर-पदार्थ तो ज्ञान का ज्ञेय हैं, उसके कारण खराब परिणाम नहीं होते। पदार्थ, पदार्थ के कारण परिणमता है, उससे तुझे क्या ? एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य से नहीं होती। अज्ञानी मानता है कि – परद्रव्य की निमित्तता में हित-अहितपना है; परन्तु अहितपना अपनी भ्रान्ति में है और हितपना स्वभाव में है – ऐसा वह नहीं मानता। तथा अज्ञानी आहार शुद्धि से मन शुद्धि और मन शुद्धि से आत्म शुद्धि मानता है – ऐसा मानने वाले त्यागी को त्याग के स्वरूप का पता नहीं है। जिसको पर में इष्ट-अनिष्टपने का स्वच्छन्द नहीं छूटा, उसका अत्याग भाव नहीं गया; उसको विकार का त्याग बिल्कुल नहीं है।

जो एक भी पर-पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानता है वह स्वच्छन्दी है। मेरे में पर-पदार्थ का अभाव है, अत: वे इष्ट-अनिष्ट नहीं। और मेरे में ज्ञान का सद्भाव है, अत: ज्ञान में वे ज्ञेय जानने योग्य है। इसप्रकार सच्चा ज्ञान करने पर स्वच्छन्द मिटता है।

कषायभाव होने पर ही ऐसे कार्य होते हैं। अत: मिथ्याचारित्र का नाम असंयम व अविरति जानना। तथा इसी का नाम अव्रत भी जानना; क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) और परिग्रह – इन पाप कार्यों में प्रवृत्ति का नाम अव्रत है। कोई मर गया तो बुरा हुआ – ऐसी बुद्धि हुई वह अनिष्ट बुद्धि है। मेरे से ऐसी खराब भाषा निकली – ऐसा मानने वाले को अनिष्ट बुद्धि हुई, उसके राग का अत्यागभाव वर्तता है, निमित्त का अत्यागभाव वर्तता है। इस हाथ के कारण चोरी हुई, माल सामने नहीं होता तो चोरी नहीं करता – यह मान्यता मिथ्या है।

स्त्री के शरीर का संग नहीं करना, स्त्री के प्रति ऐसा द्वेष करना कि जिससे उसके प्रति प्रेम न हो – ऐसा मानने वाला जीव शरीर से ब्रह्मचर्य पालता होवे तो भी उसे अन्तरंग में अब्रह्मचर्य भाव छूटा नहीं है, अत: निमित्त भी वास्तव में छूटा हुआ नहीं कहला सकता।

परिग्रह छूटा, कपड़े छूटे और नग्न हुआ इसलिये हल्का पड़ा – ऐसा मानने वाले को वास्तव में परिग्रह नहीं छूटा है। यह प्रमत्तयोग की इष्ट-अनिष्ट बुद्धि है, उसका चारित्र मिथ्याचारित्र है। तत्त्व का विवेक नहीं होने से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है। मैं ज्ञाता हूँ पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं – ऐसे भान बिना सच्चा त्याग नहीं होता।

अज्ञानी शरीर के रोग को अनिष्ट मानकर निकालना चाहता है, परन्तु वह उपाय व्यर्थ है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय होने के पश्चात् राग क्रमश: मिटता है, इसके सिवाय उपाय नहीं है। वैराग्य के वेग में शरीर से द्वेष करे, वह व्यर्थ है। अज्ञानी को जड़ की क्रिया का, राग का तथा ज्ञानस्वभाव का पता नहीं है – इसकारण उसके सब मिथ्याचारित्र है। वह हठ से समाधि करता है परन्तु यह सब आर्त्तध्यान है। ऐसे जीव को पुण्य परिणाम का भी ठिकाना नहीं है तो फिर धर्म तो होगा ही कहाँ से ? नहीं होगा।

इसप्रकार अव्रत का मूलकारण प्रमत्तयोग है; यह प्रमत्तयोग कषायमय है। अत: मिथ्याचारित्र को अव्रत भी कहते हैं। इसप्रकार मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहा।

....इसप्रकार इस संसारी जीव के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप परिणमन अनादि से पाया जाता है। ऐसा परिणमन एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त तो सर्व जीवों के पाया जाता है। तथा संज्ञी पंचेन्द्रियों में सम्यग्दृष्टि को छोड़कर अन्य सर्व जीवों के ऐसा ही परिणमन पाया जाता है। परिणमन में जैसा जहाँ संभव हो वैसा वहाँ जानना। जैसे – एकेन्द्रियादिकों को इन्द्रियादिक की हीनता-अधिकता पाई जाती है। और धन पुत्रादिक का सम्बन्ध मनुष्यादिक को ही पाया जाता है। इन्हीं के निमित्त से मिथ्यादर्शनादिक का वर्णन किया है। उसमें जैसा विशेष संभव हो वैसा जानना।

तथा एकेन्द्रियादिक जीव इन्द्रिय, शरीरादिक का नाम नहीं जानते; परन्तु उस नाम के अर्थरूप जो भाव है उसमें पूर्वोक्त प्रकार से परिणमन पाया जाता है। जैसे – मैं स्पर्शन से स्पर्श करता हूँ। शरीर मेरा है ऐसा नाम नहीं जानता, तथापि उसके अर्थरूप जो भाव है उसरूप परिणमित होता है। तथा मनुष्यादिक कितने ही नाम भी जानते हैं और उनके भावरूप परिणमन करते हैं – इत्यादि विशेष सम्भव हैं उन्हें जान लेना।....

इसप्रकार संसारी जीवों के मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणमन अनादिकाल से है। ऐसा परिणमन मन रहित असंज्ञी जीवों तक तो पाया ही जाता है। संज्ञी पंचेन्द्रियों में भी समकिती को छोड़कर सबके ऐसा ही परिणमन पाया जाता है; क्योंकि जड़ क्या ? विकार क्या ? और निर्विकारी स्वभाव क्या ? इसका उन्हें विवेक नहीं है। मिथ्यादृष्टि मुनि तपश्चर्या करे, क्रोध न करे, किन्तु 'नग्न शरीर से मेरा भाव सुधरा' – ऐसा मानता है। अत: उसका परिणमन मिथ्या है। हजारों रानियाँ छोड़े, ग्यारह अंग तक पढ़े तो भी शुद्ध उपादान की रुचि नहीं है, इसकारण निमित्त में इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि करता है। जिसकी शरीर में इष्टबुद्धि नहीं गई, उसके परीषह आने पर अनिष्ट बुद्धि हुये बिना नहीं रहती। पर-पदार्थ राग-द्वेष नहीं कराते, परन्तु निमित्ताधीन बुद्धि वाले के राग-द्वेष हुये बिना नहीं रहते।

यह मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का अधिकार है। जीव अनादि से नवतत्त्व की श्रद्धा नहीं करता। आत्मा के हित के लिये उनकी सम्यक्श्रद्धा आवश्यक है। उनकी विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है। पर-वस्तुयें ज्ञेय होने पर भी उनमें इष्ट-अनिष्ट के दो भेद डालना और राग-द्वेष के परिणाम करना मिथ्याचारित्र है। अनादिकाल से एकेन्द्रिय से लेकर (सम्यग्दृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय के अलावा) सभी जीवों के ऐसा ही परिणमन हो रहा है। वे सुख को दु:ख, पुण्य को धर्म मानते हैं। चारित्र में कष्ट मानते हैं। ज्ञान को पर में रोकते हैं। पर को हित-अहितकर मानकर राग-द्वेष करते हैं, ये सब परिणाम चौरासी के अवतार के कारण हैं। तथा यह परिणमन जहाँ जैसा संभव है वहाँ वैसा जानना।

एकेन्द्रिय आदि जीवों के इन्द्रिय आदि की हीनता–अधिकता होती है। तथा धन, पुत्र, मकानादि का संयोग मनुष्यगति में ही होता है – ऐसा समझना। पुत्रादिक मेरे हैं और मैं उनका हूँ – ऐसा मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। उनके निमित्त से मिथ्यादर्शनादि का वर्णन किया है। वहाँ जैसे विशेष संभव हो वैसे समझना।

जैसे एकेन्द्रिय आदि जीव, इन्द्रिय, शरीरादि का नाम नहीं जानते, परन्तु उनको भी नव तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा होती है और मिथ्याचारित्र होता है। जैसे भील को रुपये की संख्या गिनना नहीं आती तो भी उनमें ममता करता है; वैसे ही एकेन्द्रिय आदि को शरीर आदि के नाम का पता नहीं होता फिर भी ममता करते हैं। मैं इस स्पर्श से स्पर्शता हूँ, शरीर मेरा है – ऐसा विपरीत परिणमन करते हैं। 'यह स्पर्श मेरी चीज नहीं है, तो पर को मैं स्पर्श करूँ – ऐसा नहीं बनता' – ऐसा ख्याल नहीं है और विपरीतभाव का परिणमन है। वनस्पति आदि के जीवों को भी विपरीतभाव है। जो-जो इन्द्रियाँ मिली हो, मैं उनसे काम करता हूँ – ऐसा मानते हैं।

कोई मनुष्यादि नाम भी जानते हैं फिर भी मिथ्यादर्शन से विपरीतभाव करके राग-द्वेषरूप परिणमते हैं – इत्यादि जो विशेष संभव हो उन्हें जान लेना।

मोह की महिमा

....ऐसे ये मिथ्यादर्शनादिकभाव जीव के अनादि से पाये जाते हैं, नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। देखो इसकी महिमा, कि जो पर्याय धारण करता है वहाँ बिना ही सिखाये मोह के उदय से स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है। तथा मनुष्यादिक को सत्यविचार होने के कारण मिलने पर भी सम्यक्परिणमन नहीं होता; और श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारम्बार समझायें, परन्तु यह कुछ विचार नहीं करता। तथा स्वयं को भी प्रत्यक्ष भासित हो वह तो नहीं मानता और अन्यथा ही मानता है। किस प्रकार ? सो कहते हैं –

मरण होने पर शरीर-आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते हैं। एक शरीर को छोड़कर आत्मा अन्य शरीर धारण करता है; वहाँ व्यन्तरादिक अपने पूर्व भव का सम्बन्ध प्रगट करते देखे जाते हैं; परन्तु इसको शरीर से भिन्नबुद्धि नहीं हो सकती। स्त्री-पुत्रादिक अपने स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; उनका प्रयोजन सिद्ध न हो तभी विपरीत होते दिखायी देते हैं; यह उनमें ममत्व करता है और उनके अर्थ नरकादिक में गमन के कारणभूत नाना प्रकार के पाप उत्पन्न करता है। धनादिक सामग्री किसी की किसी के होती देखी जाती है, यह उन्हें अपनी मानता है। तथा शरीर की अवस्था और बाह्य सामग्री स्वयमेव उत्पन्न होती तथा विनष्ट होती दिखायी देती है, यह वृथा स्वयं कर्त्ता होता है। वहाँ जो कार्य अपने मनोरथ के अनुसार होता है उसे तो कहता है – 'मैंने किया'; और अन्यथा हो तो कहता है – 'मैं क्या करूँ ?' ऐसा ही होना था अथवा ऐसा क्यों हुआ ? – ऐसा मानता है। परन्तु या तो सर्वका कर्त्ता ही होना था या अकर्त्ता रहना था, सो विचार नहीं है।....

इसप्रकार ये मिथ्यादर्शनादि भाव जीव के अनादि से पाये जाते हैं, नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। यह शरीर और इन्द्रियों को अपना मानकर इनसे ज्ञान होता है – ऐसा मानता है। देखो तो सही, अज्ञान की कैसी महिमा है कि – जहाँ-जहाँ नया शरीर मिला, वहाँ बिना सिखाये ही मोह के उदय में जुड़कर मिथ्या परिणमन करता है। पुण्य में धर्म मानता है। धर्म (संवर-निर्जरा) में कष्ट मानता है। इसप्रकार नवतत्त्वों में विपरीत बुद्धि चली आ रही है।

मनुष्यादि को सच्चे विचार के निमित्त मिलें, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु मिलते हैं, तो भी आत्मा का निर्णय नहीं करता। बारम्बार श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, तो भी विपरीतभाव करता है और विकारीभाव को अपना मानता है। पूर्व में अनन्तबार भगवान मिले, गुरु मिले

और गुरु बारम्बार समझावे तो भी बात जँचती नहीं। "शरीर, इन्द्रियों की क्रिया से कुछ तो धर्म होगा" – ऐसा अभिप्राय किया करता है। कुछ विचार ही नहीं करता।

तथा अपने को प्रत्यक्ष भासित हो वह तो नहीं मानता, अन्यथा ही मानता है। वह किस प्रकार ? सो ही कहते हैं –

मरण होने पर शरीर और आत्मा अत्यन्त भिन्न हो जाते हैं, परन्तु अज्ञानी दोनों को भिन्न नहीं मानता। एक शरीर छोड़कर आत्मा दूसरा शरीर धारण करता है और व्यंतर आदि कहते हैं कि – हमारे सामान्य शुभभाव से हम देव हुये हैं, किन्तु पूर्व में हम तुम्हारे सम्बन्धी थे। इससे पता चलता है कि जीव शरीर छोड़कर गया है। अथवा कोई अवधिज्ञानी कहे कि – तेरा पूर्व भव अमुक जगह पर था, फिर भी अज्ञानी नहीं मानता। शरीर मेरा नहीं है, शरीर की क्रिया मुझसे नहीं होती – ऐसी बुद्धि नहीं करता। लोग भी कहते हैं कि – जीव चला गया और शरीर पड़ा रह गया। इससे शरीर और जीव भिन्न ज्ञात होते हैं; परन्तु ममतावश भिन्न बुद्धि नहीं करता। 'शरीर ही मैं हूँ' – ऐसा मानता है। 'शरीर सुखी तो सब बात का सुख है' – ऐसा मानकर शरीर को धर्म का साधन मानता है।

तथा स्त्री-पुत्रादिक स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष दिखते हैं। वस्त्र और गहने लाकर दे तो प्रसन्न होते हैं। पुत्र भी धन में हिस्सा माँगकर स्वार्थ को साधता है और अपना प्रयोजन न सधै तो विपरीत होते दिखलाई देते हैं। तथापि यह जीव ममत्व करता है। परन्तु वे सब अपने से भिन्न हैं – ऐसी प्रतीति और पहिचान नहीं करता।

स्त्री-पुत्रादि के लिये नरक जाने योग्य पाप करता है, रिश्वत आदि लेने के परिणाम करता है। धर्म समझने के लिये समय नहीं निकालता।

तथा धन, गहने, वस्त्र आदि वस्तुयें किसी की किसी के होती दिखलाई देती है। किसी का बंगला कोई काम में लेता है और किसी को उसका स्वामित्व मिलता है – ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आने पर भी उन वस्तुओं में ममता करता है।

तथा शरीर की अवस्था उसके कारण स्वयं उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है। फिर भी यह जीव उनका निरर्थक कर्त्ता होता है। मैं शरीर को ठीक रखता हूँ – ऐसा मानता है। ध्यान रखें तो पैसा आता है – ऐसा मानता है। ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष हो वह अलग बात है। यहाँ तो पर का कर्त्ता होकर राग-द्वेष करे, उसकी बात है। हमने अपने बाहुबल से पैसा इकट्ठा किया है – ऐसा अभिमान करता है। व्यापारी मानता है कि – मैं होशियार हूँ, इसलिये पैसा कमाता हूँ – इसप्रकार निरर्थक कर्त्ता बनता है। परन्तु पैसे का संयोग तो पुण्योदय से मिलता

है – इस बात को नहीं मानता। मुझे सगे-सम्बन्धियों को व पुत्र-पुत्रियों को अच्छी तरह रखना आता है – ऐसा अभिमान करता है। वहाँ अपनी इच्छा के अनुसार कार्य होवे तो कहता है, 'मैंने किया' और वैसा न हो तो कहता है 'मैं क्या करूँ ? अथवा ऐसा ही होने योग्य था' – ऐसा मानता है।

अपनी देख-रेख में अच्छा काम होवे तो कहता है कि – मैंने किया और अच्छा न हो तो कहता है कि – होने योग्य होता है। घर में अपनी चलती हो तो कहता है कि – अपने रोब (प्रभाव) से सब मानते हैं और नहीं माने तो कहता है कि अभी स्वतन्त्रता का जमाना है; अथवा ऐसे कैसे हुआ ? ऐसा मानता है। परन्तु या तो सर्व का कर्त्ता रहना था या सब जगह अकर्त्ता ही रहना था। परन्तु इस जीव को उसका कुछ भी विचार नहीं आता। इसे पता नहीं है कि – जड़ पदार्थ व अन्य जीव तथा मेरा आत्मा स्वतन्त्र है। एक जीव दूसरे को नहीं रख सकता। अज्ञानी मानता है कि – मुझे घर के नौकर को रखना आता है। वह मानता है कि – पर-जीव मेरी सावधानी से रहता है; परन्तु कुछ विचार नहीं करता।

....तथा मरण अवश्य होगा ऐसा जानता है, परन्तु मरण का निश्चय करके कुछ कर्त्तव्य नहीं करता; इस पर्याय सम्बन्धी ही यत्न करता है। तथा मरण का निश्चय करके कभी तो कहता है कि – मैं मरूँगा और शरीर को जला देंगे। कभी कहता है – मुझे जला देंगे। कभी कहता है – यश रहा तो हम जीवित ही हैं। कभी कहता है – पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा। – इसप्रकार पागल की भाँति बकता है, कुछ सावधानी नहीं है।

तथा अपने को परलोक में जाना है यह प्रत्यक्ष जानता है; उसके तो इष्ट-अनिष्ट का यह कुछ भी उपाय नहीं करता और यहाँ पुत्र, पौत्र आदि मेरी सन्तति में बहुत काल तक इष्ट बना रहे – अनिष्ट न हो; ऐसे अनेक उपाय करता है। किसी के परलोक जाने के बाद इस लोक की सामग्री द्वारा उपकार हुआ देखा नहीं है, परन्तु इसको परलोक होने का निश्चय होने पर भी इस लोक की सामग्री का ही पालन रहता है।

तथा विषय-कषायों की परिणति से तथा हिंसादि कार्यों द्वारा स्वयं दुःखी होता है, खेद-खिन्न होता है, दूसरों का शत्रु होता है, इस लोक में निंद्य होता है, परलोक में बुरा होता है – ऐसा स्वयं प्रत्यक्ष जानता है तथापि उन्हीं में प्रवर्तता है। – इत्यादि अनेक प्रकार से प्रत्यक्ष भासित हो उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है, जानता है, आचरण करता है; सो यह मोह का माहात्म्य है।....

शरीर अवश्य छूटेगा – ऐसा जानता है; परन्तु मरण के निश्चय द्वारा स्वयं अपना कर्त्तव्य

नहीं करता। नित्य आत्मा को भूलकर शरीर को नित्य रखना चाहता है। परन्तु शरीर के जाने में कुछ समय नहीं लगेगा। शरीर की पर्याय अपने काल क्रम में जाती है तब रोग आदि निमित्त होते हैं। तथापि वर्तमान में शरीर का ही यत्न करने का अभिमान करता है।

संसार तो एकसमय का है, अत: उसका नाश जब चाहें तभी हो जायेगा – ऐसा कोई कहे तो उससे कहते है कि – ऐसा मानने वाले की दृष्टि कहाँ है ? एकसमय की पर्याय में भूल है, परन्तु स्वभाव में भूल नहीं है – ऐसा निर्णय होना चाहिये। 'एकसमय की भूल को चाहे जब सुधार लूँगा' – ऐसा कहने वाले को एकसमय की भूल कहने का अधिकार नहीं है। एकसमय की भूल स्वभाव में नहीं है – इसप्रकार स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय किये बिना 'एकसमय का संसार है' – यह बात किस प्रकार लाया ? तूने एकसमय को देखा है ? मात्र ढिठाई से बातें करता है।

१. केवली ने देखा होगा वैसा होगा – ऐसा मानने वाले को अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय होना चाहिये।

२. जिसको क्रमबद्ध का निर्णय होवे उसे पर के अकर्त्ता का निर्णय होना चाहिये।

३. एकसमय का संसार है – ऐसा निर्णय जिसे हो, उसे त्रिकाली शुद्धस्वभाव का निर्णय होना चाहिये।

यहाँ तो अज्ञानी कुछ निर्णय नहीं करता, उसकी बात चलती है।

किसी समय मरण के निश्चय से ऐसा कहता है कि मैं मरूँगा और शरीर को जला देंगे – इसप्रकार पागल की भाँति बोलता है। आत्मा क्या, शरीर क्या, उनकी भिन्नता का पता नहीं। इस जीव को उसका विचार नहीं है। अज्ञानी जीव यद्वा-तद्वा बोलता है। मरने से पूर्व कहता है कि – मुझे मेरे गाँव ले जाना, परन्तु तू तो चला जाने वाला है; तुझे जलाना है या शरीर को जलाना है ? इसका पता नहीं है। कभी कहता है, ''मुझे जला देंगे''। कभी कहता है, ''यश रहा तो मैं जीवित ही हूँ''। मेरे पीछे मकान की यादगार रहे तो ठीक। तथा कभी कहता है, 'पुत्रादि जीवित रहे तो मैं जीता ही हूँ'; इसप्रकार इसके कथन में कहीं मेल नहीं है। सन्निपात वाले की भांति बकता है। परन्तु सम्यक्श्रद्धा का अवधारण नहीं करता। अपने को परलोक में जाना जानने पर भी, विकार अनिष्ट है इसलिये उसे मिटाऊँ और इष्ट स्वभाव को प्राप्त करूँ – उसका उपाय नहीं करता। वह वास्तव में परलोक को नहीं मानता। मेरी प्रतिष्ठा कायम रहे, लड़के-लड़कियों का इष्ट हुआ करे, उन्हें कोई दिक्कत नहीं आवे, अच्छे मकान रखकर जाऊँ

– इत्यादि अनेक उपाय करता है। परन्तु किसी के परलोक जाने के बाद इसलोक की सामग्री से उपकार हुआ देखा नहीं जाता। यहाँ जो सामग्री इकट्ठी करता है वह साथ नहीं जाती, परन्तु इस जीव को परलोक होने का निश्चय होने पर भी मात्र इस लोक की सामग्री का ही यत्न रहता है।

तथा विषय-कषाय के परिणाम से और हिंसादि के कार्य से स्वयं दु:खी होता है – खेद-खिन्न होता है, बैरी होता है, लोक में निन्दा होती है, परलोक में बुरा होता है – यह सब प्रत्यक्ष जानते हुये भी इन्हीं कार्यों में प्रवर्तता है। जैसे कि – शरीर एकरूप नहीं रहता, यह पाप होता है – इत्यादि जानता होने पर भी इन्हीं कार्यों में प्रवर्तता है, इत्यादि अनेक प्रकार प्रत्यक्ष भासित हो उनका भी अन्यथा श्रद्धान करता है–जानता है–आचरण करता है। यह सब मोहभाव का ही माहात्म्य है।

....इसप्रकार यह जीव अनादि से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से संसार में अनेक प्रकार का दु:ख उत्पन्न करने वाले कर्मों का सम्बन्ध पाया जाता है। यही भाव दु:खों के बीज हैं अन्य कोई नहीं।

इसलिये हे भव्य! यदि दु:खों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावभावों का अभाव करना ही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा।....

इसप्रकार यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से अनेक प्रकार के दु:ख उत्पन्न कराने वाले कर्मों का सम्बन्ध होता है। ये ही भाव सर्व दु:ख के बीज हैं। विपरीत मान्यता और ज्ञान सहित राग-द्वेष ही दु:ख के बीज हैं, अन्य कोई नहीं।

अत: हे भव्य! यदि तू दु:ख से मुक्त होना चाहता है तो विपरीत श्रद्धा-ज्ञान और आचरण आदि विकल्पों का अभाव कर। उसमें तेरा कल्याण है। सच्ची श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से तेरा कल्याण होगा।

इसप्रकार पूज्य आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी द्वारा रचित
मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे 'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण'
अधिकार पर दिनांक ९ -१२-५२ से २८ -१२-५२ तक हुए
आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।



श्री. दि. जैन सीमन्धर जिनालय

वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

वीतराग-विज्ञान भवन पुरानी मंडी अजमेर . ३०५००१